अथर्ववेद का सुबोध भाष्य

प्रथम भाग

[काण्ड १-३]

भाष्यकार

पद्मभूषण डा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

स्वाध्याय मण्डल

पारडी

ॐ

अथर्ववेदके पहिले तीन काण्डोंका

परिचय

अथर्ववेदमें २० काण्ड हैं। इनमें प्रथम तीन काण्डोंका यह प्रथम भाग है। इसमें सूक्त और मंत्र संख्या इस तरह है—

प्रथम काण्ड

प्रथम अनुवाक

प्रथम प्रपाठक

सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	
१	बुद्धिसंवर्धन	४	
२	विजय	४	
३	आरोग्य, मूत्रदोष निवारण	९	
४	जल	४	
५	,,	४	
६	,,	४	२९
द्वितीय अनुवाक			
७	धर्मप्रचार	७	
८	,,	४	
९	वर्चःप्राप्ति	४	
१०	पापसे मुक्ति	४	
११	सुखप्रसूति	६	२५
तृतीय अनुवाक			
१२	रोगनिवारण	४	
१३	ईश्वरको नमन	४	
१४	कुलवधू	४	
१५	संगठन-महायज्ञ	४	
१६	चोरनाशन	४	२०
चतुर्थ अनुवाक			
द्वितीय प्रपाठक			
१७	रक्तस्राव बंद करना	४	
१८	सौभाग्यवर्धन	४	
१९	शत्रुनाशन	४	
२०	महानशासक	४	
२१	प्रजापालक	४	२०
पंचम अनुवाक			
२२	हृदयरोगनिवारण	४	
२३	श्वेतकुष्ठनाशन	४	
२४	कुष्ठनाशन	४	
२५	शीतज्वर दूरीकरण	४	
२६	सुखप्राप्ति	४	
२७	विजयी स्त्री	४	
२८	दुष्टनाशन	४	२८
षष्ठ अनुवाक			
२९	राष्ट्रसंवर्धन	६	
३०	आयुष्यवर्धन	४	
३१	आशापालक	४	
३२	जीवन-रस-महासागर	४	
३३	जल	४	
३४	मधुविद्या	५	
३५	बल और दीर्घायुष्य	४	३१
			१५३

इनमें ३० सूक्त ४ मंत्रोंके हैं अर्थात् इनके मंत्र १२० हैं एक सूक्त ५ मंत्रोंका है, दो सूक्त ६ मंत्रोंके हैं अर्थात् ये

१२ मंत्र हैं। ७ मंत्रोंवाला एक सूक्त है और ९ मंत्रोंवाला एक सूक्त है इस तरह—

४ मंत्रवाले	३० सूक्त	१२० मंत्र	
५ ,, वाला	१ ,,	५	
६ ,, वाले	२ ,,	१२	
७ ,, वाला	१ ,,	७	
९ ,, वाला	१ ,,	९	
		१५३	कुल मंत्र संख्या।

इस प्रथम काण्डकी प्रकृति ४ सूक्तवाले मंत्रोंकी है अब द्वितीय काण्ड देखिये—

अब द्वितीय काण्डकी प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त, मंत्र संख्या इस तरह है वह देखिये—

द्वितीय काण्ड

तृतीय प्रपाठक

प्रथम अनुवाक

सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	
१	गुह्य अध्यात्मविद्या	५	
२	पूजनीय ईश्वर	५	
३	आरोग्य	६	
४	जङ्गिड मणि	६	
५	क्षत्रियधर्म	७	२९
द्वितीय अनुवाक			
६	ब्राह्मणधर्म	५	
७	शापको लौटाना	५	
८	क्षेत्रियरोग दूर करना	५	
९	सन्धिवात दूर करना	५	
१०	दुर्गतिसे बचना	८	२८
तृतीय अनुवाक			
११	आत्माके गुण	५	
१२	मनका बल बढाना	८	
१३	वस्त्रपरिधान	५	
१४	विपत्तियोंको हटाना	६	
१५	निर्भयजीवन	६	
१६	विश्वंभरकी भक्ति	५	
१७	आत्मसंरक्षणका बल	७	४२
चतुर्थ अनुवाक			
चतुर्थ प्रपाठक			
१८	आत्मसंरक्षणका बल	५	
१९	शुद्धिकी विधि	५	
२०	,, ,,	५	
२१	,, ,,	५	
२२	,, ,,	५	
२३	,, ,,	५	
२४	डाकुओंकी असफलता	८	
२५	पृश्निपर्णी	५	
२६	गोरस	५	४८
पंचम अनुवाक			
२७	विजयप्राप्ति	७	
२८	दीर्घायुष्य	५	
२९	,,	७	
३०	पतिपत्नीका मेल	५	
३१	रोगोत्पादक कृमि	५	२९
षष्ठ अनुवाक			
३२	कृमिनाशन	६	
३३	यक्ष्मनाशन	७	
३४	मुक्तिका मार्ग	५	
३५	यज्ञमें आत्मसमर्पण	५	
३६	विवाहका मंगल कार्य	८	३१
			२०७

इस काण्डमें	५ मंत्रोंवाले	सूक्त २२ हैं	और मंत्र	११० हैं।
,, ,,	६ ,, ,,	५ ,, ,,		३० ,,
,, ,,	७ ,, ,,	५ ,, ,,		३५ ,,
,, ,,	८ ,, ,,	४ ,, ,,		३२ ,,
	द्वितीयकांडकी मंत्र संख्या			२०७

इस द्वितीय काण्डकी प्रकृति ५ मंत्रोंके सूक्तोंकी है क्योंकि ३६ सूक्तोंमें २२ सूक्त ५ मंत्रोंके हैं।

अब तीसरे काण्डके प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त और मंत्र देखिये—

तृतीय काण्ड

पंचम प्रपाठक

प्रथम अनुवाक

सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	
१	शत्रुसेना-संमोहन	६	
२	,,	६	
३	राजाकी राज्यपर पुनः स्थापना	६	
४	राजाका चुनाव	७	
५	राजा और राजाके बनानेवाले	८	३३
द्वितीय अनुवाक			
६	वीरपुरुष	८	
७	आनुवंशिक रोगोंका दूर करना	७	
८	राष्ट्रीय एकता	६	
९	क्लेश प्रतिबंधक उपाय	६	
१०	कालका यज्ञ	१३	४०
तृतीय अनुवाक			
११	हवनसे दीर्घायुष्य	८	
१२	गृह-निर्माण	९	
१३	जल	७	
१४	गोशाला	६	
१५	वाणिज्यसे धनप्राप्ति	८	३८
चतुर्थ अनुवाक			
षष्ठ प्रपाठक			
१६	भगवानकी प्रार्थना	७	
१७	कृषिसे सुख	९	
१८	वनस्पति	६	
१९	ज्ञान और शौर्य	८	
२०	तेजस्विताके साथ अभ्युदय	१०	४०
पंचम अनुवाक			
२१	कामाग्निशमन	१०	
२२	वर्चःप्राप्ति	६	
२३	वीरपुत्रप्राप्ति	६	
२४	समृद्धिकी प्राप्ति	७	
२५	कामका बाण	६	३५
षष्ठ अनुवाक			
२६	उन्नतिकी दिशा	६	
२७	अभ्युदयकी दिशा	६	
२८	पशुस्वास्थ्यरक्षा	६	
२९	संरक्षक कर	८	
३०	एकता	७	
३१	पापकी निवृत्ती	११	४४
		२३०	

इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं मंत्र संख्या ७८ है—

७ ,,	६ ,,	,,	४२
८ ,,	६ ,,	,,	४८
९ ,,	२ ,,	,,	१८
१० ,,	२ ,,	,,	२०
११ ,, वाला	१ ,, इसकी	,,	११
१३ ,,	१ ,,	,,	१३
	३१ सूक्त		२३० मंत्र

इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं अतः इस काण्डकी प्रकृति ६ मंत्रवाले सूक्तोंकी है ऐसा कह सकते हैं। तीनों काण्डोंकी मंत्र संख्या यह है—

१ काण्ड	सूक्त ३५	मंत्र संख्या	१५३
२ ,,	,, ३६	,,	२०७
३ ,,	,, ३१	,,	२३०
			५९० कुल मंत्र संख्या

इन सूक्तोंके क्रमको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि, इन सूक्तोंकी स्थापना विषयानुसार नहीं है। इसकी रचना विषयानुसार की जाय, तो पाठकोंको वेदका विषय समझनेमें सुगमता होगी। इन तीनों काण्डोंके सूक्त विषयानुसार इकट्ठे किये तो इस तरह होते हैं—

१ ईश्वर— १।१३ ईश्वरको नमन, २।१ अध्यात्मविद्या, २।२ पूजनीय ईश्वर, २।१६ विश्वम्भरकी भक्ति, ३।१६ भगवान्‌की प्रार्थना, २।११ आत्माके गुण।

२ मुक्ति— २।३४ मुक्तिका मार्ग।

३ शासक— १।२० महान् शासक, १।२१ प्रजापालक, ३।३ राजाकी राज्यपर स्थापना, ३।४ राजाका चुनाव, ३।५ राजा और राजाके बनानेवाले, १।३१ आशापालक, १।२९ राष्ट्रसंवर्धन, ३।२९ संरक्षक कर।

४ युद्ध— ३।१-२ शत्रुसेना संमोहन।

५ विजय— १।२ विजय, २।२७ विजय प्राप्ति, २।५

क्षत्रियधर्म, ३।१९ ज्ञान और शौर्य, ३।२० तेजस्वितासे अभ्युदय ।

६ बुद्धि— १।१ बुद्धिका संवर्धन, २।१२ मनका बल बढाना ।

७ आरोग्य— १।३,२।३ आरोग्य, १।३२ जीवनरस, १।२ रोगनिवारण, १।२२ हृद्रोगनिवारण, १।२३-२४ श्वेतकुष्ठ, कुष्ठनाशन, १।२५ शीतज्वर, २।९ संधिवातनाशन, २।८ क्षेत्रियरोगनाश, २।३१ रोगोत्पादककृमि, २।३२ कृमिनाशन, २।३३ यक्ष्मनाशन, ३।७ आनुवंशिक रोग दूर करना ।

८ दीर्घआयु— १।३० आयुष्यवर्धन, १।३५ बल और दीर्घआयुष्य, २।२८-२९ दीर्घआयुष्य, ३।११ हवनसे दीर्घआयुष्य ।

९ धन— ३।१५ वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति, ३।२४ समृद्धिकी प्राप्ति ।

१० पापसे मुक्ति— १।१० पापसे मुक्ति, ३।३१ पापसे निवृत्ति, २।१० दुर्गतिसे बचना, २।१४ विपत्तिको हटाना ।

११ तेजस्विता— १।९; ३।२२ वर्चःप्राप्ति ।

१२ यज्ञ— २।३५ यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

१३ संगठन— १।१५ संघठन यज्ञ, ३।८,३।३० राष्ट्रीय एकता ।

१४ सुखप्राप्ति— १।२६ सुखप्राप्ति ।

१५ आत्मरक्षण— २।१७,१८ आत्मरक्षक बल ।

१६ निर्भयता— २।१५ निर्भयजीवन ।

१७ वीर— ३।६ वीर पुरुष, ३।२३ वीरपुत्र ।

१८ अभ्युदय— ३।२७ अभ्युदयकी दिशा ।

१९ क्लेशप्रतिबंध— ३।९ क्लेश दूर करना ।

२० शुद्धता— २।१९-२३ शुद्धि ।

२१ गृहनिर्माण— ३।१२; गृहनिर्माण; ३।१४ गोशाला ।

२२ गौ— २।२६ गोरस सेवन ।

२३ उन्नति— ३।२६ उन्नतिकी दिशा ।

२४ विद्या— १।३४ मधुविद्या ।

२५ वस्त्र— १।१३ वस्त्रधारण ।

२६ वधू— १।१४ कुलवधू, १।१८ सौभाग्य, १।२७ विजयी स्त्री ।

२७ धर्म— १।७-८ धर्मप्रचार ।

२८ जल— १।४;५;६;३३;३।१३ जल ।

२९ काम— ३।२१ कामाग्निका शमन, ३।२५ कामका बाण ।

३० कृषि— ३।१७ कृषिसे सुख ।

३१ प्रसूति— १।११ सुख प्रसूति ।

३२ मणि-धारण— २।४ जंगिडमणि ।

३३ शाप— २।७ शापको लौटाना ।

३४ वनस्पति— २।२५ पृश्निपर्णी, ३।१८ वनस्पति ।

३५ पशु— ३।२८ पशुस्वास्थ्य रक्षण ।

३६ पतिपत्नी— २।३६ विवाह मंगल कार्य, २।३० पतिपत्नीका प्रेम ।

३७ काल— ३।१० कालका यज्ञ ।

३८ रक्तस्राव— १।१७ रक्तस्राव बंद करना ।

३९ चोर डाकू— २।१६ चोरनाशन; १।१९ शत्रुनाशन, १।२८ दुष्टनाशन, २।२४ डाकुओंकी असफलता ।

इस तरह सूक्तोंकी विषयानुसार व्यवस्था की जाय तो इस व्यवस्थासे वैदिक सूक्तोंका बोध शीघ्र और सुखसे हो सकता है। आशा है कि पाठकगण इसका विचार करेंगे। हमने इस समय जैसी सूक्तोंकी व्यवस्था है वैसी ही रखी है।

वैदिक सूक्तियाँ

इस प्रथम विभागमें ३ काण्डोंके सब सूक्त आगये हैं वे ऐसे हैं—

		सूक्त		मंत्रसंख्या		पृष्ठसंख्या
प्रथम	काण्ड	सूक्त ३५	मंत्रसंख्या	१५३	पृष्ठसंख्या	१२०
द्वितीय	,,	,, ३६	,,	२०७	,,	१४८
तृतीय	,,	,, ३१	,,	२३०	,,	२४८
		१०२		५९०		५१६

इन तीनों काण्डोंमें मिलकर १०२ सूक्त हैं और ५९० मंत्र हैं और स्पष्टीकरणके साथ पृष्ठ ५१६ हैं। इन तीनों काण्डोंके ५९० मंत्रोंमें करीब करीब एक सहस्र सूक्तियां हैं। विषयवार इन सुभाषितोंका संग्रह हमने किया है जो हम यहां देते हैं। पाठक कई सुभाषितोंको अन्य स्थानपर भी रख सकते हैं। मंत्रोंके अन्दर सूक्तियां अथवा सुभाषित मुख्य

गर्भरूप रहते हैं। जैसा बीजमें मगज होता है, वैसे मंत्रमें सुभाषित होते हैं। पाठक इनका विचार करें और प्रयोगमें भी ला सकते हैं। व्याख्यानोंमें लेखोंमें तथा अन्यप्रकार इनका बहुत उपयोग होसकता है और जितना इनका उपयोग होगा उतना वेद व्यवहारमें लाया गया यह सिद्ध हो सकता है।

इसके नीचे हम इन तीनों काण्डोंके सुभाषित देते हैं—

परमेश्वर

इन तीन काण्डोंमें परमेश्वर विषयक सुभाषित ये हैं—

योे देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा। अ. २।१।३

वह ईश्वर सब अन्य देवोंके नामोंको धारण करता है, वह एक ही सबका प्रभु है। उस प्रश्न पूछने योग्य परमेश्वरके पास सब भुवन आश्रयार्थ जाते हैं।

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यत् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्। अ. २।१।१

जहां सब विश्व एकरूप होता है और जो हृदयकी गुहामें रहता है उसको ज्ञानी भक्त जानता है।

स नः पिता जनिता स उत बंधुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। अ. २।१।३

' वह परमेश्वर हमारा पिता और जनक है, वही बंधु भी है। वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्। अ. २।१।५

सत्यके अमृतके सुखमय तन्तुको देखनेके लिये सब भुवनोंमें मैं घूम आया हूं। सर्वत्र इस सुखस्वरूप अमर आत्मरूप इस तन्तुको मैंने देखा है।

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। अ. २।२।१

भुवनका एक ही दिव्य गंधर्व स्वामी है जो नमस्कारके योग्य है और प्रजाजनोंको स्तुति करने योग्य है।

मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवः। अ. २।२।२

भुवनोंका एक ही स्वामी जो नमस्कारके योग्य है, जो संसेव्य है वही सबका आधार सबको सुखी करे।

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त। अ. २।१।५

जहां अमृत पीनेवाले देव उस एक आश्रय स्थानमें रहते हैं। (वह अमर परमेश्वरका आधार स्थान है।)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे॥ अ. ३।१६।१

प्रातः समय अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनौ, भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्रको बुलाते हैं, इनकी प्रार्थना करते हैं। (एक देवके ये अनेक गुणबोधक नाम हैं।)

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्। उतोदितौ मघवत्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ ४॥ अ. ३।१६।४

हम अब भाग्यवान् हों, सायंकाल अथवा दिनके मध्यमें, सूर्यके उदयके समय भाग्यवान् हों। हम देवोंकी सुमतिमें रहें।

तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव। अ. २।२।१

हे दिव्य देव! तेरे साथ ज्ञानसे मैं संयुक्त होता हूं।

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाताः। अ. ३।४।३

सजातीय लोग हविष्य अन्नके साथ तेरे समीप आजावें।

उपसद्यो नमस्यो भवेह। अ. ३।४।१

यहां पास जाने योग्य तथा नमस्कार करने योग्य हो।

नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्। अ. २।२।१

तेरा स्थान द्युलोकमें है, तुझे मैं नमस्कार करता हूं।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्।

इसके तीन पाद हृदयकी गुहामें हैं, जो उनको जानता है वह पिताका भी पिता अर्थात् बडा होता है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य। अ. २।१।४

द्यावापृथिवीमें मैं सर्वत्र घूम आया हूं और सत्यके प्रथम प्रवर्तक- परमेश्वरकी मै उपासना सर्वत्र देखता हूं।

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा यत्। अ. २।१।२

जो हृदयकी गुहामें है वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान विद्वान् वक्ता ही जानकर उसका वर्णन कर सकता है।

स देवान् यक्षत्स उ कल्पयताद्विशः । अ. ३।४।६

वह देवोंका यजन करता है, वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करता है।

यज्ञस्य चक्षुः, प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि । अ. २।३५।५

वह प्रभु यज्ञका आंख है, सबका भरण कर्ता, और यज्ञका मुख है। वाणी कान और मनसे मैं उसका यजन करता हूं।

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वक् अवयाता हरसो दैव्यस्य । अ. २।२।२

ईश्वर द्युलोकमें रहता है, वह पूज्य है, सूर्यके समान तेजस्वी है और दैवी आपत्तियोंको दूर करनेवाला वही प्रभु है।

ये सूक्तियां वारंवार पढनेसे, कण्ठ करनेसे, वारंवार मनन करनेसे परमेश्वर विषयक वैदिक सिद्धान्त तत्काल ध्यानमें आसकता है। देखिये—

यो देवानां नामधा— वह देवोंके नाम धारण करनेवाला है।

तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा— सब भुवन उस पूछने योग्य प्रभुके पास जाते हैं।

वेनस्तत्पश्यत्— ज्ञानी उसको देखता है।

परमं गुहा यत्— जो हृदयके गुप्त स्थानमें रहता है।

स नः पिता जनिता— वह रक्षक और उत्पन्न करनेवाला है।

धामानि वेद भुवनानि विश्वा— सब भुवनों और स्थानोंको वह जानता है।

ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्— सुखदायक फैला हुआ सत्यका तन्तु- परमात्मा है उसको मैं देखता हूं।

भुवनस्य यस्पतिः— वह भुवनोंका एक पति है।

एक एव नमस्यः— वह एकही नमस्कार करने योग्य है।

विक्ष्वीड्यः— प्रजाओंमें पूजनीय वही एक है।

वयं देवानां सुमतौ स्याम— हम देवोंकी सदिच्छामें रहें।

तं त्वा यौमि— उस तुझसे मैं युक्त होता हूं।

नमस्ते अस्तु— तुझे नमस्कार है।

प्रातर्भगं— प्रातःकाल भाग्यवान् प्रभुकी भक्ति करते हैं।

उपसद्यो भवेह— यहां पास जाने योग्य हो।

दिवि ते सधस्थं— आकाशमें तेरा स्थान है।

त्रीणि पदा निहिता गुहास्य— इसके तीन पाद बुद्धिमें हैं।

अमृतस्य विद्वान्— अमृतका जाननेवाला धन्य है।

धाम परमं गुहा यत्— परम धाम हृदयमें है।

स उ कल्पयताद्विशः— वह प्रभु प्रजाओंको समर्थ बनाता है।

अवयाता हरसो दैव्यस्य— दैवी दुःखोंको वह प्रभु दूर करता है।

यहां जो सूक्तियां दी हैं। उनके ये टुकडे हैं। ये भी सूक्तियां ही हैं और ये वारंवार भजन करने योग्य हैं। 'एक एव नमस्यः' प्रभु अकेला एकही नमस्कार करने योग्य है। 'दिवि ते सधस्थं' आकाशमें तेरा स्थान है। 'अवयाता हरसो दैव्यस्य' दैवी दुःखोंको दूर करनेवाला वह प्रभु है। ऐसे वेदमंत्रोंके टुकडे भजन करनेके होते हैं। अकेला अपने मनमें इनका भजन करे, अथवा समाजमें सैंकडों और हजारों मनुष्य अर्थके साथ इन वचनोंका भजन करें। इस तरहका भजन करनेके लिये ही ये टुकडे हैं। जिनकी वेदोंपर श्रद्धा है वे अर्थपर ध्यान रखते हुए इन वचनोंका भजन करें। यह भजन मनमें भी होता है और ताळस्वरमें सामूहिक भी हो जाता है। ऐसे अर्थसहित भजन होने लगे तो ये मंत्रभाग सबके मनमें स्थिर होते हैं, और इनका उपयोग बोलने चालनेके समय होनेकी सुविधा होती है।

पाठक मनमें ऐसे भजन करके देखें, भजन करनेके समय अर्थको अपने मनमें पूर्ण रीतिसे भरपूर भरकर रखें, उस मंत्रके भावसे अपना मन भरपूर भरा ऐसा, ओतप्रोत भरा है ऐसा भाव मनमें सुस्थिर रखें। ऐसा भजन मनमें करनेसे जैसा लाभ व्यक्तिको होता है वैसा ही लाभ ये ही वेदवचन सामुदायिक रीतिसे भजन करनेसे समुदायमें जो लोग ये वचन बोलते रहेंगे, उनको लाभ होता है।

यह बात करके देखने योग्य है। वेदके वचन अपने जीवनमें इस तरह ढालनेका यत्न करना चाहिये। वेदका धर्म जीवित है यह समझनेका यह उपाय है।

ईश्वर विश्वका शासक है, जो शासक होता है वह राजा ही होता है, ईश्वर शासक है और निर्दोष शासक है। अतः वह हमारे शासकोंके लिये आदर्श है। इस दृष्टिसे ईश्वरके गुण हमारे शासकमें देखने योग्य हैं। वे इस तरह देखें जा सकते हैं—

शासकका वर्णन

वेदमें जो वर्णन है उन मंत्रोंमें शासक, राजा, अधिकारीका वर्णन करनेवाले सुभाषित ये हैं—

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु। अ. ३।४।१

हे राजन्! सब दिशा उपदिशा (ओंमें रहनेवाले प्रजाजन) तुम्हें (अपने रक्षणके लिये) बुलावें।

तास्त्वा संविदाना ह्वयन्तु। अ. ३।४।७

वे सब प्रजाएं मिलकर एकमतसे तुझे बुलावें।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। अ. ३।४।२

तुझे ये प्रजायें, तुझे ये पांच दिशाओंमें रहनेवाली दिव्य प्रजाएँ राज्यरक्षणके लिये स्वीकार करें।

आ त्वा गन्राष्ट्रं। अ. ३।४।१

हे राजन्! तेरे पास राष्ट्र आगया है।

सजातानां श्रेष्ठय आ धेह्येनम्। अ. १।९।३

अपनी जातियोंमें उच्च स्थानपर इसको रखो।

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व, ततो न उग्रो विभजा वसूनि। अ. ३।४।२; ४

राष्ट्रके उच्च स्थानमें रहकर, और वहांसे सबके लिये धनोंका विभाग कर दो।

प्राङ् विशांपतिरेकराट् त्वं विराज। अ. ३।४।१

प्रजाओंका मुख्य स्वामी एक राजा होकर, तूं विराजमान् हो।

स्वस्तिदा विशांपतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। अ. १।२१।१

प्रजापालक कल्याण करनेवाला, शत्रुनाशक और घातकोंको वश करनेवाला हो।

ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय। अ. १।२९।१

हे ज्ञानी पुरुष! राष्ट्रके हित करनेके लिये बढाओ।

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्। अ. ३।५।७

जो राजा और राजाओंको करनेवाले, सूत तथा ग्रामनेता हैं हे पर्णमणे! इन सबको मेरे समीप उपस्थित कर (उनकी सहायता मुझे प्राप्त हो ऐसा कर।)

अहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा। अ. १।२९।५

मैं शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रुओंका वध करनेवाला तथा शत्रुरहित होऊं।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः। अ. ३।५।२

मैं राष्ट्रके आप्त पुरुषोंमें उत्तम निज बनकर रहूं।

अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व। अ. ३।४।४

अपना मन धनदानके लिये अनुकूल बनाओ।

क्षत्रेणाग्ने स्वेन संरभस्व। अ. २।६।४

हे अग्ने! अपने क्षात्रतेजसे उत्साहित हो।

अति निहो, अति सृधो, अत्यचित्तीः, अतिद्विषः। अ. २।६।५

मारपीट करनेकी वृत्तिसे दूर रह, हिंसकोंसे दूर रह, पापीवृत्तीसे दूर हो, द्वेष करनेवालोंसे दूर रहो।

तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः। अ. २।७।३

उस सहस्र काण्डवालेसे सब ओरसे हमारा रक्षण कर।

शप्तारमेतु शपथः। अ. २।७।५

शाप देनेवालेके पास ही उसका शाप चला जावे।

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः। अ. ३।१९।१

मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा वीर्य और बल तेजस्वी है। जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं उनका तेजस्वी और क्षीण न होनेवाला क्षात्रतेज बढता रहे।

क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वानहम्। अ. ३।१९।३

मैं ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और अपने लोगोंको मैं उन्नत करता हूं।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः। अ. ३।१९।५

इनका क्षात्रतेज अक्षय हो। इनका विजयी चित्त सब देव सुरक्षित रखें।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु वहुं वलिं प्रति पश्यास उग्रः। अ. ३।४।३

स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों। और उग्रवीर बनकर बहुत करभारको देखें।

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्। अ. ३।४।७

सन्मार्गसे चलनेवाली अनेक प्रकारकी रंगरूपवाली प्रजायें मिलकर तुम्हें श्रेष्ठ स्थानपर स्थापित करती हैं।

बली बलेन प्रमृणन् त्सपत्नान्। अ. ३।५।१

यह बलवान् वीर अपने बलसे शत्रुओंका नाश करता है।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अ. ३।५।६

जो बुद्धिमान् है, जो रथकार है, जो कर्म करनेवाले लुहार हैं, और विद्वान् हैं। हे पर्णमणे! तू उन सब जनोंको मेरे समीप उपस्थित कर (बुद्धिमानोंकी सहायता मुझे प्राप्त हो ऐसा कर।)

सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह। अ. २।६।४

सजातीयोंमें मध्यम स्थानमें बैठनेवाला हो, और राजाओं, राजपुरुषोंके द्वारा बुलाने योग्य होकर, यहां प्रकाशित होता रह।

शास इत्था महाँ अस्यामित्रसादो अस्तृतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन॥ अ. १।२०।४

शत्रुओंका नाश करनेवाला, अपराभूत ऐसा यह महान् शासक है, जिसका मित्र मारा नहीं जाता और जिसका मित्र कभी पराभूत नहीं होता।

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम्॥ अ. ३।२४।७

हे प्रजापालक! पास लाना और समूह करना ये दोनों कार्य तू कर, वे कार्य यहां वृद्धिको लावें और बहुत अक्षय भरपूरताको प्राप्त हों।

यत्ते तप.०, हरः०, आर्चि०, शोचिः०, तेजः।
तेन तं प्रतितप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। अ. २।१९-२३।१-५

जो तेरी तापशक्ति, हरणशक्ति, तेजःशक्ति, प्रकाशशक्ति और तेजनशक्ति है, उससे उनको कष्ट दे जो हमसबको कष्ट देता है और जिसका हमसब द्वेष करते हैं।

अभूर्गृष्टीनामभिशक्तिपावा उ। अ. २।१३।३

विनाशसे मनुष्योंका रक्षण करनेवाला हो।

विश्वंभर विश्वेन मा भरसा पाहि। अ. २।१६।५

हे विश्वके भरण कर्ता! संपूर्णपोषण शक्तिसे मेरा रक्षण कर।

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः। अ. ३।२९।१

जिस तरह नियमसे चलनेवाले राजाके सभाके ये सभासद इष्ट और पूर्तका सोलहवां भाग पृथक् कर रूपसे रखते हैं।

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्। अ. १।३३।२

जिनका राजा वरुण लोगोंके सत्य वा असत्य आचरण देखता हुआ जाता है।

ये ऐसे मंत्रभाग इस विषयमें विचार करने योग्य हैं। इनमें और छोटे ध्यानमें सदा रखने योग्य सुभाषित ये हैं।

त्वां विशो वृणतां राज्याय— सब प्रजा राज्यके लिये तुझे शासक करके स्वीकार करें।

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व— राष्ट्रके श्रेष्ठ स्थान पर रह।

विशां पतिरेकराट् त्वं विराज— प्रजापालक एक राजा होकर तू सुशोभित हो।

स्वस्तिदा विशांपति— यह प्रजापालक कल्याण करनेवाला हो।

अभि राष्ट्राय वर्धय— राष्ट्रके हित करनेके लिये यत्न कर।

त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्— तू सब जनोंको अपने चारों ओर इकट्ठा कर।

अहं शत्रुहोऽसानि— मैं शत्रुका नाश करनेवाला होऊंगा।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गो निजो भूयासं— मैं राष्ट्रके उत्तम पुरुषोंमें निज होकर रहूंगा।

अति द्विषः— द्वेष करनेवालोंको दूर करता हूं।

अति स्निधः— हिंसकोंको दूर करता हूं।

परि णः पाहि विश्वतः— चारों ओरसे हमारी रक्षा कर।

संशितं वीर्यं बलम्— हमारा वीर्य और बल तीक्ष्ण हो।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु— क्षात्रबल तीक्ष्ण होकर क्षीण न हो।

क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रान्— शत्रुओंको ज्ञानसे क्षीण करता हूं।

उन्नयामि स्वानहम्— स्वकीयोंकी उन्नति करता हूं।

क्षत्रमजरमस्तु— क्षात्रतेज क्षीण न हो।

जिष्णुर्वेषां चित्तम्— इनका चित्त विजयी हो।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु— स्त्री, पुत्र उत्तम मनवाले हों।

बली बलेन प्रमृणन् सपत्नान्— बलवान् बलसे शत्रुओंको मारे।

सजातानां मध्यमेष्ठाः— स्वजातीयोंके मध्यमें बैठने वाला हो।

शास इत्था महाँ असि— तू शासक ऐसा महान् है।

अमित्रसाहो अस्तृतः— शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं अपराजित हो।

न यस्य हन्यते सखा— जिसका मित्र मारा नहीं जाता।

उपोहश्च समूहश्च— पास लाना और समूह करना (ये दो कार्य करने योग्य हैं।)

इस प्रकार इन सुभाषितोंमें मननीय वचन हैं। ये वारंवार उच्चारित करनेसे बडा आनंद प्राप्त हो सकता है। 'स्वस्तिदा विशांपतिः' यह वचन वारंवार उच्चारनेसे राजाके कर्तव्य ध्यानमें आ सकते हैं और परमेश्वरके गुण भी मनमें स्थिर होते हैं। परमेश्वर 'स्वस्ति-दा' है अर्थात् कल्याण करनेवाला है। सबका कल्याण वह करता है। जो परमेश्वरका गुण है वही गुण राजामें तथा साधारण प्रजाजनमें भी देखना चाहिये। अर्थात हरएक मनुष्य 'स्वस्ति-दा' कल्याण करनेवाला हो, राज्यका अधिकारी कल्याण करनेवाला हो, राजा भी प्रजाका कल्याण करनेवाला हो। परमेश्वर तो सबका कल्याण करनेवाला है ही।

'राष्ट्राय वर्धय' राष्ट्रका वर्धन कर। राष्ट्रकी उन्नति कर। राष्ट्रका अभ्युदय हो ऐसा कर। 'अहं शत्रुहो असानि' मैं शत्रुको मारूंगा। शत्रुको दूर करना हरएकका कर्तव्य है। शत्रु तो व्यक्तिके, समाजके, धर्मके तथा राष्ट्रके अनेक प्रकारके होते हैं। उन सब शत्रुओंको दूर करना योग्य है।

'जिष्णवेषां चित्तं' सब मनुष्योंका चित्त जयशाली हो, विजयी हो। कभी चित्त निरुत्साही न हो। 'न यस्य हन्यते सखा' जिसका मित्र मारा नहीं जाता ऐसा परमेश्वर है। राजा भी ऐसा हो, और मनुष्य भी ऐसा हो।

इस प्रकार इन सुभाषितोंका भजन, मनन तथा अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करना चाहिये। ईश्वर, विश्वशासक है और राजाके गुणधर्म इनमें प्रकट हुए हैं। शासन हुआ तो वहां बुराइयोंसे, शत्रुओंसे युद्ध करना ही पडता है। इस कारण अब युद्धके विषयके सुभाषित देखिये—

युद्ध

दुष्टोंका शमन करनेके लिये जागृत रहकर युद्ध करना चाहिये, इस विषयके ये सुभाषित हैं—

स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्। अ. २।६।३

अपने घरमें प्रमाद न करता हुआ जाग्रत रह।

प्रेता, जयता, नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।

अ. ३।१९।६

हे वीरो! आगे बढो, विजय कमाओ, आपके बाहु शौर्य करनेवाले हों।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।

अ. ३।६।७

जैसी नौका बंधनसे छूटनेपर बह जाती है, उस तरह वे शत्रु अधोमार्गसे नीचेकी ओर चले जांय।

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि।

अ. ३।८।५

जो ये विरुद्ध कर्म करनेवाले हैं उनको मैं एक विचारवाले करता हूं।

नश्येतेतः सदान्वः। अ. २।१४।६

यहांसे दानववृत्तियां विनष्ट हों।

वि त्वमग्ने आरात्याः। अ. ३।३१।१

हे अग्ने! तू शत्रुसे दूर रहता है। शत्रु तुमारे पास नहीं आसकता।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।
अ ३।२७।१-६

जो एक हम सबका द्वेष करता है और जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं उसको हे प्रभो ! तुम्हारे जबडेमें देते हैं ।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाऽहम् ॥
अ. ३।१९।२

इनका राष्ट्र बल, वीर्य और सामर्थ्यसे मैं तेजस्वी बनाता हूं । इस हवनसे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥
अ. ३।१९।४

जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनके शस्त्र अस्त्र फरशीसे तीक्ष्ण, अग्निसे तीक्ष्ण और इन्द्रके वज्रसे भी तीखे बनाता हूं ।

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः । अ. ३।१९।६

हे इन्द्र ! उनके बल उत्तेजित हों । विजयी वीरोंका घोष ऊपर उठे ।

तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः । अ. ३।१९।७

हे तीक्ष्ण बाणवालो ! उग्र आयुधोंवालो ! उग्र बाहुवाले वीरों । निर्बल धनुष्यवाले निर्बल वीरोंको मारो ।

एवा तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् । अ. ३।६।३

इस तरह सब शत्रुओंका नाश कर, जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ।

प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् । अ. ३।१।४
तेरा वज्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे ।

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् । अ. ३।१।५
हे इन्द्र ! शत्रुओंकी सेनाको मोहित कर ।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥
अ. ३।२।३

हे इन्द्र ! शत्रुके चित्तोंको मोहित करके शुभ संकल्पके साथ हमारे पास आ। और अग्नि और वायुके वेगसे शत्रुको चारों ओरसे विनष्ट कर ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः । अ. ३।२।१

वह हमारा वीर शत्रुके चित्तको मोहित करे और उनको हस्तहीन जैसे करे । मोहित होने कारण कर्तव्य अकर्तव्यका विचार करनेकी शक्ति शत्रुमें न रहे ऐसा करे ।

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि । अ. ३।२।५

हे व्याधी ! तू इनके चित्तोंको मोहित करके, इनके अवयवोंको जकड कर दूरतक चली जा ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः । अ. ३।१।१

वह वीर शत्रुओंकी सेनाको मोहित करे और उनको हस्तरहित करे ।

अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ।
अ. ३।२।२

शत्रुके हृदयके विचारोंको यह अग्रणी मोहित करे । शत्रुको घरसे बाहर निकाल देवे और शत्रुको सब ओरसे हटा देवे ।

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् । अ. ३।२।१

हमारा तेजस्वी तथा विद्वान् दूत घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाता हुआ चले ।

अभि प्रेहि, निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् । अ. ३।२।५

आगे बढ, हृदयोंको शोकसे जला दो, जकडनेवाले रोगसे, तथा मूर्छासे शत्रुओंको वींध लो ।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वं ।
अ. ३।१।२

हे मरनेतक लडनेवाले वीरो ! तुम ऐसे उग्र वीर हो, इसलिये आगे बढो, काटो और जीत लो ।

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यक्षयणं मे दाः ।
सपत्नक्षयणमसि सपत्नक्षयणं मे दाः ।
अरायक्षयणमसि अरायक्षयणं मे दाः ।
पिशाचक्षयणमसि पिशाचक्षयणं मे दाः ।
सदान्वक्षयणमसि सदान्वक्षयणं मे दाः ।
अ. २।१८।१-५

वैरियों, सपत्नों, निर्धनताओं, मांस भक्षकों तथा आसुरी वृत्तियोंको नाशका सामर्थ्य तुझमें है, यह सामर्थ्य मुझे दो।

भूतपतिर्निरजतु, इन्द्रश्चेतः सदान्वाः।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु।

अ. २।१४।४

भूतपति राजा राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे। घरकी जडमें जो बुराइयां हों उनको इन्द्र वज्रसे दूर हटा देवे।

विपूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती।
विष्वक् पुनर्भुवा मनः। अ. १।२७।२

धनुष्य धारण करती हुई, काटती हुई वीरसेना चले जो शत्रुसेनाका मनः विचलित करे।

आरे असा यमस्यथ। अ. १।२६।१

किसीने मारा पत्थर हमसे दूर हो।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति।

अ. १।२१।२

जो हमें दास करना चाहता है उसको हीन अंधकारमें पहुंचा दो।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।

अ. १।२१।४

हे प्रभो! हे वीर! द्वेषीका मन बदल दे और हमारे नाश करनेवालेके शस्त्रको दूर कर।

इदं विष्कंधं सहते इदं बाधते अत्रिणः।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥

अ. १।१६।३

यह सीसा दुष्टका पराभव करता है, यह शत्रुको बाधा करता है, पिशाचोंकी सब जातियां इससे पराभूत होती हैं। (सीसा-सीसेकी गोली शत्रुका नाश करती है।

आराच्छरव्याऽस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय।

अ. १।१९।१

हे इन्द्र! चारों ओर फैलनेवाले बाण हमसे दूर जाकर गिरे।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्मानभिदासति।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् विविध्यतु।

अ. १।१९।३

जो अपना, जो परकीय, जो सजातीय, अथवा जो हीन जातीका हमको दास करना चाहता है, हमें दुःख देता है, ऐसे मेरे शत्रुओंको रुद्र अपने बाणोंसे वींधे।

मा नो विददभिभा, मो अशस्तिः। अ. १।२०।१

पराभव हमारे पास न आवे, अप्रशस्तता हमारे समीप न आवे।

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय।

अ. १।२०।३

हे वरुण! यहांसे और वहांसे जो शस्त्र हैं उनको दूर कर।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदंग यातु-चातनम्।

अ. १।१६।२

'सीसेकी गोली मुझे इन्द्रने दी, वह यातना देनेवाले दुष्टोंको दूर करती है।

विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः।

अ. १।७।३

जो यातना देनेवाले, सर्व भक्षक, घातक हैं वे विलाप करें। (दूसरोंको यातना देना, सब कुछ खा जाना, और सदा क्या खाऊं ऐसा बोलना विलाप करानेवाला है।

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धां इहावह। अ. १।७।७

हे अग्ने! तू यातना देनेवालोंको बांधकर यहां ला।

यातुधानस्य प्रजां जहि नयस्व च। अ. १।८।३

यातना देनेवाले शत्रुकी प्रजाका पराभव कर और उसको ले चल।

एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्धि सहस्व च।

अ. ३।६।६

इस तरह मेरे शत्रुके सिर तोड दो और उसको जीत लो।

स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम्।

अ. ३।६।१; ३; ५

वह मेरे शत्रुओंका नाश करे, जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं।

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति॥

अ. ३।१।३

हे इन्द्र! शत्रुवत् आचरण करनेवाली शत्रुसेनाको इन्द्र और अग्नि तुम दोनों मिलकर जला दो।

इन्द्रः सेनां मोहयतु, मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता । अ. ३।१।६

इन्द्र (सेनापति) शत्रुसेनाको मोहित करें । मरुत् (सैनिक) वेगसे हमला करें । अग्नि उनकी आंखें लेवें । इस तरह पराभूत होकर शत्रुसेना पीछे हटे ।

विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् । अ. ३।१।४

सत्य रीतिसे इन शत्रुओंका चित्त चारों ओरसे व्यग्र करो।

अजैषं सर्वानाजीन् वः । अ. २।१४।६

सब युद्धोंमें मैंने विजय प्राप्त किया है ।

अहा अरातिं, अविदः स्योनं, अप्यभूः भद्रे सुकृतस्य लोके ॥ अ. २।१०।७

कृपणताको तुमने छोडा है। सुखको प्राप्त किया है, कल्याणकारी पुण्यलोकमें तूं आया है ।

अरातीर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ।
अ. २।७।४

अनुदार शत्रु हमारे आगे न बढें । जो दुष्ट है वे आगे न बढें ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ।
अ. २।७।५

दुष्ट मनुष्यके आंख और पीठ हम तोड देते हैं ।

मा ते रिषन्नुपसत्तारः । अ. २।६।२

तेरे अनुयायी विनष्ट न हों ।

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कंधं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ।
अ. २।४।४

देवोंने दिये, सुखदायक जंगिड मणिसे, शोषक रोगको तथा सब रोगकृमियोंको हम दबा सकते हैं ।

प्र वहा, याहि शूर हरिभ्याम् । अ. २।५।१

आगे बढ, दो घोडोंको जोतकर चलो ।

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
अ. २।५।३

यत्न करनेवालोंके समान, त्वरासे हमला करनेवाला इन्द्र घेरनेवाले शत्रुको मारता रहा ।

प्रतिदह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
सं दह यातुधान्यः । अ. १।२८।२

यातना देनेवालोंको जला दो। सदा भूखोंको जला दो । यातना देनेवाली स्त्रियोंको भी जला दो ।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्रायमह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥
अ. १।२९।४

अभीवर्तमणि शत्रुका पराभव करनेवाला और दुष्टोंको दूर करनेवाला है, राष्ट्रहितके लिये तथा शत्रुओंको पराभूत करनेके लिये वह मणि मेरे शरीरपर बांधो ।

मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः । अ. १।३०।१

जो मनुष्यनाशक शस्त्र है वह इसके पास न आवे । (अर्थात् यह न मरे)

असमृद्धा अघायवः । अ. १।२७।२

पापी लोग समृद्ध न हों ।

आरे३सावस्मदस्तु हेतिः । अ. १।२६।१

शस्त्र हमसे दूर रहे ।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् । अ. १।१९।१

विशेष वेधनेवाले शत्रु हमें न प्राप्त करें । चारों ओरसे वेधनेवाले शत्रु हमारे पास न आवे ।

यो अद्य सैन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।
युवं तं मित्रावरुणा अस्मद्यावयतं परि ॥
अ. १।२०।२

जो आज सेनाके शूर पुरुषोंका वध पापी शत्रुओंसे हो रहा है, हे मित्र वरुण ! तुम उसको हमसे दूर कर ।

वि न इन्द्र मृधो जहि, नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अ. १।२१।२

हे शत्रुनाशक वीर ! हमारे शत्रुओंको मार, सैन्य हमपर भेजनेवालोंको हीन स्थितिमें पहुंचाओ ।

वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन् अमित्रस्याभिदासतः ।
अ. १।२१।३

हे शत्रुनाशक वीर ! हमारे घात करनेवाले शत्रुके उत्साहका नाश कर ।

वरीयो यावया वधम् । अ. १।२१।४

शत्रुके शस्त्रको हमारेसे दूर कर ।

दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ।
अ. १।१९।२

मनुष्योंसे फेंके गये दिव्य बाण, मेरे शत्रुओंको वींधे ।

यातुधानान् वि लापय । अ. १।७।६
यातना देनेवालोंको रुलाओ ।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् । अ. ३।१९।३
जो शत्रु हमारे धनवान् और विद्वान् पर सैन्य भेजते हैं वे नीचे गिरे और अवनत हों

एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
अ. ३।१९।५

इनके आयुध मैं तीक्ष्ण करता हूं तथा इनका राष्ट्र उत्तम वीरोंसे युक्त करके उन्नत करता हूं ।

पृथग्घोषा उलूलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
अ. ३।१९।६

झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके घोष पृथक्-पृथक् ऊपर उठें ।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व, जह्येषां वरं वरं,
मामीषां मोचि कश्चन । अ. ३।१९।८

हे ज्ञानसे तेजस्वी बने शस्त्र ! तू छोडा जानेपर दूर जा, शत्रुओंको जीत लो, आगे बढ, शत्रुके वीरोंमेंसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वीरोंको मार डाल, इनमेंसे किसीको न छोड ।

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना । तां विध्यत तमसापव्रतेन यथै-षामन्यो अन्यं न जानात् । अ. ३।२।६

हे मरुतो ! यह जो शत्रुकी सेना वेगसे स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आरही है, उसको अपव्रत तमसाअस्त्रसे वींधो जिससे उनमेंसे एक दूसरेको न जान सके।

उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि । अ. ११०।१
उग्र क्रोधसे इसको ऊपर मैं लेजाता हूं ।

सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु । अ. १।१९।२;४
शत्रु हमसे नीचे रहें । शत्रुका अधःपात हो ।

जहि एषां शततर्हम् । अ. १।८।४
इन दुष्टोंका सैंकडों कष्ट देनेका साधन दूर कर, शत्रुको पराजित कर ।

एषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ।
अ. १।७।७

इन्द्र वज्रसे इन दुष्टोंके सिर काट दे ।

ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य । अ. १।७।४

' सब यातना देनेवाले आकर बोलेंकी हम यहां हैं । '

दस्योः हन्ता बभूविथ । अ. १।७।१
तू दस्युका विनाशक है । (दस्युका विनाश करना योग्य है)

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
अ. १।२१।३

राक्षसो, शत्रुओंको पराभूत कर । घेरनेवाले शत्रुके जबडे तोड ।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्मवर्म ममान्तरम् ।
अ. १।१९।९

जो सपत्न और जो असपत्न हैं, पर जो शाप देकर हमें द्वेष करके कष्ट पहुंचाता है, सब देव उसका नाश करें। मेरा आन्तरिक कवच ब्रह्मज्ञान है ।

ज्ञानरूप कवच जो पहनता है, उसका उत्तम रक्षण होता है ।

मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या । अ. १।२०।१
जो द्वेष करनेवाले कुटिल हैं वे हमारे पास न आवें ।

विष्वञ्चो अस्मत् शरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः । अथ. १।१९।२

जो फेंके गये हैं, और जो फेंके जानेवाले हैं वे बाण चारों ओर हमसे दूर जाकर गिरें ।

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति ।
यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
तत्सर्वं वाचाप हन्मो वयं । अ. १।१८।३

जो इसके शरीरमें, बुद्धिमें, केशोंमें, देखनेमें बुरा है, उस सबको हम वाणीकी प्रेरणासे दूर करते हैं ।(वाणीसे सूचना देकर उस दोषको दूर करते हैं।)

दहन्नप द्वयाविनः यातुधानान् किमीदिनः ।
अ. १।२८।१

दुमुखों, यातना देनेवालों और अब क्या खाऊं ऐसे बोलनेवाले दुष्टोंको अग्नि जला देता है ।

प्रेतं — आगे बढो ।
प्रस्फुरतं— फुरती करो।
पृणतः गृहान् वहतं— संतोष देनेवालोंके घर जाओ ।
अ. १।२७।४

अभिवृत्य सपत्नान् अभि यो नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥
अ. १।२९।२

शत्रुओंको पराभूत करके, हमारे अंदर जो कंजूस है उनको दूर करके, सेनासे जो चढाई करता है और जो हमसे दुष्टताका व्यवहार करता है, उन सबको पराभूत करो।

विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर। अ २।६।५
सब पापवृत्तियोंको, पापियोंको दूर कर।

स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय। अ. २।५।४
अपनी योजनाओंसे तू यहां आनन्दित होकर रह और बडे युद्धके लिये तैयार रह।

ससहे शत्रून्। अ. २।५।३
शत्रुका पराभव करता हू।

प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
अ. २।११।३

उसपर चढाई कर जो अकेला हम सबका द्वेष करता है। और जिसका हम सब द्वेष करते हैं।

वृश्चामि तं कुलिशेन वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति। अ. २।१२।३
जो हमारे इस मनको बिगाडता है, उसको कुठारसे वृक्ष काटनेके समान काटता हूं।

सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव। अ. २।६।३
हे अग्ने! सापत्नोंका विनाशक हो तथा वैरियोंको जीतनेवाला हो।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय।
अ ३।१।५

अग्नि और वायुके वेगसे जैसा नाश होता है वैसा नाश शत्रुओंका चारों ओरसे करो।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचः। अ. ३।१।४
सन्मुख रहे, पीछेसे आनेवाले और भागनेवाले शत्रुको विनष्ट करो।

अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे, अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान्। अ. ३।१।२
ये बलवान् बसानेवाले वीर काटते रहे हैं, इनका विद्वान् अग्नि समान तेजस्वी दूत चढाई करता हुआ आगे बढे।

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्। अ. ३।१।१
विद्वान् तेजस्वी वीर घातपात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ हमारे शत्रुओंपर हमला करे।

इन सूक्तियोंमें विशेष महत्त्व रखनेवाली ये हैं—

स्वे गये जागृहि— अपने घरमें जाग्रत रह। अपने राष्ट्रमें जाग्रत रह।

उग्रा वः सन्तु बाहवः— आपके बाहु उग्र हों।

प्रेत— शत्रुपर हमला कर।

जयत— विजयी हो।

नश्येतः सदान्वः— दानवोंका यहां नाश हो।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि— इनका राष्ट्र मैं तेजस्वी बनाता हू।

वृश्चामि शत्रूणां बाहून्— शत्रुओंके बाहुओंको काटता हू।

उद्धर्षन्तां वाजिनानि- इनके बल उत्तेजित हों।

तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हत-- तुम्हारे तीखे बाणोंसे निर्बल शस्त्रवाले शत्रुको मारो।

एवा तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि— इस तरह उन सब शत्रुओंका नाश कर।

सेनां मोहयामित्राणां— शत्रुकी सेनाको मोहित कर।

तान् विषूचो विनाशय— शत्रुको चारों ओरसे विनष्ट कर।

स चित्तानि मोहयतु परेषां— वह शत्रुओंके चित्त मोहित करे।

स सेनां मोहयतु परेषां-- वह शत्रुकी सेनाको मोहित करे।

अभि प्रेहि, निर्दह— आगे बढ, शत्रुको जला दो।

अभि प्रेत, मृणत, सहध्वं— हमला करो, काटो और जीतलो।

भूतपतिर्निरजतु-- भूतोंका पति दुर्वृत्तियोंको दूर करे।

विषूच्येतु कृन्तती— काटती हुई सेना आगे बढे।

आरे अश्मा— पत्थर हमसे दूर रहे।

अपेन्द्र द्विषतो मनः -हे इन्द्र! शत्रुका मन बदल दे।

मा नो विददभिभा— पराभव हमारे पास न आवे।

विलपन्तु यातुधानाः— यातना देनेवाले शत्रु रोते रहें।

यातुधानस्य प्रजां जहि— यातना देनेवाली प्रजाका पराजय कर।

स हन्तु शत्रून् मामकान्— वह मेरे शत्रुओंका वध करे।

अजैषं सर्वानाजीन्— सब युद्धोंमें मैं विजय प्राप्त करता हूं।

अहा अरातिं— कृपणताको छोडो।

अविदः स्योनं— सुखमार्गको जानो।

अभूः भद्रे सुकृतस्य लोके— कल्याणकारी पुण्य लोकमें रहो।

अरातीर्नो मा तारील्— कंजूस हमारे पास न बढें।

मा नस्तारिषुरभिमातयः— शत्रु हमारे आगे न बढें।

प्र वह— आगे बढ।

याहि शूर— हे वीर! आगे बढ।

प्रतिदह यातुधानान्— यातना देनेवालोंको जला दो।

मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः— मनुष्यनाशक शस्त्र मेरे ऊपर न पडे।

असमृद्धा अघायवः— पापी समृद्ध न हों।

मा नो विदन् विव्याधिनः— वेध करनेवाले शत्रु हमें न जानें।

मो अभिव्याधिनो विदन्— चारों ओरसे आक्रमण करनेवाले शत्रु हमें न जाने।

वि न इन्द्र मृधो जहि— हे इन्द्र! हमारे शत्रुओंको मार।

नीचा यच्छ पृतन्यतः— सैन्यसे हमला करनेवालोंको हीन अवस्थामें पहुंचा दो।

वरीयो यावया वधम्— शस्त्र हमसे दूर रख।

इषवो ममामित्रान् वि विध्यत— बाण मेरे शत्रुओंको वींधे।

यातुधानान् विलापय— यातना देनेवालोंको रुलाओ।

एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि— इनके राष्ट्रको वीर बनाकर बढाता हूँ।

जयामित्रान्— शत्रुपर विजय प्राप्त कर।

जह्येषां वरं वरं— शत्रुवीरोंके प्रमुखोंको मार।

मामीषां मोचि कश्चन— शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड।

विध्यत तमसापव्रतेन— शत्रुको अपव्रत तमसास्त्रसे वींधो।

सपत्ना असदधरे भवन्तु— शत्रु हमसे नीचे रहें।

दस्योर्हन्ता बभूविथ— शत्रुका विनाशक बन।

वि रक्षो वि मृधो जहि— राक्षसों और हिंसकोंका पराभव कर।

मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या— कुटील और पापी मुझे न जाने।

दहन्नप द्वयाविनः— दुमुखोंको मैं जलाता हूं।

प्रेतं— हमला करो।

प्रस्फुरतं— फुरती बढाओ।

पृणतः गृहान् वहतं— संतोष देनेवालोंके घरोंके पास जाओ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठ— सेनासे हमला करनेवाले शत्रुका पराभव कर।

विश्वा दुरिता तर— सब पापोंको तैर जा।

मत्स्वेह महे रणाय— बडे युद्धके लिये आनन्दसे तैयार रह।

ससहे शत्रून्— शत्रुका पराभव करता हूं।

अभिमातिजिद्भव— शत्रुका पराभव करनेवाला हो।

शत्रून् प्रत्येतु विद्वान्— विद्वान् शत्रुपर चढाई करे।

इस तरह इन सूक्तियोंमें अनेक वाक्य भजनमें बोलने योग्य हैं। इस तरहके वचन तब बोलने होते हैं जब शत्रुके विरुद्ध अपने लोगोंको, अपने वीरोंको बढाना या तैयार करना होता है। ईश्वर भक्तिके वेदवचन उपासनाके समय बोलने होते हैं और ये वीरता बढानेवाले वचन वीरता बढानेके समय उच्चार करने होते हैं।। विवेकी पाठक इसको अच्छी तरह समझ सकेंगे।

शत्रुपराजय करनेके लिये अपने राष्ट्रको तैयार रखनेके समय ये वचन बडे उपयोगी हैं। राष्ट्रको संजीवित करनेके लिये राष्ट्रमें एकता प्रस्थापित करनेकी आवश्यकता होती है। वह एकताका विषय अब देखिये—

एकता

एकता बढानेका उपदेश वेद इस तरह करता है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अ. ३।३०।१

सहृदयता और उत्तम मनवाला होना और विद्वेष न करना ये तुम्हारे अन्दर हों ऐसा मैं करता हूं।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।
अ. ३।३०।१

एक दूसरे पर ऐसा प्रेम करो जैसा नवजात बच्चेपर गौ प्रेम करती है ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
अ. ३।३०।२

पिताके अनुकूलव्रत धारण करनेवाला पुत्र हो और वह मातासे समान मनवाला हो ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।
अ. ३।३०।२

स्त्री पतिके साथ मधुर और शान्त भाषण करे ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
अ. ३।३०।३

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहन बहनसे द्वेष न करे ।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया
अ. ३।३०।३

मिलजुलकर एक व्रतपालन करनेवाले होकर कल्याण करनेवाला भाषण करो ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥
अ ३।३०।५

वृद्धोंका संमान करनेवाले, और उत्तम विचार करनेवाले बनो, सिद्धितक यत्न करनेवाले, एक धुराके नीचे चलनेवाले होकर आपसमें विरोध न करो, परस्पर प्रेम पूर्वक भाषण करनेवाले और उत्तम विचार करनेवाला होकर रहो ।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । अ. ३।३०।६

पानी पीनेका आपका स्थान एक हो, आपका अन्नभाग एक हो, एक जोतेके अन्दर साथ-साथ आपको जोतता हूं ।

सम्यञ्चो अग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।
अ. ३।३०।६

सब मिलकर अग्निकी पूजा करो और चक्रकी नाभिके चारों ओर जैसे आरे होते हैं वैसे तुम परस्पर जुडकर रहो ।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येक श्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् । अ. ३।३०।७

परस्पर प्रेम भावका वर्ताव करनेवाले, साथ साथ पुरुषार्थ करनेवाले, उत्तम मनवाले और एक नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले मैं तुमको बनाता हूं ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु । अ. ३।३०।७

अमृतका रक्षण करनेवाले देव जैसे प्रेमसे रहते हैं वैसा परस्पर प्रेम आपके व्यवहारमें सवेरे और शामको होवे ।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अ. ३।८।५

तुम्हारे मनोंको एक करो, तुम्हारे व्रत एक हों, तुम्हारे संकल्पोंको एक भावसे युक्त करता हूं ।

मम व्रतेषु हृदयानि वः कृणोमि
मम यातमनुवर्त्मान एत । अ. ३।८।६

मेरे व्रतोंमें तुम्हारे हृदय संलग्न हों ऐसा मैं करता हूं ।
मेरे चाल-चलनके अनुकूल तुम होकर चलो ।

अ-दार-सृद् भवतु । अ. १।२०।१

आपसमें फूट उत्पन्न करनेवाला कोई न हो ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत । अ. ३।८।६

मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं । मेरे चित्तके साथ अपने चित्तोंको चलाओ ।

[illegible] अः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत्
[illegible] आमश्च नो भुवत् ॥ अ. ३।२०।६

हमारे संपूर्ण लोग संगतिमें उत्तम मनवाले हों और दान देनेकी भी इच्छा करें ।

सं चेन्नयाथो अश्विना, कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत, सं चित्तानि, समु व्रता ॥
अ. २।३०।२

हे परस्पर कामना करनेवाले अश्विदेवो ! मिलकर चलो, मिलकर बढो, ऐश्वर्यको मिलकर प्राप्त करो, तुम्हारे चित्त एक हो, तुम्हारे व्रत एक हों ।

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः । सवासिनौ पिबतां मन्थमेतं अश्विनौ रूपं परिधाय मायाम् ॥ अ २।२९।६

कल्याणकारिणी विद्याओं द्वारा तेरे हृदयको तृप्त करता हूं। नीरोग और तेजस्वी होकर आनन्दमें रहो। साथ रहकर अश्विनौंके रूपको कर्मकी कुशलताको प्राप्त होकर इस रसको पीओ।

इस रीतिसे सबकी एकता करनेका उपदेश वेद करता है। घरकी तथा परिवारकी एकता करनेके लिये प्रथम कहा है—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्— भाई-भाईसे द्वेष न करे। यह आदेश यदि भाई-भाई मनमें रखते, तो कौरव पांडवोंकी एकता होती और आपसका कलह न होता और १८ अक्षौहिणी सेनाका नाश न होता। और भारत देश क्षात्र तेजसे हीन न होता।

सम्यञ्चो अग्निं सपर्यत
आरा नाभिमिवाभितः। अ. ३।३०।६

जैसे चक्रके आरे नाभिके चारों ओर रहते हैं, उस तरह बीचमें अग्नि रहे और चारों ओर बैठकर हवन करो यह सामुदायिक उपासना कही है जो एकता बढानेवाली थी। सामुदायिक संध्या, सामुदायिक हवन होनेसे समुदायकी एकता होती थी। इस स्थानपर आज वैयक्तिक संध्या हो गयी है जो एक दूसरेको पृथक् करती है।

अपनेमें '**अदारसृत् भवतु**' आपसकी फूट बढानेवाला कोई न रहे। परतु आपसकी एकता सब बढावें और सब सुसंगठित हों। इस कारण कहा है—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि। अ. ३।८।६

मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको एकत्रित करके लेता हूं अर्थात् मैं अपना मन ऐसा बनाता हूं कि जो सबके मनोंको आकर्षित करे और सबके विचार एक प्रकारके बनावे और सबको संगठित करे। इस रीतिसे राष्ट्रके सब लोगोंको संगठित किया जाय और राष्ट्रका बल बढाया जाय।

इस तरह संघटनाके सूचक ये मंत्र हैं। पाठक इनका विचार करें और आपसमें सुसंघठीत होकर अपने राष्ट्रका बल बढावें इससे राष्ट्रका अभ्युदय होगा।

अभ्युदय

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहन्॥
अ. ३।२४।३

जो ये पांच दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां हैं, वे समृद्धिको प्राप्त हों, जिस तरह वृष्टिसे नदी बढती है।

जैसी वृष्टि होनेसे नदी बढती है उस तरह सब प्रजाजनोंका अभ्युदय हो। मनुष्योंकी सब प्रकारकी ऐहिक तथा पारमार्थिक उन्नति हो, सब राष्ट्र एकतासे अपना अभ्युदय करने लगेगा तो ही राष्ट्रकी उन्नति हो सकती है। एकता मूलक सब उन्नति है।

राष्ट्रकी एकता होनेके लिये राष्ट्रमें यज्ञ भावना होनी चाहिये। सज्जनोंका सत्कार, राष्ट्रकी एकता अर्थात् संघटना करना और दानका भाव ये गुण यज्ञमें हैं। इन गुणोंसे राष्ट्रका उत्कर्ष होता है।

यज्ञ

ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। अ. ३।२०।५
ज्ञान और प्रशस्ततम कर्मको बढाओ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥ अ. २।३५।५

विश्वके रचयिताने यह यज्ञ फैलाया है। उत्तम मनसे सब देव इस यज्ञमें आवें।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन्। अ. ३।२०।८
दान न देनेवालेको जानबूझकर दान देनेकी प्रेरणा कर।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्। निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु, रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्॥ अ. २।३४।१

जो चतुष्पाद पशुओंका तथा द्विपादों-मनुष्योंका स्वामी है, वह यज्ञके भागको प्राप्त हो, उसकी उपासना हो, धन और पोषण यजमानको मिले।

विद्वानोंका सत्कार करना चाहिये, आपसकी उत्तम संघटना होनी चाहिये और जो दीन होंगे उनकी दीनता दूर करनेके लिये दान देना चाहिये। दानमें विद्यादान, बलका संवर्धन, धनका दान और कर्मशक्तिका उत्कर्ष यह चतुर्विध सहाय्य होना चाहिये। यह जहां होगा वहां यज्ञ होगा। और इससे राष्ट्रका परम उत्कर्ष होगा।

मधुरता

मधुरतासे एकता होती है। इस विषयमें वेदमंत्रोंका स्पष्ट आदेश यह है-

मधोरस्मि मधुतरो मधुघान्मधुमत्तरः ।

अ. १।३४।४

मै मधसे भी अधिक मीठा हू, मधुर पदार्थसे भी अधिक मधुर हूं ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ।

अ. १।३४।३

मैं वाणीसे मीठा भाषण करूंगा और मैं मधुरताकी मूर्ति बनूंगा ।

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।

अ. १।३४।३

मेरा आना और जाना मीठा हो ।

जिह्वया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

अ. १।३४।२

मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता रहे और जिह्वाके अग्रभागमें मीठास रहे ।

ऐसी मीठास होनेसे राष्ट्रमें प्रेम बढता है और प्रेमसे संगठना होती है। मित्रता बढती है। परस्पर सहायता करनेकी इच्छा बढती है। इससे सबका मिलकर कल्याण होता है ।

मित्रता

यः सुहार्त तेन नः सह: । अ. २।७।५

जो उत्तम हृदयवाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो ।

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः । अ. १।२६।२

दानरूपी मित्र हमारे साथ रहे ।

मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व । अ. २।६।४

मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर ।

शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् । अ २।१०।१

तेरे लिये ये दोनों द्यु और पृथिवी लोग कल्याण करनेवाले हों।

शरुमस्मद् यावय दिद्युं । अथर्व १।२।३

दिद्युं शरुं अस्मत् यावय- शत्रुके तेजस्वी बाणको हमसे दूर कर (शत्रुका बाण हमपर न आवे ।)

वसोष्पते ! नि रमय । अथर्व १।१।२

हे वसुओंके स्वामिन् ! मुझे आनन्द युक्त कर ।

वयमक्ष्यारेवपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ।

अ. १।२७।१

पापी और दुष्टोंके आंख हम ढक देते हैं ।

पापी और दुष्ट दूर हों और उत्तम हृदयसे सबकी एकता बढे और एकतासे बल बढे ।

बल

अश्मानं तन्वं कृधि । अथर्व १।२।२

शरीरको पत्थर जैसा सुदृढ कर ।

एह्यश्मानमा तिष्ठ, अश्मा भवतु ते तनूः ।

अ. २।१३।४

आ, इस शिलापर चढ, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने ।

वाचस्पतिः तेषां तन्वः बला मे अद्य दधातु ॥

अथर्व १।१।१

वाचस्पति उनके शरीरके बलोंको मुझमें आज धारण करे । (विश्वमें जो पदार्थ हैं उनके बल मुझे प्राप्त हों और मै उनसे बलवान् बनकर इस विश्वमें विश्वसेवाका कार्य करता रहूं ।)

वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥

अथर्व १।२।२

वीडुः वरीयः अरातीः द्वेषांसि अपाकृधि— हमारे शरीर बलवान् और श्रेष्ठ बनें । शत्रुओं और द्वेष करनेवालोंको दूर कर ।

ओजोऽस्योजो मे दाः। सहोऽसि सहो मे दाः।
बलमसि बलं मे दाः। आयुरसि आयुर्मे
दाः। श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः। चक्षुरसि
चक्षु र्मे दाः। परिपाणमसि परिपाणं मे दाः।

अ. २।१७।१-७

सामर्थ्य, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, बल, आयु, कान, आंख, संरक्षण यह तुम्हारा रूप है अतः तू मुझे ये गुण दे ।

स्रक्त्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्यभिचरणोऽसि।

अ. २।११।२

तू (आत्मा) गतिशील है, तू आगे बढनेवाला है, तू दुष्टताको दूर करनेवाला है ।

शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि, स्वरसि, ज्योतिरसि ।

अ. २।११।५

तू शुद्ध तथा वीर्यवान् है। तू तेजस्वी है, तू आत्मशक्ति है, तू ज्योति है ।

प्र च वर्धयेमम्। अ. २।६।२
इसको विशेष ऊंचा कर।
सबका बल, तेज, ज्योति, वीर्य, बढे और सब लोग तेजस्वी बनें और सबका सामर्थ्य बढे।

वीरता

प्रजां त्वष्टरधि निधेह्यस्मे। अ. २।२९।२
हे त्वष्टा! इसको सुप्रजा दे।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः।
अ. ३।२३।२
तेरे लिये दशवें मासमें जन्मनेवाला वीर पुत्र होवे।
अथास्माकं सह वीरं रयिं दाः। अ. २।६।५
हमें वीरोंके साथ रहनेवाला धन दे।
सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्।
अ. ३।१०।५
हम उत्तम प्रजावाले तथा उत्तम वीरोंसे युक्त होकर धनोंके स्वामी बनें।
तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया। अ. ३।५।८
तू सजातीय वीर मुझ वीरके साथ रहकर शरीर रक्षक है।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः।
अ. १।२१।१
बलवान्, शान्ति करनेवाला, सोमरस पीनेवाला शत्रुनाशक वीर हमारा अगुवा बने।

ज्ञान

घोरा ऋषयो, नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्। अ. २।३५।४
ऋषि बडे तेजस्वी हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो, इनकी आंख और मन सत्यस्वरूप रहते हैं।
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥
अ. ३।३०।४
जिससे ज्ञानी आपसमें झगडते नहीं और आपसमें द्वेष भी नहीं करते, वह श्रेष्ठ ज्ञान आपके घरके पुरुषोंके लिये मैं करता हूं।
ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु, मान्ये। अ. २।६।२
ज्ञानी ही तेरे यशके भागी बनें, न दूसरे।

मयि एव अस्तु मयि श्रुतम्। अथर्व० १।१।२;३
पढा हुआ, सुना हुआ ज्ञान मेरे अन्दर स्थिर रहे। (प्राप्त किया ज्ञान भूला न जाय।)
सं श्रुतेन गमेमहि। मा श्रुतेन विराधिषि॥
अथर्व० १।१।४
हम सब ज्ञानसे युक्त हों। हम कभी ज्ञानसे वियुक्त न हों।
इमं वर्धयता गिरः। अ. १।१५।२
वाणियां इसका गुणवर्धन करें। गुणगान करें।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि। अ. २।१०।१
ज्ञानसे मैं तुझे निष्पाप करता हूं।
उपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्। अथर्व० १।१।४
ज्ञानी हमें बुलावें (और उपदेश करें, हमें मार्ग बतावे।)
सूर्य चक्षुषा मा पाहि। अ. २।१६।३
हे सूर्य! आंखसे मेरी सुरक्षा कर।
विङ्ढि, शक्र धिया इहि आ नः। अ. २।५।४
उत्तम राज्यशासन कर, हे इन्द्र! हमारे पास बुद्धिकी योजनासे आओ।
एहि देवेन मनसा सह। अथर्व १।१।२
दिव्य मनके साथ इधर (मेरे समीप) आ। (मनमें दिव्य शक्ति है, उस दिव्य शक्तिसे प्रभावित हुए मनसे यहां आओ। मनमें दिव्य शक्ति धारण करके, जहां जाना हो, जाना चाहिये।)
व्यापस्तृष्णयासरन्। अ. ३।३१।३
जल तृषासे दूर रहता है।
इमामग्ने शरणिं मीमृषो नः। अ. ३।१५।४
हे अग्ने! मेरी इस भूलकी क्षमा करो।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति। अ. २।१२।६
ज्ञानका द्वेष करनेवाले उस दुष्टको सब कार्य तापदायक हों। उस ज्ञानके द्वेष्टाको आकाश संतप्त करे।
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधिदेवा मुञ्चतो असृजन्निरेणसः। अ. २।१०।८
देवोंने अंधकारकी पकडसे तथा पापसे मुक्त करके सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है।

प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ।

अ. ३।२०।९

मनसे और हृदयसे सब संकल्पोंको प्राप्त कर सकूं ।

ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।

अ. २।१२।६

जो हमारे ज्ञानकी निंदा करता है । (वह संतापको प्राप्त हो)

तेजस्विता

सह वर्चसोदिहि । अ. ३।४।१

तेजके साथ उदयको प्राप्त हो ।

तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥

अ. ३।२२।३

हे अग्ने ! उस तेजसे मुझे आज तेजस्वी कर ।

दवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ।

अ. ३।२२।२

सबका धारण करनेवाले देव मुझे तेजसे तेजस्वी करें ।

देवा इमं उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ।

अ. १।९।१

देव इस पुरुषको उत्तम प्रकाशमें धारण करें ।

ज्योक् च सूर्य दृशे । अ. १।६।३

सूर्यको मैं दीर्घकालतक देखूं। (मैं दीर्घायु बनूं।)

उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् । अ. १।९।२;४

इसको उत्तम स्वर्गमें चढाओ, इसको उत्तम सुखमें रख।

नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः । अ. १।१३।३

तेरे शस्त्रके लिये तथा तेरे तेजके लिये प्रणाम करता हूं।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन, विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्राः । अ. २।६।१

दिव्य तेजसे तेजस्वी हो और संपूर्ण चारों दिशाओंको प्रकाशित करो ।

आप्नुहि श्रेयांसं अति समं क्राम । अ. २।११।१

परम कल्याणको प्राप्त करके अपने समान जो होंगे उनसे आगे बढ, उन्नत हो ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु । अ. १।९।२

हे देवों ! इसके चारों ओर प्रकाश रहे ।

आ रुन्धां सर्वतो वायुः, त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥

अ. ३।२०।१०

प्राणवायु सब ओरसे मुझे घेरे और त्वष्टा मुझे पुष्टि देवे ।

इष्टापूर्तमवतु नः । अ. २।१२।४

इष्ट कर्म तथा पूर्त कर्म हमारी रक्षा करें । (इच्छापूर्वक किया कर्म इष्ट और अपूर्णको पूर्ण करनेका कर्म पूर्त है ।)

धन

त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ।

अ. ३।२०।५

हे देव ! तू दान देनेवालेके लिये दानके अर्थ धनको प्रेरित करो ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति । ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ अ. ३।१५।२

जो सज्जनोंके जाने आनेके बहुतसे मार्ग द्यावा पृथिवीके बीचमें चल रहे हैं, वे मुझे घी और दूधसे तृप्त करें । जिनसे चलकर क्रयविक्रय करके मैं धनको प्राप्त करूं ।

यमध्वानमगाम दूरम् ।

शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु । अ. ३।१५।४

मैं दूर मार्गपर आया हूं । क्रयविक्रय हमें हितकारी हों । प्रत्येक व्यापार मुझे लाभदायी हो ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तन्मे भूयो भवतु मा कनीयो सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥ अ. ३।१५।५

हे देवो ! जिस धनसे मैं व्यापार करता हूं, वह धनसे धन कमानेकी इच्छा करके करता हूं । वह धन हमारे कार्यके लिये पर्याप्त हो, कम न हो । लाभमें हानि करनेवाले जो हों उनका निषेध तू कर ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ अ. ३।१५।६

हे देवों ! धनसे धन प्राप्तिकी इच्छा करके जिस धनसे मैं व्यवहार कर रहा हूं, उसमें इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, और अग्नि मेरी रुचि स्थिर रखे ।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ अ. ३।१५।८

धनकी पुष्टी और अन्नसे आनंदित होते हुए, तेरे उपासक हम, हे अग्ने ! कभी नष्ट न हों ।

इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो विभरद्धिरण्यम्। अ. १।३५।२

इन्द्रके समान हम इंद्रियोंको धारण करते हैं जो दक्षतासे सुवर्ण धारण करता है (उसमें उत्तम इंद्रिय शक्ति रहती है।)

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्। अ. १।३५।२

इस सुवर्णको राक्षस और पिशाच (सूक्ष्मरोग कृमि) नहीं सह सकते। क्योंकि यह देवोंका पहिला सामर्थ्य है।

तं जानन्नग्न आरोहाधा नो वर्धया रयिम्।
अ. ३।२०।१

हे अग्ने! उस मार्गको जानकर ऊपर चढ और हमारे धन बढा दो।

नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्। अ. ३।१५।१

मार्गपर लूटनेवाले, ढूंढते रहनेवाले शत्रुको दूर करके, वह ईश्वर मुझे धन देनेवाला होवे।

भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम। अ. ३।१६।३

हे भग! गौओं और अश्वोंके साथ हमारी संतान वृद्धि कर। हम अच्छे मानवोंके साथ रहकर मानवोंसे युक्त हों।

तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह। अ. ३।१६।५

हे भगवान् प्रभो! तुझको मैं सब प्रकारसे भजता हूं। वह तू हमारा अगुवा हो।

मयि पुष्यत यद्वसु। अ. ३।१४।२

हे गौओं! जो धन है उससे मेरे साथ तुम हृष्ट-पुष्ट बनो।

अथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः। अ. ३।१२।५

हमें वीर पुत्रोंके साथ धन दो।

रयिं देवी दधातु मे। अ. ३।२०।३

देवी मुझे धन देवे।

रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ। अ. ३।२०।८

हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन दो।

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु। अ. ३।१५।१

मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूं, वह हमारे पास आवे और वह हमारा अगुवा बने। (इन्द्र-शत्रुका विदारण करनेवाला)

यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्। अ. ३।१५।३

जिससे इस दिव्य बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करने योग्य होऊं।

शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च। अ. ३।१५।४

हमारा चालचलन और उत्थान हमें लाभदायी होवे।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः। अ. ३।१६।३

हे भग, हे बडे नेता, सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो! इस बुद्धिको देकर हमारा रक्षण कर।

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेन वयं भगवन्तः स्याम। अ. ३।१६।५

भाग्यवान् भगदेव मेरे साथ रहे, उसके साथ रहनेसे हम भाग्यवान् हों।

भगस्य नावमारोह, पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय, यो वरः प्रतिकाम्यः॥ अ. २।३६।५

पूर्ण तथा अटूट ऐश्वर्यकी नौकापर चढ, उस नौकासे उसके पास जा जो वर तेरी कामनाके योग्य हो।

परि मां, परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम्।
अ. २।७।४

मेरी रक्षा कर, मेरी प्रजाकी रक्षा कर, हमारे धनकी रक्षा कर।

उच्च तिष्ठ महते सौभगाय। अ. २।६।२

बडे सौभाग्यके लिये ऊंचा होकर रह।

अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः। अ. १।१५।२

इसमें पर्याप्त धन रहे।

धनका महत्व राष्ट्रकी उन्नतिमें तथा व्यक्तिकी उन्नतिमें बहुत है। इसलिये वेदमें धनके विषयमें बहुत ही आदर प्रकट किया है। धनके संबंधमें ये सब वचन ध्यानमें धरने योग्य हैं परंतु इनमें ये वचन वारंवार मनन करने योग्य हैं--

रयिं दानाय चोदय— धनको दानमें प्रेरित कर।

दक्षमाणो विभरद्धिरण्यम्— दक्ष सुवर्णका भरण करता है।

नो वर्धया रयिं— हमारा धन बढाओ।
ईशानो धनदा अस्तु मह्यं— परमेश्वर मुझे धन देनेवाला हो।
मयि पुष्यतु यद्वसु— जो धन है वह मेरे पास बढता रहे।
अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः— हमें वीर पुत्रोंसहित धन दो।
रयिं देवी दधातु मे— देवी मुझे धन देवे।
रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ— धन और वीर पुत्र हमें दो।
वयं भगवन्तः स्याम— हम धनवान् हों।
भगस्य नावमारोह— ऐश्वर्यकी नौका पर चढ।
परि णः पाहि यद्धनम्— हमारे धनका संरक्षण कर।
उच्च तिष्ठ महते सौभगाय— बडे सौभाग्यके लिये उठकर खडा रह।
अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः— इसके पास धन रहे।

ऐसे वचन हैं जो मनमें रखने योग्य होते हैं। इनमेंसे कोई एक वचन मनमें १०।२० वार विचारपूर्वक रखिये। ऐसा करनेसे धनका महत्त्व ध्यानमें आ जायगा और धन पास रहनेसे कैसा सुख होगा, इसका भी पता लग जायगा।

आरोग्य

तेना ते तन्वे शं करं, पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति। अथर्व १।३।१-५

उससे तेरे शरीरका कल्याण करता हूं, पृथिवीपर तेरा सुखसे रहना हो। तेरे शरीरसे सब दोष दूर हों।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि॥
अ. २।३१।४

आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें रहनेवाले, रेंगनेवाले, बुरे स्थानमें होनेवाले जो कृमि हैं, उनको मैं वचासे हटाता हूं।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥ अ. २।३१।५

जो रोगकृमि पर्वतों, वनों, औषधियों, पशुओं, जलोंमें तथा हमारे शरीरोंमें घुसे हैं, उन कृमियोंका जन्म मैं नष्ट करता हूं।

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु, निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि॥ अ. २।३२।१

उदय होनेवाला सूर्य रोगकृमियोंका नाश करे, अस्त होनेवाला सूर्य किरणोंसे कृमियोंका नाश करे जो कृमि भूमि पर हैं।

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारंगमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥
अ. २।३२।२

अनेक रूपोंवाले, चार आंखवाले, रेंगनेवाले, श्वेतरंगवाले ऐसे अनेक प्रकारके कृमि होते हैं, उनके पीठ और सिर मैं तोडता हूं।

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥
अ. २।३२।३

अत्रि, कण्व, जमदग्निके समान मैं कृमियोंका नाश करता हूं। अगस्त्यकी विद्यासे मैं कृमियोंको कुचलता हूं।

हतो राजा क्रिमीणां उतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥
अ. २।३२।४

कृमियोंका राजा मारा गया, उनका स्थानपति मारा गया है। कृमिकी माता, बहिन और भाई मारा गया है।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥
अ. २।३२।५

इस कृमिके परिचारक मारे गये, इसके सेवक पीसे गये, जो क्षुल्लक कृमि हैं वे सब मारे गये हैं।

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसे।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः॥ अ. २।३२।६

तेरे सींग काटता हूं जिनसे तू काटता है, तेरे विषधानको मैं तोडता हूं जिसमें तेरा विष रहता है।

पराच एनान् प्रणुद कण्वान् जीवितयोपनान्।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम्॥
अ. २।२५।५

इन जीवनका नाश करनेवाले रोगक्रिमि दूर कर, जहां अंधेरा रहता है वहां इन मांसभक्षक कृमियोंको पहुंचा देते हैं।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि, प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । अ. २।१०।५

तुझको वृद्धावस्थामें मैं धारण करता हूं । क्षय रोग तथा अन्य सब कष्ट तुझसे दूर चले जांय ।

अग्नी रक्षोहामीवचातनः । अ. १।२८।१

अग्नि राक्षसोंका नाश करके रोगोंको दूर करनेवाला है । (रक्षः- रोगकृमि)

अनुसूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते ।
गोरोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदध्मसि ॥ अ. १।२२।१

तुम्हारा हृदयविकार तथा कामिला या पीलापन सूर्योदयके साथ आनेवाले लाल किरणोंके लाल वर्णसे तुझे चारों ओर घेर कर मैं दूर करता हूं ।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् । अ. १।२३।२

इस शरीरसे कुष्ठ व सफेद धब्बे दूर कर ।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् । अ. १।२३।४

दोषके कारण त्वचापर उत्पन्न हुए, अस्थिसे तथा शरीरसे उत्पन्न हुए, कुष्ठका जो त्वचापर चिन्ह है उसको हम ज्ञानसे विनष्ट करते हैं ।

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः । यस्य स्थ तमत्त, यो वः प्राहैत्तमत्त, स्वा मांसान्यत्त ॥ अ. २।२४।१

हे वध करनेवाले शस्त्र ! तुम्हारे यातना देनेवाले शस्त्र, तथा हे खाऊ लोगों ! तुम जिनके हो उसको खाओ, जिन्होंने तुम्हें भेजा है उनको खाओ, अपने ही मांस खाओ । (हम सुरक्षित रहें ।)

गिरिमेनां आवेशय कण्वान् जीवितयोपनान् । अ. २।२५।४

इन जीवितका नाश करनेवाले, पीडा देनेवाले कृमियोंको पहाडपर पहुंचाओ (ये रोगकृमि हमें कष्ट न दें ।)

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अ. २।१०।७

आनुवंशिक रोग, कष्ट, संबंधियोंसे कष्ट, द्रोह तथा वरुणके पाशसे तुझे मैं छुडवाता हूं ।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरुरूमतृहम । अल्गण्डून् त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ अ. २।३१।२

दीखनेवाले, न दीखनेवाले कृमियोंको मैं मारता हूं । रेंगनेवाले कृमियोंको मैं विनष्ट करता हूं । बिस्तरे पर रहनेवाले सब कृमियोंको वचासे मैं नष्ट करता हूं ।

निःशालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ अ. २।१४।१

घरदार न होना, भयभीत होना, एकवचनी निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करना, क्रोधकी सब संतानें, दानववृत्तियां आदिका हम नाश करते हैं ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् । अ. ३।११।१

यदि जकडनेवाले रोगने इसको पकड रखा हो, तो उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावें ।

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय । अ. १।२३।२

तुम्हारे शरीरका निजवर्ण तुम्हें प्राप्त हो और श्वेत धब्बे दूर हों ।

अमुक्था यक्ष्मात् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । अ. २।१०।६

क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहियोंके पाश और जकडनेवाले रोग आदिसे मैं तुम्हें छुडाता हूं ।

दूष्या दूषिरसि, हेत्या हेतिरसि, मेन्या मेनिरसि । अ. २।११।१

दोषको दूर करनेवाला, हथियारका हथियार, वज्रका वज्र तू (आत्मा) है ।

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु । अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय । अ. २।९।१

हे दशवृक्ष ! इस राक्षसी गठियारोगसे इस रोगीको दूर कर । जो रोग इसको संधियोंमें पकड रखता है। हे वनस्पति ! इसको जीवित लोगोंमें ऊपर उठा ।

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे

कृणोमि। यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीय काय नमोऽस्तु तक्मने ॥ अ. १।२५।४

शीतज्वरके लिये नमस्कार, रूक्ष ज्वरके लिये नमस्कार जो एक दिन छोडकर आता है, जो दो दिन आता है, जो तीसरे दिन आता है उस ज्वरके लिये नमस्कार हो।

अर्थात् यह ज्वर हमसे दूर हो।

यदिस्थ क्षेत्रियाणां यदि पुरुषेषिताः।
यदि दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः॥
अ. २।१४।५

यदि आनुवंशिक दोष हैं, यदि मनुष्यकी प्रेरणासे हुए हैं, यदि दस्युओंसे हुए हैं वे सब दोष यहांसे हटें।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्। अनीनशत् किलासं सरूपामकरत्त्वचम् ॥ अ १।२४।२

आसुरीने पहिले यह कुष्टनाशक औषध बनाया। इससे कुष्ठ विनष्ट हुआ और त्वचा समान रंगवाली बनी।

आरोग्यके विषयमें रोगकृमिका नाश करना मुख्य है। स्वच्छता की जाय, शुद्ध वायु आता रहे, सूर्यप्रकाश आजाय, हवन गौके घीका होता रहे ये सब बातें आरोग्य-संवर्धनके लिये अत्यावश्यक हैं।

सूर्य रोगकृमियोंका नाशक मुख्यतया है। सूर्यप्रकाश साफसफाई करनेवाला है इसलिये रहनेके घरमें सूर्यप्रकाश विपुल आना चाहिये।

अग्नी रक्षोहाऽमीवचातनः।

अग्नि रोगकृमियोंका नाशक और रोग दूर करनेवाला है। इस रीतिसे इन मंत्रोंका विचार करना चाहिये।

विजय

सपत्न-क्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥
अ. १।२९।६

मैं शत्रुका नाश करनेवाला, बलवान्, राष्ट्रहितकर्ता, दुष्टोंको दूर करनेवाला, इन वीरोंमें श्रेष्ठ होकर सब लोगोंका माननीय बनूं।

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्। अ. २।१३।१
पिता पुत्रोंकी रक्षा करता है उस तरह इसकी रक्षा करो।

आशीर्ण, ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं, दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ। जयं क्षेत्राणि सहसाय-मिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥
अ. २।२९।३

हमें आशीर्वाद दो, हे संतुष्ट मनवालो! बल, सुप्रजा, दक्षता तथा धन हमें दो। यह अपने बलसे विविध क्षेत्रोंमें जय प्राप्त करे और दूसरे शत्रुओंको नीचे करे।

विश्वा रूपाणि बिभ्रतः त्रिषप्ताः परियन्ति।
अथर्व १।१।१

सब रूपोंको धारण करके, तीन गुणा सात (अर्थात् इक्कीस) पदार्थ सर्वत्र चलते हैं। (ये इक्कीस पदार्थ विश्वमें दीखनेवाले पदार्थोंके रूप धारण करते हैं।)

यः सहमानश्चरति सासहान इव ऋषभः।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि।
अ. ३।६।४

जो बलवान् शत्रुको दबानेवाला, सामर्थ्यवान् होकर चलता है, उस वीरसे हम शत्रुओंको पराजित करेंगे।

मनुष्यके जीवनमें शत्रुका पराभव करना और विजय प्राप्त करना मुख्य बातें हैं। इसीसे मनुष्य सुखी हो सकता है।

सुखप्राप्ति

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। अ. १।३१।४
माता, पिता, गौवें, पुरुष तथा चलनेवाले प्राणियोंको सुख प्राप्त हो।

ते विशि क्षेममदीधरन्। अ. ३।३।५
प्रजाजनोंमें तेरा क्षेम धारण करें।

मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ। अ. २।२८।५
हे अदिते! माताके समान इसे सुख दे।

एतु प्रथमाजातामुषिता पुरः। अ. १।२७।४
पहिली, अपराजित, न लुटी हुई होकर आगे बढे।

शर्म यच्छथाः सप्रथाः। अ. १।२६।३
हमें प्रयत्नशील होकर सुख दो।

व्यार्त्या पवमानः । अ. ३।३१।२
शुद्ध मनुष्य पीडासे दूर रहता है ।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मा-
दुत राजयक्ष्मात् । अ. ३।११।१
सुखपूर्वक जीवनके लिये तुझको हम अज्ञात रोगसे तथा राजयक्ष्मासे हवन द्वारा छुडाते हैं ।

मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ।
अ. १।१३।२
हमारे शरीरोंको सुख हो, हमारे बालबच्चोंको सुख दो ।

वि महच्छर्म यच्छ, वरीयो यावया वधम् ।
अ. १।२० ३
बडा शान्तिसुख हमें दो, शत्रुका शस्त्र हमसे दूर कर दो ।

कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता । अ. ३।२९।७
काम दाता और काम ही लेनेवाला है ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।
अ. ३।२४।५
किये हुए कार्यकी यहां वृद्धि कर ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं
तन्वः स्वायाः । तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव
सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशून् ॥ अ. ३।२८।५
जहां सुहृद तथा सत्कर्मकर्ता, अपने शरीरके रोगको त्याग कर आनंदसे रहते हैं, हे जुडवे बच्चे देनेवाली गौ ! उस स्थानपर जाकर रह, हमारे मनुष्यों और पशुओंकी हिंसा न हो ।

सर्वान् कामान्पूरयत्याभवन् प्रभवन्भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥
अ. ३।२९।२
यह दिया हुआ करभार सब प्रजाके संकल्पोंको पूर्ण करता है । हिंसकोंको दबाता है । प्रजाका रक्षण करता है । प्रभावी बनकर, अस्तित्वका रक्षण करता है और विनाशसे बचाता है ।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु । अ. १।३१।४
हम सबके लिये यह विश्व उत्तम सहायक तथा ज्ञान देनेवाला हो ।

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
अ. ३।२०।२
यहां हमारे साथ अच्छी तरह बोल । हमारे सन्मुख उत्तम मनवाला हो ।

वि पन्थानो दिशं दिशम् । अ. ३।३१।४
मार्ग भिन्न दिशाओंमें भिन्न-भिन्न होकर जाते हैं ।

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा
चक्षुषा च । अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो
विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ अ. २।३४।३
बद्धको जो मनसे और आंखसे प्रेमपूर्वक देखते हैं, उनको विश्वका बनानेवाला और प्रजाके साथ रहनेवाला अग्नि देव प्रथम मुक्त करे ।

बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो, विश्वकर्मन्, नम-
स्ते, पाह्यस्मान् ॥ अ. २।३५ ४
महाशक्तिमान् ! ज्ञानी तेजस्वी विश्वके रचयिता, आपको हमारा नमस्कार हो, आपको नमस्कार है, हमारी सुरक्षा कर ।

स्वर्णोप त्वां मदाः सुवाचो अगुः । अ. २।५।२
स्वर्गीय आनंदके समान उत्तम भाषणसे होनेवाले आनंद तुम्हारे पास पहुंचे हैं ।

सुषूदत, मृडत, मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोके-
भ्यस्कृधि । अ. १।२६।४
आश्रय दो, सुखी करो, हमारे शरीरोंको सुखी रखो । हमारे बालबच्चोंके लिये आनंद प्राप्त हो ऐसा करो ।

इमां देवा असाविषुः सौभगाय । अ. १।१८।२
इस कन्याको देवोंने सौभाग्यके लिये उत्पन्न की है ।

शं मे चतुर्भ्यो अंगेभ्यः शमस्तु तन्वे मम ।
अ. १।१२।४
'मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य हो, मेरे शरीरके लिये नीरोगिता हो ।

अग्निं च विश्वशंभुवम् । अ. १।६।२
अग्नि सब प्रकारका सुख देनेवाला है ।

यो ददाति शितिपादविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रीयते
अबलेन बलीयसे ॥ अ. ३।२९।३
जो लोगोंसे संमानित, हिंसकोंका नाश करनेवाले संरक्षक करभारको देता है, वह दुःख रहित स्थानको प्राप्त करता है, जहां निर्बलको बलवानके लिये धन नहीं देना होता है ।

इस तरह सुख प्राप्त हुआ तो मनुष्यकी आयु दीर्घ होती है। रोग दूर हो, स्वास्थ्य प्राप्त हो, मन आनन्द प्रसन्न रहे तो मनुष्य दीर्घायु होता है।

दीर्घ आयु

इस प्रकरणमें आये मंत्रोंका विशेष उपयोग है। इन मंत्रभागोंका जप करनेसे लाभ होता है—

शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः। अ. ३।११।६

इसका शरीर और इसके अवयव वृद्धावस्थातक पहुंचाओ।

ये देवा दिवि ष्ठ, ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वन्तः। ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून्॥ अ. १।३०।३

जो देव द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वीपर हैं। जो औषधियों और पशुओंमें हैं। वे देव इसके लिये वृद्धावस्थातककी आयु करें। सैकडों अन्य प्रकारके मृत्यु दूर हों।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्। अ. २।१३।४

सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी करें।

तं प्रियासं वहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। अ. ३।५।४

उस प्रियंको प्राप्त कर, बहुत प्रकाशित होकर, सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करू।

दशमीमुग्रः सुमना वशेह। अ. ३।४।७

तू यहां उग्रवीर तथा उत्तम मनवाला होकर दसवीं दशक तक सब राज्यको अपने वशमें (अर्थात् अपने अनुकूल) कर।

परि धत्त, धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः। अ. २।१३।२

हमारे इस पुरुषको धारण करो, तेजसे युक्त करके इसका धारण करो, दीर्घायु इसको देकर जरावस्थाके पश्चात् इसका मृत्यु हो ऐसा करो।

शतं च जीव शरदः पुरूची, रायस्पोषमुपसंव्ययस्व। अ. २।१३।३

सौ वर्षतक पूर्ण रीतिसे जीओ और धन और पोषण उत्तम रीतिसे प्राप्त करो।

इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां, सा त एषा। तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा, मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन्॥ अ. २।२९।७

इन्द्रने भक्ति करनेपर अन्न, बल, धारकशक्ति, अक्षीणता आदिको उत्पन्न किया, यह शक्ति तुम्हारे लिये है। इससे तू युक्त होकर बहुत वर्ष जीवित रह, तेजस्वी बन, तेरे लिये न्यूनता न हो। वैद्योंने तेरे लिये यह रसयोग बनाया है।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्वा। अ. ३।११।८

जिस तरह गाय और बैलको रज्जुसे बांधते हैं वैसा वृद्धावस्था तेरे साथ बंधी रहे।

जरायै त्वा परिददामि। अ. ३।११।७

वृद्धावस्थाके लिये तुझे देता हूं।

वि देवा जरसावृतन्। अ. ३।३१।१

देव जरासे दूर रहते हैं।

स्वस्त्येनं जरसे वहाथ। अ. १।३०।२

इसको वृद्ध आयुतक सुखसे पहुंचा दे।

विश्वेदेवा जरदष्टिर्यथासत्। अ. २।२८।५

सब देव यह वृद्ध होनेतक जीवे, ऐसा करें।

जरायै निधुवामि ते। अ. ३।११।७

वृद्धावस्थातक तुझे पहुंचाता हूं।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट्र। अ. ३।११।७

तुझे वृद्धावस्था सुख देवे।

वि यक्ष्मेण, समायुषा। अ. ३।३१।१-११

यक्ष्मरोगसे मैं दूर रहूं। दीर्घायुसे मैं संयुक्त रहूं।

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ। अ. २।२८।२

मित्र तथा शत्रुनाशक वरुण जानते हुए इसको जराके पश्चात् मृत्युको प्राप्त होनेवाला दीर्घायु करें।

दीर्घायुत्वाय महते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव। मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्॥ अ. २।४।१

दीर्घायु प्राप्त हो, बडा आनंद प्राप्त हो, शोषकरोग दूर हो इसके लिये जंगिड मणिको, हम सब विनष्ट न होनेवाले और अपना बल बढानेकी इच्छा करनेवाले सदैव धारण करते हैं।

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम्। अ. २।२९।२

धन और पोषण, हे सविता! इसे तू दे। और यह मेरा बनकर सौ वर्ष जीवित रहे।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्। अ. ३।११।३

सब पापजनित दुःखके पार इसको इन्द्र ले जाय और वह सौ वर्षकी आयु इसे मिले ऐसा करे।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान् शतमु वसन्तान्। अ. ३।११।४

सौ वर्षतक बढता हुआ जीवित रह। सौ हेमन्त, सौ वसन्त और सौ शरद ऋतुतक जीवित रहे।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा हार्षमेनम्। अ. ३।११।३

सहस्रों शक्तियोंसे युक्त, सौ वीर्योंसे युक्त, शतायु करनेवाले हवनसे इसको मैं मृत्युसे वापस लाया हूं।

शतायुषा हविशाहार्षमेनम्। अ. ३।११।४

सौ वर्षकी आयु देनेवाले हवनसे मैं इसे वापस लाया हूं।

शतं जीवाति शरदस्तवायम्। अ. १।१०।२

तुम्हारा यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहे।

आयुरस्मै धेहि जातवेदः। अ. २।२९।२

हे जातवेद! इसको दीर्घायु दे।

यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यां उदमुञ्चद्बृहस्पतिः॥ अ. ३।११।८

जिस मृत्युने तुझे उत्पन्न होते ही बांध रखा है उस तुझको बृहस्पति सत्यके हाथोंसे छुडा देता है।

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये। अ. २।२८।१

हे वृद्धावस्थे! तेरी आयुतक यह मनुष्य बढे। ये जो सैकडों मृत्यु हैं वे इसकी हिंसा न करें।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्। अ. २।२८।५

हे अग्ने, हे वरुण, हे मित्र राजन्! इसको वीर्यवान् करके दीर्घायु तथा तेजके प्रति ले जा।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरंतिकं नीत एव। तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥ अ. ३।११।२

यदि इसकी आयु समाप्त हुई हो, यदि यह मृत्युके समीप पहुंचा हो, तो भी विनाशके पाससे मैं इसको वापस लाता हूं और इसको सौ वर्षतक मैं जीवित रखता हूं।

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः। अ. १।३५।२

जो दाक्षायण सुवर्ण शरीरपर धारण करता है वह जीवोंमें दीर्घायु धारण करता है।

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत्। अ. १।२२।२

लाल रंगोंके किरणोंमें मैं तुझे दीर्घायु प्राप्त होनेके लिये धरता हूं। इससे यह नीरोग होगा और पीलिमा भी इससे दूर होगी।

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन। अ. ३।३१।१०

आयुष्यसे उच्च बन, दीर्घायुसे युक्त हो, औषधियोंके रससे उन्नतिको प्राप्त हो।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

यह जंगिड मणि हिंसासे बचानेवाला है, शत्रु भूत रोगोंको दूर करनेवाला है और बल बढानेवाला है, वह हमारी आयुको बढावे।

यदा बध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः। तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ अ. १।३५।१

उत्तम मनवाले बलकी वृद्धि करनेकी कामना करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष सैकडों बल प्राप्त करनेके लिये शरीरपर सुवर्ण (का आभूषण) रखते हैं। वह सुवर्ण दीर्घायु, तेजस्विता, बल, सौ वर्षकी दीर्घ आयु तुम्हें प्राप्त हो इसलिये तेरे शरीरपर बांधता हूं।

व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान् शतम्। अ. ३।११।५;७

सैंकडों प्रकारके मृत्यु या दुःख इनसे दूर हो।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
अ. ३।३१।११

पर्जन्यकी वृष्टिजलसे हम उन्नतिको प्राप्त हों और हम अमर बनें। हमें शीघ्र मृत्यु न आवे।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
अ. ३।११।६

हे प्राण और अपान यहां ठहरो, तुम इससे दूर न जाओ।

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव, मा मृथाः ।
अ. ३।३१।९

जीवित रहनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति प्राप्त कर और यहां जीवित रह, मत मर जा।

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः । अ. २।२८।४

प्राण तथा अपान द्वारा सुरक्षित होकर यह सौ हिम-काल-सौ वर्ष-जीवित रहे।

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव, मा मृथाः ।
अ. ३।३१।८

दीर्घ आयुवालों और आयुष्य बढानेवालोंकी जैसी प्राण-शक्तिसे जीवित रह, मत मर जा।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं । अ. २।१६।१

हे प्राण और अपान ! मृत्युसे मेरी सुरक्षा करो।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अ. ३।११।५

जैसे बैल गोशालामें जाते हैं वैसे प्राण और अपान इसके देहमें प्रविष्ट होते रहें।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधि-
षुर्मो अमित्राः । अ. २।२८।३

इसको प्राण न छोडे, अपान न छोडे, इसका वध मित्र न करें और इसका वध शत्रु भी न करें।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ अ. २।१५।४-६

ज्ञान और शौर्य, सत्य और ऋत, भूत और भविष्य डरते नहीं इसलिये विनष्ट नहीं होते, इस तरह मेरा प्राण न डरे और विनष्ट न हो।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरा मृत्युं कृणुतां
संविदाने । अ. २।२८।४

द्यु पिता और पृथिवी माता ज्ञानपूर्वक इसको जराके पश्चात् मृत्यु हो ऐसा करें।

मनुष्य दीर्घ आयु चाहता है। इसलिये दीर्घायु चाहने-वाला मनुष्य यहां दिये, वचनोंका जप करें, वारंवार उच्चा-रण करें, वारंवार भजन करें। लाभ अवश्य होगा जैसा—

शरीरं अस्याङ्गानि जरसे वहतं— इसका शरीर और इसके अंग वृद्ध अवस्थातक पहुंचा दो।

यह वचन अपने शरीरके विषयमें भी वारंवार बोला जा सकता है। मनके दृढ विश्वाससे लाभ होता है। तथा—

कृणुत जरसं आयुः अस्मै— इसकी आयु वृद्ध अवस्थातक करो।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतं— सब देव सौ वर्षोंकी तुम्हारी आयु करें।

दशमीं उग्रः सुमना वशेह— यह उग्रवीर बनकर दसवीं दशकतक जीवित रहे।

जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः— इसको दीर्घायु करके जराके पश्चात् मृत्यु हो।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः— सौ वर्षकी दीर्घायु इसे मिले।

त्वं जीव शरदः सुवर्चाः— उत्तम तेजस्वी होकर सौ वर्ष जीवित रह।

जरायै त्वा परि दधामि— वृद्धावस्थातक तुझे पहुं-चाता हूं।

स्वस्त्येनं जरसे वहाथ— सुखपूर्वक वृद्ध अवस्थातक इसे पहुंचा दो।

जरायै नि धुवामि ते— तुझे वृद्धावस्थातक पहुं-चाता हूं।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट— हितकर वृद्धावस्था तुझे प्राप्त हो।

वि यक्ष्मेण, समायुष्य— तेरा रोग दूर हो और तुझे आयुष्य प्राप्त हो।

शतं जीवाति शरदस्तवायम्— तेरा यह मनुष्य सौ वर्ष जीवे।

शतं जीव शरदो वर्धमानः— बढता हुआ सौ वर्ष जीवित रह।

शतायुषा हार्षमेनम्— सौ वर्षकी आयुके साथ इसे मैं (मृत्युसे) वापस लाया हूं।

आयुरस्मै धेहि— इसको आयु प्रदान करो।

मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये— सैकडों मृत्यु इसका नाश न करें।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय— हे अग्ने! इसे आयु और तेजके लिये ले जा।

अस्पार्षमेनं शतशारदाय— सौ वर्षकी आयुके लिये मैं इसे स्पर्श करता हूं।

तत्ते बध्नामि आयुषे— आयुष्यकी प्राप्तिके लिये तुझे यह मणि बांधता हूं।

मा मृथाः— मत मर।

प्राणेन जीव— प्राणसे जीवित रह।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं— प्राण और अपान मृत्युसे मुझे बचावें।

जरा मृत्युं कृणुतां— जराके पश्चात् मृत्यु हो।

इस तरह अन्यान्य वचनोंका भी उपयोग हो सकता है। कोई बीमार पडा हो, तो पवित्र होकर सिरकी ओरसे पांवतक अपने हाथोंको घुमाना और ये मंत्रभाग बोलना, मनमें ही निग्रहपूर्वक बोलना। वारंवार बोलना। अपने हाथोंमें बीमारी दूर करनेकी शक्ति है ऐसा मानकर इससे बीमारी दूर होगी ऐसे विश्वाससे यह करना। रोगीका भी साथ-साथ विश्वास हो तो लाभ शीघ्र होगा। अन्य वचन अन्य समय बोलनेके लिये हैं। यह विचार करके पाठक जान सकते है।

वनस्पति

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः।

अ. २।२५।१

हे पृश्निपर्णी देवी, हमारे लिये कल्याण कर, और व्याधियोंको दुःख प्राप्त हो।

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च॥

अ. २।२५।३

शोभा हटानेवाला, रक्त पीनेवाला, जो पुष्टिको हटाता है, गर्भको खानेवाला जो रोगबीज है उसका नाश कर। हे पृश्निपर्णि! दुःखको दूर कर।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु।

अ. २।८।२-५

आनुवंशिक रोगको दूर करनेवाली यह औषधि आनुवंशिक रोगको दूर करे।

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता।
इदमूषु प्र साधय पुनः रूपाणि कल्पय।

अ. १।२४।४

श्यामा वनस्पति सरूप करनेवाली है, पृथिवीसे ऊपर उखाडी गयी है, इस कर्मका उत्तम साधन कर और पुनः पूर्ववत् शरीरका रंग कर।

शं सोमः सहौषधीभिः। अ. २।१०।२

औषधियोंके साथ सोम कल्याण करनेवाला हो।

इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः।

अ. १।३२।१

हे लोगों! यह जानो कि ज्ञान बडी घोषणा करके कहेगा। जिससे वनस्पतियां जीवित रहती हैं वह पृथिवीमें नहीं है और न द्युलोकमें है।

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव।
असिक्न्यसि ओषधे निरितो नाशया पृषत्॥

अ. १।२३।३

तेरा लयस्थान कृष्ण है और आस्थान भी कृष्णवर्णका है। हे औषधे! तू काले वर्णवाली है, इसलिये तू इसके श्वेत धब्बे दूर कर।

सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि।

अ. १।२४।३

हे औषधे! तू सरूप त्वचाको करनेवाली है। अतः तू त्वचाको सरूप कर।

वधू

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टं अर्यम्णा संभृतं भगम्।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम्।

अ २।३६।२

आत्मज्ञानीसे सेवित, ब्राह्मणों द्वारा सेवित, श्रेष्ठ मनवालेने इकट्ठा किया यह धन है, धाता देवके सत्य नियमानुसार पतिकी प्राप्तिके लिये मैं इसको सुयोग्य करता हूं।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे।

अ. २।३६।७

यह उत्तम सुवर्ण है, यह बैल है, और यह धन है।

ये पतिकी कामनाके लिये और तेरे लाभके लिये तेरे पतिको देते हैं।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन। अ. २।३६।१

हे अग्ने! धनके साथ उत्तम वक्ता पति इस उत्तम बुद्धिमती कुमारीके प्रति आ जावे।

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे॥
अ. २।३०।४

जो अन्दर हो वही बाहर हो, जो बाहर हो वही अन्दर हो। विविध रूपवाली कन्याओंका मन ग्रहण कर।

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता।
अ. ३।२५।३

कामका बाण लगनेपर प्लीहाको शोषित करता है।

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो, यथा मां कामिन्यसो,
यथा मन्नापगा असः॥ अ. २।३०।१

हे स्त्री! जैसा यह पृथ्वीपरका घास वायु हिलाता है वैसा मैं तेरे मनको हिला देता हूं, तू मेरी इच्छा करनेवाली हो, मुझसे दूर जानेवाली न हो।

शिवा भव पुरुषेभ्ये गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥
अ. ३।२८।३

पुरुषों, गौवों, घोडोंके लिये तथा इस सब क्षेत्रके लिये कल्याण करनेवाली हो। कल्याण करनेवाली बनकर यहां रह।

एयमगन्पतिकामा, जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम्॥
अ. २।३०।५

यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आ गयी है, स्त्रीकी इच्छा करता हुआ मैं आया हूं। जैसा हिनहिनानेवाला घोडा आता है, वैसा मैं धनके साथ आया हूं।

विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि, यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव। अ. ३।२३।५

हे स्त्री! तू पुत्रको प्राप्त कर, जो तुम्हारा कल्याण करनेवाला हो और तू भी उसके लिये कल्याण करनेवाली हो।

तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः।
अ. ३।२३।६

वे दिव्य औषधियां पुत्रप्राप्तिके लिये तेरी रक्षा करें।

एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविराधयन्ती। अ. २।३६।४

ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिको प्रिय और पतिसे विरोध न करती हुई यहां रहे।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान्॥
अ. ३।२३।३

पुरुष पुत्र उत्पन्न कर, उसके पीछे भी पुत्र ही होते रहें। तू पुत्रोंकी माता हो, जो हो चुके तथा जो होनेवाले सब पुत्र ही हों।

तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम्। अ. २।१३।५

उस तुझ उत्तम जन्मे हुए बढते हुएके पीछेसे बहुतसे बढनेवाले भाई उत्पन्न हों।

पति--पत्नी

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥
अ. १।३४।५

मैं फैले हुए ईखसे तुझे घेरता हूं। मीठा वायुमंडल चारों ओर बनाता हूं। इससे द्वेष दूर होगा, मेरी कामना तू करती रहेगी और मुझसे दूर नहीं होगी।

जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुः। अ. २।३६।१

यह कुमारी वरोंमें-श्रेष्ठोंमें प्रिय है और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है।

सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु॥ अ. २।३६।३

पुत्रोंको उत्पन्न करके यह घरकी रानी होवे, यह पतिको प्राप्त होकर सौभाग्यवती होकर विराजे।

आक्रन्दय धनपते, वरं आमनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कुरु, यो वरः प्रतिकाम्यः॥
अ. २।३६।६

हे धनपते! वरको बुला! उस वरके मनके अनुकूल सब

कार्य कर। सब कार्य उसके दाहिनी ओर कर, जो वर तेरी कामनाके अनुकूल है।

देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे।
अ. १।११।२

देव इस गर्भको प्रेरणा करें, प्रसूतिके लिये उस गर्भको प्रेरित करें।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै॥
अ. ३।१८।५

मैं विजयी हूं और तू विजयी है। दोनों विजयी होकर सपत्नीका पराभव करेंगे।

पत्या सौभगत्वमस्त्वस्यै। अ. २।३६।१
इस कुमारीको इस पतिसे सौभाग्य प्राप्त हो।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति। अ. २।३६।३

हे अग्ने! यह नारी पतिको प्राप्त करे, राजा सोम इसको उत्तम भाग्यवती करे।

वृक्षं यद् गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्। अथर्व १।२।३

वृक्षं परिषस्वजाना गावः ऋभुं शरं अनुस्फुरं अर्चन्ति— वृक्ष (से उत्पन्न धनुष्यके साथ रहकर) गौ (चर्मसे बनी डोरियां) सीधे बाणको स्फूर्तिके साथ जिस तरह फेंकती हैं (उस तरह पुरुषके साथ मिलकर रहनेवाली स्त्रियां फूर्तिसे वीर पुत्रको शत्रुपर भेजें।)

धनुष्यकी लकडी पुरुष है, डोरी स्त्री है, इनका पुत्र बाण है। जिस तरह धनुष्य शत्रुपर बाण फेंकता है उस तरह गृहस्थ अपने पुत्रको बलवान् बनाकर शत्रुपर भेजे और शत्रुका पराभव करें।

इहैवाभि वि तनु उभे आर्त्नी इव ज्यया।
अथर्व १।१।३

(उभे आर्त्नी ज्यया इव) धनुष्यके दोनों नोंक जैसे डोरीसे तने रहते हैं, इस तरह (इह एव अभि वि तनु) यहां ही दोनोंको तनाओ। (धनुष्यकी डोरी धनुष्यके दोनों नोकोंको तनाकर रखती है, जिससे विजय मिलता है। इस तरह इस संसारमें दोनों-उच्च-नीच, श्रीमंत दरिद्र, विद्वान् अविद्वान्- कार्य करनेके लिये जिस देशमें सिद्ध रहते हैं, वह देश विजयी होता है।)

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं (वि) युनक्ति। अ. ३।३१।५
पिता पुत्रीको दहेज देनेके लिये अलग करके रखता है।

सुखप्रसूति

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
अ. ३।२३।२

जैसा बाण भातेमें जाता है वैसा यह पुरुषका गर्भ तेरे गर्भाशयमें जावे। (बाण शत्रुनाश करता है वैसा यह गर्भ वीर बने, शत्रु नाश करे।)

आ योनिं गर्भ एतु ते। अ. ३।२३।५
तेरे उदरसे पुरुष गर्भ होवे।

रक्तस्राव दूर करना

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।
अ. १।१५।३

उन सब स्रोतोंसे हम सब धनको सम्यक् रीतिसे इकट्ठा करते हैं।

नियमसे चलना

वाचस्पतिर्नियच्छतु। अथर्व १।१।३
विद्वान् नियमसे चलावे। (विद्वान्के नियमसे अन्य लोक चलें, जिससे उनकी उन्नति होगी।)

मणि धारण

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तये। अ. २।१३।३
इस वस्त्रको अपने कल्याणके लिये धारण करो।

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कंधादभिशोचनात्। मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः॥ अ. २।४।२

यह जंगिड मणि सहस्र वीर्योंसे युक्त होनेके कारण जमुहाई, क्षीणता, शोषक रोग, तथा शोक करनेकी रोगप्रवृत्तिसे, सब ओरसे हमारा रक्षण करे।

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः॥
अ. २।४।३

यह जंगिड मणि शोषक रोगसे बचाता है, यह रक्त भक्षण

*

करनेवाले क्रिमियोंको बाधा पहुंचाता है, यह सब औषधी शक्तियोंसे युक्त है, यह पापसे हमें बचावे।

शणश्च मा जंगिडश्च विष्कंधादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥
अ. २।४।५

शण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे मेरा रक्षण करें। एक वनसे लाया है और दूसरा खेतीके रसोंसे बनाया है।

काम

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि, कामैतत्ते। अ. ३।२९।७
कामसे तुझे लेता हूं। यह सब हे काम! तेरा कर्तृत्व है।

पापसे बचना

यदेनश्चकृवान्, बद्ध एष, तं विश्वकर्मन् प्रमुञ्चा स्वस्तये। अ. २।३५।१
इसने पाप किया, इसलिये यह बद्ध हुआ है। हे विश्वके रचना करनेवाले प्रभु! उसको कल्याण प्राप्त हो इस लिये उसे मुक्त कर।

पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता। अ. २।१२।५
अनिष्ट कार्य करनेवाला पापको प्राप्त होवे।

मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रिया-त्पात्वंहसः। अ. २।२८।१
जैसी माता प्रेमसे पुत्रको गोदमें लेती है। उस तरह मित्र मित्रसंबंधि पापसे इसको बचावे।

ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसो-अंहसः।
अ. १।३१।२
वे देव विनाशके पाशोंसे तथा पापसे इसे मुक्त करें।

विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्। अ. १।१०।२
हे उग्र वीर! सब पापको तू जानता है। पाप कहां रहता है यह तू जानता है।

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥
अ. ३।२।४

इन शत्रुओंके संकल्पों और इनके चित्तोंको मोहित करो। और जो इनके हृदयमें विचार हैं उन सबका नाश करो।

व्यहं सर्वेण पाप्मना। अ. ३।३१।१-५; १०-११
सब पापोंसे मैं दूर रहता हू।

वि शक्रः पापकृत्यया। अ. ३।३१।२
समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है।

सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः।
अ. १।१०।४

हे उग्र वीर! स्वजातियोंसे घोषणा करके कह दे कि हमारा ज्ञान ही दोषोंको दूर कर सकता है।

आत्मरक्षण

तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः। अ. २।१३।५
सब देव तेरी सुरक्षा करें।

सूरिरसि, वर्चोधा असि, तनूपानोऽसि।
अ. २।११।४

तू ज्ञानी है, तू तेजस्वी है, तू शरीरका रक्षण करनेवाला है।

अन्न-जल

तौलस्य प्राशान। अ. १।७।२
तोलकर खाओ। (मित भोजन करो)

क इदं कस्मा अदात् कामः कामयादात्।
अ. ३।२९।७
किसने यह किसको दिया। काम ही कामके लिये देता है।

दानाय चोदय। अ. ३।२०।७
दानके लिये प्रेरणा कर।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।
अ. ३।२४।५

शत हस्तोंसे प्राप्त कर और हजार हाथोंसे दान कर।

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यम्। अ. २।१३।१
मीठा सुन्दर गौका घी पीओ।

इह पुष्टिरिह रसः इह सहस्रसातमा भव।
पशून् यमिनि पोषय। अ. ३।२८।४
यहां पुष्टि और यहां रस है। यहां हजारों लाभ देनेवाली होकर रह। हे जुडवें बच्चे देनेवाली गौ! यहां पशुओंको पुष्ट कर।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ।

अ. ३।१०।३;४

वह तू हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको धनकी पुष्टिसे युक्त कर।

अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा।

अ. ३।२९।१

यह (सोलहवां भाग कर) दिया हुआ रक्षक बनकर हिंसकोंसे रक्षण करनेवाला तथा अपनी धारणा करनेवाला होता है, और वह दुःखसे मुक्त करता है ।

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वी यथाबलम् ।

अ. ३।२०।९

ये बडी पांच दिशायें यह पृथ्वी यथाशक्ति मुझे सामर्थ्य देवे ।

एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन् मा तृषत् ।

अ. ३।२९।४

हे द्यावापृथिवी ! यह तुम्हारे समीप रहता हुआ क्षुधासे अथवा तृषासे दुःखी न हो।

गृहनिर्माण

गृहानलुभ्यतो वयं संविशेमोप गोमतः ।

अ. ३।१०।११

हमारे घरोंमें बहुत गायें हों और किसी पदार्थकी न्यूनता न रहे ।

तं त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उपसंचरेम ।

अ. ३।१२।१

हे घर ! तेरे चारों ओर हम सब उत्तम वीर, उत्तम पराक्रम करते हुए संचार करते रहेंगे ।

इहैव ध्रुवा तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती । ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥

अ. ३।१२।२

हे घर ! तू यहीं रह, यहां खडा रह, गौओंसे युक्त, घोडोंसे युक्त, मधुर भाषणसे बलवान् घीसे युक्त, दूधसे युक्त होकर महान् सौभाग्यसे युक्त होकर यहीं खडा रह ।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥

अ. ३।१२।३

घरके पास बछडा और लडका तथा कूदती हुई गौवें सायंकाल आ जांय ।

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दा पूतिधान्या ।

अ. ३।१२।३

हे घर ! तू बडे छतवाला और पवित्र धान्यवाला होकर धारणशक्तिसे युक्त होकर रह ।

तृणं वसाना सुमना असस्त्वं । अ. ३।१२।५

घासको पहनेवाला तू घर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो ।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे । अ. ३।१२।५

संमानका रक्षक, रहने योग्य, सुखकर यह दिव्य घर देवोंद्वारा पहिले बनाया गया था।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृंक्ष्व शत्रून् । अ. ३।१२।६

हे बांस ! अपने सीधेपनसे अपने आधारपर खडा रह । उग्रवीर बनकर शत्रुओंको हटा दे ।

शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ।

अ. ३।१२।६

हे घर ! सब वीर पुत्रोंसे युक्त होकर हम सौ वर्षोंतक जीवित रहेंगे ।

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥

अ. ३।१२।७

इस घरके पास कुमार आवें, तरुण आवे, बछडेके साथ चलनेवाले गौ आदि प्राणी आवें, इसके पास मधुर रससे भरा घडा दहीके कलशोंके साथ आ जांव ।

असौ यो अधराद् गृहः तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

अ. ९।१४।३

जो यह नीच घर है, वहां विपत्तियां रहें, वहां क्लेश हो, सब यातना वहां रहे ।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणाम् । अ. ३।१२।६

हे घर ! तेरे आश्रयसे रहनेवाले विनष्ट न हों ।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम् । इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ अ. ३।१२।८

हे स्त्री ! इस पूर्ण भरे घडेको तथा अमृतसे भरी घीकी

धाराको अच्छी तरह भरकर ले आओ। पीनेवालोंको अच्छी तरह भर दे। यज्ञ और अन्नदान इस घरका रक्षण करते हैं।

गौ

स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि।

वह तू हमारी प्रजा, आत्मा, गौवों और प्राणोंके विषयमें जागता रह।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्रजायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः॥
अ. ३।१४।४

हे गौवों! यहां आओ, शाकके समान पुष्ट बनो, यहां बच्चे उत्पन्न करो और आपका प्रेम मुझपर रहे।

मया गावो गोपतिना संचध्वं अयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः। रायस्पोषेण बहुला भवंती- र्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥ अ. ३।१४।६

हे गौवों! मुझ गोपतीके साथ मिली रहो। तुम्हारा पोषण करनेवाली यह गोशाला यहां है। शोभायुक्त वृद्धिके साथ बढती हुई, जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन्गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रती सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन॥
अ. ३।१४।३

इस गोशालामें मिलकर रहती हुई, निर्भय होकर गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली, शान्ति उत्पन्न करने- वाले रस-दूध-का धारण करती हुई हमारे पास हमारे समीप गौवें आ जाय।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्रजायध्वं मया वः संसृजामसि॥
अ. ३।१४।५

यह गोशाला तुम्हारे लिये हितकारिणी होवे, शालीकी शाकके समान तुम यहां पुष्ट बनो, यहीं प्रजा उत्पन्न करो, मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये ले जाता हूं।

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या।
अ. ३।१४।१

हे गौवों! तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करता हूं, उत्तम ऐश्वर्य और उत्तम रहन-सहनसे संयुक्त रखता हूं।

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु। अ. २।२६।१

इस गोशालामें पशु रहें।

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमु- च्छन्तु भद्राः। घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ अ. ३।१६।७

कल्याण करनेवाली उषायें घोडों और गौवोंके साथ तथा वीर पुत्रोंके साथ हमारे घरोंको प्रकाशित करें। घी देवें, सब ओरसे संतुष्ट होकर आप सदा हमें कल्याणोंसे सुरक्षित रखें।

तीव्रो रसो मधुपृचामरंग आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्। अ. ३।१३।५

यह मधुरतासे भरा तीव्र जलरूप रस, प्राण और तेजके साथ मुझे प्राप्त हो।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्। ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे- देवा मरुत ऊर्जमापः॥ अ. २।२९।५

अन्नवाली (द्यावापृथिवी) इसे अन्न देवे, दूधवाली इसे दूध देवे, द्यावापृथिवी इसको बल देवे, सब देव, मरुत् और जल इसे शक्ति प्रदान करे।

आ हरामि गवां क्षीरं आहार्षं धान्यं रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्॥
अ. २।२६।५

मैं गौओंका दूध लाता हूं, धान्य और रस लाता हूं। हमारे वीर आगये हैं, ये पत्नियां हैं और यह घर है।

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ॥
अ. २।२६।४

मैं गौओंका दूध देता हूं, बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूं। हमारे वीर दूधसे सींचे गये। मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर रहें।

या रोहिणीर्देवत्या गावो या उत रोहिणीः।
रूपं रूपं वयो वयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि॥
अ. १।२२।३

जो लाल रंगकी गौवें हैं और जो लालके समान रंगकी गौवें हैं। रूप, आकार तथा आयुके अनुसार उनके साथ तुम्हारा संयोग करता हूं जिससे तू नीरोग होगा।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥
अ. १।१६।४

यदि हमारी गौका वध तू करेगा, यदि घोडेका या यदि पुरुषका वध करेगा, तो तुझे सीसेकी गोलीसे वेध करूंगा, जिससे हमारे समीप कोई वीरोंका नाश करनेवाला नहीं रहेगा।

कृषि

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥
अ. ३।१७।८

हे हलकी रेषा ! तुझे हम वन्दन करते हैं, तू संमुख हो, और भाग्यवाली हो। तू उत्तम इच्छावाली हो और सुफल देनेवाली हो।

शुनं वाहाः, शुनं नरः, शुनं कृषतु लांगलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥
अ. ३।१७।६

बैल सुखी हों, मनुष्य प्रसन्न रहें, हल सुखसे जमीन खोदें, रस्सियां सुखसे बांधी जाय, और चाबूक सुखसे चलाया जाय।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः। सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ अ. ३।१७।९

घी और मधसे सिंचित हलकी रेषा सब देवों और वायुओंसे अनुमोदित हुई। हे हलकी रेषा ! तू घीसे सिंचित होकर हमें बल देनेवाली होकर दूधसे युक्त कर।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान्। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥अ. ३।१७।५

सुन्दर हलके फाल भूमिको उत्तम रीतिसे खोदें। किसान सुखसे बैलोंको चलावें। हे वायु और सूर्य ! तुम हविसे सन्तुष्ट होकर इसके लिये उत्तम फलयुक्त धान्य देवें।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
अ. ३।१७।४

इन्द्र हलकी रेषाकी रक्षा करे, पूषा उसकी चारों ओरसे रक्षा करे। वह रसयुक्त होकर आगेके वर्षोंमें हमें अधिक अधिक रस प्रदान करे।

नेदीय इत् सृण्यः पक्वमावन् । अ. ३।१७।२

हंसुये परिपक्व धान्यको हमारे निकट ले आवें।

विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नः। अ. ३।१७।२

अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर हो जावे।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ अ. ३।१७।१

जो ज्ञानियोंमें उत्तम मनवाले बुद्धिमान् कवि हैं वे हल जोतते हैं। और जुओंको पृथक् करते हैं।

भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु । अ. ३।१२।४

राजा भग हमारे लिये कृषिको बढावे।

युनक्त सीरा, वियुगा तनोत, कृते योनौ वपतेह बीजम् ॥ अ. ३।१७।२

हल जोतो, जुओंको फैला दो, भूमि तैयार करनेपर बीज वहीं बो दो।

जल

अप्सु मे सोमोऽब्रवीत् । अन्तर्विश्वानि भेषजा ॥
अथर्व १।६।२

सोमने मुझे कहा कि जलमें सब औषधियां हैं।

अप्स्वन्तरमृतं अप्सु भेषजम् । अथर्व १।४।४

जलमें अमृत है, जलमें औषधि गुण है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम । अ. १।६।३

हे जलो ! मुझे औषध दो और मेरे शरीरको संरक्षण दो।

ईशाना वार्याणाम् । क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ अथर्व १।५।४

वरणीय सुखोंका स्वामी जल है। प्राणियोंका निवासक जल है। इस जलसे मैं औषधकी याचना करता हूं।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ।
अ. ३।७।५

जल औषधी है, जल रोग दूर करनेवाला है, जल सब रोगोंकी औषधी है, इस जलसे आनुवंशिक रोगसे तुझे मुक्त करता हूं।

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि । अस्मिन्नधि धारयामः । अ. १।३५।३

जलका तेज, प्रकाश, ओज, बल और वनस्पतियोंके वीर्य (इस सुवर्णमें हैं) उनका हम धारण करते हैं।

(आपः) महे रणाय चक्षसे (दधातन)।
अथर्व १।५।१

जल बडी रमणीयताके दर्शनके लिये हमें धारण करे। (हमारे अन्दर रमणीयता रखे।)

ता न आपः शं स्योना भवन्तु । अ. १।३३।१-४
वे जल हमारे लिये सुखशान्ति देनेवाले हों।

इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः ।
गृहानुपप्रसीदामि अमृतेन सहाग्निना ॥
अ. ३।१२।९

ये रोगनाशक और रोगरहित जल मैं भर लाता हूं। अमृत, अन्न और अग्निके साथ मैं घरोंमें जाकर बैठता हूं।

शं नः खनित्रिमा आपः । अ. १।६।४
खोदकर निकाला जल हमें सुख देवे ।

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः । अ. १।६।४
वृष्टिसे प्राप्त जल हमें कल्याण करनेवाला हो ।

शमु सन्तु अनूप्याः । अ. १।६।४
जलपूर्ण प्रदेशका जल हमें शान्ति देवे ।

शमु या कुम्भ आभृताः । अ. १।६।४
जो जल घडेमें रखा है वह हमें शान्ति देवे ।

शं न आपो धन्वन्याः । अ. १।६।४
रेतीले प्रदेशका जल हमें कल्याण करनेवाला हो ।

घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु । अ. १।३३।४
तेजस्वी, पवित्र, शुद्धता करनेवाला जल हमारे लिये सुखदायी हों ।

शंयोरभिस्रवन्तु नः । अथर्व १।६।१
जल हमें शान्ति और इष्ट प्राप्ति देनेवाला होवे ।

शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे । अ. १।३३।४
अपना कल्याण करनेवाले शरीरसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो।

(हे आपः !) यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयते ह नः । अथर्व. १।५।२
हे जलो ! जो आपमें कल्याण करनेवाला रस है, उसका हमें भागी करो। (हमें वह कल्याण करनेवाला तुम्हारा भाग मिले ।)

आपो जनयथा च नः । अथर्व. १।५।३
हे जलो ! हमें बढाओ ।

आपो भवन्तु पीतये । अथर्व. १।६।१
जल हमारे पीनेके लिये, रक्षणके लिये हो ।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः । अ. १।३३।४
हे जलो ! कल्याणकारी नेत्रसे आप मुझे देखो ।

आपो हि ष्ठा मयो भुवः ता न ऊर्जे दधातन ।
अथर्व. १।५।१
जल सचमुच सुखदायी है, वह जल हमें शक्ति दें ।

शं नो देवीरभिष्टये । अथर्व. १।६।१
दिव्य जल हमें शान्तिसुख देवे ।

तस्मा अरंगमाववो यस्य क्षयाय जिन्वथ । ।
अथर्व. १।५।३
जिसके निवासके लिये आप यत्न करते हैं, आपसे पर्याप्त मात्रामें (वह यश) प्राप्त हो ।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनः ।
गावो भवथ वाजिनीः ॥ अथर्व. १।४।४
जलके प्रशंसनीय गुणोंसे घोडे बलवान् होते हैं और गौवें बलशालिनी होती हैं ।

सुभाषितोंका उपयोग

अथर्ववेदके पहिले तीन काण्डोंके सुभाषित यहां दिये हैं। ये इतने ही हैं ऐसा नहीं। संख्यामें ये सुभाषित अधिक भी हो सकते हैं। ये किस तरह अधिक हो सकते हैं यह इस लेखमें बताया ही है। व्यवहारमें उपयोगी सार्थ मंत्र भाग सुभाषित कहा जाता है।

सूरिरसि, वर्चोधा असि, तनूपानोऽसि ।
अ. २।११।४
तू ज्ञानी है, तू तेजस्वी है, तू शरीर रक्षक है। यह एकमंत्र है, पर इसमें तीन सुभाषित हैं ।

सीसेकी गोली

'तं त्वा सीसेन विध्यामः' उस तुझको सीसेसे हम वेध करेंगे । सीसेसे वेध करनेका अर्थ सीसेकी गोलीसे वेध करेंगे । गौका वध करनेवालेको या पुरुषका वध करनेवालेको सीसेकी गोलीसे वेध करनेका दण्ड कहा है। सीसा था, सीसेकी गोली थी और गोलीसे वेध करनेका साधन बंदूक जैसा कुछ था ऐसा यहां पता लगता है ।

जलचिकित्सासे सब रोग दूर होते हैं ऐसा पाठक जलके सुभाषितोंमें देखेंगे । सुभाषितोंका उपयोग करनेकी रीति यहां बताई है। वेदके उपदेशको मानवी आचार और व्यवहारमें लानेकी रीति यह है। पाठक इसका उपयोग करके वैदिक जीवनसे व्यवहार करके अपना लाभ प्राप्त करें।

का

सुबोध भाष्य ।

प्रथमं काण्डम् ।

❀

❀ ❀

ब्रह्म और ज्येष्ठ ब्रह्म ।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥

(अथर्व० १०।७।१७)

" (ये) जो (पुरुषे ब्रह्म) पुरुषमें ब्रह्म (विदुः) जानते हैं, वे (परमेष्ठिनं) परमेष्ठीको जानते हैं, जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापतिको जानता है, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्मको जानते हैं, वे स्कम्भको (अनुसंविदुः) उत्तम प्रकार जानते हैं । "

ॐ

अथर्ववेद के विषयमें

स्मरणीय कथन ।

(१) अथर्ववेदका महत्त्व ।

अथर्ववेदका नाम "ब्रह्मवेद, अमृतवेद, आत्मवेद" आदि है, इससे यह आत्मज्ञानका वेद है, यह स्पष्ट है । इसी लिये कहा है, कि—

श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधि जातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव ॥
(गोपथ ब्रा. १ । ९)

एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः। येऽङ्गिरसः स रसः।
येऽथर्वाणस्तद्भेषजम् । यद्भेषजं तदमृतम्। यदमृतं तद्ब्रह्म॥
(गोपथ ब्रा. ३ । ४)

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ॥
(गोपथ ब्रा. २ । १६)

"(१) यह श्रेष्ठ वेद है, ब्रह्मज्ञानियोंके हृदयमें यह प्रसिद्ध रहता है । (२) भृग्वंगिरस बडा ब्रह्म ज्ञान है, जो अंगिरस हैं वही रस अर्थात् सत्त्व है, जो अथर्वा है वह भेषज (दवा) है, जो भेषज है वह अमृत है, जो अमृत है वही ब्रह्म है । (३) ऋक्, यजु, साम और ब्रह्म येही चार वेद हैं।"

अथर्ववेदको इस वचनमें 'भेषज' अर्थात् रोगदोष दूर करनेवाली औषधि, 'अमृत' अर्थात् मृत्युको दूर करनेका साधन, तथा 'ब्रह्म' बडा ज्ञान कहा है । ये तीन शब्द अथर्ववेदका महत्त्व स्पष्ट रीतिसे व्यक्त कर रहे हैं । और देखिये—

अथर्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ॥
(अथर्वपरिशिष्ट २। ५)

" अथर्ववेद मंत्रकी संप्राप्ति होनेसे सब पुरुषार्थ सिद्ध होंगे।" यह अथर्वमंत्रोंका महत्त्व है, इस वेदमें (शांतिक कर्म) शांति स्थापनके कर्म, (पौष्टिक कर्म) पुष्टि बलवृद्धि आदिकी सिद्धिके कर्म, (राजकर्म) राज्यशासन, समाजव्यवस्था आदि कर्मके आदेश होनेके कारण यह वेद प्रजाहितकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व रखता है । इस विषयमें देखिये—

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥
(अथर्वपरिशिष्ट. ४ ।६)

" जिस राजाके राज्यमें अथर्ववेद जाननेवाला विद्वान् शांति स्थापनके कर्मपर निरत रहता है, वह राष्ट्र उपद्रवरहित होकर बढता जाता है ।

(२) अथर्व-शाखा ।

१ पैप्पलाद, २ तौद, ३ मौद, ४ शौनकीय, ५ जाजल, ६ जलद, ७ ब्रह्मवाद, ८ देवदर्श, ९ चारणवैद्य ये अथर्वके नौ शाखाभेद हैं । इनमें इस समय पिप्पलाद और शौनक ये दो संहितायें उपलब्ध हैं, अन्य उपलब्ध नहीं हैं । इनमें थोडासा मंत्रपाठभेद और सूक्त क्रमभेद भी है, अन्य व्यवस्था प्रायः समान है ।

(३) अथर्वके कर्म ।

१ स्थालीपाकः — अन्नसिद्धि ।
२ मेधाजननम् — बुद्धिकी वृद्धि करनेका उपाय ।
३ ब्रह्मचर्यम् — वीर्य-रक्षण, ब्रह्मचर्यव्रत आदि ।
४ ग्राम-नगर-राष्ट्र-वर्धनम् — ग्राम, नगर, कीले, राज्य आदि की प्राप्ति और उनका संवर्धन ।
५ पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादिसम्पत्साधकानि— पुत्र, पशु, धन, धान्य, प्रजा, स्त्री, हाथी, घोडे, रथ, पालकी आदि ऐश्वर्यके साधनोंकी सिद्धि करनेके उपाय ।

*

६ साम्मनस्यम्–जनतामें ऐक्य, मिलाप, प्रेम, एकता आदिकी स्थापना के उपाय ।
७ राजकर्म — राजाके लिये करनेयोग्य कर्म ।
८ शत्रुत्रासनम्—शत्रुको कष्ट पहुंचानेका उपाय ।
९ संग्रामविजयः— युद्धमें विजय संपादन करना ।
१० शस्त्रनिवारणम्—शत्रुओंके शस्त्रोंका निवारण करना।
११ परसेनामोहनोद्वेजनस्तंभनोच्चाटनादीनि — शत्रुसेनामें मोह भ्रम उत्पन्न करना, उनमें उद्वेग-भय-उत्पन्न करना, उनकी हलचलको रोकना, उनको उखाड देना आदिका साधन ।
१२ स्वसेनोत्साहपरिरक्षणाभयार्थानि— अपनी सेनाका उत्साह बढाना, और उसको निर्भय करना ।
१३ संग्रामे जयपराजयपरीक्षा— युद्धमें जय होगा या पराजय होगा इसका विचार।
१४ सेनापत्यादिप्रधानपुरुषजयकर्माणि— सेनापति मंत्री आदि मुख्य ओहदेदारोंके विजयका उद्योग ।
१५ परसेनासंचरणम्—शत्रुकी सेनामें संचार करके गुप्त रीतिसे सब ज्ञान प्राप्त करना और वहाके अपने ऊपर आनेवाले अनिष्टोंको दूर करना।
१६ शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशनम्— शत्रु-द्वारा उखडे गये अपने राजाको पुनः स्वराष्ट्रमें स्थापन करनेके उद्योग।
१७ पापक्षयकर्म–पतनके साधनोंको दूर करना ।
१८ गोसमृद्धिकृषिपुष्टितराणि–गौ बैल आदिकोंका संवर्धन और कृषिका पोषण करना।
१९ गृहसम्पत्कराणि–घरकी शोभा बढानेके कर्म।
२० भैषज्यानि —रोगनिवारक औषधियां।
२१ गर्भाधानादि कर्म —(सब संस्कार)
२२ सभाजयसाधनम्— सभामें जय, विवादमें जय और कलह शांत करनेके उपाय ।
२३ वृष्टिसाधनम्—योग्य समयपर वृष्टि करानेका उपाय ।
२४ उत्थानकर्म—शत्रुपर चढाई करना ।
२५ वाणिज्यलाभः— क्रय विक्रय आदिमें लाभ ।
२६ ऋणविमोचनम्—ऋण उतारना ।
२७ अभिचारनिवारणम्— नाशसे अपना बचाव करना।
२८ अभिचारः — शत्रुके नाशका उपाय।
२९ स्वस्त्ययनम्—सुखसे देशदेशांतरमें भ्रमण ।
३० आयुष्यम्—दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति।
३१ यज्ञयाग आदि।

इत्यादि अनेक विषय इस वेदमें आनेके कारण इसका अध्ययन विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे करना आवश्यक है। ये सब उपाय और कर्म मनुष्यमात्रके अभ्युदय निःश्रेयसके साधक होनेके कारण मानव जातिके लिये लाभदायक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। परन्तु यहां विचार इतनाही है कि, ये सब विषय अथर्ववेदके सूक्तोंसे हम किस रीतिसे जानकर अनुभवमें ला सकते हैं। निःसंदेह यह महान् और गंभीर तथा कष्टसे ज्ञान होनेयोग्य विषय है। इसलिये यदि सुविज्ञ पाठक इसमें अपना सहयोग देंगे तोही इस गंभीर विषयका कुछ पता लग सकता है, और गुप्त विषय अधिक खुल सकता है। क्योंकि किसी एक मनुष्यके प्रयत्नसे इस कठिन विषयकी उलझान होना प्रायः अशक्य ही है।

(४) मनका संबंध।

अथर्ववेदद्वारा जो कर्म किये जाते हैं वे मनकी एकाग्रतासे उत्पन्न हुए सामर्थ्यसे ही किये जाते हैं, क्योंकि आत्मा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि अंतःशक्तियोंसे ही अथर्ववेदका विशेष संबंध है, इस विषयमें देखिये —

मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति
(गोपथ ब्रा० ३ ।२)

तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुरुते। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति ॥ (ऐतरेय ब्रा० ५ । ३३)

अर्थात् " ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद द्वारा वाणीपर संस्कार होकर एक भाग सुसंस्कृत होता है और अथर्ववेद द्वारा मनपर संस्कार होकर दूसरा भाग सुसंस्कृत होता है ।" मनुष्यमें वाणी और मन ये ही मुख्य दो पक्ष हैं। उन दोनोंसे ही मानवी उन्नतिके साधक अभ्युदय निःश्रेयस विषयक कर्म होते हैं।

शरीरके रोग दूर करना हो अथवा राष्ट्रका विजय संपादन करना हो, तो ये सब कर्म मानसिक सामर्थ्यसे ही हो सकते हैं। इसी लिये अथर्ववेदने मनःशक्तिकी अभिवृद्धि द्वारा उक्त कर्म और विविध पुरुषार्थ सिद्ध करनेके उपाय बताये हैं।

(५) शांतिकर्मके विभाग।

समाज तथा राष्ट्रमें शांति स्थापन करना अथर्ववेदका मुख्य विषय है। वैमनस्य, शत्रुता, द्वेष आदि भावोंको दूर करके मित्रता, एक विचार, सुमनस्किता आदिकी वृद्धि करना अथर्ववेदका साध्य है। इसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथर्ववेदका शांति प्रकरण है। इस प्रकरणमें कई प्रकारकी शांतिया हैं, जिनका थोडासा वर्णन यहां करना उचित है —

१ भूचाल, विद्युत्पात आदिके भय निवारण करनेके लिये महाशान्ति।
२ आयुष्य प्राप्ति और वृद्धिके लिये वैश्वदेवी शांति।
३ अग्न्यादि भयकी निवृत्तिके लिये आग्नेयी शांति।
४ रोगादि निवृत्तिके लिये भार्गवी शान्ति।
५ ब्रह्मवर्चस– ज्ञानका तेज प्राप्त करनेके मार्गमें आनेवाले विघ्न दूर करनेके लिये ब्राह्मी शान्ति।
६ राज्यलक्ष्मी और ब्रह्मवर्चस प्राप्त करनेके लिये अर्थात् क्षात्र और ब्राह्म तेज की वृद्धि करनेके लिये बार्हस्पत्य शान्ति।
७ प्रजा क्षय न हो और प्रजा पशु अन्न आदिकी प्राप्ति हो इसलिये प्राजापत्या शान्ति।
८ शुद्धि करनेके लिये सावित्री शान्ति।
९ ज्ञानसम्पन्नताके लिये गायत्री शान्ति।
१० धनादि ऐश्वर्य प्राप्ति करने, शत्रुसे होनेवाला भय दूर करने और अपने शत्रुको उखाड देनेके लिये आङ्गिरसी शान्ति।
११ परचक्र दूर हो और अपने राष्ट्रका विजय हो तथा अपना बल, अपनी पुष्टि और अपना ऐश्वर्य बढे इसलिये ऐन्द्रि शान्ति।
१२ राज्यविस्तार करनेके लिये माहेन्द्री शान्ति।
१३ अपने धनका नाश न हो और अपना ऐश्वर्य बढे इसलिये करनेयोग्य कौबेरी शान्ति।
१४ विद्या तेज धन और आयु बढानेवाली आदित्या शान्ति।
१५ अन्नकी विपुलता करनेवाली वैष्णवी शान्ति।
१६ वैभव प्राप्त करानेवाली तथा वस्तु संस्कारपूर्वक ग्रहादिकी शान्ति करनेवाली वास्तोष्पत्या शान्ति।
१७ रोग और आपत्ति आदिके कष्टोंसे बचानेवाली रौद्री शान्ति।
१८ विजय प्राप्त करानेवाली - अपराजिता शान्ति।
१९ मृत्युका भय दूर करनेवाली याम्या शान्ति।
२० जलभय दूर करनेवाली वारुणी शान्ति।
२१ वायुभय दूर करनेवाली वायव्या शान्ति।
२२ कुलक्षय दूर करनेवाली और कुलवृद्धि करनेवाली सन्तति शान्ति।
२३ वस्त्रादि भोग बढानेवाली तथा कारीगरीकी वृद्धि करनेवाली त्वाष्ट्री शान्ति।
२४ बालकोंको हृष्टपुष्ट करके उनको अपमृत्युसे बचानेके लिये कौमारी शान्ति।
२५ दुर्गतिसे बचानेके लिये नैर्ऋति शान्ति।
२६ बलवृद्धि करनेवाली मारुद्गणी शान्ति।
२७ घोडोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये गान्धर्वी शान्ति।
२८ हाथियोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये पारावती शान्ति।
२९ भूमिके संबंधी कष्ट दूर करनेके लिये पार्थिवी शान्ति।
३० सब प्रकारता भय दूर करनेवाली अभया शान्ति।

ये और इस प्रकारकी अनेक शान्तियां अथर्ववेदसे सिद्ध होती हैं। इनके नामोंका भी यदि विचार पाठक करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्यका जीवन सुखमय करनेके लिये ही इनका उपयोग निःसंदेह है। वेदमंत्रोंका मनन करके प्राचीन ऋषि मुनि अपनी उन्नति की विद्याएं किस रीतिसे सिद्ध करते थे, इसकी कल्पना इन शान्तियोंका विचार करनेसे हो सकती है। कई शान्तियोंके नामोंसे पता लग सकता है कि किस ऋषिकी खोजसे किस शांतिकर्मकी उत्पत्ति हुई। यदि वैदिक धर्म जीवित और जाग्रत रूपमें फिर अपने जीवनमें ढालना है तो पाठकोंको भी इसी दृष्टिसे विचार करना अत्यावश्यक है।

विविध इष्टियां, याग, ऋतु, मेध आदिकी जो योजना वैदिक धर्ममें है, वह उक्त बातकी सिद्धता करनेके लिये ही है। इन सबका विचार कैसा है और इनकी सिद्धि किस रीतिसे की जा सकती है इसका यथामति विचार आगे किया जायगा। परन्तु यहां निवेदन है कि पाठक भी अपनी बुद्धियोंको इस दृष्टिसे काममें लावें और जो खोज होगी वह प्रकाशित करें। क्योंकि अनेक बुद्धियोंके एकाग्र होनेसे ही यह विद्या पुनः प्रकट हो सकती है अन्यथा इसके प्रकट होनेका कोई संभव नहीं है।

(६) मन्त्रोंके अनेक उद्देश्य।

अथर्ववेदके थोडेसे मन्त्रोंसे इतने विविध कर्म किस प्रकार सिद्ध हो सकते हैं, यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है, कि वेदके मन्त्र और सूक्त "अनेक मुख" होते हैं अर्थात् एकही सूक्त और एकही मंत्रसे अनेक उद्देश्योंकी सिद्धि होती है। मंत्रका उत्तानार्थ एक भाव बताता है, अंदरका गूढ आशय कुछ विशेष उपदेश देता है, व्यंग्य अर्थ श्लेषार्थ आदि अनेक रीतिसे अनेक उपदेश प्रकट होते हैं। इस कारण एकही मंत्र और एकही सूक्त अनेकविध उपदेश देते हैं, और इस ढंगसे अनेकानेक विद्याएं और अनेकानेक कर्म वेदसे प्रकट होते हैं और इन सबके द्वारा मनुष्यके ऐहिक और पारलौकिक सुखवृद्धिके साधन सिद्ध हो जाते हैं।

(७) सूक्तोंके गण ।

अथर्ववेदके सूक्तों और मंत्रोंके कई गण हैं, जिनके नाम " अभय गण, अपराजित गण, सांग्रामिक गण " इस प्रकार अनेक हैं। प्रथम काण्डमें अपराजित गणके सूक्त निम्न-लिखित हैं—

१	विद्मा शरस्य पितरं ०	(१ । २)
२	मा नो विदन् विव्याधिनः ०	(१ । १९)
३	अदारसृद्भवतु देव ०	(१ । २०)
४	स्वस्तिदा विशां पतिः ०	(१ । २१)

इसके पश्चात् षष्ठकाण्डमें अपराजित गणके सूक्त निम्नलिखित हैं-

५	अव मन्युः ०	(६ । ६५)
६	निर्हस्तः शत्रुः ०	(६ । ६६)
७	परि वर्त्मानि ०	(६ । ६७)
८	अभिभूर्यज्ञः ०	(६ । ९७)
९	इन्द्रो जयाति ०	(६ । ९८)
१०	अभि त्वेन्द्र ०	(६ । ९९)

कौनसा सूक्त किस गणमें है, यह समझनेसे उसका अर्थ करना, उसके अर्थका मनन करना और उससे बोध लेना, बडा सुगम हो सकता है। तथा गणोंके मंत्रोंके अंदर परस्पर संबंध देखना भी सुगम हो जाता है। इसलिये इन गणोंका विचार वेद पढनेके समय अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये। हम आगे बतायेंगे कि कौनसा सूक्त किस गणमें आता है और उसका परस्पर संबंध किस पद्धतिसे देखना होता है।

पूर्वोक्त शान्तियोंमें जिन जिन शान्तियोंका संबंध राज्यव्यवस्थासे है, उन शान्तिकर्मोंके साथ अपराजित गणके मंत्रोंका संबंध है, इस एक बातसे पाठक बहुत कुछ बोध प्राप्त कर सकते हैं। इस एक गणके विषयमें हम स्वतंत्र निबंध लिखकर उसका अधिक विचार आगे करेंगे। उसका अनुसंधान पाठक करें इसी लिये यह बात यहां दर्शायी है।

जब इन सब गणोंका विचार हो जायगा तब ही वेद की शिक्षा ज्ञात हो सकती है, अन्यथा नहीं। यहां यह भी स्पष्ट कहना आवश्यक है कि कई सूक्त किसी गणके साथ सम्बन्ध नहीं रखते अर्थात् वे स्वतंत्र हैं अथवा उनका सम्बन्ध गणसूक्तोंके समान किसी अन्य सूक्तोंसे नहीं है।

"स्वतंत्र-सूक्त" और " गण-सूक्त " इनका विचार करनेके समय स्वतंत्र सूक्तके मंत्रोंका मनन स्वतंत्र रीतिसे करना चाहिये, और गणसूक्तोंके मंत्रोंका मनन संपूर्णगणोंके संबंध-का विचार करके ही करना चाहिये।

(८) अथर्ववेदका महत्त्व ।

ऋग्वेदसे ज्ञान, यजुर्वेदसे उत्तम कर्म और सामवेदसे उत्तम पुरुषकी उपासना, इन तीन काण्डोंका अभ्यास होनेके पश्चात् आत्माका ज्ञान और बल प्राप्त करनेके मार्ग बतानेका कार्य अथर्ववेद करता है। इस कारण इसको " ब्रह्मवेद " अथवा " आत्मवेद " भी कहते हैं।

उत्तम ज्ञान, प्रशस्त कर्म और उत्तम पुरुषकी उपासना द्वारा अंतःशुद्धि होनेके पश्चात् ब्रह्मका ज्ञान संभवनीय है, इसलिये यह पूर्वोक्त वेदत्रयीसे भिन्न यह " चतुर्थ वेद " कहा जाता है।

उपासक लोग आत्माको जगत्में ढूंढते ढूंढते थक गये, उस समय उनको साक्षात्कार हुआ कि " आत्माको जगत्में कहां ढूंढते हो ? यहां आओ और " अपने पासही उसे ढूंढो ! "

अथार्वाङेनमेतास्वेवाऽप्स्वन्विच्छेति, तद्यदब्रवीदथार्वाङ्केन-मेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति, तदथर्वाऽभवत् ॥

(गोपथ-ब्राह्मण १-४)

" अब पासही उसे ढूंढो ! " वह पासही है। यह बात इस अथर्व [अथ+अर्वाक्=अथर्वा (क्)] वेदने कही, इसी लिये इसका नाम " अथर्ववेद " हुआ है। यह गोपथ ब्राह्मणका कथन अथर्ववेदका ज्ञानक्षेत्र कहांतक है इसका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें कर रहा है। आत्माका पता अपने पासही लगना है, यह बताना अथर्ववेदके ज्ञानक्षेत्रमें है। इसी लिये इसका नाम " ब्रह्मवेद " है क्योंकि यही ब्रह्मका ज्ञान बताता है।

" थर्व " शब्द चंचलताका वाचक है। और " अ-थर्व " शब्द शांतिका अथवा एकाग्रताका द्योतक है। आत्मानुभव अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार जो होना है, वह चित्तकी चंचलता हटनेके पश्चात् और चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर उसमें शांति आनेके पश्चात् ही होना है। २ (आत्मज्ञानके मार्गकी सूचना इस प्रकार अपने नामसे ही इस अथर्ववेदने बता दी है। वेदके नामोंका महत्त्व पाठक यहाँ देख सकते हैं।

" अथर्वन् " (अथ+अर्वन्) इस शब्दका अर्थ " अब इस ओर " ऐसा होता है। जगत्में दो पदार्थ हैं, एक मैं और दूसरा मेरेसे भिन्न संपूर्ण जगत्। हरएक मनुष्य समझता है कि मेरेसे भिन्न पदार्थोंसे ही मुझमें शक्ति आती है, मैं स्वयं अशक्त हूं और शक्ति दूसरोंसे प्राप्त होती है। इस सर्वसाधारण विचारसे भिन्न परंतु अत्यंत सत्य विचार जो अथर्ववेद जनता-के सन्मुख रखना चाहता है, वह यह है कि " अब शक्तिके लिये अपनी ओर " ही देखो। सब जगत्में यह नियम देखो

कि वृद्धि अंदरसे होती है, वृक्ष अंदरसे बढते हैं, बालक अंदरसे बढते हैं, अर्थात् शक्तिकी वृद्धि अंदरसे हो रही है, इसलिये अपने अंदर अपनी ओर देखकर विचार करो । बाह्य जगत्में न देखते हुए, परंतु उसके साथ अपनी शक्तियोंको जोडकर अपनी उन्नतिके हेतु अपने अंदर देखो, शक्ति अपने अंदर है न कि बाहर है। यह अथर्ववेदकी शिक्षा अत्यंत महत्त्वकी है ।

इस अथर्ववेदका स्वाध्याय करना है। ब्रह्मवेद होनेके कारण यह वेद संपूर्ण रीतिसे समझना कठिन है, इसलिये इस वेदके जितने मंत्र समझमें आवेंगे, उनकाही स्वाध्याय करना है। जिनका ठीक प्रकार ज्ञान नहीं हुआ उनके विषयमें हम कुछ भी नहीं लिखेंगे। तथा जो मंत्र स्वाध्यायके लिये यहां लेंगे उनके विषयमें थोडेसे थोडे शब्दोंमेंही जो कुछ लिखना हो वह लिखेंगे अर्थात् बहुत विस्तार नहीं करेंगे । परंतु जहांतक हो सके वहांतक कोई बात संदिग्ध नहीं छोडेंगे। इससे स्वाध्याय करनेवालोंको बडी सुविधा होगी ।

अथर्ववेद ।

प्रथम--काण्ड ।

इस प्रथम कांडमें छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५३ मंत्र हैं।

१ प्रथम अनुवाकमें छः सूक्त हैं, तीसरे सूक्तमें ९ मंत्र हैं; शेष पांच सूक्तोंमें प्रत्येकमें चार चार हैं। इस प्रकार इस अनुवाकमें २९ मंत्र हैं।

१ द्वितीय अनुवाकमें (७ से ११ तक) पांच सूक्त हैं। सप्तम सूक्तमें ७ और ग्यारहवें में ६; शेष तीनमें प्रत्येकमें चार चार मंत्र हैं। इस प्रकार कुल २५ मंत्र हैं।

३ तृतीय चतुर्थ और पंचम अनुवाकों (१२ से २८ तक सूक्तों) के प्रत्येक सूक्तमें चार मंत्रवाले क्रमशः पांच, पांच और सात सूक्त हैं। इन तीनोंकी मंत्रसंख्या ६८ है।

४ षष्ठ अनुवाकमें सात (२९ से ३५ तक) सूक्त हैं। २९ वें सूक्तमें छः मंत्र और ३४ वें में पाच मंत्र हैं, शेषमें चार चार हैं। इस प्रकार कुल मंत्रसंख्या ३१ है।

इस ३५ सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त ३७ हैं, पांच मंत्रवाला एक, छः मंत्रवाले दो, सात मंत्रवाला एक, और नौ मंत्रवाला एक है। यह सूक्त और मंत्रविभाग देखनेसे पता लगता है कि यह अथर्ववेदका प्रथम काण्ड प्रधानतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका ही है। इसका प्रथम सूक्त यह है इसमें बुद्धि बढानेका विषय कहा है जिसका नाम "मेधा-जनन" है--

मेधाजनन ।

(१) बुद्धिका संवर्धन करना ।

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—वाचस्पतिः ।)

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥१॥

अन्वयः— विश्वा रूपाणि बिभ्रतः, ये त्रि-सप्ताः परियन्ति, तेषां तन्वः बला वाचस्पतिः अद्य मे दधातु ॥१॥

अर्थ— सब रूपोंको धारण करके, जो तीन-गुणा-सात पदार्थ सर्वत्र व्यापते हैं, उनके शरीरके बल वाणीका स्वामी आज मुझे देवे ॥१॥

पदार्थ दो प्रकारके हैं एक रूपवाले और दूसरे रूपरहित। आत्मा परमात्मा रूपरहित हैं और संपूर्ण जगत् रूपवाले पदार्थोंसे भरा है। पदार्थोंके विविध रूप जो मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष वनस्पति पाषाण आदि में दिखाई देते हैं-कौन धारण करता है, ये रूप कैसे बनते हैं? इस शंकाके उत्तरमें वेद कह रहा है, कि जगत्के मूलमें जो सात पदार्थ-पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार-हैं ये ही संपूर्ण जगत् में दिखाई देनेवाले विविध रूप धारण करते हैं। ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओंमें गुजरते हुए जगत्के रूप और आकार धारण करते हैं। (१) सत्त्व अर्थात् समावस्था, (२) रज अर्थात् गतिरूप अवस्था और (३) तम अर्थात् गतिहीन अवस्था, इन तीन अवस्थाओंमें पूर्वोक्त सात पदार्थ गुजरनेसे कुल इक्कीस पदार्थ बनते हैं, जो संपूर्ण सृष्टिका रूप धारण करते हैं।

सृष्टिके हरएक आकारधारी पदार्थमें बडी शक्ति है। हमारा शरीर भी सृष्टिके अंतर्गत होनेसे एक रूपवान पदार्थ है और इसमें भी पूर्वोक्त " तीन गुणा सात " पदार्थ हैं। और इसी कारण शरीरके अंदरके इन इक्कीस तत्त्वोंका संबंध बाह्य जगत् के पूर्वोक्त इक्कीस तत्त्वोंके साथ है। शरीरका स्वास्थ्य या रोगीपन इन संबंधके ठीक होने और न होनेपर अवलंबित है।

शरीरान्तर्गत इन तत्त्वोंको बाह्य जगत्के तत्त्वोंके साथ योग्य संबंध रखने द्वारा अपना आरोग्य स्थिर करके अपना बल अंदरसे बढानेकी सूचना इस मंत्रद्वारा यहां मिलती है। जैसे बाह्य शुद्ध वायुसे अपना प्राणका बल, बाह्य सूर्य-प्रकाशसे अपने नेत्र का बल, इसी प्रकार अन्यान्य बल बढा कर अपनी शक्ति पराकाष्ठातक बढानी चाहिये। यह अथर्ववेदका मुख्य विषय है।

जगत्का तत्त्वज्ञान जानकर, जगत् का अपने साथ संबंध अनुभव करके, अपना बल बढानेकी विद्याका अध्ययन करके, उसका अनुष्ठान करना चाहिये। यह उन्नतिका मूल मंत्र इस प्रथम मंत्रमें बताया है। यहां प्रश्न होता है, कि यह विद्या कौन दे सकता है? उत्तरमें मंत्रने बताया है कि " वाचस्पति " ही उक्त ज्ञान देनेमें समर्थ है।

" वाचस्पति " कौन है? वाक्, वाच्, वाणी, वक्तृत्व, उपदेश, व्याख्यान ये समानार्थक शब्द हैं। वक्तृत्व करनेवाला अर्थात् उत्तम उपदेशक गुरु ही यहां वाचस्पतिसे अभिप्रेत है। इस अर्थको लेनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार हुआ-

" मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंसे गुजर कर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र फैले हैं। इनके बलोंको अपने अंदर धारण करनेकी विद्या व्याख्याता गुरु आजही मुझे पढावे।"

अथर्ववेदकी पिप्पलाद-संहिताका पाठ ऐसा है—

"ये त्रिषप्ताः पर्यन्ति... । ...तेषां तन्वमभ्यादधातु मे ॥"

इसका अर्थ निम्न प्रकार होता है-" जो मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंमें गुजरकर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र (पर्यन्ति) घूमते हैं, व्याख्याता गुरु ही आज उनके बलोंको मेरे (तन्वं) शरीरमें (अभ्यादधातु) धारण करावे, अर्थात् धारण करनेके उपाय बतावे।"

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया । वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

अन्वयः— हे वाचस्पते ! देवेन मनसा सह पुनः एहि । हे वसोष्पते ! निरमय । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥ २ ॥
ज्यया उभे आर्त्नी इव, इह एव उभौ अभि वि तनु । वाचस्पतिः नि यच्छतु । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ- हे वाणीके स्वामी ! दिव्य मनके साथ सन्मुख आओ । हे वसुओंके स्वामी ! मुझे आनंदित करो । पढा हुआ ज्ञान मुझमें स्थिर रहे ॥ २ ॥

डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटीयोंकी तरह, यहांही (दोनोंको) तनाओ । वाणीका पति नियमसे चले । पढा हुआ ज्ञान मेरेमें स्थिर रहे ।

इस मंत्रमें प्रारंभमें ही " पुनः " शब्द है । इसका अर्थ "वारंवार, पुनः पुनः अथवा संमुख" है । शिष्य विद्याकी एक ओर और गुरु दूसरी ओर होता है, इसलिये गुरु शिष्यके सन्मुख और शिष्य गुरुके सन्मुख होते हैं । इन दोनोंको इसी प्रकार रहना चाहिये । यदि ये परस्पर सन्मुख न रहे तो पढाई असंभव है।

गुरु (देवेन मनसा) दैवी भावनासे युक्त मनसेही शिष्यके साथ वर्ताव करे । मन दो प्रकारके हैं-एक देव मन, और दूसरा राक्षस मन । राक्षस मन जगत् में झगडे उत्पन्न करता है और देव मन जगत्में शांति रखता है । गुरु देवमनसे ही शिष्यको पढावे ।

गुरु शिष्यको (नि रमय) रममाण करे, अर्थात् ऐसा पढावे कि जिससे शिष्य आनंदके साथ पढता जाय । इस शब्दके द्वारा पढाईकी " रमण पद्धति " वेदने प्रकट की है। इससे भिन्न " रोदन पद्धति " है जिसमें रोते हुए शिष्य पढाये जाते हैं ।

गुरुके दो गुण इस मंत्रने बताये हैं। एक गुण (वाचस्पतिः) अर्थात् वाणीका प्रयोग करनेमें समर्थ, शिष्यको विद्या समझा देनेमें निपुण, उत्तम वक्ता । तथा दूसरा गुण (वसोष्पतिः) वसुओंका पति अर्थात् अग्न्यादि पदार्थोंका प्रयोग करनेमें निपुण शब्दों द्वारा (Theoretical) ज्ञान जो कहेगा, उसको वस्तुओंद्वारा (Practical) साक्षात् प्रत्यक्ष करा देनेमें समर्थ गुरु होना चाहिये ।

शिष्य भी ऐसा हो कि जो (मयि श्रुतं अस्तु) अपनेमें ज्ञान स्थिर रहनेकी इच्छा करनेवाला हो । अर्थात् दिलसे पढनेवाला और सच्चा (विद्यार्थी-विद्या+अर्थी) विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला हो।

इन अर्थोंको ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

" हे उत्तम उपदेश करनेवाले गुरु ! देव भावसे युक्त मनसे ही शिष्यके सन्मुख जा । हे अग्न्यादि वसुओंके प्रयोग कर्ता गुरु ! तू शिष्यको रमाता हुआ उसे विद्या पढाओ । शिष्य भी कहे कि पढा हुआ ज्ञान अपने अंदर स्थिर रहे ॥"

अथर्ववेद पिप्पलाद-संहितामें मंत्रका प्रारंभ "उप नेह " शब्दसे होता है और " वसोष्पते "के स्थानपर "असोष्पते" पाठ है। असुपति (असोः पति) का अर्थ प्राणोंका पति गुरु । " प्राणोंका पति" अर्थात् योगादि साधनद्वारा प्राणोंको स्वाधीन रखनेवाला उत्तम योगी गुरु हो । यह शब्द भी गुरुका एक उत्तम लक्षण बता रहा है ।

धनुष्यकी दोनों कोटियाँ डोरीसे तनी रहती हैं इस तनी हुई अवस्थामें ही धनुष्य विजयका साधन हो सकता है। जिस समय दोनों कोटियोंसे डोरी हट जाती है उस समय वह धनुष्य शत्रुनाश या विजय प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाता है । इसी प्रकार जाति या समाजरूपी धनुष्यकी दो कोटियां गुरु और शिष्य हैं, इन दोनोंको विद्यारूपी डोरी बाधी गयी है और इस डोरीसे यह धनुष्य तना हुआ अर्थात् अपने कार्यमें सिद्ध रहता है । समाजको यह धनुष्य सदा सिद्ध रखना चाहिये । इसीकी सिद्धतासे जाति, समाज या राष्ट्र जीवित, जाग्रत और उन्नत रहता है । जिस समय विद्याकी डोरी गुरु शिष्यरूपी धनुष्यसे हट जाती है उस समय अज्ञान-युग शुरू होनेके कारण जाति पतित हो जाती है ।

(वाचस्पतिः) उत्तम वक्ता गुरुही स्वयं (नि यच्छतु) नियममें चले और शिष्योंको नियमके अनुसार चलावे । गुरुकुल आचार्यकुल अथवा विद्यालयादि संस्थाएं उत्तम नियमोंके अनुसार चलायीं जाय । वहां स्वेच्छा विहार न हो ।

शिष्य प्रयत्न करें और पढा हुआ ज्ञान अपने अंदर सदा

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान्वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् । सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

अन्वयः— वाचस्पतिः उपहूतः। वाचस्पतिः अस्मान् उपह्वयताम्। श्रुतेन सङ्गमेमहि। श्रुतेन मा वि राधिषि। ॥ ४ ॥

अर्थ— वाणीका स्वामी बुलाया गया। वह वाणीका स्वामी हम सबको बुलावे। ज्ञानसे हम सब युक्त हों। हम ज्ञानके साथ कभी विरोध न करें ॥ ४ ॥

स्थिर रखनेके लिये अति दक्ष रहें। पहिले पढा हुआ ज्ञान स्थिर रहा तो ही आगे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह भाव ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

" जिस प्रकार डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटियां विजयके लिये तनी होती हैं, उसी प्रकार गुरु और शिष्य ये समाजकी दो कोटियां विद्यासे सज्ज रखिये। आचार्य स्वयं नियमानुसार चलें और शिष्योंको नियमानुसार चलावें। शिष्य अध्ययन किया हुआ ज्ञान दृढ करके आगे बढे॥"

" उपहूत " का अर्थ " बुलाया, पुकारा, आह्वान किया अथवा पूछा गया " है। उत्तम व्याख्याता गुरुको हमने बुलाया और उसे प्रश्न पूछे गये अर्थात् विद्याका व्याख्यान करनेके लिये उसे आह्वान किया गया है। गुरु भी शिष्यके प्रश्न सुनकर उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर देकर उनका समाधान करे। अर्थात् गुरु कोई बात शिष्यसे छिपाकर न रखे। इस प्रकार दोनोंके परस्पर प्रेमसे विद्याकी वृद्धि होती रहे।

हरएक अपने मनमें यह इच्छा रखे कि " हम सब ज्ञानसे युक्त हों, ज्ञानकी वृद्धि करते रहें और कभी ज्ञानकी प्रगतिमें बाधा न डालें, ज्ञानका विरोध न करें और मिथ्या ज्ञानका प्रचार न करें।"

इस स्पष्टीकरणका विचार करनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार प्रतीत होता है-

" हम तत्त्व व्याख्याता गुरुसे प्रार्थना करते हैं। वह हमें योग्य उत्तर देवे। इस [प्रश्नोत्तरकी रीतिसे हम सब] ज्ञानसे युक्त होते रहें और कभी हमसे ज्ञानकी उन्नतिमें बाधा उत्पन्न न हो।"

मनन।

इस अथर्ववेदके प्रथम सूक्तके ये चार मंत्र शिष्यके मुखमें रखे हैं, इसका अतिसंक्षेपसे तात्पर्य यह है—

" जो इक्कीस [पदार्थ जगत्‌की वस्तुओंके] आकार धारण करते हुए [सर्वत्र] फैले हैं, उनकी शक्तियां मेरे [शरीरके अंदर स्थिर करनेकी विद्या] गुरु हमें सिखावे ॥ १ ॥ हे गुरु ! तू मनमें शुभ संकल्प धारण करके हमारे सन्मुख आ, हमें रमाते [हुए पढा] प्राप्त किया हुआ ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ २ ॥ डोरीसे दोनो धनुष्कोटियोंके तनावके समान यहां तू [विद्यासे हम दोनोंको] तना [कर बांध दे] गुरु नियमसे चले और हमें चलावे। ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ ३ ॥ हम गुरुसे प्रश्न पूछते हैं, वह हमें उत्तर देवे। हम सब ज्ञानी बनें। कोई भी ज्ञानका विरोध न करे ॥ ४ ॥

इन मंत्रोंका जितना मनन होगा, इनपर जितना विचार होगा, उतना ज्ञान बढानेका उपाय- (मेधाजनन)- हो सकता है। आशा है कि पाठक इसका योग्य विचार करें और अपनी परिस्थितिमें अपने ज्ञानकी वृद्धि करनेके उपाय सोचें। इसमें निम्नलिखित पाच बातोंका अवश्य विचार हो—

१ विद्या- जिनसे जगत् बनता है उन मूलतत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना और उनका अपनी उन्नतिसे संबंध देखना तथा उसका अनुष्ठान करनेका विधि जानना, यही सीखनेयोग्य विद्या है।

२ गुरु- उक्त विद्या सिखानेवाला गुरु (वाचस्पतिः) वाणीका उत्तम प्रयोग करनेमें समर्थ, उत्तम रीतिसे विद्या पढानेवाला हो, (वसोष्पतिः) अग्न्यादि मूलतत्त्वोंका प्रयोग यथावत् करनेवाला हो, (असोष्पतिः) प्राणविद्याका ज्ञाता हो। "पति" शब्द यहां " प्रभुत्व " (mastership) का भाव बताता है।

३ पढानेकी रीति-गुरु अपने (देवेन मनसा) मनके शुभ संकल्पके साथ पढावे। (निरमय) रमणपद्धतिसे पढावे, शिष्योंका आनंद बढाता हुआ पढावे। स्वयं (नि यच्छतु) सुनियमोंसे चले और शिष्योंका सुनियोंसे चलावे। शिष्योंके प्रश्नोंका (उपह्वयतां) आदरपूर्वक उत्तर देकर उनका समाधान करे।

४ शिष्य- शिष्य सदा प्रयत्नपूर्वक इच्छा करे कि (श्रुतेन सं गमेमहि) हम ज्ञानी बनें, (श्रुतं मयि अस्तु) प्राप्त ज्ञान मेरे अंदर स्थिर रहे। तथा (श्रुतेन मा वि राधिषि) ज्ञानका विरोध कभी न करें।

विजय-सूक्त ।

(२)

यह " अपराजित गण" का प्रथम सूक्त है जिसका ऋषि " अथर्वा" और देवता " पर्जन्य" है ।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् । विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥१॥
ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि । वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥२॥
वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् । शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥३॥
यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् । एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

अर्थ—(शरस्य) शरका, बाणका पिता (भूरि-धायसं पर्जन्यं) बहुत प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला पर्जन्य है यह (विद्म) हम जानते हैं । तथा (अस्य) इसकी माता (भूरि-वर्पसं) बहुत प्रकारकी कुशलताओंसे युक्त पृथिवी है, यह हमें (सुविद्म) उत्तम प्रकारसे पता है ॥ १ ॥ हे (ज्याके) माता ! (नः) हम सब पुत्रोंको (परि नम) परिणत कर अर्थात् हमारे (तन्वं) शरीरको (अश्मानं) पत्थर जैसा सुदृढ (कृधि) कर (वीडुः) बलवान बनकर (अ-रातीः) अदानके भावोंको तथा (द्वेषांसि) द्वेषोंको अर्थात् सब शत्रुओंको (वरीयः) पूर्ण रीतिसे (अप कृधि) दूर कर ॥ २ ॥ (यत्) जिस प्रकार (वृक्षं) वृक्षके साथ (परिषस्वजानाः) लिपटी हुई या बंधी हुई (गावः) गौएं अपने (ऋभुं शरं) तेजस्वी पुत्र शरको (अनुस्फुरं) फुर्तीके साथ (अर्चन्ति) चाहती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र ! (अस्मत्) हमसे (दिद्युं शरुं) तेज-पुत्र बाणको (यावय) दूर बढा ॥ ३ ॥ जिस प्रकार (द्या) द्युलोक और पृथ्वीके (अन्तः) बीचमें (तेजनं) तेज (तिष्ठति) होता है, (एव) इसी प्रकार यह (मुञ्जः) मुंज (रोगं च आस्रावं च) रोग और स्रावके (अन्तः) बीचमें (इत् तिष्ठतु) निश्चयसे रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ- धारण-पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता पर्जन्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पृथ्वी है, इन दोनोंसे शर-सरकंडा-पुत्र उत्पन्न होता है। ॥ १ ॥ माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिणाम करावे कि जिससे वह बलवान बनकर शत्रुओंको पूर्ण रीतिसे दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥ २ ॥ जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गौवें अपने बछडे को वेगसे प्राप्त करना चाहती हैं, उसी प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमसे आगे बढे ॥३॥ जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें प्रकाश होता है, उसी प्रकार रोग और स्राव-घाव-के बीचमें शर ठहरे ॥ ४ ॥

---

५ गुरु शिष्य- सज धनुष्यके दोनों नोक जिस प्रकार डोरीसे तने रहते हैं, उस प्रकार विद्यारूपी डोरीसे समाजके गुरु-शिष्य-रूपी दोनों नोक एक दूसरेसे पूर्णतया सुसंबंध रहें । कभी उनमें ढीलेपन न आजावे।

यह सब सूक्त शिष्यके मुखद्वारा उच्चारित होनेके समान है, इससे अनुमान होता है कि गुरुको लाने, रखने आदिके प्रबंधादि व्ययका उत्तरदातृत्व शिष्यों या शिष्योंके संरक्षकों-परही पूर्णतया है।

अनुसन्धान

इस प्रथम सूक्तमें "मेधाजनन" अर्थात् बुद्धिका संवर्धन करनेके मूलभूत नियम बताये हैं । गुरु, शिष्य तथा विद्यालय आदिका प्रबंध किस रीतिसे करना चाहिये, गुरु किस प्रकार पढावे, शिष्य किस ढंगसे पढे और दोनों मिलकर राष्ट्रकी उन्नति किस रीतिसे करें इसका विचार किया गया ।

इसके पश्चात् विद्याकी पढाई शुरू होती है, जिसमें अपरा-जित गणका सूक्त " विद्मा शरस्य पितरं " यह है । अथर्व-वेदमें यह द्वितीय सूक्त है। तृतीय सूक्त भी इसी वाक्यसे प्रारंभ होता है । इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे ।—

यह भावार्थ भी परिपूर्ण नहीं क्योंकि इन मंत्रोंके हरएक आगे पीछेका संबंध देखकर जो भाव व्यक्त होता है, वह जानकर ही मंत्रोंका सच्चा भावार्थ जानना चाहिये। वह भाव,

देखनेके लिये आगेका स्पष्टीकरण देखिये—

(१) वैयक्तिक विजय।

इस सूक्तमें पहिला वैयक्तिक विजय प्राप्त करनेके उपदेश निम्न प्रकार बताये है—

१ उत्तम मातापितासे जन्म प्राप्त हो, (मंत्र १)
२ शरीर बलवान बनाया जावे, (मंत्र २)
३ रोगादि शत्रुओंको दूर रखा जावे, (मंत्र २)
४ शरीरमें फुर्ती लाई जावे, (मंत्र ३)
५ जगत्में अपना तेज फैलानेका यत्न किया जावे, (मंत्र ४)
६ शोधनो से रोगोंको दूर किया जावे, (मंत्र ४)

पाठक विचारकी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनको उक्त छः भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वोक्त चारो मंत्रोंके अन्दर गुप्तरूपसे दिखाई देंगे। इनका विशेष विचार होनेके लिये यहा मंत्रोंके शब्दार्थ और स्पष्टीकरण दिये जाते हैं—

(२) पिताके गुण-धर्म-कर्म।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म बतानेवाले ये शब्द आये हैं–" पिता, पर्जन्य,भूरिधायस्, वृक्ष, द्यौः।" इनके अर्थोका बोध होनेसे पिताके गुग-धर्म-कर्मोका बोध हो सकता है; इसलिये इनका आशय देखिये—

१ पिता– (माता) रक्षक, संभालनेवाला।
२ पर्जन्यः–(पूर्ति+जन्यः) पूर्ति करनेवाला, पूर्णता करनेवाला। न्यूनताको दूर करनेवाला।
३ भूरिधायस्— (भूरि) बहुत प्रकारसे (धायस्) धारण पोषण करनेवाला, दाता, उदारचरित।
४ वृक्षः– आधार, स्वयं धूप सहकर दूसरोंको छाया देनेवाला।
५ द्यौः—प्रकाश देनेवाला, अंधकारका नाश करनेवाला।

मुख्यतः ये पांच शब्द हैं जो उक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म कर्मोका प्रकाश कर रहे हैं। इनका आशय यह है–" पिता ऐसा हो कि जो अपने पुत्रादिकोंका उत्तम पालन करे उनके अंदर जो जो न्यूनताएं हों उनकी पूर्णता करे अर्थात् अपनी संतानको पूर्ण उच्च गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकाष्ठा करे, उनका हर प्रकारसे पोषण करे और उनको हृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी अपनी संतान की उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लडकियोंको ज्ञान देकर उनको उत्तम नागरिक बनावे।"

(३) माताके गुण-धर्म-कर्म।

" माता, पृथिवी, भूरिवर्पस् ज्याका, गौ" ये पांच शब्द पूर्वोक्त मन्त्रोंमें माताके गुणधर्मकर्मोको प्रकट कर रहे हैं। इनका अर्थ देखिये–

१ माता– बालकोंका हित करनेवाली।
२ पृथिवी— क्षमाशील, सहनशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक कष्ट सहन करनेवाली।
३ भूरिवर्पस्–(भूरि) बहुत (वर्पस्) कुशलतासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यंत कुशल, सदा कर्म करनेमें दक्ष,परिवारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली।
४ ज्या, ज्याका–(ज्या–जया) जयका साधन करनेवाली, माता, पृथिवी, रस्सी, बलशालिनी।
५ गौः– प्रगतिशील, दुग्धादिद्वारा पुत्रोंकी पुष्टि करनेवाली। किरण, स्वर्ग, रत्न, वाणी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश सूर्य आदिके शुभगुणोंसे युक्त।

माताके गुणधर्म इन शब्दों द्वारा व्यक्त हो रहे हैं। अर्थात्– " बालबच्चोंका हित करनेवाली क्षमाशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये करनेयोग्य कर्मोंमें सदा दक्ष रहनेवाली, बहुतही कुशलतासे अपने कुटुंबकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, गौके समान दुग्धादिद्वारा बालकोंकी पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वर्गके समान सुखदायिनी, रत्नके समान घरकी शोभा बढानेवाली,शुभ भाषण करनेमें चतुर, विदुषी,जलके समान शांति बढानेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शानेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अज्ञानान्धकार दूर करनेवाली माता होनी चाहिये।"

पिताके गुणधर्मकर्म पाहिले बताये, और यहां माताके गुण धर्म बताये हैं। ये आदर्श माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पाला तथा बढाया जायगा, वह भी सच्चा वीर पुत्रही होगा तथा पुत्री भी उसी प्रकार वीरा बनेगी इसमें क्या संदेह है ?

(४) पुत्रके गुण-धर्म-कर्म।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पुत्रके गुणधर्मकर्म बतानेवाले ये शब्द हैं– " शरः, अश्मा–तनुः ,वीडुः, ऋभुः, शरुः, दिद्युः, तेजनं, मुञ्जः" इनके अर्थ ये हैं—

१ शरः–(श्रृणाति) जो शत्रुका नाश कर सकता है।
२ अश्मा- तनुः–पत्थरके समान सुदृढ शरीरवाला।
३ वीडुः–बलिष्ठ, शूर।

४ ऋभुः-बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी।
५ शरुः-शत्रुका नाश करनेवाला।
६ दिग्रुः-तेजस्वी।
७ तेजन.—प्रकाशमान।
८ मुञ्जः-(मुञ्जति मार्जयति) शुद्धता और पवित्रता करनेवाला।

पुत्र ऐसा हो कि जो "शत्रुका नाश करनेमें समर्थ हो, सुदृढ अंगवाला हो,शूर, बुद्धिमान्,कुशल, कारीगर, तेजस्वी, यशस्वी और पवित्र आचारवाला हो।" माता पिताको उचित है, कि वे ऐसा यत्न करें कि पुत्रमें ये गुणधर्म और कर्म बढें और इन गुणोंके द्वारा कुलका यश फैले।

यह बात स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त गुणधर्म कर्मोंसे युक्त मातापिता होंगे तो उनके पुत्रों और पुत्रियोंमें ये गुणधर्म आ सकते हैं।

(५) एक अद्भुत अलंकार
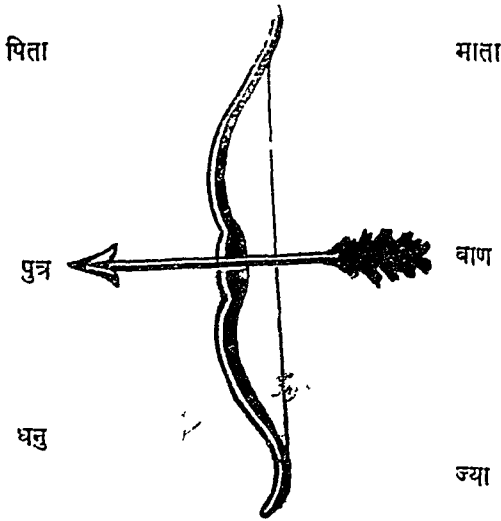
इस सूक्तमें बाण, धनुष्य और डोरीके अलंकारसे एक महत्त्वपूर्ण बातका प्रकाश किया है। धनुष्यका सख्त भाग जिसपर डोरी चढाई जाती है वह पुरुषरूप समझिये, डोरी मातारूप है और पुत्र बाणरूप है। पिताका बल और माताकी प्रेरणा इनसे युक्त होकर पुत्र संसारमें फेंका जाता है। वह संसारमें जाकर अपने शत्रुओंका नाश करके यशका भागी होता है। इस अलंकारका विचार पाठक करेंगे तो उनको बडाही बोध प्राप्त हो सकता है। पुत्रकी उन्नतिमें माता पिताका कार्य कितना होता है इसकी ठीक कल्पना इस अलंकारसे पाठकोंके मनमें आ सकती है।

डोरीके विना केवल धनु जैसा शत्रुनाश करनेमें असमर्थ है उसी प्रकार स्त्रीके विना पुरुष असमर्थ है। तथा जिस प्रकार धनुके विना डोरी कार्य करनेमें असमर्थ है उसी रीतिसे पुरुषके विना स्त्री असमर्थ है। माता पिता की योग्य प्रेरणा और योग्य शिक्षाद्वारा सुशिक्षित बना पुत्रही जगत्में यशस्वी होता है। यह अलंकार गृहस्थियोंको बडाही बोधप्रद हो सकता है।

पिताके सूचक " पर्जन्य, वृक्ष" आदि शब्द तथा माताके सूचक" पृथिवी" आदि शब्द उनका ऋतुगामित्व होकर ब्रह्मचारी होनेकी सूचना कर रहे हैं। [इस विषयमें स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित "ब्रह्मचर्य" पुस्तकके अंदर अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य सूक्तकी व्याख्यामें पृथ्वी, पर्जन्य और वृक्षोंके ब्रह्मचर्यका प्रकरण अवश्य देखिये]

(६) कुटुम्बका विजय।

व्यक्तिकी उन्नतिके विषयमें पहिले बतायाही है कि वैयक्तिक विजय की सूचनाएं इस सूक्तमें किस रूपमें हैं। कुटुंबके या परिवारके विजयका संबंध पूर्वोक्त अलंकार तथा स्पष्टीकरणके देखनेसे स्पष्ट हो सकता है। कुटुंबका विजय माता पिताके उत्तम कर्तव्य पालन करने और सुप्रजा निर्माण करनेसे ही प्राप्त होना है।

(मंत्र १) जैसा "अनेक प्रकारसे पोषण करनेवाला पर्जन्य पिता ऋतुगामी होकर वर्षा ऋतुमें अपने जलरूपी वीर्यका सिंचन उत्तम उपजाऊ भूमिमें करता है और शररूपी विजयी संतानकी उत्पत्ति करता है," तद्वत् माता पिता ऋतुगामी होकर वीर पुत्र उत्पन्न करें।

(मंत्र २) "हे जयका साधन करनेवाली माता! अपने पुत्रोंका शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बना, जिससे पुत्र बलवान बनकर अपने शत्रुओंको दूर कर सके।"

(मंत्र ३) –" जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गौवें अपने तेज बछडेको चाहती हैं" [उसी प्रकार पिताके साथ रहती हुई माता भी अपने लिये तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करनेकी ही इच्छा करे।] अथवा- " (वृक्षं) धनुष्यके साथ रहनेवाली डोरी तेजस्वी (शरं) बाण ही वेगसे छोडती है। " [उसी प्रकार पतिकी उपासना करनेवाली स्त्री वीर पुत्र उत्पन्न होनेकी ही अभिलाषा करे।] " हे (इन्द्र) परमा-

त्मन्! हमसे तेजस्वी (शरुः) बाणके समान तेजस्वी पुत्र चले अर्थात् उत्पन्न हो।" [मातापिता परमात्माकी प्रार्थना ऐसी करें कि हे ईश्वर! हमारा ऐसा पुत्र हो कि जो दूर दूर जाकर जगत्में विजय प्राप्त करे।]

(मंत्र ४) -" जिस प्रकार [पिता] द्युलोक और [माता] पृथिवीके मध्यमें विद्युत् आदि तेजस्वी पदार्थ [पुत्ररूपसे] रहते हैं," [उसी प्रकार माता पिता के मध्यमें तेजस्वी सुंदर बालक चमकता रहे।] " जैसा मुञ्ज शर रोग और स्रावके घावके बीचमें रहता है" अर्थात् उनको दूर करता है उसी प्रकार [यह पवित्रता करनेवाला पुत्र रोग घावके मध्यमें रहता हुआ भी स्वयं अपना बचाव करे और कुलका भी उद्धार करे]

यह भाव पहिलेकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें स्पष्टीकरणके लिये पूर्वापर संबंध रखनेवाले अधिक वाक्य जोड दिये हैं, जिससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि यह सूक्त कुटुंबके विजयका उपदेश किस ढंगसे दे रहा है। जातिके या राष्ट्रके विजयकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबकी सुस्थितिपर तथा सुप्रजा निर्माणपर ही अवलंबित है। जो लोग राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबमें रखें। आदर्श कुटुंब-व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है।

(७) पूर्वापर-सम्बन्ध

पहिले सूक्तमें विद्या पढानेका उपदेश दिया है। इस द्वितिय सूक्तसे पढाईका प्रारंभ हो रहा है। विद्याका प्रारंभ बिलकुल साधारण बातसे ही किया गया है। घास की उत्पत्तिका विषय हरएक स्थानके मनुष्य जानते हैं। " मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इसलिये घासका पिता मेघ और माता भूमि है।" इतना ही विषय इस सूक्तके प्रारंभमें बताया है! इतनी साधारण घटनाका उपदेश करते हुए "पिता-माता-पुत्र" रूपी कुटुंबकी उन्नतिकी शिक्षा किस ढंगसे वेदने बतायी है यह पाठक यहां देख चुके हैं। घासके अंदर मुञ्ज या शर एक जातिका घास है। यह सरकंडा स्वयं शत्रुका वध करनेमें समर्थ नहीं होता। क्योंकि कोमल रहता है। परंतु जब उसके साथ कठिन लोहेका संयोग किया जाता है और पीछे पर लगाये जाते हैं, तब वही कोमल सरकंडा धनुष्यपर चढकर डोरीकी गति प्राप्त करके शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार कोमल बालक गुरु गृहकी कठिन तपस्या करता हुआ ब्रह्मचर्य पालनरूपी कठिन वज्रसे युक्त होकर उन्नतिके नियमोंके पालनसे अपनी गतिको एक मार्गमें रखता हुआ अपने, कुटुंबके, जातिके तथा राष्ट्रके शत्रुओंको भगा देनेमें समर्थ होता है।

पहिले सूक्तके तृतीय मंत्रमें धनुष्यकी उपमा देकर बताया है कि "गुरु शिष्यरूपी धनुष्यकी दो कोटियां विद्यारूपी डोरीसे तनी हैं।" प्रथम सूक्तमें यह अलंकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस सूक्तका धनुष्यका दृष्टांत भिन्न उपदेश दे रहा है। दृष्टांतमें एकदेशी बातको ही देखना होता है, इसलिये एक ही दृष्टांतसे भिन्न उपदेश देना कोई दोष नहीं है। प्रथम सूक्तके दृष्टांतमें भी डोरीका स्थान विद्या माता अर्थात् सरस्वती देवीको दिया है उसमें मातृत्व का सादृश्य है।

जंगलमें वृक्षके साथ बंधी हुई गाय भी अपने बछडेका स्मरण करती रहती है, गायका बछडेके ऊपर का प्रेम सबसे बढिया प्रेम है। इस प्रकारका प्रेम अपने बालकके विषयमें माताके हृदयमें होना चाहिये। अपना बालक अति तेजस्वी हो, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे और इस भावनाके साथ यदि माता अपने बालकको दूध पिलावेगी, तो उक्त गुण पुत्रमें निःसंदेह उतरेंगे। इस विषयमें तृतीय मंत्र मनन करनेके योग्य है।

(८) कुटुम्बका आदर्श।

चतुर्थ मंत्रमें आदर्श कुटुंबका नमूना सन्मुख रखा है। द्युलोक पिता, भूमि माता और इनके बीच का तेजस्वी गोलक इनका पुत्र है। अपने घरमें भी यही आदर्श होवे। आकाश और पृथ्वीमें जैसा सूर्य होता है उसी प्रकार पिता और माताके मध्यमें बालक चमकता रहे। कितना उच्च आदर्श है! हरएक गृहस्थी इसका स्मरण रखें।

(९) औषधिप्रयोग।

मुञ्ज घास अपने रस आदिसे अनेक रोगों और अनेक स्रावोंको दूर करता है, क्योंकि मुञ्ज शोधक, शुद्धता तथा निर्मलता करनेवाला है। इसलिये स्पष्ट है कि यदि शोधकता और पवित्रता का गुण अपने अंदर बढाया जाय तो रोगादि दूर रह करते हैं। हरएकके लिये यह सूचना अपनाने योग्य है।

मुञ्ज या शर औषधिका प्रयोग करके स्रावके रोग तथा, मूत्राघात आदि रोग दूर होते हैं। इस विषयका सूचक उपदेश इस सूक्तके अन्तमें है। वैद्य लोग इसका विचार करें।

(१०) राष्ट्रका विजय ।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण अभ्युदय-के नियमोंमें समानता है। पाठक इस बातको अच्छी प्रकार जानते ही हैं। व्यक्तिका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन की बातको छोडनेसे दोनों स्थानोंमें नियमोंकी एकरूपताका अनुभव आ सकता है।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान लें और पूर्व स्थानमें एक घर या एक परिवारके विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूपसे राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकोंको राष्ट्रीय उन्नति का विषय पूर्वोक्त रीतिसे ही ज्ञात हो जायगा।

घरमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है; घरमें माता प्रबंधकर्त्री है, राष्ट्रमें प्रजाद्वारा चुनी हुई राष्ट्रसभा प्रबंधकर्त्री है। घरमें पुत्र वीर बनाया जाता है और राष्ट्रमें बालचमुओंमें वीरता बढाई जाती है। इत्यादि साम्य देखकर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस ढंगसे देता है। पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और पुत्रके गुणधर्मकर्म यहां राष्ट्रीय क्षेत्रमें अतिविस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंको अतिस्पष्ट हो जायगी। इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निम्न-लिखित प्रकार होगा—

" प्रजाका उत्तम धारणपोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सच्चा पिता और उसकी माता बहुत कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥ १ ॥ हे मातृभूमि ! हम सबके शरीर अति सुदृढ हों, जिससे हम सब उत्तम बलवान बनकर अपने शत्रुओंको भगा देंगे ॥ २ ॥ जिस प्रकार गौ अपने बछडेका हित सदा चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर ! मातृभूमिके प्रेमसे बढे हुए वीर आगे बढें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार आकाश और भूमिके बीचमें तेजोगोलक होते हैं उसी प्रकार राजा और प्रजाके मध्यमें वीर चमकते रहें। तथा वे पवित्रता करते हुए रोगादि भयसे दूर हों ॥ ४ ॥

साधारणतः यह आशय अतिसंक्षेपसे है। पाठक इस प्रकार विचार करें और वेदके आशयको समझनेका यत्न करें।

आरोग्य-सूक्त।

(३)

पूर्ण सूक्तका अभ्यास करनेसे यह ज्ञान हुआ कि पर्जन्य पिता है, पृथ्वी माता है और इनके पुत्र वृक्षवनस्पति आदि सब हैं। यहां शंका उत्पन्न होती है कि, क्या पर्जन्यके समान सूर्य, चंद्र, वायु आदि भी वृक्षवनस्पतियोंके लिये पितृस्थानीय हैं वा नहीं, क्या इनके न होते हुए, केवल अकेला एक ही पर्जन्य तृणादि की उत्पत्ति करनेमें समर्थ हो सकता है ? इसके उत्तरमें यह तृतीय सूक्त है—

[ऋषि—अथर्वा । देवता—(मंत्रोंमें उक्त अनेक) देवताएँ]

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॑ श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥ १ ॥
वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ मि॒त्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥ २ ॥
वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॒ वरु॑णं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥ ३ ॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

अर्थ— (विद्म) हमें पता है कि शरके पिता (शत-वृष्ण्यं) सैंकडों बलोंसे युक्त पर्जन्य,... मित्र, . वरुण,...चंद्र,... सूर्य... (ये पांच) हैं। (तेन) इन पांचोंके वीर्यसे (ते तन्वे) तेरे शरीरके लिये मैं (शं करं) आरोग्य करूं। (पृथिव्यां) पृथिवीके अन्दर (ते निषेचनम्) तेरा सिंचन होवे और सब दोष (ते) तेरे शरीरसे (बाल् इति) शीघ्रही (बहिः अस्तु) बाहर हो जावें ॥ १—५ ॥

भावार्थ— तृणादि मनुष्यपर्यंत सृष्टिकी माता भूमि है और पिता पर्जन्य, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य ये पांच हैं। इनमें अनंत बल हैं। उनके बलोंका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके शरीरमें आरोग्य स्थिर रह सकता है, मनुष्यका जीवन दीर्घ हो सकता है और उसके शरीरसे सब दोष बाहर हो जाते हैं।

आरोग्यका साधन।

पांच मंत्रोंका मिलकर यह एकही गणमंत्र है और इसमें मनुष्यादि प्राणियों तथा वृक्षवनस्पतियोंके आरोग्यके मुख्य साधन कहे हैं। "शर" शब्द घास वाचक होता हुआ भी सामान्य अर्थसे यहां उपलक्षण है और तृणसे लेकर मनुष्यतक सृष्टिका आशय उसमें है। विशेष अर्थमें "शर" संज्ञक वनस्पतिका गुणधर्म बताया जाता है यह बात भी स्पष्ट ही है।

इन मंत्रोंमें "पांच" पिता कहे हैं। "पिता" शब्द पाता अर्थात् रक्षा, संरक्षण करनेवाला इस अर्थमें यहां प्रयुक्त है। तृणादिसे लेकर मानव-सृष्टिपर्यंत सब की सुरक्षा करनेका कार्य इनका ही है। ये पांचों सब सृष्टिकी रक्षा कर ही रहे हैं। देखिये-

१ पर्जन्य वृष्टिद्वारा जलसिंचन करके सबका रक्षण करता है।
२ मित्र प्राणवायु है और इस वायुसे ही सब जीवित रहते हैं।
३ वरुण जलकी देवता है और वह जल सबका जीवन ही कहलाता है।
४ चंद्र औषधियोंका अधिराजा है और औषधियों खाकर ही मनुष्य पशुपक्षी जीवित रहते हैं।
५ सूर्य सबका जीवनदाता प्रसिद्ध ही है। सूर्य न रहे तो सब जीवन नष्ट ही होगा।

इन पांचोंकी विविध शक्तियां हमारे जीवनके लिये सहायक हो रहीं हैं, इसलिये ये पांचों हमारे संरक्षक हैं और संरक्षक होनेसे ही हमारे पितृस्थानीय हैं। इनसे आरोग्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? यह प्रश्न बडा गहन और बडी अन्वेषणाकी अपेक्षा रखता है। परंतु संक्षेपसे यहां इस विधिकी सूचना दी जाती है, पाठक विचार करें और लाभ उठावें-

पर्जन्यसे आरोग्य।

पर्जन्यका शुद्ध जल जो स्वाती आदि मध्य नक्षत्रोंसे प्राप्त किया जा सकता है वह बडा आरोग्यप्रद है। दिनके पूरे लंघनके समय यदि इसका पान किया जाय तो शरीरके संपूर्ण दोष दूर हो जाते हैं और पूर्ण नीरोगता प्राप्त हो सकती है। वृष्टि जलके स्नानसे शरीरके शुष्क खुजली आदिका निवारण होता है। अंतरिक्षमें शुद्ध प्राण विराजमान है वह वृष्टिके जलबिंदुओंके साथ भूमिपर आता है। इसलिये वृष्टिजलका स्नान आरोग्यवर्धक है।

मित्र (प्राण) वायुसे आरोग्य।

प्राणायामसे योगसाधनमें आरोग्यरक्षणका जो उपाय वर्णन किया है वह यहां अनुसंधेय है। दोनों नासिका-रन्ध्र-सूत्र-नेतिसे, भस्त्रिकासे अथवा जलकी नेतिसे स्वच्छ और मल-रहित रखनेसे प्राणवायु अंदर जाता और उत्तम पवित्रता स्थापित करता है। खुली वायुमें सब कपडे उतार कर रहनेसे भी होनेवाला वायुस्नान बडा आरोग्यवर्धक है। जो सदा वस्त्ररहित रहते है उनको रोग कम होते हैं इसका यही कारण है। वस्त्रवृद्धि बढनेसे भी रोग बढे हैं इसका कारण इतना ही है कि वस्त्रोंके कारण प्राणवायुका संबंध शरीरके साथ जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होता और इस कारण आरोग्य न्यून होता है।

वरुण (जल) देवसे आरोग्य।

वरुण मुख्यतः समुद्रका देव है। समुद्रके खारे पानीके स्नानसे संपूर्ण चर्मदोष दूर होते हैं, रुधिराभिसरण उत्तम होता है, पाचनशक्ति बढती है और अनेक प्रकारसे आरोग्य

प्राप्त होता है। अन्य जल अर्थात् तालाव, कूए, नदी आदिकोंके जलके स्नानसे उनमें उत्तम प्रकार तैरनेसे भी कई दोष दूर हो जाते हैं। जलचिकित्साका यह विषय है वह पाठक यहां अनुसंधान करके देखें। यह बडा ही विस्तृत विषय है क्योंकि प्रायः सभी बीमारियां जलचिकित्सासे दूर हो सकती है।

चन्द्र (सोम) देवसे आरोग्य।

चद्र औषधियोंका राजा है, इसका दूसरा नाम सोम है। सोमादि औषधियोंसे आरोग्य प्राप्त करनेका साधन चरकादि आचार्योंन अपन वैद्य ग्रथोंमें लिखा ही है। इसी साधनका दूसरा नाम ' वैद्यक'' है।

सूर्यदेवसे आरोग्य।

सूर्य पवित्रता करनेवाला है। सूर्यकिरणसे जीवनका तत्त्व सर्वत्र फैलता है। सूर्यकिरणोंका स्नान नंगे शरीरसे करनेसे अर्थात् धूपमे अपना शरीर तपानेसे आरोग्य प्राप्त होता है। सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा करनेका भी एक बडा भारी शास्त्र है।

पञ्चपाद पिता।

ये पांच देव अनेक प्रकारसे मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदिकोंका आरोग्य साधन करते हैं। वृक्षवनस्पति और आरण्यक पशु उक्त पंचपाद पितरों अर्थात् पाचों देवोंके साथ पांचों पिताओंके साथ–पांचों रक्षकोंके साथ नित्य रहते हैं, इसलिये सदा आरोग्यसंपन्न होते हैं। नागरिक पशुपक्षी मनुष्यके कृत्रिम–बनावटी जीवनसे संबधित होनेके कारण रोगोंसे अधिक ग्रस्त होते हैं। जंगली लोग प्रायः सीदे सादे रहनेके कारण अधिक नीरोग होते हैं। परतु नागरिक लोग कि जो सदा तंग मकानोंमें रहते हैं, सदा तंग वस्त्रोंसे वेष्टित होते हैं और जल वायु तथा सूर्य प्रकाश आदिकोंसे अपने आपको दूर रखते है, अर्थात् जो अपने पचपिताओंसे ही विमुख रहते हैं वेही अधिकसे अधिक रोगी होते हैं और प्रति दिन इन तर्गोंसे पीडित नागरिक लोगोंमें ही विविध रोग बढ रहे हैं और अस्वास्थ्यसे ये ही सदा दुःखी होते हैं।

इसलिये वेद कहता है कि पर्जन्य, मित्र (प्राण) वायु, जलदेव वरुण, चंद्र, सूर्यदेव इन पांच देवोंको अपना पिता अर्थात् अपना संरक्षक जानो और –

तेना ते तन्वे शं करम्।

''इन पांचों देवोंके विविध बलोंसे अपने शरीरका आरोग्य प्राप्त करो'' अथवा ''मैं उक्त देवोंकी शक्तियोंसे तेरे शरीरका आरोग्य करूं।'' आरोग्य इनसेही प्राप्त होता है। आरोग्यका मुख्य ज्ञान इस मंत्रमें स्पष्टतया आ गया है। पाठक इनका विचार करे और इस निसर्गनियमोंका पालन करके अपना आरोग्य प्राप्त करें।

पृथ्वीमें जीवन।

पृथ्वीमें प्राणिमात्रका सामान्यतः और मनुष्यका उच्च जीवन विशेषतः उक्त पांचों शक्तियोंपर ही निर्भर है। मंत्रका ''निषेचन'' शब्द ''जीवनरूप जल'' का सूचक है। इसलिये—

ते पृथिव्यां निषेचनम्।

इस मंत्रभागका आशय ''तेरा पृथ्वीमें जीवन'' पूर्वोक्त पांचों देवताओंके साथ संबंधित है यह स्पष्ट है। जो शरीरका आरोग्य, शरीरका कल्याण करनेवाले हैं वेही जीवन अथवा दीर्घ जीवन देनेवाले निश्चयसे हैं। इनके द्वारा ही—

ते बालू इति बहिः अस्तु।

''तेरे शरीरके दोष शीघ्र बाहर हो जांय।'' पूर्वोक्त पांचों देवोंके योग्य संबंधसे शरीरके सब दोष शरीरसे बाहर हो जाते हैं। देखिये—

(१) वृष्टिजल-पान-पूर्वक लंघन करनेसे मूत्रद्वारा शरीर दोष बाहर हो जाते हैं।
(२) शुद्ध प्राणके अंदर जानेसे रक्तशुद्धि होती है और उच्छ्वासद्वारा दोष दूर होते हैं।
(३) जलचिकित्साद्वारा हरएक अवयवके दोप दूर किये जा सकते हैं।
(४) सोम आदिक औषधियोंका औषधि नाम इसलिये है, कि वे शरीरके (दोष-धी) दोषोंको धोती हैं।
(५) सूर्यकिरण पसीना लाने तथा अन्यान्य रीतियोंसे शरीरके रोग बीज दूर कर देते हैं।

इस रीतिसे पाठक अनुभव करें कि ये पांच देव किस प्रकार शरीरका (शं करं) कल्याण करते हैं। आरोग्य देते हैं, (निषेचनं) जीवन बढाते हैं, और (बहिः) दोषोंको बाहर निकाल देते हैं।

''शं'' शब्द ''शांति'' का सूचक है। शरीरमें ''शांति, समता, सुख'' आदि स्थापन करना आरोग्यका भाव बता रहा है। ये देव''शं'' करनेवाले हैं, इसका तात्पर्य यही है कि, ये आरोग्य बढानेवाले हैं। आरोग्य बढानेके कारण जीवन बढानेवाले अर्थात् दीर्घ जीवन करनेवाले हैं और सदा सर्वदा दोषोंको शीघ्र बाहर करनेवाले हैं। पाठक इस मंत्रके मननसे अपने आरोग्यके मुख्य सिद्धान्तका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार आरोग्यके मुख्य साधनका सामान्यतया उपदेश करके मूत्रदोष निवारणका विशेष उपाय बताते हैं—

मूत्रदोष-निवारण ।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम् । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥६॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥७॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥८॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥९॥

अर्थ— (यत्) जो (आन्त्रेषु) आंतोंमें (गवीन्योः) मूत्र नाडियोंमे तथा जो (वस्तौ) मूत्राशयमें मूत्र (संश्रुतं) इकट्ठा हुआ है। वह तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब एकदम बाहर (मुच्यताम्) निकल जावे ॥ ६ ॥ (वेशन्त्याः) झीलके पानीके (वर्त्रं) बंधको (इव) जिस प्रकार खोल देते हैं तद्वत् तेरे (वेहनं) मूत्रद्वारको (प्र भिनद्मि) मैं खोल देता हूं...॥ ७ ॥ समुद्रके अथवा (उदधेः) बडे तालावके जलके लिये मार्ग खुला करनेके समान तेरा (वस्ति-बिलं) मूत्राशयका बिलं मैंने (विषितं) खोल दिया है... ॥ ८ ॥ जिस प्रकार धनुष्यसे छूटा हुआ (इषुका) बाण (परा अपतत्) दूर जाता है, उस प्रकार तेरा सब मूत्र शीघ्र बाहर निकल जावे ॥ ९ ॥

भावार्थ—तालाव आदिसे जिस प्रकार नहर निकाल देते हैं जिससे तालावका पानी सुखपूर्वक बाहर जाता है उसी प्रकार मूत्राशयसे मूत्र मूत्रनाडियों द्वारा मूत्रेंद्रियसे बाहर निकल जावे ।

मूत्र खुली रीतिसे बाहर जानेसे शरीरके बहुत दोष दूर हो जाते हैं। शरीरके सब विष मानो इस मूत्रमें इकट्ठे होते हैं और वे मूत्र बाहर जानेसे विष भी उसके साथ बाहर जाते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है। इसीलिये किसी रोगी का मूत्र अंदर रुक जानेसे मूत्रके विष शरीरमें फैलते हैं और रोगी शीघ्र-ही मर जाता है। इस कारण आरोग्यके लिये मूत्रका उत्सर्ग नियमपूर्वक होना अत्यंत आवश्यक है। यदि वह मूत्र मूत्राशयमें रुक जाय तो मूत्र नलिकाको खोल कर मूत्रका मार्ग खुला करना आवश्यक है। इस कार्यके लिये शर या मुञ्ज औषधिका प्रयोग बडा सहायक है। वैद्य लोग इसका उपयोग करें। इसपर दूसरा उपाय मूत्रद्वार खोलनेका है, इसके लिये लोह शलाका, बास्तियंत्र (Catheter कैथेटर) का प्रयोग करनेकी सूचना इन मंत्रों की उपमाओंसे मिलती है। यह मूत्राशय यंत्र सोनेका, चांदीका या लोहेका बनाया जाता है, यह बारीक नलिका आरंभमें गोल सी होती है, आजकल — रबर आदि अन्यान्य पदार्थोंका भी बनाबनाया मिलता है। इस समय इसको हरएक डाक्टरके पास पाठक देख सकते हैं। यह मूत्र इंद्रियसे मूत्राशयमें योग्य रीतिसे डाला जाता है। यह वहां पहुंचनेसे अंदर रुका हुआ मूत्र इसके अंदर की नलीसे बाहर हो जाता है।

योगी लोग इसकी सहायतासे वज्रोली आदि क्रियाएं साध्य करते है मूत्रद्वारसे कोसा दूध अथवा जल आदि अंदर मूत्राशयमें खींचने और उसके द्वारा मूत्राशयको शुद्ध करनेका सामर्थ्य अपनेमें बढाते हैं। इसका अभ्यास बढानेसे न केवल मूत्राशयपर प्रभुत्व प्राप्त होता है, परंतु संपूर्ण वीर्य नाडियोंके समेत संपूर्ण वीर्याशयपर भी प्रभुत्व प्राप्त होता है। ऊर्ध्वरेता होनेकी सिद्धि इसीके योग्य अभ्याससे प्राप्त होता है। योगी लोग इस अभ्यासको अतिगुप्त रखते हैं और योग्य परीक्षा होनेके पश्चात् ही यह अभ्यास शिष्यको सिखाया जाता है। पूर्णब्रह्मचर्य रहना इसी अभ्याससे साध्य होता है। गृहस्थ धर्म पालन करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन होनेकी संभावना इस अभ्याससे हो सकती है।

जिस प्रकार तालाब या कूवेके अंदरसे पहिला जल निकालनेसे उसकी स्वच्छता हो सकती है, और शुद्ध नया जल उसमें आनेसे उसका अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसी प्रकार मूत्राशयका पूर्वोक्त प्रकार योगादि साधनद्वारा बल बढानेसे बडा ही आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

सामान्य मनुष्योंके लिये मुञ्ज औषधिके प्रयोगसे, अथवा मूत्राशयमें मूत्रवस्ति यंत्रके प्रयोगसे लाभ होता है। योगियोंको वज्रोली आदि अभ्याससे मूत्रस्थानकी सब नस नाडी बलवती और शुद्ध करनेसे आरोग्य प्राप्त होता है।

पूर्वापर सम्बन्ध

द्वितीय सूक्तमें आरोग्य साधनका विषय प्रारंभ किया था। उसी आरोग्यप्राप्तिका विस्तृत नियम इस तृतीय सूक्तके प्रथम पांच मंत्रोंके गणमें कहा है। सबके आरोग्यका मानो यह मूल-मंत्र ही है। हरएक अवस्थामें सुगमतया आरोग्यसाधन करनेका उपाय इस गणमंत्रमें वर्णन किया है। इस तृतीय सूक्तके अंतिम चार मंत्रोंमें मूत्राशयके दोषको दूर करनेका साधन बताया है।

इस सूक्तका "शत-वृष्ण्यं" शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। "वृष्ण्य" शब्द बल, वीर्य, उत्साह, प्रजननसामर्थ्य आदिका वाचक है। ये सैकडों बल देनेवाले पूर्वोक्त पांचों देव हैं यह यहां इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है। वीर्यवर्धक अन्य उपायोंका अवलंबन न करके पाठक यदि इन पांचोंको ही योग्य रीतिसे वर्तते रहेंगे तो उनको अनुपम लाभ हो सकता है।

द्वितिय सूक्तमें, "भूरि-धायस" शब्द है जिसका अर्थ "अनेक प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला" पूर्व स्थानमें दिया है। यह भी पर्जन्यके साहचर्यके कारण इस सूक्तमें अनुवृत्तिसे आता है और पांचों देवोंका विशेषण बनता है। पाठक इस शब्दको लेकर मंत्रोंका अर्थ देखें और बोध प्राप्त करें।

"भूरि-धायस" शब्दका "शत-वृष्ण्य" शब्दसे निकट संबंध है, मानो ये दोनों शब्द एक दूसरेके सहायक हैं। विशेष प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला ही सैकडों वीर्योंको देनेवाला हो सकता है। क्योंकि पुष्टिके साथ ही बलका संबंध है। इस प्रकार पूर्व सूक्तसे इस सूक्तका संबंध देखिये।

शारीरशास्त्रका ज्ञान।

इस सूक्तके मननसे पाठकोंने जान लिया होगा कि शारीर-शास्त्रका ज्ञान अथर्वविद्याके यथावत् जाननेके लिये अत्यंत आवश्यक है। मूत्राशयमें शलाकाका प्रयोग विना वहांके अवयवोंके जाननेसे नहीं हो सकता। शारीरशास्त्रको न जाननेवाला मनुष्य योगसाधन भी नहीं कर सकता, तथा अथर्ववेदका ज्ञान भी यथा योग्य रीतिसे प्राप्त नहीं कर सकता।

यह "अंगि-रस" का विषय है, अर्थात् अंगोंके रसोंकाही यह अथर्वशास्त्र है। अर्थात् जिसने अंगोंका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, अंगोंके अंदरके जीवन रसोंका जिसको कुछ भी ज्ञान नहीं है वह अथर्वविद्यासे बहुत लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

डाक्टर लोग जिस प्रकार मुर्दोंकी चीर फाड करके शारीरांगोंका यथावत ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार योगियों और अथर्वांगिरसविद्याके पढनेवालोंको करना उचित है।

हमने यहां सोचा था कि इस सूक्तमें वर्णित शलाकाके प्रयोगके लिये आवश्यक अवयवोंका परिचय चित्रोंद्वारा किया जावे, परंतु इससे कई लोग अधिक भ्रममें भी पड सकते हैं और जो चित्रोंको ठीक प्रकार समझ नहीं सकते वे उलटाही प्रयोग करके दोषके भागी हो सकते हैं। इस भयको सामने देखकर इस बातको चित्रोंसे स्पष्ट करनेका विचार इस समयके लिये दूर कर दिया है। और हम यहां पाठकोंसे निवेदन करना चाहते हैं कि वे इस प्रयोगका ज्ञान सुविज्ञ डाक्टरोंसे ही प्राप्त करें तथा ऊपर दिये हुए योग-प्रक्रियाका ज्ञान किसी उत्तम योगीके पास जाकर सीखें; क्योंकि अंगरस चिकित्सामें इन बातोंकी आवश्यकता है। इनके विना केवल मंत्रार्थ पढनेसे अथवा शाब्दिक ज्ञान समझने मात्रसे भी उपयोग नहीं हो सकता।

पूर्व सूक्तमें आरोग्यसाधक जलका संक्षेपसे वर्णन किया है इसलिये अब उसी जलका विशेष वर्णन क्रमसे आगेके तीन सूक्तोंमें करते हैं-

[४]

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता [अपांनपात्, सोमः--] आपः ।)

अम्बयो यन्त्यध्वंभिर्जामयो अध्वरीयताम् । पृञ्चन्तीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह । ता नो हिन्वन्त्यध्वरम् ॥ २ ॥

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥
अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम्। अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥४॥

अर्थ- (अध्वरीयतां) यज्ञकर्ताओंके (जामयः) बहिनोंके समान और (अम्बयः) माताओंके समान जलकी नदियां (अध्वभिः यन्ति) अपने मार्गोंसे जाती हैं जो (मधुना) मधु-शहदके साथ (पयः) दूध या जल (पृञ्चन्तीः) मिलाती हैं ॥१॥ (याः) जो (अमूः) ये नदियां (उप सूर्ये) सूर्यके सम्मुख होती हैं अथवा (याभिः) जिनके साथ सूर्य होता है। वे हम सबका (अध्वरं) यज्ञ (हिन्वन्ति) सांग करती हैं ॥ २ ॥ (यत्र) जहां हमारी (गावः) गौवें पानी (पिबन्ति) पीती हैं उन (देवीः आपः) दिव्य जलोंकी (सिन्धुभ्यः) नदियोंके लिये हवि करनेके कारण (उप ह्वये) मैं प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥ (अप्सु अन्तः) जलमें अमृत है, (अप्सु भेषजं) जलमें दवाई है। (उत) और (अपां प्रशस्तिभिः) जलके प्रशंसनीय गुण धर्मोंसे (अश्वाः वाजिनः) घोडे बलवान् (भवथ) होते और गौवें बलयुक्त होती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ-जल उनके लिये माता और बहिनके समान हितकारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं। जलकी नदियां बह रही हैं, मानो वह दूधमें शहद मिला रही हैं। जो जल सूर्यकिरणसे शुद्ध बनता है अथवा जिसकी पवित्रता सूर्य करता है वह जल हमारा आरोग्य सिद्ध करे। जिन नदियोंमें हमारी गौवें जल पीती है और जिनके लिये हवि बनाया जाता है उनके जलका गुणगान करना चाहिये। जलमें अमृत है, जलमें औषध है, जलके शुभ गुण से घोडे बलवान् बनते हैं और गौवें भी बलवती बनती हैं।

[५]

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः। देवता-[अपांनपात्, सोमः] आपः)।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥
ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्। अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (आपः) जलो! (हि) क्योंकि आप (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) हो इसलिये (ताः) सो तुम (नः ऊर्जे) हमारे बलके लिये तथा (महे रणाय चक्षसे) बडी रमणीयताके दर्शनके लिये हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥ (यः) जो (वः) आपके अंदर (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्याणकारी रस है (तस्य) उसका (नः इह भाजयत) हमें यहां भागी करो (इव) जैसी (उशतीः मातरः) इच्छा करनेवाली माताएं करती हैं ॥ २ ॥ हे जलो! जिसके (क्षयाय) निवासके लिये आप (जिन्वथ) तृप्ति करते हो (तस्मै) उसके लिये हम (वः अरं गमाम) आपको पूर्णतया प्राप्त करेंगे। और आप (नः) हमें (जनयथ) बढाओ ॥ ३ ॥ (वार्याणां) इच्छा करनेयोग्य सुखोंके (ईशाना) स्वामी इसलिये (चर्षणीनां) प्राणिमात्रके (क्षयन्तीः) निवासके हेतु ऐसे (अपः) जलोंसे (भेषजं याचामि) औषधकी याचना करता हूं ॥

भावार्थ— जल सुखकारक है, उससे बल बढता है, रमणीयता प्राप्त होती है और पुष्टि भी है॥ जिस प्रकार पुत्रको माताके दूधसे पुष्टिका भाग मिलता है, उसी प्रकार जलके अंदरके उत्तम सुखवर्धक रस हमें प्राप्त हों॥ जिससे प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, वह रस हमें प्राप्त हो और उससे हमारी वृद्धि होती रहे॥ जलसे इष्ट सुख प्राप्त होते हैं और प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, उस जलसे हमें औषधरस प्राप्त होता रहे ॥

[६]

[ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता (अपांनपात्) आपः, २ आपः सोमो अग्निश्च]

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ । शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा । अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वश॑म्भुवम् ॥ २ ॥

आपः॑ पृणी॒त भे॑ष॒जं वरू॑थं त॒न्वे॒३॒॑ मम॑ । ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ३ ॥

शं न॒ आपो॑ धन्व॒न्या॒३॒॑: शमु॑ सन्त्वनू॒प्या॒३॒॑: ।

शं न॑: खनि॒त्रिमा॒ आप॒: शमु॒ या: कु॒म्भ आभृ॑ताः शि॒वा न॑: सन्तु॒ वार्षि॑कीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (देवीः आपः) दिव्य जल (नः शं) हमें सुख दे और (अभिष्टये) इष्ट प्राप्तिके लिये तथा (पीतये) पीनेके लिये हो और हमपर शांतिका (अभि स्रवन्तु) स्रोत चलावे ॥ १ ॥ (मे) मुझे (सोमः अब्रवीत्) सोमने कहा कि (अप्सु अन्तः) जलमें (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां हैं और अग्नि (विश्व-शं-भुवं) सब कल्याण करनेवाला है ॥ २ ॥ (आपः) जलो ! (भेषजं पृणीत) औषध दो और (मम तन्वे) मेरे शरीरके (वरूथं) संरक्षण दे जिससे मैं सूर्यको (ज्योक् दृशे) दीर्घकालतक देखूं ॥ ३ ॥ (नः) हमारे लिये (धन्वन्या: आपः) मरुदेशका जल (शं) सुखकारक हो, (अनूप्याः) जलपूर्ण प्रदेशका जल सुखकारक हो, (खनित्रिमाः) खोदे हुए कूवे आदिका जल सुखदायक हो, (कुंभे) घडेमें भरा जल सुखदायक हो, (वार्षिकीः) वृष्टिका जल सुखदायक होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ- दिव्य जल हमें पीनेके लिये मिले और वह हमारा सुख बढावे ॥ १ ॥ जलमें सब औषध रहते हैं और अग्नि सुख बढानेवाला है ॥ २ ॥ जलसे हमारी चिकित्सा होवे और शरीरका बचाव रोगोंसे होकर हमारा दीर्घ आयु बने ॥ ३ ॥ मरुदेशका, जलमय देशका, कूवेका, वृष्टिका तथा घडोंमें भरा हुआ जल हमारा सुख बढानेवाला होवे ॥ ४ ॥

ये तीन सूक्त जलका वर्णन कर रहे हैं। तीनों सूक्त इकट्ठे हैं इसलिये तीनोंका विचार यहां इकट्ठाही करेंगे।

जलकी भिन्नता ।

जल निम्न प्रकारका है यह बात पूर्व सूक्तोंमें कही है—

१ देवीः (दिव्याः) आपः (४।३) —आकाशसे अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होनेवाला जल, इसी का नाम "वार्षिकी" भी है।

२ वार्षिकीः आपः (६।४) —वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल।

३ सिंधुः (४।३) —नदी तथा समुद्रसे प्राप्त होनेवाला जल।

४ अनूप्याः आपः (६।४) –जलमय प्रदेशमें प्राप्त होनेवाला जल।

५ धन्वन्याः आपः (६।४) –मरुदेश, रेतीले देशमें, अथवा थोडी वृष्टि होनेवाले देशमें मिलनेवाला जल।

६ खनित्रिमाः आपः (६।४) –खोदकर बनाये हुए कूए बावलीसे प्राप्त होनेवाला जल।

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल भी रेतीले स्थान, कीचडकी मिट्टीके स्थान आदिमें गिरनेसे भिन्न गुण धर्मोंसे युक्त होता है। जिस स्थानमें सालों साल कीचड बना रहता है, उसमें पडे हुए पानीकी अवस्था भिन्न होती है और रेतीमेंसे प्राप्त हुए पानीके गुणधर्म भिन्न हैं। इसी कारण ये सब जल विभिन्न गुणधर्मसे युक्त होते हैं। जलका उपयोग आरोग्यके लिये करना हो, तो प्रथम सबसे उत्तम शुद्ध और पवित्र जल प्राप्त करना आवश्यक है।

उक्त जल जो बाहर प्राप्त होता है वह घरमें लाकर घडोंमें रखनेके कारण उसके गुणधर्ममें बदल होता है। अर्थात् कूवेका ताजा पानी जो गुणधर्म रखता है, वही घरमें लाकर (कुंभे आभृताः ६।४) घडेमें कई दिन रखनेपर भिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होना संभव है। तथा प्रभावी नदीका पानी और कूवेके स्थिर पानीके गुणधर्म भी भिन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार एक ही जल विभिन्न स्थानमें और विभिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। यह दर्शानेके लिये निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। (४।२)

" वह जल जो सूर्यके सन्मुख रहता है, अथवा जिसके साथ सूर्य रहता है।" अर्थात् सूर्यकिरणोंके साथ स्पर्श करनेवाला जल भिन्न गुणधर्मवाला बनता है और सदा अंधेरेमें रहनेके कारण जिसपर सूर्यकिरण नहीं गिरते उसके गुणधर्म भिन्न होते हैं। जिन कूवोंपर वृक्षादिकी हमेशा छाया होती है और जिनपर नहीं होती उनके जलोंके गुणधर्म भिन्न होते हैं। तथा-

अम्बयो यन्त्यध्वभिः। (४।१)

"नदियां अपने मार्गसे चलती हैं।" इसमें जलमें गतिका वर्णन है। यह गतिमान जल और स्थिर जल विभिन्न गुण-धर्मोंसे युक्त होता है। स्थिर जलसे कृमिकीटक तथा सडावट होना संभव है उस प्रकार गतिवाले जलमें नहीं। इसी प्रकार गतिकी मंदता और तेजीके कारण भी जलके गुणधर्मोंमें भेद होते हैं। तथा-

पृञ्चन्तीर्मधुना पयः। (४।१)

"मधु अर्थात् पुष्प-पराग आदिसे जलमें मिलावट होती है।" इससे भी पानीके गुणधर्म बदलते हैं। नदी तालावके तटपर वृक्षादि होते हैं और उस जलमें वृक्षवनस्पतियोंसे फूल, फूलके पराग, पत्ते आदि गिरते हैं, जलमें सडते या मिलते हैं। यह कारण है कि जिससे जलके गुणधर्म बदलते हैं तथा-

यत्र गावः पिबन्ति। (४।३)

" जिस जलाशयमें गौवें पानी पीती हैं," जहां गौवें, भैंसे आदि पशु जाते हैं, जलपान करते हैं। उस पानीकी अवस्था भी बदल जाती है।

जल लेनेके समय इन बातोंका विचार करना चाहिये। जो जलकी अवस्थाएं वर्णन की है, उनमें सबसे उत्तम अवस्था-वाला जल ही पीने आदि कार्यके लिये योग्य है। हरएक अवस्थामें प्राप्त होनेवाला जल लाभदायक नहीं होगा। वेदने ये सब जलकी अवस्थाएं बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जलमें भी उत्तम मध्यम अधम अवस्थाका जल हो सकता है और यदि उत्तम आरोग्य प्राप्त करना हो तो उत्तमसे उत्तम पवित्र जलही लेना चाहिये। पाठक इन अवस्थाओंका उत्तम विचार करें।

जलमें औषध।

जलका नाम ही "अमृत" है अर्थात् जीवन रूप रस ही ही जल है यही बात मंत्र कहता है-

अप्सु अमृतम्। (४।४)

अप्सु भेषजम्। (४।४)

"जलमें अमृत है, जलमें औषध है," जल अमृतमय है और औषधिमय है। मरनेसे बचानेवाला अमृत कहलाता है, और शरीरके दोषोंको धोकर शरीरकी निर्दोषता सिद्ध करनेवाला भेषज कहलाता है। जल इन गुणोंसे युक्त है। इसी लिये जलको कहा है-

शिवतमः रसः। (५।२)

"जल अत्यंत कल्याण करनेवाला रस है।" केवल "शिवो रसः" कहा नहीं है, परंतु "शिवतमो रसः" कहा है, इससे स्पष्ट है कि इससे अत्यंत कल्याण होना संभव है। यही बात अन्य शब्दोंसे भी वेद स्पष्ट कर रहा है—

आपः मयोभुवः। (५।१)

"जल हितकारक है।" यहांका "मयस्" शब्द "सुख, आनंद, समाधान, तृप्ति" आदि अर्थका बोध कराता है। यदि जल पूर्ण आरोग्य साधक न होगा तो उससे आनंद बढना असंभव है। इसलिये जल अमृतमय है यह स्पष्ट सिद्ध होता है इसी-लिये कहा है।-

अप्सु विश्वानि भेषजानि। (६।२)

"जलमें सब दवाइयां हैं।" जलमें केवल एकही रोग की औषधि नहीं प्रत्युत सब प्रकारकी औषधियां हैं। इसीलिये हरएक बीमारीका जलचिकित्सासे इलाज किया जा सकता है। योग्य वैद्य और पथ्यपालन करनेवाला रोगी होगा, तो आरोग्य निःसंदेह प्राप्त होगा। इसलिये कहा है-

आपः पृणीत भेषजम्। (६।३)

अपो याचामि भेषजम्। (५।४)

"जल औषध करता है। जलसे औषध मांगता हूं।" अर्थात् जलसे चिकित्सा होती है। रोगोंकी निवृत्ति जलचिकित्सा से हो सकती है। रोगोंके कारण शरीरमें जो विषमता होती है उसे दूर करना और शरीरके सप्त धातुओंमें समता स्थापित करना जलचिकित्सासे संभवनीय है।

समता और विषमता।

शरीरकी समता आरोग्य है और विषमता रोग है। समता स्थापन करनेकी सूचना वेदके "शं, शांति" आदि शब्द करते हैं और विषमता दूर करनेका भाव "योः" शब्द वेदमें कर रहा हैं। दोनों मिलकर "शं-योः" शब्द बनता है। इसका संयुक्त तात्पर्य "समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना" है। इसलिये कहा है-

शं योरभि स्रवन्तु नः । (६ । ४)

समताकी स्थापना और विषमताको दूर करना हमारे लिये जलकी धाराएं करें।" किंवा जलधाराएं उक्त दोनों बातोंका प्रभाव हमपर छोडें। जलसे उक्त दोनो बातोंकी सिद्धता होती है यह बात यहां सिद्ध ही है। तथा—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु। (६ । १)

"दिव्य जल हमारे लिये शान्तिकारक हो" इसमें भी वही भाव है। (सूक्त. ६, मं ४) यह मंत्र तो कई वार शान्ति या समताका उल्लेख करता है। समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना, ये दो कार्य होनेसे ही उत्तम रक्षा होती है, इसी लिये मंत्रमें कहा है—

वरूथं तन्वे मम । (६ । ३)

"मेरे शरीरका रक्षण" जलसे हो। "वरूथ" का अर्थ" 'संरक्षक कवच' है। जलका वर्णन "रक्षक कवच" से किया है अर्थात् जल कवचके समान रक्षा करनेवाला है। यह भाव स्पष्ट है।

बलकी वृद्धि।

उक्त प्रकार आरोग्य प्राप्त होनेके पश्चात् शरीरका बल बढानेका प्रश्न आता है। इस विषयमें मंत्र कहता है—

नः ऊर्जे दधातन । (५ । १)

"हमें बलके लिये पुष्ट करो।" अर्थात् जलसे धारण पोषण होकर उत्तम प्रकार बल बढना भी संभव है। विषमता दूर होकर समताकी स्थापना हो गई तो बल बढ सकता है। जलसे रमणीयता भी शरीरमें बढती है। देखिये—

महे रणाय चक्षसे। (५ । १)

"बडी (रणाय) रमणीयताके लिये" जलका उपयोग होता है। जलसे शरीरकी रमणीयता बढ जाती है। शरीरकी बाह्य शुद्धि होकर जैसी सुंदरता बढ जाती है उसी प्रकार जल अंतःशुद्धि करता है इसलिये आरोग्य बढानेद्वारा शरीरका सौंदर्य बढानेमें सहायक होता है। आरोग्यके साथ सुंदरताका विशेष संबंध है। तात्पर्य यह जल मनुष्यकी यहां की सुस्थिति के लिये कारण होता है, इसलिये कहा है—

क्षयाय जिन्वथ । (५ । ३)

क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । [५ । ४]

"निवासके लिये तृप्ति करते हो। प्राणियोंके निवासका कारण है।" इन मंत्रोंका स्पष्ट कथन है कि जल मनुष्यादि प्राणियोंकी यहां सुस्थिति करनेका मुख्य हेतु है। इसी लिये कहते हैं—

ईशाना वार्याणाम् । [५ । ४]

"स्वीकारने योग्य गुणोंका अधिपति जल है।" अर्थात् प्राणियोंको जिन जिन बातोंकी आवश्यकता होती है उनका अस्तित्व जलमें है, इसी कारण जल निवासका हेतु बनता है।

दीर्घ आयुष्यका साधन।

मनुष्यादि प्राणियोंके दीर्घ आयुका साधक जल है यह बात इस भागमे देखिये—

ज्योक् च सूर्यं दृशे। [६ । ३]

"बहुत दिनतक सूर्यका दर्शन करूं!" यह एक महावरा है। इसका अर्थ है कि—

"मैं बहुत दीर्घ आयुतक जीवित रहूं" अर्थात् जलके उपयोगसे दीर्घ आयु प्राप्त करना संभव है। "ज+ल" वह कि जो जन्मसे लेकर लयतक उपयोगी है।

प्रजनन-शक्ति।

जल का नाम वीर्य है। इसकी सूचना भिन्न मंत्रभागसे मिलती है—

आपो जनयथा च नः। (५ । ३)

"जल हमें उत्पन्न करता है।" अर्थात् इसके कारण हममें किंवा प्राणियोंमें प्रजनन शक्ति होती है। आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य, धातुओंकी समता आदिका प्रजननशक्तिके साथ निकट संबंध है, यह बात पाठक जान सकते हैं। इसलिये इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रजनन शक्तिका नाम वाजीकारण है और इसका वर्णन मंत्रमें निम्न प्रकार हुआ है—

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ (४ । ४)

"जलके प्रशस्त गुणोंसे अश्व (पुरुष) वाजी बनते हैं और गौवें (स्त्रियें) वाजिनी बनती है।" वाजी शब्द प्रजननशक्तिसे युक्त होनेका भाव बता रहा है। अश्व और गौ शब्द यहां पुरुष और स्त्री जातिका बोध करते हैं। जलके प्रयोगसे वाजीकरण की सिद्धि इस प्रकार यहां कही है। तथा और देखिये—

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयोऽध्वरीयताम्। (४।१)

"यज्ञकर्ताओंकी माताएं और बहिनें अपने मार्गोंसे जाती हैं।" जो स्त्रियोंके लिये उचित मार्ग है उसीसे जाती हैं। अर्थात् नियमानुकूल बर्ताव करती हुई प्रगति करती हैं। स्त्री पुरुष अपने योग्य नियमोंसे चलेंगे तोही उत्तम प्रजनन होना संभव है, इस बातकी सूचना यहां मिलती है।

इस रीतिसे इन तीनों सूक्तोंमें जलविषयक महत्त्वपूर्ण ज्ञानका उपदेश दिया है।

[अथर्ववेद प्रथमकांडमें प्रथम अनुवाक समाप्त।]

धर्म-प्रचार-सूक्त ।

(ऋषिः- चातनः । देवता:- अग्निः (जातवेदाः), ३ अग्नीन्द्रौ)

(७)

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् । त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥१॥
आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् । अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥२॥
विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः । अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥३॥
अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् । ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥४॥
पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥
आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे । दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥६॥
त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह । अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥७॥

अर्थ— हे अग्ने! (स्तुवानं) स्तुति करनेवाले (यातुधानं किमीदिनं) घातक शत्रुओंको भी (आ वह) यहा ले आ। (हि) क्योंकि हे देव! (वन्दितः त्वं) नमनको प्राप्त हुआ तू (दस्योः) डाकूका (हन्ता) हनन या प्राप्ति करने वाला (बभूविथ) होता है ॥ १ ॥ हे (परमेष्ठिन्) श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाले (जातवेदः) ज्ञानको प्राप्त करनेवाले और (तनू-वशिन्) शरीरका संयम करनेवाले अग्ने! तू (तौलस्य आज्यस्य) तोले हुए घी आदि का (प्राशान) भोजन कर और (यातुधानान्) दुष्टोंको (वि लापय) विलाप करा ॥ २ ॥ (ये) जो (यातुधानाः) दुष्ट (अत्त्रिणः) भटकनेवाले और (किमीदिनः) घातक हैं वे (विलपन्तु) विलाप करें। (अथ) और अब, हे अग्ने ! (इदं हविः) यह हवि तू और (इन्द्रः च) इन्द्र (प्रतिहर्यतम्) स्वीकार करो ॥ ३ ॥ (पूर्वः अग्निः आरभतां) पहिला अग्नि आरंभ करे, तथा पश्चात् (बाहुमान् इन्द्रः प्र नुदतु) बाहुबलवाला इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिसे (सर्व- यातुमान्) सब दुष्ट लोग (एत्य) आकर (ब्रवीतु) बोले, कि (अयं अस्मि इति) यह मैं हूं ॥ ४ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी! (ते वीर्यं पश्याम) तेरा पराक्रम हम देखें। हे (नृ-चक्षः) मनुष्योंके मार्ग दर्शक! (यातुधानान्) दुष्टोंको (नः) हमारा आदेश (प्र ब्रूहि) विशेष रूपसे कह दे। (त्वया) तुझसे (पुरस्तात्) पहिले (परितप्ताः) तपे हुए (ते सर्वे) वे सब (इदं ब्रुवाणाः) यह कहते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास आजावें ॥ ५ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी! (आरभस्व) आरंभ कर (अस्माक+अर्थाय) हमारे प्रयोजनके लिये तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है। हे अग्ने! तू हमारा दूत बनकर यातुधानोंको विलाप करा ॥ ६ ॥ हे अग्ने ! तू [यातुधानान्] दुष्टोंको [उपबद्धान्] बांधे हुए अर्थात् बांधकर [इह आ वह] यहा लेआ। [अथ] और इन्द्र अपने वज्रसे [एषां शीर्षाणि] इनके मस्तक [वृश्चतु] काट डाले ॥ ७ ॥

इनका भावार्थ हम सबसे पीछे लिखेंगें क्योंकि इस सूक्तके कई शब्दोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये। इस सूक्तके कई शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं, और जबतक इनका निश्चित ठीक अर्थ ध्यानमें न आवेगा, तब तक इस सूक्तका उपदेश समझमें नहीं आसकता। सबसे प्रथम "अग्नि" कौन है इसका निश्चिय करना चाहिये-

अग्नि कौन है ?

इस सूक्तमें अग्निपद से किसका ग्रहण करना चाहिये, इसका निश्चय कराने वाले ये शब्द इस सूक्तमें हैं-"जातवेदः, परमेष्ठिन्, तनूवशिन्, नृचक्षः, वन्दितः, दूतः, देवः, अग्निः।" इन शब्दोंका अर्थ देखकर अग्निका स्वरूप सबसे प्रथम हम देखेंगे-

१ जातवेदः— [जातं वेत्ति] जो बनी हुई सृष्टिको ठीक ठीक जानता है। [ज्ञात-वेदः] जिसने ज्ञान प्राप्त किया है। अर्थात् ज्ञानी सृष्टिविद्या और आत्मविद्या का यथावत् जानने वाला।

२ परमेष्ठिन्—(परमे पदे स्थाता) परमपद में ठहरनेवाला अर्थात् समाधिकी अंतिम अवस्थाको जो प्राप्त है, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तुर्या-चतुर्थ अवस्थाका अनुभव करनेवाला।

३ तनूवशिन्- (तनू-वशिन्) अपने शरीर और इन्द्रियोंको स्वाधीन करने वाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह करनेवाला, आसनादि योगाभ्याससे जिसने अपनी कायासिद्धि की है। यही मनुष्य" परमे-ष्ठिन् " होना संभव है।

४ नृ-चक्षः—" चक्षस् " शब्द स्पष्ट शब्दोंद्वारा उपदेश देने का भाव बता रहा है। मनुष्योंको जो योग्य धर्म मार्गका उपदेश देता है।

ज्ञानी उपदेशक

ये चार शब्द अग्निके गुण धर्म बता रहे हैं। ये शब्द देखनेसे स्पष्ट होता है, कि यहाका अग्नि "धर्मोपदेशक पण्डित" ही है। सृष्टि विद्या जाननेवाला, अध्यात्म शास्त्रमें प्रवीण, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखने वाला, समाधि की सिद्धि जिसको प्राप्त है, वह ही ब्राह्मण पण्डित "नृ-चक्षाः" अर्थात् लोगोंको धर्मोपदेश करनेके लिये योग्य है। उपदेशक बननेके पूर्व उपदेशककी तैयारी कैसी होनी चाहिये, इसका बोध यहां प्राप्त हो सकता है। ऐसे उपदेशक हो, तो ही धर्मका ठीक प्रचार होना संभव है।

५ वन्दितः-इस प्रकारके उपदेशककी ही सब लोग वन्दन कर सकते हैं।

६ दूतः— जो सन्देश पहुंचाता है वह दूत होता है। यह उपदेशक पण्डित धर्मका सन्देश सब जनता तक पहुंचाता है इस लिये यह "धर्मका दूत" है। दूत शब्दका दूसरा अर्थ "नौकर, भृत्य" है वह अर्थ यहां नहीं है। धर्मका सन्देश स्थान स्थान-पर पहुंचाने वाला यह दूत धर्मका उपदेशक ही है।

७ देवः—प्रकाशमान, तेजस्वी।

८ अग्निः— प्रकाश देकर अन्धकारका नाश करनेवाला, ज्ञानकी रोशनी बढाकर अज्ञानान्धकार का नाश करनेवाला। उष्णता (गर्मी) उत्पन्न करके हलचल करने वाला।

ये सब शब्द योग्य उपदेशक का ही वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार वेदमें "अग्नि" शब्द ज्ञानी उपदेशक ब्राह्मणका वाचक है। तथा "इन्द्र" शब्द क्षत्रियका वाचक है।

ब्रह्म क्षत्रिय।

" ब्रह्म क्षत्रिय" शब्द ब्राह्मण और क्षत्रिय का बोध करता है। वेदमें ये दो शब्द इकठ्ठे कई स्थानपर आगये हैं। यही भाव "अग्नि-इन्द्र" ये दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर व्यक्त कर रहे हैं। अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द क्षत्रियका वाचक है। अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र शब्दका अर्थ देखेंगे—

इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द क्षत्रिय वाचक है, क्योंकि इसका अर्थ ही शत्रु नाशक है—

१ इन्द्रः- (इन्+द्रः) शत्रुओंको छिन्न भिन्न करनेवाला।

२ बाहुमान्- बाहुवाला, भुजावाला, अर्थात् बाहुबलके लिये सुप्रसिद्ध। हरएक मनुष्य भुजावाला होता ही है, परन्तु क्षत्रियको ही " बाहुमान्" इसलिये कहा है, कि उसका कार्य ही बाहुबल का होता है।

३ इन्द्रः वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु= क्षत्रिय तलवारसे शत्रुओंके सिर काटे। यह क्षत्रियका कार्य इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें वर्णन किया है। युद्धमें शत्रुओंके सिर काटनेका कार्य तथा दुष्टोंके सिर काटनेका कार्य क्षत्रियोंका ही प्रसिद्ध है।

इससे सिद्ध है, कि इस सूक्तमें "इन्द्र" शब्द क्षत्रिय का भाव सूचित करता है। अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और इन्द्र शब्दसे शासन का कार्य करनेवाले क्षत्रियका बोध लेकर इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये।

धर्मोपदेशका क्षेत्र।

पाठक यह न समझें, कि साप्ताहिक या वार्षिक जलसोंमें व्याख्यान देना ही धर्मोपदेशक का कार्य क्षेत्र है। वहां तो धार्मिक लोग ही आते हैं। पहिलेसे जिनकी प्रवृत्ति धर्ममें होती है, वे ही धार्मिक लोग जलसोंमें आते हैं; इस लिये ऐसे धार्मिकोंको धर्मोपदेश देना धोये हुए कपडे को फिर धोनेके

समान ही है। वास्तव में मालिन कपडे को ही धोकर स्वच्छ करना चाहिये, इसी तरह अधार्मिक वृत्तिके लोगों को ही धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यही सच्चा धर्म प्रचार है, यह बतानेके लिये इस सूक्तमें धर्म प्रचार करने योग्य लोगोंका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे किया है—"यातुधान, किमीदिन्, दस्यु, अत्रिन्।" अब इनका आशय देखिये

१ यातु-"यातु" भटकनेवाले का नाम है। जिसको घरदार कुछभी नहीं है और जो वन्य पशुके समान इधर उधर भटकता रहता है उसका नाम "यातु" है। भटकने का अर्थ बतानेवाला "या" धातु इसमें है।

२ यातुमान्- यातुमान्, यातुवान्, यातुमत्, शब्दका भाव "यातुवाला" है अर्थात् जिसके पास बहुतसे यातु (भटकनेवाले) लोग होते हैं। अर्थात् भटकने वालों के जमाव का मुखिया।

३ यातुमावान् – बहुतसे यातुमानों को अपने काबूमें रखनेवाला।

४ यातुधानः- यातुओंका धारण पोषण करनेवाला, अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनको पोषण करनेवाला। "यातु धान्य" भी इसी भावका वाचक है।

पाठकोंने जान लिया होगा, कि ये शब्द विशेष बातको व्यक्त कर रहे हैं! जिसको घरदार स्त्रीपुत्र आदि होते हैं, और जो कुटुंबमें रहता है, वह उतना उपद्रव देनेवाला नहीं होताः जितना कि जिसका घरदार कुछभी न हो, और जो भटकने वाला होता है। यह सदा भूखा रहता है, किसी प्रकारका मनका समाधान उसको नहीं होता, इसलिये हरएक प्रकारका उपद्रव देनेके लिये वह तैयार होता है; इसी कारण "यातु" शब्द "बुरी वृत्ति वाला" इस अर्थमें प्रवृत्त होता है। दुष्ट, डाकु, चोर, लुटेरे, बटमार आदि इसी शब्दके अर्थ आगे जाकर बने हैं। ये चोर डाकु जबतक अकेले अकेले रहते हैं, तब तक उनका नाम "यातु" है, ऐसे दोचार डाकुओंको अपने वशमें रखकर डाका डालनेवाला "यातु-मान्, यातु-वान्, यातुमत्" अर्थात् यातुवाला किंवा डाकुवाला कहा जाता है। पहिले की अपेक्षा इससे समाजको अधिक कष्ट पहुंचते हैं। इस प्रकारके छोटे डाकुओंके अनेक संघोंको अपने आधीन रखने वाला "यातु-मा-वान्' अर्थात् डाकुओंकी कई जमातोंको अपने आधीन रखनेवाला। यह पूर्वकी अपेक्षा अधिक कष्ट ग्रामों और प्रांतोंको भी पहुंचा सकता है। इसीके नाम "यातु-धान, यातु-धान्य' हैं। पाठक इससे जान सकते हैं, कि ये वैदिक शब्द जो कि वेदमें कई स्थानोंमें आते हैं, हीन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं। अब और देखिये—

५ अत्रिन्- अत्री (अतति) सतत भटकता रहता है। यह शब्द भी पूर्व शब्द का ही भाव बताता है। इसका दूसरा भाव (अत्ति) खानेवाला, सदा अपने भोगके लिये दूसरोंका गला काटनेवाला। जो थोडेसे धनके लिये खून करते हैं, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है।

६ किमीदिन्- (किं इदानीं) अब क्या खांय, इस प्रकार की वृत्तिवाले भूखे किंवा पेटके लिये ही दूसरोंका घात पात करनेवाले दुष्ट लोग।

७ दस्यु- (दस् उपक्षये) घातपात करनेवाले, दूसरोंका नाश करनेवाले हर प्रकारके दुष्ट लोग।

ये सब लोग समाजके सुखका नाश करते हैं, इनके कारण समाजके लोगोंको कष्ट होते हैं। ये ग्राममें आगये, तो ग्राममें चोरी, डकैती, खून, लूटमार होती है, स्त्री विषयक अत्याचार होते हैं, सज्जनोंको अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं इसलिये इन लोगोंको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यह इस सूक्तका आदेश है। जो घरदारसे हीन हैं, जो जंगलों और बनों में रहते हैं, जो चोरी डकैती आदि दुष्ट कर्म करते हैं। उनको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये। अर्थात् जो नागरिक हैं, जो पहिलेसे ही धर्मके प्रेमी हैं उनमें धर्म की जागृति करनी योग्य है; परंतु जिनके पास धर्म की आवाज नहीं पहुंची और जिनका जीवन क्रम ही धर्मबाह्य मार्गसे सदा चलता रहता है, उनका सुधार करके ही उनको उत्तम नागरिक बनाना चाहिये। धर्मोपदेशक यह अपना कार्य क्षेत्र देखें।

धर्मोपदेशक के गुण, शासन कार्य में नियुक्त क्षत्रिय के गुण, और जिन लोगोंमें धर्म प्रचारकी अत्यंत आवश्यकता है उनके गुणकर्म हमने इस सूक्तके आधारसे देखे। अब इन शब्दार्थोंके प्रकाश में यह सूक्त देखना है—

दुष्टोंका सुधार।

प्रथम मंत्र—"हे धर्मोपदेशक! तुम्हारी प्रशंसा करनेवाले दुष्ट डकैतों को यहां ले आ, क्योंकि तू वंदना प्राप्त करनेपर दस्युओंका नाशक होता है" ॥ १॥

इस पहिले मंत्रमें दो विधान हैं—

(१) स्तुति करनेवाले डाकुको यहां ले आ, और

(२) उनका नमस्कार प्राप्त करके उनका नाशक हो।

इसका तात्पर्य यह है- "धर्मोपदेशक ऐसे दुष्ट डाकु बटमार आदिकों में धर्मोपदेश करनेके लिये जावे. उनको सत्य धर्मका उपदेश करे, चोरी आदि पाप कर्म हैं यह उनको ठीक प्रकार

समझा दे, उन दुष्ट कर्मों से उन को वह निवृत्त करे, जब वे ठीक प्रकार जानेंगे कि चोरी आदि उनके व्यवसाय बुरे हैं और मानवोंकी रक्षा करनेवाला सत्य धर्म भिन्न है और वह सत्य धर्म इस धर्मोपदेशकसे प्राप्त हो सकता है, तब वे इसके पास श्रद्धा भक्तिसे आवेंगे, इसकी प्रशंसा करेंगे और इसके सामने सिर झुकायेंगे अर्थात् इनको प्रणाम करेंगे। जब उनमें इतनी श्रद्धाभक्ति बढेगी, तब उनका डाकूपनका नाश या हनन स्वयं ही हो जायगा। इसलिये मंत्र कहता है कि "धर्मोपदेशक दुष्ट मनुष्योंको अपने उपदेशद्वारा अपनी प्रशंसा करनेवाले बनाकर अर्थात् अपने अनुगामी बनाकर, अपने समाजमें ले आवे, और उनसे नमस्कार प्राप्त करके उनका घातक बने।"

"जिनसे नमस्कार प्राप्त करना उनकाही घात करना" प्रथम विचित्र सा प्रतीत होता है, परन्तु अधार्मिक दुष्ट मनुष्यों के सुधार करनेवालेसे ऐसाही बनता है। जब दुष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है उस समय वह पहिले धर्मोपदेशक के सामने अपना सिर झुकाता है और सिर झुकाते ही दुष्ट मनुष्यके रूपसे मर कर धार्मिक नवजीवन प्राप्त करने द्वारा वह मानो नया ही मनुष्य बनता है। यदि एक डाकु धर्मोपदेश सुनकर धार्मिक बनगया, तो उसका सामाजिक दृष्टिसे सत्य अर्थ यही है कि एक डाकु मर गया और एक सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ। अब दूसरा मंत्र देखिये-

मित भोजन करो।

द्वितीय मंत्र- "हे परम श्रेष्ठ अवस्थामें रहनेवाले, शरीर वशमें रखने वाले ज्ञानी धर्मोपदेशक! घी आदि पदार्थ तोल कर अर्थात् प्रमाणसे भक्षण कर। और दुष्टोंको रुलादो" ॥ १२ ॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो आदेश हैं—

(१) तोलकर घी आदि भोजन खा और

(२) दुष्टोंको रुला।

धर्मोपदेशकों को ये दोनों बातें ध्यानमें धरनी चाहिये। धर्मोपदेशक जिस समय बाहर प्रचारके लिये जाते हैं उस समय भगत लोग उनको मेवा, मिठाई, घी, मक्खन, दूध आदि पदार्थ आवश्यकतासे भी अधिक देते हैं। तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी भक्तिकी तीव्रता अत्यधिक होनेके कारण वे ऐसे उपदेशकों का अधिक ही आदर करते हैं। इस समय बहुत संभव है कि जिह्वाकी लालचमें आकर उपदेशक अधिक खावे, और जीगर की बिगाडके कारण बिमार पडे। इसलिये वेदने उपदेश दिया कि धर्मोपदेशकोंको तोलकर ही खाना चाहिये। ये उपदेशक सदा भ्रमणमें रहनेके कारण तथा जलवायुके सदा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचक शक्तिमें बिगाड होना संभव है; अतः जितनी पाचक शक्ति होती है, उससे भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है। इस कारण वेद कहता है, कि "उपदेशक तोलकर ही घी आदि पदार्थ खावें" कभी अधिक न खावें।

मंत्रमें दुसरी बात "दुष्टोंको रुलाने" की है। यदि उपदेशक प्रभाव शाली होगा, और यदि उसके उपदेशसे श्रोताओंको अपने दुराचारका पता लगा तथा उनके अंत:करणमें धर्म भावना जागृत हो गई तो उनके रो पडनेमें तथा अपने पूर्व दुराचारमय जीवनके विषयमें पूर्ण पश्चाताप होनेमें कोई सन्देहही नहीं है। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टजीवनका पश्चाताप

तृतीय मंत्र- "दुष्ट लोग रो पडें, और हे धर्मोपदेशक! तेरे लिये यह हमारा दान है, क्षत्रिय भी इसका स्वीकार करे" ॥ ३ ॥

सच्चे धर्मोपदेशक के धर्मोपदेश सुनकर दुष्ट लोगोंको अपने दुराचारका पश्चात्ताप होवे और वे रो पडें। तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंको तथा उनके सहायक क्षत्रियोंको भी यथा शक्ति दान देती रहे। जनताकी धनादिकी सहायतासे ही धर्मोपदेशका कार्य चलता रहे। अब चतुर्थ मन्त्र देखिये-

धर्मोपदेशक कार्य चलावे।

चतुर्थ मन्त्र- "पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्य प्रारंभ करे। पीछेसे क्षत्रिय उसकी सहायता करे। इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दुष्ट आकर 'मैं यहां हूं' ऐसा कहें" ॥ ४ ॥

धर्मोपदेशक देशदेशान्तरमें, जहां जहां वे पहुंच सकें, वहां निडर होकर जाकर, अपना धर्मप्रचारका कार्य जोरसे करते जांय। कठिनसे कठिन परिस्थितीमें भी न डरते हुए वे अपना कार्य जोरसे चलावें। पीछेसे क्षत्रिय उनकी उचित सहायता करें। परन्तु ऐसा कभी न होवे कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंकी सहायता प्राप्त करके क्षात्रबलके जोरपर धर्मप्रचार का कार्य चलावें, यह ठीक नहीं। इसलिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्षात्र बलके भरोसेसे अपना धर्म प्रचारका कार्य न करें, प्रत्युत धर्मप्रचारको अपना आवश्यक कर्तव्य समझ कर ही अपना कर्तव्य करता रहे। इस धर्मप्रचारका परिणाम

ऐसा हो, कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधारलें और खुले दिलसे उपदेशकोंके पास आकर कहें कि "हम अब आपकी शरणमें आगये हैं।" यही धर्म प्रचारका साध्य है। धर्म प्रचारसे दुराचारी डाकु सुधर जांय और अच्छे धार्मिक बनें, वे अपने पूर्व दुराचारका पश्चाताप करें, तथा जब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण आवे उस समय उनको रोना आवे। क्षत्रियके बल की अपेक्षा न करते हुए केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आत्मिक शक्तिसे यह कार्य करें। पिछेसे क्षत्रिय उनको मदत पहुंचावे। क्षत्रियके जोरसे जो धर्म प्रचार होता है, वह सत्य नहीं है, परन्तु ब्राह्मण अपने सात्विक वृत्तिसे जो हृदय पलटा देता है, वही सच्चा धर्मपरिवर्तन है। इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका आशय देखनेके पश्चात् अब अगला मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी पश्चात्तापसे शुद्धि।

पंचम मंत्र— "हे ज्ञानी उपदेशक! हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे। हे मनुष्योंको सन्मार्ग बतलानेवाले! तुम दुष्टोंको हमारे धर्मका उपदेश करो। तुम्हारे प्रयत्नसे पश्चात्ताप को प्राप्त हुए सब दुष्ट लोग हमारे पास आवें और वैसाही कहें।" ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेश के लिये चलने लगता है, उस समय उसका गौरव कहते हुए लोग कहते हैं कि "हे उपदेशक! अब तू उपदेश करनेके लिये जा रहा है, हम देखेंगे कि तुम अपने परिशुद्ध सदुपदेशसे कितने लोगोंके हृदयमें पलटा उत्पन्न करते हो और कितनों को सत्य धर्मकी दीक्षा देते हो। इसीसे तुम्हारे पराक्रमका हमें पता लग जायगा। तुम जाओ, हम तुम्हारा गौरव करते हैं। सत्यधर्मका संदेश सब जनता तक पहुंचाओ। तेरे उपदेश की ज्ञानाग्निसे तपे हुए और पश्चात्ताको प्राप्त हुए लोग हमारे अंदर आवें और कहे "कि हमने अब धर्मामृत पाया है। और अब हम आपके बने हैं।"

"तप्त, संतप्त, परितप्त" ये शब्द पश्चात्ताप के सूचक हैं। तप शब्द तपकर शुद्ध होनेका सूचक है। अग्नि तपाकर सोना, चांदी, तांबा आदि धातुओंको शुद्ध करता है अर्थात् उनके मलोंको दूर करता है। इसी प्रकार यहांका अग्नि-जो ज्ञानी धर्मोपदेशक है-वह अपनी ज्ञानाग्निमें सब दुष्टोंको तपाता है और अच्छी प्रकार उनके मलोंको दूर करता है। शुद्धिकी यही विधि है। भोगके जीवनको छोडकर तपके जीवनमें आना ही धार्मिक बनना है। इस दृष्टीसे इस मंत्रका "परि-तप्ताः" शब्द बडे भावका सूचक है। अब छठे मंत्रका भावार्थ देखिये—

धर्मका दूत।

षष्ठ मंत्र- "हे ज्ञानी पुरुष! अपना कार्य आरंभ कर। हमारे कार्य के लिये ही तुम्हें आगे किया है। हे उपदेशक! तू हमारा धार्मिक संदेश पहुंचाने वाला दूत बन कर दुष्टोंको पश्चात्तापसे रुला दे" ॥ ६ ॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकको लोग कहते हैं कि- "अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरंभ करदो। विना डर देशदेशांतरमें जा और वहां सत्यधर्मका प्रचार कर। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यके लिये तुम्हें आगे भेजा जाता है, अथवा आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक संदेश जगत्में फैलाना है, इस संदेशको स्थान स्थानमें पहुंचानेवाला दूतही तू है। अब जा और धार्मिक संदेशको चारों दिशाओंमें फैला दो और इस समय तक जो लोग अधार्मिक वृत्तिसे रहते हैं, उनको अपने सदुपदेशद्वारा शुद्ध करो और उनको अपने पूर्व दुराचारका पूर्ण पश्चात्ताप होने दो। उनके दिलोंका ऐसा पलटा दो कि जिससे वे अपने पूर्वाचरणका स्मरण करके रोने लगें।" इस प्रकार जगत्‌का सुधार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है।

डाकुओंको दण्ड।

इतना धर्मोपदेश होकर भी जो सुधरेंगे नहीं और अपना दुराचार जारी रखेंगे अथवा पूर्वोक्त प्रकारके श्रेष्ठ धर्मोपदेशकोंके पराकाष्ठाके प्रयत्न करनेपर भी जो अपना दुष्ट आचरण नहीं छोड़ते और जनताको चोरी डकैती आदिसे अत्यंत कष्ट देते ही रहेंगे, उनको योग्य दण्ड देना ब्राह्मणका कार्य नहीं, वह कार्य क्षत्रियका है यह आशय अगले मंत्रमें कहा है-

सप्तम मंत्र- "हे धर्मोपदेशक! तुम्हारे प्रयत्न करनेपर भी दुष्ट डाकु आदि अपने दुराचार छोडते नहीं उनको बांध कर यहां ला और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर तलवारसे काट दे" ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रयत्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बनानेका यत्न करे। जो सदाचारी बनेंगे वे अपनेमें संमिलित हो जांयगे। परंतु जो वारंवार प्रयत्न करनेपर भी अपना दुष्ट आचार जारी रखेंगे उनको दण्ड देना आवश्यक ही है। क्योंकि सब शासन संस्था समाज की शांतिके लिये ही है। परंतु दुष्टोंको भी सुधरनेका पूरा अवसर देना चाहिये। जब वारंवार प्रयत्न करनेपर भी वे सुधरेंगे नहीं तो क्षत्रिय आगे बढे और अपना कठोर दण्ड आगे करे। क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टोंको बांधकर उनके सिर ही काटदे, इससे

अन्योंको भी यह उपदेश मिल सकता है, कि हम भी धार्मिक बननेसे बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण।

इस सूक्तमें ब्राह्मणके प्रयत्न के लिये छः मंत्र है और एकही मत्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड आगे करनेको सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम छः गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने सदुपदेशसे करें, इतने प्रयत्न करनेपरभी यदि वे न सुधरे, कमसे कम छः वार प्रयत्न करनेपर भी न सुधरे, छःवार अवसर देनेपर भी जो लोग दुष्टता नहीं छोडते, उनपर ही क्षत्रियका वज्र प्रहार होना योग्य है। क्योंकि जिनको जन्मसे ही दुष्टता करने का अभ्यास होगा वे एक वारके उपदेशसे पलट जांयगे अथवा सुधरेंगे यह कठिन अथवा अशक्य है। इसलिये भिन्न उपायोंसे उनको अधिक अवसर देने चाहिये। इतना करनेपर भी जो नहीं सुधरते उनको या तो बंधन में डालना या शिरच्छेद करना चाहिये।

ब्राह्मण भी हनन करता है और क्षत्रियभी करता है परन्तु दोनोंके हननों में बडा भारी भेद है। पहिले मन्त्र में ब्राह्मण की रीति बताई है और सप्तम मन्त्रमें क्षत्रिय की पद्धति बतादी है। क्षत्रिय की रीति यही है कि तलवार लेकर दुष्टका गला काट डालना, अथवा दुष्टोंको कारागृहमें बान्धकर रखना। ब्राह्मण की रीति इससे भिन्न है; ब्राह्मण उपदेश करता है, उपदेश द्वारा श्रोताओंके दिलोंको पलटा देता है, उनको अनुगामी बना देता है, उनके मनकी दुष्टता का नाश करता है। दोनोंका उद्देश्य दुष्टोंकी संख्या कम करने का ही होता है, परन्तु ब्राह्मण दुष्टोंको सुधारनेका प्रयत्न करता है, हृदय शुद्ध बनाता है और दुष्टोंकी संख्या घटाता है। और क्षत्रिय उनकी कतल करके उनकी संख्या घटाता है। इसी लिये ब्राह्मण के प्रयत्न श्रेष्ठ और क्षत्रियके दूसरे दर्जेके है।

वेदमें जहां " हनन, दहन, परिताप, विलाप " आदि शब्द आते हैं वहां सर्वत्र एकसाही अर्थ लेना उचित नहीं। वे शब्द ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुए हैं वा क्षत्रिय के लिये हुए हैं यह देखना चाहिये। हनन से शत्रुकी संख्या घटती है, ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों अपने अपने शस्त्रसे हनन करते हैं, परन्तु ऊपर बतायाही है, कि ब्राह्मण विचार परिवर्तन द्वारा शत्रुका नाश करता है और क्षत्रिय शिरच्छेदादि द्वारा शत्रुको घटाता है। इसी प्रकार "विलाप" भी दो प्रकार का है। क्षत्रिय शत्रुकी कतल करता है उस समय भी शत्रुके लोग विलाप करते हैं और रोते पीटते ही हैं। उसी प्रकार ब्राह्मण धर्मोपदेश द्वारा जिस समय श्रोताओंके हृदयमें भक्तिभाव और धर्मप्रेम उत्पन्न करने द्वारा कृत दुराचारका पश्चात्ताप उत्पन्न करता है उस समस भी वे लोग रोते हैं और आंसू बहाते हैं। इन दोनों आंसू बहाने में बडा भारी भेद है। जो इष्ट परिवर्तन ब्राह्मण कर सकता है, वह क्षत्रिय कदापि नहीं कर सकता। यही बात "परिताप, सन्ताप" आदिके विषयमें समझनी चाहिये।

इस सूक्तका अर्थ करनेवाले विद्वानोंने इस ब्रह्मक्षत्रिय प्रणालीके भेदको न समझने के कारण इन शब्दोंके अर्थोंका बडा अनर्थ किया है। इसलिये पाठक इस भेदको पहिले समझें और पश्चात् मन्त्रोंके उपदेश जाननेका यत्न करें। यह बात एकवार ठीक प्रकार समझमें आगई, तो मन्त्रोंका आशय समझनेमें कोई कठिनता नहीं होती, परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके क्रमशः कोमल और तीक्ष्ण मार्गोंका भेद यदि ठीक प्रकार समझमें नहीं आया, तो अर्थका अनर्थ प्रतीत होगा। इसलिये दुष्टोंकी संख्या ब्राह्मण किस प्रकार घटाता है और क्षत्रिय किस प्रकार घटाता है, इसी प्रकार ये दोनों शत्रुओंको किस रीतिसे रुलाते हैं, तपाते हैं और जलाते हैं, यह पाठक अपने विचार से और यहां बताये मार्गसे ठीक समझें और ऐसे सूक्तोंका तात्पर्य जानें।

(८)

(ऋषिः—चातनः। देवता—अग्निः, बृहस्पतिः)

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्। य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥१॥
अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत। बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥२॥
यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च। नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥३॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥४॥

अर्थ— (नदी फेनं इव) नदी फेन को जैसी लाती है उस प्रकार (इदं हविः) यह दान (यातुधानान् आवहद्) दुष्टों को यहां लावे। (यः पुमान्) जो पुरुष अथवा जो स्त्री (इदं अकः) यह पाप करती रही है। (सः जनः) वह मनुष्य तेरी (स्तुवतां) प्रशंसा करे ॥ १ ॥ (स्तुवानः अयं) प्रशंसा करनेवाला यह डाकु (आगमत्) आया है, (इमं) इसका (सम प्रति हर्यत) अवश्य स्वागत करो। हे (बृहस्पते) ज्ञानी उपदेशक ! इस को (वशे लब्ध्वा) वशमें रखकर, हे (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम ! (वि विध्यतं) इसका विशेष निरीक्षण करो ॥ २ ॥ हे (सोमप) सोमपान करनेवाले ! (यातुधानस्य प्रजां) दुष्टकी सन्तान के प्रति (जहि) जा, पहुंच और (च नयस्व) उन्हें लेजा अर्थात् सन्मार्गसे चला। तथा (स्तुवानस्य) प्रशंसा करनेवालेका (परं उत अवरं) श्रेष्ठ और कनिष्ठ (अक्षि) आंखें (नि पातय) नीचे कर दो ॥ ३ ॥ हे (अग्ने जातवेदः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष ! (यत्र गुहा) जहां कहां गुफामें (एषां) इन (अत्रिणां सतां) भटकनेवाले सज्जनों के (जनिमानि) कुलों और संतानों को (वेत्थ) तू जानता है (तान् ब्रह्मणा वावृधानः) उनको ज्ञानसे बढाता हुआ (एषां शततर्हं जहि) इनके सैकडों कष्टोंका नाश कर ॥ ४ ॥

यह सूक्त भी पूर्वसूक्त का ही उपदेश विशेष रीतिसे बताता है। दुष्ट लोगोंको किस रीतिसे सुधारना योग्य है इसका विचार इस सूक्तमें देखने योग्य है। इस सूक्तमें ब्राह्मण उपदेशक का एक और विशेषण आगया है वह "बृहस्पतिः" है। इसका अर्थ ज्ञानपति प्रसिद्ध है, बृहस्पति देवोंका गुरु ब्राह्मण ही है; इसलिये इस विषयमें शंका ही नहीं है। "सोम" शब्द इसीका वाचक इस सूक्त में है। "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।" ब्राह्मणोंका मुखिया सोम है, उसी प्रकार बृहस्पति भी श्रेष्ठ ज्ञानी ब्राह्मण ही हैं। पाठक इन शब्दोंको पूर्वोक्त सूक्तके ब्राह्मण वाचक शब्दोंको साथ मिलाकर देखें और सबका मिलकर मनन करें, तो उनको पता लग जायगा कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये। अब क्रमशः मन्त्रोंका आशय देखिये—

धर्मोपदेशका परिणाम।

प्रथम मन्त्र– "जिस प्रकार नदी फेन को लाती है, उस प्रकार यह दान दुष्टोंको यहां ले आवे। उनमें से स्त्री या पुरुष जो कोई इस प्रकारका पाप करता है वही आदमी स्तुति करनेवाला बने।" ॥ १ ॥

वृष्टिजलसे भरी हुई नदी जिस प्रकार अपने साथ फेनको लाती है उसी प्रकार धर्मप्रचार के लिये अर्पण किया हुआ यह हमारा दान दुष्ट लोगोंको यहां शीघ्र लावे। अर्थात् इस दानका विनियोग धर्मप्रचारमें होकर उस धर्मप्रचारसे इतना प्रचारका कार्य होवे, कि जिससे सब दुष्टलोग अपनी दुष्टता छोडकर उत्तम नागरिक बननेके लिये हमारे पास आजावें। उनमें स्त्रियां हों या पुरुष हों, जो कोई उनमें पापाचरण करनेवाला हो, वह उपदेश सुनते ही धर्म भावसे प्रेरित होकर तथा धर्ममें आनेके लिये उत्सुक होकर, धर्मकी प्रशंसा करे और अधर्माचरण की निंदा करे। पाठक ध्यान रखें, कि हृदयके भाव परिवर्तित होनेका यह पहिला लक्षण है। धर्ममें प्रविष्ट होनेके पश्चात् धर्मसंघके लोग उससे किस प्रकार आचरण करें इस विषयका उपदेश द्वितीय मंत्रमें देखिये—

नवप्रविष्टका आदर।

द्वितीय मंत्र–"यह स्तुति करता हुआ आगया है, इसका स्वागत करो। हे ज्ञानी पुरुष ! उसको अपने वशमें रख कर, ब्राह्मण और उनका मुखिया ये उस पर ध्यान रखें ॥ २ ॥"

उपदेश श्रवण करके धर्मकी ओर आकर्षित होकर धर्मकी प्रशंसा करता हुआ यह पुरुष आया है। अर्थात् जो पहिले अधार्मिक दुराचारी डाकु था उसका मन धर्मकी ओर झुका है और वह खुले दिलसे कहता है कि धर्म मार्गसे जाना ही उत्तम है। धर्मकी श्रेष्ठता वह जानने लगा है और अधर्माचरणसे मनुष्यकी जो गिरावट होती है वह उसके मनमें अब अच्छी प्रकार आगई है। उस गिरावटसे बचनेके कारण वह अब धर्मसंघमें प्रविष्ट होना चाहता है और उसी उद्देशसे वह धार्मिक लोगोंके पास आगया है। इस समय धार्मिक लोगोंको चाहिये कि वे उसका स्वागत करें, उसका स्वीकार आदर पूर्वक करें अर्थात् उसको अपनायें। बृहस्पति अर्थात् जो ज्ञानी ब्राह्मण हो उसके पास वह रहे, वह उनके कहे नियमोंके अनुसार चले, तथा अन्य समय उनपर

निरीक्षण उपदेशक और ब्राह्मणोंका मुखिया करते रहें, और वारंवार उनको धर्मपथका बोध कराते रहें।

इस प्रकार उसकी योग्यता बढाई जाय और उसके धार्मिक भावका पोषण किया जाय। नहीं तो धर्मसंघमें प्रविष्ट हुआ नव मानव संघियोंकी उदासीनताके कारण उदासीन होकर चला जायगा और अधिक विरोधी बनेगा; इसलिये नवीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको अपनानेके विषयमें संघियोंपर यह बडा भारी बोझ है। इस विषयमें वेदके चार आदेश ध्यानमें धरने योग्य हैं।

१ यह नवीन प्रविष्ट हुआ है,

२ इसका गौरव करो,

३ प्रविष्ट होते ही ज्ञानी इसे नियममें चलानेकी शिक्षा दें और

४ अन्य विद्वान् उसका निरीक्षण करें।

इस मंत्रमें "विध्यतं" शब्द है, उसका प्रसिद्ध अर्थ निशाना मारना है, निशाना मारनेका तात्पर्य उसपर वेधक दृष्टि रखना, उसकी विशेष निग्राणी करना है। उसका विशेष ख्याल रखना, उसका सदा भला करनेका यत्न करना। अस्तु। अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी संतानका सुधार।

तृतीय मंत्र– "हे सोमपान करनेवाले! दुष्ट लोगोंकी प्रजाको अर्थात् उनके बालबच्चोंको प्राप्त करो और उनको उत्तम मार्गसे चलाओ। जो तुम्हारी प्रशंसा करेगा उसकी दोनों आंखें नीचे करो॥ ३॥"

सोम-पान करनेवाला अर्थात् यज्ञकर्ता ब्राह्मण यज्ञद्वारा धर्म प्रचारका बडा कार्य करता है। दुष्टोंका सुधार करनेके महत्व पूर्ण कार्यमें विशेष महत्त्वकी बात यह है कि, धर्मके प्रचारक आयुसे बडे वृद्ध आदमियोंकी अपेक्षा नवयुवकोंके सुधारका अधिक यत्न करें। नवयुवकोंके संघ बनावें, उनका आचार सुधारें, उनकी रुचि सदाचारकी ओर करें अर्थात् हरएक रीतिसे उनको धार्मिक बनानेका सबसे पहिले उद्योग करें। क्योंकि आयुसे बडे लोग अपने दुराचारमें ही मस्त रहते हैं अथवा उनको वही आचार प्रिय और लाभदायक प्रतीत होता है, अतः उसको पलटाना कठिन कार्य है। परंतु नवयुवकोंके कोमल मन होते हैं, उनमें उतने दृढ कुसंस्कार नहीं होते, इसलिये नवयुवकोंका सुधार अति शीघ्र हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि नव युवक सुधर गये, तो उनका आगेका वंशही एकदम सुधर जाता है। इसलिये नवयुवकोंको सुधारनेका प्रयत्न विशेष रीतिसे करना चाहिये। दुष्टोंके बालकोंको जमा करके उनको धर्मनीति अर्थात् धार्मिक आचारकी शिक्षा देना चाहिये। उनमें जो तुम्हारे धर्म-की प्रशंसा करेगा उसकी आंखें पहिले नीचे करो, अर्थात् उनकी जो आंखें ऊंची होती हैं वह नीची हो जाय। इसका आशय यह है कि उनकी घमंडी दृष्टि दूर करके उनमें नम्र भाव युक्त दृष्टि स्थापित करो। अधार्मिक दुष्ट लोगोंकी आंखें लाल और मदोन्मत्त होती हैं, भौंहें टेढी और चढी हुई होती हैं, दूसरे मनुष्यको जान लेना उनको एक सहज बात होती है, यह टेढी दृष्टिका भाव है। नीची दृष्टिका आशय चालचलनकी नम्रता, श्रद्धा, भक्ति, आत्मपरीक्षा, आत्मसुधार आदि है। (अक्षि निपातय) आंख नीचे करना, यह दृष्टिमें भेद है। साधारण मनुष्यकी दृष्टि और प्रकारकी होती है, चोरकी दृष्टि और होती है, साधुकी दृष्टि और होती है तथा डाकूकी दृष्टि भी और होती है। बालककी दृष्टि, तथा तरुण और वृद्धोंकी दृष्टिमें भेद है। इसलिये वेदमें कहा कि उनकी दृष्टि नम्र करदो। धार्मिक आचार जीवनमें ढाले गये तो ही यह दृष्टि बनती है अन्यथा नहीं। अस्तु। इस प्रकार तृतीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रका आशय अब देखिये—

घरोंमें प्रचार।

चतुर्थ मंत्र– "हे ज्ञानी उपदेशक! जहां कहां गुफाओंमें इन भटकने वालोंमेंसे किंचित् भले पुरुषोंके कुल या संतान होंगे, वहां पहुंच कर ज्ञानकी उनमें वृद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले सैंकडों कष्टोंको दूर करदो"॥ ४॥

चोर डाकु आदिओंके सुधारका विचार करते समय उनको संघोंमें उपदेश करना यह साधारण ही बात है, इससे अधिक परिणाम कारक बात यह है, कि उनके परिवारोंमें जाकर वहां उनको धर्मोपदेश करना चाहिये। ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमें जो कुछ भी भले आदमी (सतां अत्रिणां) होंगे, उनके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिल किंचित् नरमसे होनेके कारण उनपर शीघ्र परिणाम होना संभव है। इनके घरोंमें जाकर उनको, उनकी स्त्रियोंको तथा उनके बाल बच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये। उनकी उन्नति (प्रज्ञया वा प्रधानः) ज्ञान द्वारा करनेका यत्न करना चाहिये, अर्थात् उनको ज्ञान देना चाहिये। सच्चा धर्मज्ञान देनेसे ही इनका उद्धार हो सकता है। एकवार धर्मज्ञानमें इनकी रुची बढ गयी, तो इनसे होनेवाले सैंकडों कष्ट दूर हो जायगे और इनका भी कल्याण होगा।

इस प्रकार इन दो सूक्तोंका उपदेश विशेष मनन करने योग्य है। धर्म प्रचार करने वाले उपदेशक तथा उपदेशकोंको नियुक्त करनेवाले सज्जन इन वैदिक आदेशोंका मनन करें और उचित बोध लेकर अपने आचरणमें लानेका यत्न करें।

वर्चःप्राप्ति-सूक्त ।

यह सूक्त "वर्चस्य-गण" का प्रथम सूक्त है। वर्चस्यगणके सूक्तोंमें "तेज संवर्धन, बलसंवर्धन, धनकी प्राप्ति, शरीरकी पुष्टि, समाज या राष्ट्रमें सम्मानप्राप्ति" आदि अनेक विषय होते है। वर्चस्यगणमें कई सूक्त हैं, उनका निर्देश आगे उसी उसी स्थानपर किया जायगा—

(१)

[ऋषिः- अथर्वा। देवता-वस्वादयो नानादेवताः]

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥
अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥
येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥
एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ — (अस्मिन्) इस पुरुषमें (वसवः) वसु देवता तथा इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि ये देव (वसु) धनको (धारयन्तु) धारण करें। आदित्य और विश्वे देव (इमं) इस पुरुषको (उत्तरस्मिन् ज्योतिषि) अति उत्तम तेजमें धारण करें ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवो ! (अस्य) इस पुरुषके (प्रदिशि) आदेशमें ज्योति, सूर्य, अग्नि और हिरण्य (अस्तु) होवे। (सपत्नाः) शत्रु (अस्मत् अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) होवें और (इमं) इसको (उत्तमं नाकं) उत्तम सुखमें (अधि रोहय) तुम चढाओ ॥ २ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी उपदेशक ! (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम ज्ञानसे इन्द्रके लिये (पयांसि समभरः) दुग्धादि रस दिये जाते हैं (तेन) उस उत्तम ज्ञानसे, हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (इमं) इसको (इह) यहां (वर्धय) बढाओ और (एनं) इसको (सजातानां श्रैष्ठ्ये) अपनी जातिमें श्रेष्ठ स्थानमें (आ धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥ हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (एषां) इनके यज्ञ, (वर्चः) तेज, (रायः पोषं) धनकी वृद्धि और चित्त आदिको (अहं आ ददे) मैं प्राप्त करता हूं। (सपत्नाः) शत्रु हमारे नीचेके स्थानमें रहें और (इमं) इस मनुष्यको उत्तम सुखमें (अधि रोहय) पहुंचा दो ॥ ४ ॥

इस सूक्तका भावार्थ देखनेके पूर्व सूक्तकी कई बातोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा सूक्तका भावार्थ समझमें ही नहीं आवेगा। सबसे प्रथम सूक्तमें वर्णित देवताओंका मनुष्यसे क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिये उसका विचार सबसे प्रथम करेंगे—

देवताओंका सम्बन्ध ।

जो ब्रह्माण्डमें है, वह पिण्डमें है, तथा जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है अर्थात् जो विश्वमें है, उसका सब सत्त्व एक व्यक्तिमें है और जो व्यक्तिमें है उसका विस्तार सब विश्वमें हैं, इसका विशेष ज्ञान निम्नलिखित कोष्टकसे हो सकता है ।

व्यक्तिमें देवतांश	समाजमें देवता	विश्वमें देवता
निवासक शक्तियां	समाजस्थितिकी आठ शक्तियां	वसवः (आठ)
स्थूलशरीर	मातृभूमि	पृथ्वी
रक्तादि धातु	जल नदी नद आदि	आप्
शरीरका तेज	अग्नि विद्युत् आदि	तेजः ज्योतिः
प्राण	शुद्ध वायु	वायुः
कान	स्थान	आकाशः
अन्नपान	औषधि, वनस्पति धान्यादि	सोमः
प्रकाश	प्रकाश	अहः
इन्द्रिय गण	साधारण जनता	नक्षत्राणि, देवाः
ज्ञान	ब्राह्मण, ज्ञानी मनुष्य	ब्रह्मन्
क्षात्रतेज	क्षत्रिय वीर	इन्द्रः
पुष्टि	राष्ट्रपोषक अधिकारी	पूषा
शांतभाव	जलाधिकारी	वरुणः
मित्रभाव	मित्र जन	मित्रः
वाणी	ज्ञानी उपदेशक	अग्निः
स्वातंत्र्य	स्वतंत्र विचारके लोग	आदित्याः
नेत्र, दर्शनशक्ति	दार्शनिक विद्वान्	सूर्यः
सब दिव्य गुण	सब विद्वान्, कारीगर	विश्वे देवाः
तेज	धन	हिरण्यं
दुष्ट विचार	शत्रु	सपत्नाः
आनंद	स्वाधीनता	नाक (स्वर्ग)
तेजी	"	उत्तमं ज्योतिः
सुख	"	मध्यमं "
		अधमं "

"ब्रह्मचर्य" पुस्तकमें अंशावतारका वैदिक भाव वर्णन किया है वह इस समय अवश्य पढिये। (स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित। मूल्य १॥)

इस कोष्टकसे पाठकोंको पता लग जायगा कि सूक्तोक्त देवता शरीरमें किस रूपमें हैं, राष्ट्रमें किस रूपमें हैं और जगत्में किस रूपमें हैं। सूर्यदेव जगत्में कहां है यह सब जानते हैं, वही अंशरूपसे शरीरमें है जिसको नेत्र या दर्शनशक्ति कहते हैं, राष्ट्रमें भी जो पुरुष विशेष विचारसे राष्ट्रकी अवस्थाका विचार करते हैं वे दार्शनिक पुरुष राष्ट्रके सूर्य हैं क्योंकि उनके दर्शाये मार्गसे जाता हुआ राष्ट्र उत्तम अवस्थामें पहुंच सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें देखना-योग्य है।

इस सूक्तमें प्रारंभमें ही "अस्मिन्" पद है इसका अर्थ "इस मनुष्यमें" ऐसा है। प्रश्न होता है कि किस मनुष्यके उद्देश्यसे यह शब्द यहां आया है? पूर्व सूक्तके साथ इस सूक्तका संबंध देखनेसे स्पष्टतापूर्वक पता लगता है कि इस शब्दका संबंध पूर्व सूक्तमें वर्णित "नवप्रविष्ट शुद्ध हुए" मनुष्यके साथ ही है। जो मनुष्य मनकी वृत्ति बदलनेके कारण अपने धर्ममें प्रविष्ट हुआ है, उसकी सबसे अधिक उन्नति करनेकी इच्छा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य ही है। अपने धर्ममें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ प्राप्तव्य है, वह उसको शीघ्र प्राप्त हो, इस विषयकी इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये, अर्थात् उसको विशेष तेज प्राप्त हो ऐसी इच्छा धरनी चाहिये। यद्यपि इस सूक्तका पूर्वापर संबंध देखनेसे यह सूक्त नव प्रविष्टकी तेजवृद्धिके लिये है ऐसा प्रतीत होता है; तथापि हरएक मनुष्यकी तेज वृद्धिके सामान्य निर्देश भी इसमें है और इस दृष्टिसे यह सामान्य सूक्त सब मनुष्योंके उपयोगी भी है। पाठक इसका दोनों प्रकारसे विचार करें।

अब यहां पूर्वोक्त मंत्रोंका भावार्थ दिया जाता है और वह भावार्थ देनेके समय व्यक्तिमें जो देवतांश हैं उनको लेकरही दिया जाता है। पाठक इसकी तुलना पूर्वोक्त कोष्टकसे करें-

उन्नतिका मूलमन्त्र।

प्रथम मंत्र-" इस मनुष्यमें जो निवासक शक्तियां हैं तथा क्षात्र बल, पुष्टि, शांति, मित्रता तथा वाणी आदिकी शक्तियां हैं, ये सब शक्तियां इसमें धन्यता स्थापित करें। इसके स्वतंत्र विचार और इसकी सब इंद्रियां इसको उत्तम तेजमें धारण करें ॥ १ ॥"

मनुष्यमें अथवा जगत्के हरएक पदार्थमें कुछ निवासक (वसु) शक्तियां हैं जिनके कारण वह पदार्थ या प्राणी अपनी अवस्थामें रहते हैं। जिस समय निवासक वसु शक्तियां बढती रहती हैं, उस समय पोषण होता है और घटती जाती हैं, उस समय क्षीणता होती है; तथा निवासक शक्तियोंके नाश होनेपर मृत्यु निश्चित है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके बढने घटनेसे वे वे गुण बढते या घटते हैं। मनुष्यमें वसुशक्तियां आठ हैं और अन्य देवताओंसे प्राप्त अन्य शक्तियां भी हैं। इन शक्तियोंके विकसित रूपमें प्रकाशित होनेसेही मनुष्य वसु अर्थात् धन प्राप्त करता है और अपने आपको धन्य कर सकता है। सारांश रूपसे उन्नतिका यही मूल मंत्र है। (१) अपनी निवासक वसुशक्तियोंका विकास करना, तथा (२) अपने अंदर क्षात्रतेजकी वृद्धि करना' (३) अपनी पुष्टि करना, (४) अपने

अंदर समता और शांति रखना, (५) मनमें मित्रभाव बढाना और हिंसक भाव कम करना, तथा (६) वाणीकी शक्ति विकसित करना। इन छः शक्तियोंके बढ जानेसे मनुष्य हरएक प्रकारका धन प्राप्त कर सकता है और उससे अपने आपको धन्य बना सकता है। यहां का " वसु " शब्द धनवाचक है परंतु यह धन केवल पैसाही नहीं, परंतु यह वह धन है, कि जिससे मनुष्य अपने आपको श्रेष्ठ पुरुषोंमें धन्य मान सकता है। इस वसुमें सब निवासक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त होनेवाली धन्यता आ जाती है। (१) " निवासक शक्ति, (२) क्षात्रतेज, (३) पुष्टि, (४) समता, (५) मित्रभाव, (६) वक्तृत्व," इन छः गुणोंकी वृद्धि करनेकी सूचना इस प्रकार प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें दी है और दूसरे अर्धमें कहा है कि (७) इसके स्वतंत्र विचार और (८) इसकी इंद्रिय शक्तियां इनको उत्तमोत्तम तेजस्वी स्थानमें पहुंचायें। मनुष्यके स्वतंत्र विचारही मनुष्यको उठाते या गिराते हैं, उसी प्रकार इंद्रियां स्वाधीन रहीं तो ही वह संयमी मनुष्य श्रेष्ठ बनता है अन्यथा इंद्रियोंके आधीन बनकर दुर्व्यसनी बना हुआ मनुष्य प्रतिदिन हीन होता जाता है। मनुष्यकी निःसंदेह उन्नति करनेका यह अष्टविध साधन प्रथम मंत्रने दिया है। वह हरएक मनुष्यको देखने-योग्य है। अब दूसरा मंत्र देखिये-

विजयके लिये संयम।

द्वितीय मंत्र-" हे देवो ! इस मनुष्यकी आज्ञामें तेज, नेत्र, वाणी और धन रहे। हमारे शत्रु नीचे हो जांय और इसको सुखकी उत्तम अवस्था प्राप्त हो॥ २॥ "

इस मंत्रमें " (अस्य प्रदिशि सूर्यः अस्तु) इसकी आज्ञामें सूर्य रहे " यह वाक्य है। पाठक जान सकते हैं कि किसी भी मनुष्यकी आज्ञामें सूर्य रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह मनुष्यकी शक्तिसे बाहर है; परन्तु सूर्यका अंश जो शरीरमें नेत्र स्थानमें रहता है और जिसको नेत्र इन्द्रिय कहते हैं वह तो संयमी पुरुषके आधीन रह सकता है। इससे पूर्व कोष्टकवी बात सिद्ध होती है कि व्यक्तिके विषयमें विचार करनेके समय देवताओंके शरीरस्थानीय अंशही लेने चाहिये जैसा कि पहले मंत्रमें किया है और इस मंत्रमें भी करना है।

मनुष्यके अंदर बाह्य ज्योतिका अंश तेजी, सूर्यका अंश नेत्र, अग्निका अंश वाणीके रूपमें रहता है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंश यहां रहते हैं, वे ही इन्द्रिय शक्तियां है। मनुष्यकी स्फूर्ति, आंख और वाणी तथा उपलक्षणसे अन्य इन्द्रियां भी उसकी आज्ञामें रहें, अर्थात् इन्द्रियां स्वतंत्र न बनें।

तात्पर्य-मनुष्य इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह करके अपनी शक्तियोंको अपने आधीन रखे। अपनी इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना आत्मविजय प्राप्त करना है। इस प्रकारका आत्मविजयी मनुष्यही शत्रुओंको दबा सकता और उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है। यदि जगत्में विजय पाना है, शत्रुओंको दबाना है, तथा उत्तम सुख कमाना है, तो अपनी शक्तियोंको सबसे प्रथम स्वाधीन करना चाहिये, यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां मिलता है। अब तृतीय मंत्र देखिये-

ज्ञानसे जातिमें श्रेष्ठताकी प्राप्ति।

तृतीय मंत्र-" जिस उत्तम ज्ञानसे क्षत्रियको उत्तमोत्तम रस प्राप्त होते हैं, हे धर्मोपदेशक ! उसी उत्तम ज्ञानसे यहां इस मनुष्यकी वृद्धि कर और अपनी जातिमें इसे श्रेष्ठता प्राप्त हो॥ ३॥

क्षत्रियको, इन्द्रको अथवा राजाको जिस ज्ञानसे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं और जिस ज्ञानसे वह सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, वह ज्ञान इस मनुष्यको प्राप्त हो और यह मनुष्य भी वैसाही अपनी जातिमें अथवा अपने राष्ट्रमें श्रेष्ठ बने। राष्ट्रके हरएक पुरुषको श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करनेके सब साधन खुले रहने चाहियें। वह मनुष्य नूतन प्रविष्ट हो वा उसी जातिमें उत्पन्न हुआ हो। तथा हरएक मनुष्यमें यह महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिये कि मैं भी उस ज्ञानको प्राप्त करके वैसाही श्रेष्ठ बनूं॥, मैं अपनी जातिका नेता बनूंगा और अपने देशमें श्रेष्ठता प्राप्त करूंगा। यह मंत्रका आशय हरएकको नित्य स्मरणमें रखना उचित है। अब अगला मंत्र देखिये-

जनताकी भलाई करना।

चतुर्थ मंत्र-' इन सबके चित्त मैं अपनी ओर खींचता हूं और इनके धनकी वृद्धि मैं करूंगा, तथा इनके सत्कर्म मैं फैलाऊंगा। हमारे शत्रु नीचे दब जांय और इसको उत्तम सुखका स्थान प्राप्त हो॥ ४॥

(१) पहिले मंत्रके उपदेशानुसार आचरण करनेसे अपनी शक्तियोंकी उन्नति की, (२) दूसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपने इन्द्रिय संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त किया, (३) तीसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपनी ज्ञानवृद्धि द्वारा प्रशस्त कर्म करके अपनी जातिमें बहुमान प्राप्त किया, तब (४) इस चतुर्थ मंत्रमें वर्णित जनताकी भलाई करनेके उत्तमोत्तम कर्म करने और करानेका योग्य अवसर प्राप्त होता है। पाठक यहां चार मंत्रोंमें वर्णित यह चार सीढियां देखें और विचारें, तो पता लग जायगा कि यहां इस सूक्तमें वेदने थोडे शब्दोंमें मानवी उन्नतिका

अत्यत उत्तम उपदेश किया है, इसका पाठक जितना विचार करें उतना थोडाही है। देखिये-

उन्नतिकी चार सीढियां।

" अपनी शक्तियोंका विकास ॥"

प्रथम मंत्र- शरीरकी धारक शक्तियों, इन्द्रियों और अवयवों की सब शक्तियों, तथा मनकी विचार-शक्तियोंका उत्तम विकास करो ॥

"स्वशक्तियोंका संयम ॥"

द्वितीय मन्त्र- अपने आधीन अपनी सब शक्तियां रखो, सयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त करके शत्रुको दूर करो और सुखी हो जाओ।

' ज्ञानवृद्धिद्वारा स्वजातिमें संमान ॥"

तृतीय मन्त्र- ज्ञानकी वृद्धिद्वारा विविध रत्न प्राप्त करो, और अपनी वृद्धिद्वारा स्वजातिमें श्रेष्ठ बनो।

" जनताकी उन्नतिके लिये प्रयत्न "

चतुर्थ मन्त्र- लोगोंके चित्त अपनी ओर आकर्षित करो, लोगोंके धनोंकी वृद्धि करो और उनके प्रशस्त कर्मोंको फैला दो। इससे शत्रुओंको दूर करके सुखके स्थानमें विराजो॥

ये चार मन्त्र महत्त्वपूर्ण चार आदेश दे रहे हैं (१) स्वशक्ति-संवर्धन, (२) आत्मसंयम, (३) ज्ञानके कारण स्वजातिमें श्रेष्ठत्व और (४) जनताकी भलाईके लिये प्रयत्न, ये सक्षेपसे चार आदेश हैं। इन चार मन्त्रोंपर चार विस्तृत व्याख्यान हो सकते हैं इतना इनके उपदेशोंका विस्तार और महत्त्व है।

चतुर्थ मन्त्रमें " एषां " शब्द है, यह "इन सब लोगोंका" यह भाव बता रहा है। इन सब लोगोंके चित्त मैं अपनी ओर खींचता हूं, इनके धनोंकी वृद्धि करनेके उपाय मैं करता हूं, इनके प्रशस्त कर्मोंको बढाता हूं, और इनके सब शत्रुओंको नीचे दबाकर इन सबका सुख बढानेका प्रयत्न करता हूं। यह इस चतुर्थ मन्त्रका भाव अति स्पष्ट और सुगम है। पाठक इसका मनन करें और इस सूक्तको अपने आचरणमें ढाल दें।

वर्चस्य-गणके सूक्तके उत्तम उपदेशका अनुभव पाठकोंको यहां आया ही होगा। इसी प्रकार आगे भी कई सूक्त इस गणके आवेंगे। उस समय सूचना दी जायगी। पाठक गणोंके अनुसार सूक्तोंका विचार करें और लाभ उठावें।

इन सूक्तोंका स्मरणीय उपदेश

१ तौलस्य प्राशान- तोलकर खाओ। मित भोजन करो।

२ प्रजां नयस्व-- सन्तानको ठीक मार्ग बताओ।

३ ब्रह्मणा वावृधानः- ज्ञानसे (बढनेवाला तथा दूसरोंको) बढानेवाला (बनो)

४ उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु- अधिक श्रेष्ठ तेजमें (इसकी) धारणा करें।

५ अस्य प्रदिशि ज्योतिः सूर्यः अग्निः उत हिरण्यं अस्तु- इसकी आज्ञामें तेज, सूर्य, अग्नि और धन रहें, (अर्थात्) इस (मनुष्य) की आज्ञामें जगत्के पदार्थ रहें और कभी मनुष्य उनकी आज्ञामें जाकर पराधीन न बने।

६ सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु-शत्रु हमारे नीचे रहें।

७ उत्तमं नाकमधि रोहयैनम्-इसे उत्तम स्थानमें चढाओ।

८ सजातानां श्रेष्ठ्य आ धेह्येनम्- इसको अपनी जातिमें श्रेष्ठ बनाओ।

असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा।

(१०)

(ऋषिः-अथर्वा। देवताः १ असुरः, २-४ वरुणः।)

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥
नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥
यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु। राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥
मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि। सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ- (अयं) यह (देवानां असुरः) देवोंको भी जीवन देनेवाला ईश्वर (वि राजति) प्रकाशता है। (हि) क्योंकि (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण देव अर्थात् ईश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य है। (ततः परि) इतना होनेपर भी (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (शाशदानः) तीक्ष्ण बना हुआ मैं (उग्रस्य मन्योः) प्रचंड ईश्वरके क्रोधसे (इमं) इस मनुष्यको (उत् नयामि) ऊपर उठाता हूं ॥ १ ॥ हे (वरुण राजन्) ईश्वर ! (ते मन्यवे) तेरे क्रोधको (नम अस्तु) नमस्कार होवे। हे (उग्र) प्रचंड ईश्वर ! तू (विश्वं द्रुग्धं) सब द्रोहादि पापोंको (निचिकेषि) ठीक प्रकार जानता है। (सहस्रं अन्यान्) हजारों अन्योंको (साकं) साथ साथ मैं (प्रसुवामि) प्रेरणा करता हूं। (अयं) यह मनुष्य (तव) तेरा बनकर ही (शतं शरदः) सौ वर्ष (जीवाति) जीता रह सकता है ॥ २ ॥ हे मनुष्य ! (यत्) जो (अनृतं वृजिनं) असत्य और पाप वचन (जिह्वया) जिह्वासे (बहु उवक्थ) बहुतसा तू बोला है, उससे तथा (सत्यधर्मा) सच्चे न्यायी (राज्ञः वरुणात्) राजा वरुण देव ईश्वरसे (अहं) मैं (त्वा) तुझको (मुञ्चामि) छुडाता हूं ॥ ३ ॥ हे मनुष्य ! त्वा तुझको (महतः वैश्वानरात् अर्णवात्) बडे समुद्रके समान गंभीर विश्वनायक देवसे (परि मुञ्चामि) छुडाता हूं। हे (उग्र) वीर ! (इह) यहां (सजातान्) अपनी जातिवालोंको (आ वद) सब कह दे और (नः) हमारा (ब्रह्म) ज्ञान (अप चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह सूर्यादि देवताओंको शक्ति प्रदान करनेवाला प्रभु ईश्वर सब जगत्पर विराजता है, सबका सर्वोपरि शासक वही है, इसलिये उसकी इच्छा ही सर्वदा सत्य होती है। अर्थात् उसकी इच्छाके प्रतिकूल कोई भी जा नहीं सकता। तथापि ज्ञानसे सत्यमार्गोंको जाननेवाला मैं इस पापी मनुष्यको निम्नलिखित मार्गसे उस ईश्वरके क्रोधसे छुडाता हूं ॥ १ ॥ हे ईश्वर ! तेरे क्रोधके सामने हम नम्र होते है, तेरे सामने सिर झुकाते है। क्योंकि तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है। इसलिये हम अपने पापोंको तेरे सामने छिपा नहीं सकते। हे प्रभो ! यह बात मैंने हजारों मनुष्यों की सभाओंमें घोषित की है। यह संदेहरहित बात है कि यदि यह मनुष्य तेरा भक्त बनेगा तो ही सौ वर्ष जीवित रह सकेगा, अन्यथा इसको कौन बचा सकता है ? ॥ २ ॥ हे पापी मनुष्य ! तू अपनी जबानसे बहुत असत्य और बहुत पाप वचन बोलता है। इस पापसे दूसरा कोई तुझे बचा नहीं सकता। मैं तुम्हें उसकी शरणमें ले जाता हूं और उसकी कृपासे तेरा बचाव कर सकता हूं ॥ ३ ॥ हे पापी मनुष्य ! तुझको विश्वेश्वरके क्रोधसे इस प्रकार छुडाता हूं। हे वीर ! तू अपनी जातिमें सब बातें कह और हमारे ज्ञानको जानकर अपना ॥ ४ ॥

पापसे छुटकारा पानेका मार्ग।

यद्यपि यह सूक्त अति सरल है तथापि पाठकोंके विशेष सरल बोधके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण किया जाता है।

इस सूक्तमें पापसे छुटकारा पानेका जो मार्ग बताया है वह निम्नलिखित है—

एक शासक ईश्वर।

(१) " देवानां असुरो विराजति "-सूर्यचंद्रादि देवोंको विविध शक्ति देनेवाला एक प्रभु ईश्वरही सब जगत्का परम शासक है। इससे अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है। (मंत्र १)

(२) " तस्य वरुणस्य वशा हि सत्या "-उस प्रभु ईश्वरका सत्य शासन है। उसीकी इच्छा सर्वोपरि है। उसके अपूर्व शासनका कोई उल्लंघन कर नहीं सकता। (मंत्र १)

(३) " विश्वं हयुग्र निचिकेषि द्रुग्धम् "-हे प्रभु ईश्वर! तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है। अर्थात् कोई मनुष्य अपने पाप उससे छिपा नहीं सकता। क्योंकि वह सर्वज्ञ है इसलिये हम सबके बुरे भले कर्म वह यथावत् उसी समय जानता है। (मंत्र २)

ईश्वरको सर्वोपरि मानना, सबसे सामर्थ्यशाली वह है यह स्मरण रखना और उससे छिपाकर कोई मनुष्य कुछ कर नहीं सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आवश्यक है। पापसे बचानेवाले ये तीन महत्त्वपूर्ण विश्वास इस सूक्तमें कहे हैं, पाठक इनका मनन करें और इनको अपने अंदर स्थिर करें। येही तीन भाव मनुष्यका पापसे बचाव कर सकते हैं।

ज्ञान और भक्ति।

मनुष्यको पापसे बचानेवाले ज्ञान और भक्ति ये दो ही हैं। इनका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित रीतिसे किया है—

(१) " ब्रह्मणा शाशदानः। " ज्ञानसे तीक्ष्ण बना हुआ मनुष्य पापसे बच जाता है और दूसरोंको भी बचाता है। सृष्टिके तथा आत्माके यथार्थ विज्ञानको " ब्रह्म " कहते हैं। यह ब्रह्म अर्थात् सृष्टिविद्या और आत्मविद्याका उत्तम ज्ञान मनुष्यको तीक्ष्ण बनाता है। अर्थात् तेज बनाता है। जिस प्रकार तेज शस्त्र शत्रुका नाश करता है उसी प्रकार ज्ञानका तेज शस्त्र भी अज्ञान पाप आदि शत्रुओंका नाश करता है। मनुष्यकी सच्ची उन्नतिका यही साधन है। (मंत्र १)

(२) " नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे। "— हे ईश्वर! तेरे क्रोधके सामने हम नमन करते हैं, तेरे शासनके सामने हम अपना सिर झुकाते हैं। अर्थात् हम तेरी शरणमें आकर रहते हैं, हम अपने आपको तेरी इच्छामें समर्पित करते हैं। तू ही हमारा तारनेवाला है। तेरे विना हम किसी अन्यकी शरण जानेयोग्य समझते नहीं। (मंत्र २)

(३) " शतं जीवाति शरदस्तवायम्। "-सौ वर्ष जीवित रहेगा जो तेरा बनेगा। जो परमेश्वरका भक्त बनकर रहेगा उसका नाश कौन कर सकता है? (मंत्र २)

पाठक इन तीन मंत्रभागोंमें ज्ञान और ईशभक्तिसे पापमोचनकी संभावना देख सकते हैं। सृष्टिविद्याके नियमोंको जानकर तदनुकूल आचरण करना, आत्मविद्याको जानकर परमात्माको सार्वभौम सत्ताधारी मानना, भक्तिसे ईश्वरके सन्मुख नम्र बनना और ईश्वरका भक्त बनकर आनन्दसे उसका होकर रहना यही पापमोचनका सीधा और निश्चित मार्ग है। पाठक इस सूक्तमें यह मार्ग देखें। इस सूक्तमें जिस मार्गसे पापमोचनकी संभावना कही है वह यही मार्ग है और यही निश्चित और सीधा मार्ग है।

प्रायश्चित्त।

पापसे बचनेके लिये प्रायश्चित भी यहां कहा है और वह यहां देखनेयोग्य है—

(१) " ब्रह्म अपचिकीर्हि। "-पूर्वोक्त ज्ञान जानकर अपना उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, तथा संक्षेपसे जो नियम ऊपर बताये हैं उनको जानना यह उन्नतिका निश्चित साधन है। जब इस ज्ञानसे अपने अवगुणोंका पता लगेगा, अपने दुराचारका ज्ञान होगा तब पश्चात्तापसे शुद्धि करनेका मार्ग है, वह इस प्रकार है-(मंत्र ४)

(२) " सजातानुग्रेहा वद। " — हे वीर! तू अपनी जातिके पुरुषोंके सामने अपने सब अपराध कह दे। यही प्रायश्चित है। अपनी जातिके स्त्री पुरुषोंके सम्मुख अपने अपराधोंको न छिपाते हुए कहना, यह बडा भारी प्रायश्चित्त है और इससे मनुष्यके मनकी शुद्धि होती है। (मंत्र ४)

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् या जिस समय पश्चात्ताप हो उस समय अपने सब अपराध अपनी जातिके सम्मुख कहना बडा धैर्यका तथा मनकी पवित्रताका ही कार्य है। हरएक मनुष्य इस प्रकार प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। प्रायः मनुष्य अपने अपराधोंको छिपानेका ही यत्न करते हैं परंतु जो लोग अपने दोषोंको जनताके सम्मुख कह देते हैं वे शुद्ध बनकर शीघ्रही बडे महात्मा बन जाते हैं।

इस सूक्तमें "वरुण" आदि शब्दों द्वारा परमात्माका वर्णन हुआ है, " मध्यमि " आदि शब्दोंसे पापियोंको पापसे

छुडानेवाला महोपदेशक का वर्णन है और "इम" आदि शब्दोंसे पापी मनुष्योंका भी वर्णन हुआ है। धर्मोपदेशक पापियोंको पापसे बचानेका उपदेश परमेश्वरभक्तिका मार्ग बताकर कर रहा है, यह बात इस सूक्तके शब्दोंमें स्पष्ट होती है। अर्थात् धर्मोपदेशक इसी मार्गसे स्वयं पापसे बचें और दूसरोंको पापसे बचावें।

पापी मनुष्य ।

पापी मनुष्य सहस्रों प्रकारके पाप करता है, परंतु इस सूक्त-में कुछ मुख्य पापोंकाही उल्लेख किया है, वह भी यहां देखने-योग्य है—

(१) "विश्वं द्रुग्धं।" — सब द्रोह अर्थात् सब प्रकारका धोखा। धोखा देना, काया-वाचा-मनसे विश्वासघात करना, बडा पाप है। इसमें बहुतसे पाप आ जाते हैं। (मं० २)

(२) "यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।"— जिह्वासे असत्य तथा पापभावसे युक्त वचन बोलना भी बडा पापका कर्म है (मं० ३)

द्रोह करना और असत्य बोलना, इन दोनोंमें प्रायः सब पाप समा जाते हैं। इन पापी मनुष्योंका सुधार पूर्वोक्त रीतिसे ही होना संभव है। धर्मोपदेशक तथा साधारण जन यदि इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको पापमोचनके विषयमें बहुतही योग्य बोध मिल सकता है।

यह पापमोचन-प्रकरण समाप्त।

सुख-प्रसूति-सूक्त ।

(११)

[ऋषिः—अथर्वा। देवता-पूषादया नाना देवताः]

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥
चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत। देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥
सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि। श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥ ३ ॥
नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥ ४ ॥
वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥ ५ ॥
यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

अर्थ—हे (पूषन्) पोषक ईश्वर! (ते वषट्) तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं। (अस्मिन् सूतौ) इस प्रसूतिके कार्यमें (अर्यमा होता वेधाः) आर्य मनवाला दाता विधाता ईश्वर महायता (कृणोतु) करे। (ऋतप्रजाता) नियमपूर्वक बालकोंको

जन्म देनेवाली (नारी) स्त्री (शिस्रतां) दक्षतासे रहे । तथा अपने (पर्वाणि) अंगोंको (सूतवै उ) सुखप्रसूतिके लिये (विजिहतां) ढीले करें ॥ १ ॥ (दिवः) आकाशकी (उत) तथा (भूम्याः) भूमिकी (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें रहनवाले (देवाः) देवोंने (गर्भं समैरयन्) गर्भ को बनाया, इसलिये वेही (सूतवे) उसकी सुखप्रसूतिके लिये (तं वि ऊर्णुवन्तु) उसको प्रकट करें, उसको बाहर खुला करें ॥ २ ॥ (सूषा) उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली माता (व्यूर्णोतु) अपने अंगोंको खुला करे । हम (योनिं) योनिको (विहापयामसि) खोलते हैं । हे (सूषणे) प्रसूत होनेवाली स्त्री ! (त्वं) तू भी (श्रथय) अंदरसे प्रेरणा कर । और हे (विष्कले) वीर स्त्री ! (त्वं) तू (अवसृज) बालकको उत्पन्न कर ॥ ३ ॥ (न इव मांसे) नहीं तो मांसमें, (न पीवसि) न चर्वीमें, और (न इव मज्जसु) न तो मज्जामें वह (आहतं) लिपटा है । (पृश्नि शेवलं) नरम सेवारके समान (जरायु) जेली (शुने अत्तवे) कुत्तेके लिये खानेको (अवैतु) नीचे आवे, (जरायु) जेली (अवपद्यताम्) नीचे गिर जावे ॥ ४ ॥ (ते मेहनं) तेरे गर्भके मार्गको, (योनिं) योनिको तथा (गवीनिके) दोनों नाडियोंको (वि वि वि भिनद्मि) विशेष रीतिसे खुला करता हूं । (मातरं पुत्रं च) माता और पुत्रको (वि) अलग करता हूँ तथा (कुमारं जरायुणा वि) बच्चेको जेरीसे अलग करता हूं । (जरायु) जेरी (अव पद्यताम्) नीचे गिर जावे ॥ ५ ॥ जैसे वायु, जैसे मन और जैसे पक्षी (पतन्ति) चलते हैं (एव) इसी प्रकार हे (दशमास्य) दश महिनेवाले गर्भ ! तू (जरायुणा साकं) जेरीके साथ (पत) नीचे आ तथा (जरायु अवपद्यताम्) जेरी नीचे गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे सबके पोषण करनेवाले जगदीश ! तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं। इस प्रसूतिके समय सब जगत्का निर्माता तूही हमारा सहायक बन । यह स्त्री भी दक्षतासे रहे और इस समय अपने अंगोंको ढीला करे ॥ १ ॥ आकाश और भूमिकी चारों दिशाओंमें रहनेवाले सूर्यादि सम्पूर्ण देवोंने इस गर्भको बनाया है । और वे ही इस समय अपनी सहायतासे इसको सुख पूर्वक गर्भस्थानसे बाहर लावें ॥ २ ॥ स्त्री अब अपने अंग खुले करें, सहाय करनेवाली धाई योनिको खोले । हे स्त्री ! तूही मनसे अंदरसे प्रेरणा कर और सुखसे बालकको उत्पन्न कर ॥ ३ ॥ यह गर्भ मांस, चर्वी या मज्जामें चिपका नहीं होता है । वह पानीमें पत्थरोंपर बननेवाले नरम सेवारके समान अति कोमल थैलीमें लिपटा हुआ होता है, वह सब थैलीकी थैली एकदम बाहर आवे और वह नालके साथ जेली कुत्तोंको खानेके लिये दी जावे ॥ ४ ॥ योनि, गर्भस्थान और पिछली नाडियोंको ढीला किया जावे, प्रसूति होतेही मातासे बच्चा अलग किया जावे और बच्चेसे जेली नाल समेत अलग की जावे । नाल समेत सब जेली पूर्णतासे बाहर निकल आवे ॥ ५ ॥ जिस प्रकार मन वेगसे विषयोंमें गिरता है, जैसे वायु और पक्षी वेगसे आकाशमें चलते हैं उसी प्रकार दसवें महिनेमें गर्भ जेरीके साथ गर्भस्थानसे बाहर आवे और जेरी आदि सब नीचे गिर जावे अर्थात् माताके गर्भस्थानमें उसका कुछ भाग अवशिष्ट न रहे ॥ ६ ॥

प्रसूति प्रकरण ।

इस सूक्तसे नया प्रकरण प्रारंभ हुआ है । यह प्रकरण विशेषतः स्त्रियोंके लिये और सामान्यतः सबके लिये विशेष लाभकारी है । स्त्रियोंको प्रसूतिके जितने कष्ट सहने पडते हैं उनका दुःख स्त्रियांही जानती हैं । प्रसूतिके समय न्यून कष्ट होना प्रयत्नसे साध्य है । गर्भधारणासे लेकर प्रसूतिके समयतक अथवा गर्भधारणासे भी पूर्व समयमें भी जो नियम पालन करनेयोग्य होते हैं, उनका योग्य रीतिसे पालन करनेसे प्रसूतिके कष्ट बहुतसे दूर होना संभव है । इस विषयमें आगे बहुत उपदेश आनेवाला है । यहां इस सूक्तमें जितना विषय आया है, उसको अब यहां देखिये—

ईशभक्ति ।

परमेश्वरकी भक्तिही मनुष्यको दुःखोंसे पार कर सकती है । गृहस्थी स्त्रीपुरुष यदि परमेश्वरके उत्तम भक्त होंगे, तो उस परिवारकी स्त्रियोंको प्रसूतिके कष्ट न होंगे; यह बतानेके लिये इस सूक्तके प्रथम मन्त्रके पूर्वार्धमें ही सबसे पहिले ईश्वरकी मानसपूजाका वर्णन किया है ।

" वषट् " शब्द " स्वाहा " अर्थमें अर्थात् " आत्मसमर्पण ' के अर्थमें प्रयुक्त होता है । (हे पूषन् ! ते वषट्) हे ईश्वर ! तेरे लिये हम अपने आपको समर्पण कर रहे हैं । तू ही (अर्यमा) श्रेष्ठ सज्जनोंका मान करनेवाला अर्थात् हितकर्ता है, तू ही (वेधाः) सब जगत्का रचयिता और निर्माता है

और तूही (होता) सब सुखोंका दाता है। इसलिये हम तेरे आश्रयसे रहते हैं और तेरे लियेही पूर्णतया समर्पित होते हैं।

यहां पूर्व सूक्तमें वर्णन किये ईश्वरके गुण अनुसंधानसे देखने योग्य हैं। " सब सूर्यादि देवताओंको शक्ति देनेवाला एक ईश्वर है और उसका शासनही सर्वोपरि है। " इत्यादि भाव जो पूर्व सूक्तमें कहे हैं, यहां देखिये। " सबसे समर्थ प्रभु ईश्वर मेरा सहायकारी है, और मैं उसकी गोदमें हूं " इत्यादि भक्तिके भाव जिसके हृदयमें अकृत्रिम प्रेमके साथ रहते हैं, वह मनुष्य विशेष शक्तिसे और आरोग्यसे युक्त होता है और प्रायः ऐसा मनुष्य सदा आनंदमें रहता है।

काम विकारका संयम करनेके लिये परमेश्वर भक्तिही एक दिव्य औषधि है। कामविकारका नियमन हुआ तो स्त्रियोंके प्रसूतिके दुःख सौमें नौव्वे कम होंगे, क्योंकि कामकी अति होनेसेही स्त्रियां अशक्त बनती हैं और अशक्तताके कारण प्रसूतिके कष्ट अधिक होते हैं तथा प्रसूतिके पश्चात्के क्षयादि रोग भी कष्ट देते हैं। इसलिये कामभोगका नियमन परमेश्वर भक्तिसे करनेका उपदेश हरएक स्त्रीपुरुषको यहां अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये।

देवोंका गर्भमें विकास।

सूर्यादि देवताएं अपना अपना अंश गर्भमें रखती हैं, सब देवताओंका अंशावतार गर्भमें होनेके पश्चात् आत्मा उसमें आता है। इत्यादि विषय वेदमें स्थान स्थानपर आया है। [इस विषयमें स्वाध्यायमंडल द्वारा प्रकाशित " ब्रह्मचर्य " पुस्तकमें "देवोंका अंशावतार" शीर्षक विस्तृत लेख अवश्य पढिये। वहां विविध वेदमंत्रोंद्वारा यह विषय स्पष्ट कर दिया है।] तात्पर्य गर्भमें अंशरूपसे अनेक देवताएं रहती हैं और उनका संबंध बाह्य देवताओंके साथ है। भूमि और आकाशकी चारों दिशाओंमें रहनेवाली सब देवताएं अपने गर्भमें अंशरूपसे आगई हैं, मानो उनका संमेलन (समैरयन्) ही गर्भमें हुआ है और उनका अधिष्ठाता आत्मा भी उसी गर्भमें है। यह दृढविश्वास गर्भ धारण करनेवाली माताका होना चाहिये। अर्थात् जो गर्भ अपने अंदर है वह अपने केवल कामोपभोग काही फल नहीं है, परंतु उसमें और विशेष महत्त्वपूर्ण आत्मशक्तिका और दैवी शक्तिका संबंध है। ऐसा भाव गर्भवती स्त्रीमें स्थिर रहनेसे गर्भवतीका स्वास्थ्य तथा गर्भका पोषण भी उत्तम होता है। गर्भाधानके समयमें भी देवताओंका आह्वान किया जाता है। उस समयके मंत्र इस दृष्टिसे पाठक देखेंगे तो उनको पता लगेगा कि गर्भाधान कामविकारके पोषणके लिये नहीं है परंतु उच्च शक्तियोंकी धारणा के लिये ही है। अस्तु। गर्भिणी स्त्री अपने गर्भके विषयमें इतना उच्च भाव मनमें धारण करे और समझे कि जिन देवताओंके अंश गर्भमें इकठ्ठे हुए हैं वेही देवताएं गर्भका पोषण और सुख प्रसूतिमें अवश्य सहायता देंगी। अर्थात् इस प्रकार देवताओंकी सहायता और परमात्मा का आधार मुझे है इसलिये मुझे कोई कष्ट नहीं होंगे। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका द्वितीय मंत्र पढें।

गर्भवती स्त्री।

पूर्वोक्त भाव गर्भवती अपने अंदर दृढतासे धारण करें। अब गर्भवती स्त्री अथवा गृहस्थाश्रममें रहनेवाली स्त्री निम्न बातोंका विचार करे—

१ नारी-जो धर्मनीतिसे (नृगाति) चलती है अर्थात् धर्म नियमोंसे अपना आचरण करती है, तथा (नर) पुरुषके साथ रहती है, वह नारी कहलाती है। अर्थात् विशेष गृहस्थधर्मके नियमोंका पालन करनेका भाव इस शब्दसे सूचित होता है। (मंत्र १)

२ ऋत+प्रजाता—(ऋत) सत्यनियमानुकूल (प्रजाता) प्रजनन कर्मसे युक्त। अर्थात् गर्भ-धारण, गर्भ-पोषण और प्रसूति आदि सब कर्म जिसके सत्य धर्मनियमोंके अनुकूल होते हैं। ऋतुगामी होना, गर्भ धारणके पश्चात् तीन वर्षके उपरान्त अथवा बालक दूध पीना छोड दे तत्पश्चात् ऋतुगामी होना, इत्यादि सब नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री सुखसे प्रसूत होती है। (मंत्र १)

३ सूषा, सूषणा-जिस स्त्रीको प्रसूतिके कष्ट नहीं होते, अर्थात् जो सुखसे प्रसूत होती है। स्त्रियोंको योग्य नियमोंके पालन द्वारा यह गुण अपनेमें लाना चाहिये। (मंत्र ३)

४ विष्कला वीर स्त्री अर्थात् धैर्यवती स्त्री। स्त्रियोंको अपने अंदर धैर्य बढाना आवश्यक है। थोडेसे कष्ट होने लगे तो घबराना नहीं चाहिये। धैर्यसे उनको सहना चाहिये। (मंत्र ३)

गर्भवती स्त्रियोंको इन शब्दों द्वारा प्राप्त होनेवाला बोध अपने अंदर धारण करना उचित है, क्योंकि सुखप्रसूतिके लिये इन गुणोंकी आवश्यकता है।

गर्भ।

इस सूक्तमें गर्भका नाम " दश-मास्य " आया है। इसका अर्थ " दस मासकी आयुवाला " ऐसा है। यह शब्द परिपूर्ण

गर्भका समय बता रहा है। दसवें महिनेमें प्रसूतिका ठीक समय है। दसवें महिनेसे पूर्व जो प्रसूति होती है, वह गर्भकी अपक्क अवस्थामें होनेके कारण माताके कष्ट बढाती है। योग्य समयके पूर्व होनेवाले गर्भपात और गर्भस्राव ये सब माताके कष्ट बढानेवाले हैं और ये सब दुःख गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुषोंके नियमरहित वर्तावसे ही होते हैं। जो गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष योग्य नियमोंका पालन करते हैं, उनकी स्त्रियोंकी सुखसे प्रसूति होती है।

सुख-प्रसूतिके लिये आदेश ।

१ स्त्री परमेश्वरकी भक्ति करे। (मंत्र १)

२ अपने गर्भमें देवताओंका अंशावतार हुआ है ऐसा भाव मनमें धारण करे। (मंत्र २)

३ (सिस्रतां) दक्षतासे अपना व्यवहार करे। (मंत्र १)

४ प्रसूतिके समय (पर्वाणि विजिहतां) अपने अंगोंको ढीला करे। (मंत्र १)

५ (सूषा व्यूर्णोतु) सुखप्रसूति चाहनेवाली स्त्री अपने अंगोंको ढीला अथवा खुला करे अर्थात् सख्त न बनावे। (मंत्र ३)

६ (सूषणे ! त्वं अवय) सुख-प्रसूति चाहनेवाली स्त्री मनकी इच्छा-शक्तिसे भी अंदरसे प्रेरणा करे, तथा मनसे प्रसूतिके अंगोंको प्रेरित करे। यह प्रेरणा स्वयं उस स्त्री को ही अंदरसे करनी चाहिये। (मंत्र ३)

धाईकी सहायता ।

१ प्रसूतिके समय धाई की सहायता आवश्यक होती है। वह धाई भी प्रसूत होनेवाली स्त्रीको उक्त सूचनाएं देती रहे और धीरज देती रहे। " परमेश्वर तेरा सहायक है और सब देवही तुम्हारे गर्भमें हैं अतः उनकी भी सहायता तुम्हें है " इत्यादि वाक्योंसे उसका धीरज बढावे।

२ आवश्यकता होनेपर योनिस्थान उचित रीतिसे खुला करे। (मंत्र ३)

३ जेरीके अंदर गर्भ होता है। गर्भके साथ जेरी नाल आदि सब बाहर आजाय और कोई उसका पदार्थ माताके गर्भाशयमें न रह जाय इस विषयमें धाई दक्षतासे अपना कार्य करे। वह पदार्थ अंदर रहनेसे बहुतही दुःख होना संभव है। (मंत्र ४)

४ प्रसूतिके समय गर्भमार्ग, योनि और पिछले अवयव खुले करने चाहिये। उनको यथायोग्य रीतिसे खुले करे, ताकि प्रसूति सुखसे होवे। (मंत्र ५)

५ प्रसूति होतेही माताके पाससे पुत्रको अलग करके उसपरका जेरीका वेष्टन हटाकर जो आवश्यक कार्य करना हो वह सब योग्य रीतिसे करे। (मंत्र ५)

सूचना ।

यह विषय शारीरशास्त्रका है, केवल पांडित्यका नहीं है। इस सूक्तके शब्दोंका अर्थ भी शारीरशास्त्रके प्रसूति प्रकरणके अनुकूलही समझना उचित है। इसलिये जो वैद्य या डाक्तर हैं, जिन्होंने सुख-प्रसूति शास्त्रका विचार किया है, तथा जिन स्त्रियोंको इस शास्त्रके ज्ञानके साथ अच्छा अनुभव भी है, उनको इस सूक्तका अधिक विचार करना चाहिये। वेही इस सूक्तके " सिस्रतां, विजिहतां, व्यूर्णोतु " आदि शब्दोंको ठीक प्रकार समझते हैं और वेही इस सूक्तकी ठीक व्याख्या कर सकते हैं।

आशा है कि प्रसूति-शास्त्रके अभ्यासी इसका अभ्यास करेंगे और अधिक निर्दोष व्याख्या कर सकेंगे।

[इति द्वितीय अनुवाक समाप्त ।]

श्वासादि-रोग-निवारण-सूक्त ।

(१२).

[ऋषिः—भृग्वंगिराः । देवता—यक्ष्मनाशनम्]

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातंभ्रजा स्तनयंन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥
अङ्गे-अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥
मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥
शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे । शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वेऽमम ॥ ४ ॥

अर्थ- (वात+अभ्र+जाः) वायु और मेघसे उत्पन्न होकर (प्रथमः जरायु+जः) पहिला जेरीसे उत्पन्न होनेवाला (उस्रियः वृषा) तेजस्वी बलवान् सूर्य (वृष्ट्या स्तनयन्) वृष्टिके साथ गर्जता हुआ (एति) चलता है । (स ऋजुगः) वह सीधा चलनेवाला और (रुजन्) दोष दूर करनेवाला (नः तन्वे) हमारे शरीरको (मृडाति) सुख देता है । (यः) जो (एकं ओजः) एक सामर्थ्यको (त्रेधा) तीन प्रकारसे (विचक्रमे) प्रकाशित करता है ॥ १ ॥ (अंगे अंगे) प्रत्येक अवयवमें (शोचिषा शिश्रियाणं) अपने तेजसे आश्रय करनेवाले (त्वा) तुझको (नमस्यन्तः) नमन करते हुए (हविषा विधेम) अर्पण द्वारा पूजा करते हैं । (यः) जो (ग्रभीता) ग्रहण करनेवाला (अस्य पर्व) इसके जोड को (अग्रभीत्) ग्रहण करता है उसके (अंकान् समंकान्) चिन्होंको और मिले हुए चिन्होंको (हविषा विधेम) हवनके अर्पणसे पूजें ॥ २ ॥ (शीर्षक्त्याः) सिरदर्दसे (उत) और (यः कासः) जो खासी है उससे (एनं मुञ्च) इसको छुडा । तथा (अस्य) इसके (परुः परु) जोड जोडमें जो रोग (आविवेश) घुस गया है । उससे भी छुडा । (यः अभ्रजाः) जो मेघोंकी वृष्टिसे उत्पन्न हुआ है अथवा जो (वात+जाः) वायुसे उत्पन्न हुआ है तथा जो (शुष्मः) उष्णताके कारण उत्पन्न हुआ है, उसको दूर करनेके लिये (वनस्पतीन् पर्वतान् च) वृक्ष वनस्पति और पर्वतोंके साथ (सचतां) संबंध करें ॥ ३ ॥ (मे परस्मै गात्राय शं) मेरे श्रेष्ठ अवयवोंका कल्याण हो । (अवराय शं अस्तु) मेरे साधारण अवयवोंके लिये कल्याण हो । (मे चतुर्भ्यः अंगेभ्यः शं) मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य प्राप्त हो । (मम तन्वे शं अस्तु) मेरे शरीरके लिये सुख होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ-वायु और मेघसे प्रकट होकर मेघोंके आवरणसे प्रथम बाहर निकला हुआ तेजस्वी सूर्य वृष्टि और मेघगर्जनाके साथ आ रहा है । वह अपनी सीधी गतिसे दोषों अथवा रोगोंको दूर करता हुआ हमारे शरीरों की निरोगता बढाता है और हमें सुख देता है । वह सूर्यका एकही तेज तीन प्रकारसे कार्य करता है ॥ १ ॥ वह शरीरके प्रत्येक अंगमें अपने तेजके अंशसे रहता है, उसका महत्व जानकर, हम हवन द्वारा उसका सत्कार करते हैं । जो मनुष्यके हरएक जोडमें रहता है उसके प्रत्येक चिन्हका भी हवन द्वारा हम सत्कार करते हैं ॥२॥ इसकी सहायतासे सिरदर्द हटाओ, खासी हटाओ, जोडके अंदरकी पीडा को हटाओ । जो रोग मेघोंकी वृष्टिसे अर्थात् कफसे, वायुके प्रकोपसे अर्थात् वातसे और गर्मीके कारण अर्थात् पित्तसे होते हैं-उनको भी हटाओ । इसके लिये वनस्पतियों और पर्वतोंका सेवन करो ॥ ३ ॥ इससे मेरे उत्तम अंग साधारण अंग तथा मेरे चारों अंग अर्थात् मेरा सब शरीर नीरोग होवे ॥ ४ ॥

यह भावार्थ मंत्रोंके अर्थोंके अनुसंधानसे पाठक पढेंगे तो उनके ध्यानमें सूक्तका तात्पर्य आजायगा क्योंकि यह सूक्त सरल और सुगम ही है। तथापि पाठकोंके विशेष बोधके लिये यहा विशेष बातोंका स्पष्टीकरण किया जाता है। यह " तक्मनाशन गण " का सूक्त है अर्थात् रोगादिनाशक भाव इसमें है।

महत्त्वपूर्ण रूपक ।

सबसे पहले प्रथम मंत्रमें वर्णित महत्त्वपूर्ण रूपक विचार करनेयोग्य है। पूर्वसूक्तमें " (जरायुजः दशमास्यः पुत्रः) जेरीसे वेष्टित उत्पन्न होनेवाले दशमासतक गर्भमें रहनेवाले पुत्र" का वर्णन है। उसके साथ इस सूक्तका संबंध बतानेके लिये इस सूक्त के प्रारंभमें ही "जरायुजः प्रथमः" ये शब्द आगये हैं। यहा सुपुत्रका वर्णन बडे महत्त्वपूर्ण रूपकसे किया है। इस रूपकमें सूर्य ही " पुत्र " है सूर्यके पुत्र होनेका वर्णन वेदमें अनेक स्थानमें आगया है। यहाका यह वर्णन समझमें आनेके लिये कुछ निसर्गकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

बरसातके दिनोंमें जब कई दिन आकाश मेघोंसे आच्छादित होता है और सूर्यदर्शन नहीं होता, वृष्टि होती है, वायु चलता है, विजली चमकती है तब कभी कभी ऐसा होता है कि थोडा वायु चलनेसे बीचका आकाश मेघरहित हो जाता है और स्वच्छ सूर्य-मंडल दिखाई देता है। मानो यही पुत्र-दर्शन है। पुत्रजन्मके समय में भी प्रसूति होते ही गर्भ के उपर जेरीआदि का वेष्टन होत है, जलादि प्रवाह प्रसूतिके समय होते हैं, यह सब मानो सूर्यके वेष्टित मेघ और उनकी वृष्टि है। इस प्रकार इस उपमामें साम्य देख सकते हैं।

बहुत दिनोंतक मेघाच्छादित आकाशके पश्चात् जब सूर्य दर्शन होता है, हवा साफ हो जाती है तब मनुष्योंको अत्यंत आनंद होता है, मनुष्य प्रसन्नचित्तसे उत्सव मनाते हैं। इसी प्रकार जब गर्भिणी स्त्रीको पुत्र प्रसव होता है, उसपरकी जेरी अलग की जाती है, उसको स्वच्छ किया जाता है, तब उसका मुखरूपी सूर्य देखकर जो आनंद माताके हृदय में चमक उठता है उसका वर्णन क्या कभी शब्दोंसे होना सभव है ? माताका आनंद इन्हीं शब्दोंसे व्यक्त हो सकता है कि " यह पुत्र घरका सूर्य है, यह माताके हृदय की ज्योति है, यही माताकी आखोंका प्रकाश है। जिस प्रकार सूर्य अंधेरा हटाता है उसी प्रकार पुत्र घरको, कुलको और जातिको उज्वल बनाता है।" इस प्रकार बालक के मुखकी रोशनीका वर्णन माता अपने शब्दरहित भावोंसे ही कर सकती है। पाठक अपनी काव्यमय आख खोलकर ही इसको पढकर समझनेका यत्न करें। परंतु यहां नूतनोत्पन्न बालकका वर्णनही करना नहीं है, किंतु जीवनदाता सूर्यकाही वर्णन अर्थात् सूर्यके जीवन-पोषक रश्मि-रसायन का वर्णन करना है। वह करनेका प्रस्ताव इस प्रकार इस सूक्त के प्रारंभमे किया है। और इस प्रस्तावसे पूर्व सूक्त के साथ इस सूक्तका संबंध जोड दिया है।

प्रायः प्रसूतिके समय तथा पश्चात् स्त्रियोंमें अशक्तता आ जाती है और नाना रोगोंकी संभावना उत्पन्न होती है। इसलिये इस कष्टको दूर करना सुगमतासे किस रीतिसे साध्य होता है, यही बताना सूक्तका मुख्यतया विषय है। मानो इस मिषसे आरोग्य का विषय इस सूक्तमें प्रदर्शित किया है।

आरोग्यका दाता ।

सूर्य ही आरोग्यका दाता है यह बात इस सूक्तके प्रथम-मंत्रके उत्तरार्धमें स्पष्ट कही है

स नो मृडाति तन्वे ऋजुगो रुजन्। (मंत्र १)

"वह (सूर्य) हमारे शरीरोंको आरोग्य देता है, सीधा जानेवाला दोषोंको नाश करके, " इस मंत्र भागका स्पष्ट आशय यह है कि वह सूर्य दोषोंको दूर करता है और आरोग्य बढाता है। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि सूर्य प्रकाश जहां नहीं पहुंचता वहा ठीक आरोग्य रहना संभव ही नहीं है। इस आरोग्यके वैदिक नियम को ध्यानमें रखकर आप अपने घरोंका और प्रसूतिके कमरेका विचार कीजिये। आरोग्यदाता सूर्य-प्रकाश हमारे कमरोंमें कितना आता है? प्रसूतिके स्थानमें भी विपुल प्रकाश आना चाहिये, तभी माता और नूतन उत्पन्न बालक का उत्तम स्वास्थ्य रह सकता है। घरके कमरोंमें विपुल प्रकाश आता रहेगा तो घरवालोंका स्वास्थ्य ठीक रहेगा। इस प्रकार वेद कहता है कि सूर्य प्रकाश सबके स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है। पाठक अपने अपने व्यवहारमें इस ज्ञानका उपयोग करें।

प्रथम मंत्रका अंतिम कथन है कि।(एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे) अर्थात् एकही शक्ति तीन प्रकारसे प्रकाशित हो रही है। यह बात कई स्थानोंमें सत्य है। सूर्य का ही तेज द्युलोकमें सूर्य प्रकाशसे, अंतरिक्षमें विद्युत् रूपसे और भूलोकमें अग्निके रूपसे प्रकाशित हो रहा है। यही बात शरीरमें देखिये-मस्तिष्कमें मज्जारूपमें, हृदयमें पाचनशक्तिके रूपमें और सब शरीरमें उष्णताके रूपमें सूर्यका तेज प्रकाशता है और विविध कार्य करता है। आरोग्यका विचार करनेके समय इस बातका अवश्य विचार करना चाहिये। सूर्य प्रकाशसे इन तीनों शारीरिक स्थानोंमें योग्य परिणाम होकर शरीरका आरोग्य होता है, बुद्धिका तेज बढता है और सुखकी वृद्धि होती है। यह है

संक्षेपसे सूर्यका हमारे आरोग्यसे संबंध। पाठक विचार करें और अधिक ज्ञान प्राप्त करें।

इस रीतिसे प्रथम मंत्रमें आरोग्यका मूलमंत्र बताया है और उपमासे यह भी कहा है कि जिस प्रकार घरमें बालकरूपी सूर्यका उदय होता है उसी प्रकार विश्वमें दिवस्पुत्र सूर्यका उदय होता है। घर छोटा विश्व है तथा विश्वही बडा घर है। इसलिये इस घरके सूर्यका और विश्वके सूर्यका संबंध देखना चाहिये। आरोग्यके लिये तो इस घरके सूर्यका विश्वके साथ संबंध करना चाहिये अर्थात् जहांतक हो सके वहांतक बालक को घरमें बंद न रखते हुए विश्वसूर्यके खुले प्रकाशमें शनैः शनैः लानेका यत्न करना चाहिये, जिससे घरका सूर्य भी नीरोग और बलवान बन सके।

सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा।

आगे द्वितीय मंत्रमें कहा है कि (अंगे अंगे शोचिषा शिश्रियाणं) शरीरके प्रत्येक अंगमें तेजके अंशसे यह सूर्य रहता है, उनको (नमस्यन्तः)नमन करना चाहिये, अर्थात् उनका आदर करना चाहिये, सूर्यके तेजसे अपने तेजको बढाना चाहिये। जो लोग घरके अंधेरे कमरेमें अपने आपको बंद रखते हैं वे निस्तेज होते हैं, परंतु जो खुली हवामें घूमते हुए सूर्यप्रकाशसे अपना तेज बढाते हैं वे तेजस्वी होते जाते हैं।

शरीरके प्रत्येक (पर्व) जोडमें यह अंश रहता है, इस सूर्यके अंशने इस स्थानपर (ग्रभीता) अपना अधिकार जमाया है। हरएक अवयवमें इसके (अंकान्) चिन्होंको पहचानना चाहिये और (समंकान्) मिले जुले चिन्होंको भी पहचानना चाहिये। जैसा आंखमें तेजरूपसे सूर्यका निवास है, अन्य स्थानोंमें अन्य अंशोंसे है। यह सब जानना चाहिये। और जिस स्थानमें अनारोग्य या बीमारी हुई हो उस स्थानका आरोग्य सूर्य-प्रकाशका उचित रीतिसे प्रयोग करके प्राप्त करना चाहिये। सवेरेके मंद सूर्यके प्रकाशमें खुली आंखसे सूर्य बिंब देखते रहनेसे प्रायः नेत्ररोग दूर होजाते हैं। विशेष नेत्ररोगोंके लिये विशेष युक्तिसे सूर्य-किरणका प्रयोग करना चाहिये। विशेष अंगके लिये भी विशेष युक्तिसे ही सूर्यकिरणका प्रयोग करना होता है। साधारण आरोग्यके लिये वह विशेष अवयव सूर्यकिरणोंमें तपानेसे भी बहुतसा कार्य हो जाता है। इस युक्तिसे केवल सूर्य किरणचिकित्सासे बहुतसे रोग दूर करना संभव है। यदि सहन हो सके इतने उष्ण सूर्य प्रकाशमें नंगा शरीर कुछ देरतक तपाया जाय तो भी सर्वसाधारण शरीर की नीरोगता बढती है। शीतकालमें यह करना उत्तम है, परंतु गर्मीके दिनों और उष्ण देशोंमें विचारसे और युक्तिसे ही इसका प्रयोग करना चाहिये। नहीं तो आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य भी होगा इसलिये यह सब अभ्यास युक्तिसे ही बढाना चाहिये।

तृतीय मंत्रमें (शीर्षक्त्याः) सिरदर्द, (कासः) खांसी, (परुः) संधिस्थानके रोग उक्त प्रकार हटानेकी सूचना दी है। (वातजाः) वात, (शुष्मः) पित्त, (अभ्रजाः) कफके प्रकोपके कारण उत्पन्न हुए ये तथा अन्य रोग भी उसी युक्तिसे दूर करनेकी सूचना तृतीय मंत्रमें है। (पर्वतान् सचतां) तथा पर्वतों पर रहकर (वनस्पतीन् सचतां) उचित वनौषधियोंका सेवन करनेका भी उपदेश इसी मंत्रमें है। वनौषधियोंका सेवन दो प्रकारसे होता है, एक वृक्षादिकोंके नीचे रहना और दूसरा योग्य औषधियोंके रसादिका उपयोग करना। पर्वतोंके उच्च शिखरोंपर निवास और वृक्षोंके नीचे बैठना उठना बडा आरोग्यदायक है, यह बातें हमने कई रोगियोंपर युक्तिसे अजमाई हैं और हमारे अनुभवसे बडी लाभदायक सिद्ध हुई हैं। पाठक भी इससे लाभ उठावें।

चतुर्थ मंत्रमें सिर आदि उत्तमाग तथा पाव आदि अधराग-तात्पर्य सब शरीरका स्वास्थ्य-पूर्वोक्त रीतिसे प्राप्त करनेकी सूचना प्रार्थना मंत्रद्वारा दी है।

सर्वसाधारण उपाय।

इस सूक्तसे सर्व साधारणके लिये भी बडा बोध प्राप्त हो सकता है। मुख्य बात यह है कि जो नंगे शरीर सूर्यके किरणोंमें घूमते हैं अर्थात् अपने शरीरको सूर्यकिरणोंसे तपाते हैं उनको चर्म रोग, खासी, दमा तथा क्षय आदि रोग होतेही नहीं। ये सब रोग उनको होते हैं कि जो नंगे शरीरपर सूर्य-किरण नहीं लेते, अर्थात् सदा वस्त्रोंसे वेष्टित होकर तंग मकानोंमें बैठते हैं। जो इससे बोध लेंगे वे इस सूक्तसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। वेदमें इसीलिये घरका नामही " क्षय " आता है। यदि पाठक अपने घरको " क्षय " का कारण समझेंगे तो वे उससे बाहर अधिक देरतक रहेंगे और सूर्यकिरणसे मिलनेवाला आरोग्य प्राप्त कर सकेंगे।

अन्तर्यामी ईश्वरको नमन।

(१३)

[ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता-विद्युत्]

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे । नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥१॥
नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि । मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२॥
प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥
यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

अर्थ--(विद्युते ते)विशेष प्रकाशमान तुझको (नमः) नमस्कार (अस्तु)होवे । (स्तनयित्नवे ते नमः) गडगडानेवाले तुझको नमस्कार होवे । (अश्मने ते नम. अस्तु) ओले रूप तुझको नमस्कार होवे । (येन) जिससे तू (दूडाशे अस्यसि) दुःखदायीको दूर फेंकता है ॥ १ ॥ हे (प्रवतः नपात्) उच्चतासे न गिरानेवाले! (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार होवे । (यतः)क्यों कि तू (तपः समूहसि) तपको इकट्ठा करता है । (नः तनूभ्यः मृडय) हमारे शरीरोंको सुख दे और (तोकेभ्यः मयः कृधि) बच्चोंके लिये सुख प्रदान कर ॥२॥ हे (प्रवतः नपात्) उच्चतासे न गिरानेवाले! (तुभ्यं एव नमः अस्तु) तुम्हारे लिये ही नमस्कार होवे । (ते हेतये तपुषे च नमः कृण्मः) तेरे वज्र और तेजके लिये नमस्कार करते हैं। (यत् ते धाम)जो तेरा स्थान (परमं गुहा) परम गुहा अर्थात् हृदयरूपी गुहामें है वह हम (विद्म) जानते हैं । उस (समुद्रे अंतः) समुद्रके अंदर (नाभिः निहिता असि) तू नाभिरूप रहा है ॥ ३॥ हे (देवि, देवी ! (असनाय) शत्रुपर फेंकनेके लिये (धृष्णुं इषुं कृण्वानाः) बलवान सुदृढ बाण करनेवाले (विश्वे देवाः) सब देव (यां त्वा) जिस तुझको (असृजन्त) प्रकट करते हैं, (तस्यै ते नमः अस्तु) उस तेरे लिये नमस्कार होवे । (सा) वह तू (विदथे गृणाना) युद्धमें प्रशंसित होनेवाली (नः मृड) हमें सुख दे ॥ ४॥

भावार्थ- हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजली आदिमें अपना तेज प्रकट करती है, मेघोंमें गर्जना कराती है और अपनी शक्तिसे ओले भी बरसाती है, इन सब बातोंसे तू हमारे सब दुःखोंको दूर करती है, इसलिये तुझे हम सब प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! तू तपोमय जीवनको हमारे अंदर इकट्ठा करती है अर्थात् हमारेमें तपःशक्ति बढाती है, उस तपसे हमें तथा हमारी संतानोंको सुखी कर, तेरे लिये प्रणाम करते हैं ॥२॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! हम जानते हैं कि तेरा स्थान हृदयरूपी श्रेष्ठ गुफामें है, वहांके समुद्रके अंदर तू मध्य आधाररूप होकर रहती है, इसलिये तेरा तेज और तेरे दुष्ट विघातक शस्त्रास्त्र अथवा तेरी शक्तिके सन्मुख हम सिर झुकाते हैं ॥३॥ हे देवी ईश्वरी ! शत्रुको दूर करनेके लिये शस्त्रास्त्र बनानेवाले सब विजयेच्छु लोग सदा तेरी भक्ति करते हैं इस कारण युद्धोंमें प्रशंसित होनेवाली तू हमें सुख दे । हम सब तुझे प्रणाम करते हैं ॥४॥

सूक्त की देवता।

इस सूक्तकी देवता " विद्युत् " है । यद्यपि विद्युत्का अर्थ बिजली है, और इस सूक्तका प्रारंभ मेघस्थानीय विद्युतके वर्णन से ही हुआ है, तथापि विद्युत् का वर्णन करना मुख्य उद्देश्य इस सूक्तमें नहीं है । जिस प्रकार अन्यान्य सूक्तोंमें अग्नि आदि देवताओंके मिषसे परमात्माका वर्णन होता है, उसी प्रकार विद्युत् रूप की देवताके मिषसे ईश्वरका, जगन्माता, आदिमाता

देवोंके रूपमें, परमात्माका ही वर्णन यहां हुआ है, इस बातको स्पष्ट व्यक्त करनेवाले इसी सूक्तके निम्न मंत्रभाग यहां देखने-योग्य हैं

१ "प्रवतः न-पात्" —"प्रवत्" शब्दका अर्थ उच्च स्थान है। उच्च अवस्था, उच्चता आदि भाव इस शब्दसे प्रकट होते हैं। उच्चतासे न गिरानेवाला यह "प्रवतो न-पात्"का भावार्थ है। परमात्मा ही मनुष्यमात्रको उच्च अवस्थामें रखनेवाला और वहांसे न गिरानेवाला है। (मंत्र २, ३)

२ 'ते परमं धाम गुहा" —तेरा परम धाम हृदय की गुफामें है। हृदयमें आत्माका निवास है, वही उसका परम पवित्र निवास-स्थान है. यह उपनिषदादिमें अनेक बार आगया है।

३ " समुद्रे अन्तः नाभिः निहिताऽसि । " —उसी समुद्रमें मध्यभाग तू है। हृदय गुफामें मानस सरोवर है, समुद्र है, विचारोंका अथवा भावनाओंका महासागर है। उसकी नाभी उसका आधार स्थान, वही आत्मा है। क्योंकि इस समुद्रकी सब लहरें उसकी ही प्रेरणासे अथवा शक्तिसे उठती हैं और उसीकी भक्तिसे इस समुद्रमें शांति स्थापित होती है।

४ " यां त्वा देवा असृजन्त विश्वे । " — जिस तुझको सब देव प्रकट करते हैं। आत्माका देवोंद्वारा प्रकाशित होना वेदमें अनंत स्थानोंमें स्पष्ट हुआ है। शरीरमें नेत्रादि सब इंद्रियोंद्वारा आत्माका प्रकाशन हो रहा है। यदि नेत्रादि इंद्रियाँ न हों, तो आत्माका अस्तित्व भी ज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार सब इंद्रियादि देव शरीरमें आत्माको प्रकट करते हैं। विश्वमें सूर्यचंद्रादि देव परमात्माकी महिमा प्रकट कर रहे हैं। मनुष्य समाजमें सब विद्वान् परमेश्वरकी प्रशंसा कह रहे हैं। इस प्रकार सर्वत्र देवोंद्वारा आत्मा प्रकाशित होता है।

५ " विदथे गृणाना । " युद्धके समय इसकी भक्ति की जाती है। मनुष्य संकटमें पडनेपर उसकी सहायताके लिये प्रार्थना करता है। थोडे सज्जनोंको छोड दिया जाय तो प्रायः साधारण मनुष्य संकट समयमेंही ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं। मनुष्यपर संकट न आजाय, तो वह ईश्वरकी पर्वाह भी नहीं करेगा। युद्धमें सच्ची भक्ति होती है। मुख्य युद्ध जीवन-युद्ध है। मनुष्य युद्ध करकेही जीवित रहता है। विरोधीशक्तिसे सामना करना युद्ध है।

इन सब मंत्रभागोंका वर्णन देखनेसे पता लगता है, कि इस सूक्तको परमात्माकी तैजस शक्तिकाही मुख्यतया वर्णन करना है। और वह वर्णन स्त्रीरूप देवोंके वर्णनद्वारा यहां किया है।

जिस प्रकार मनुष्यका नेत्र देखता है, परंतु अपनी शक्तिसे वह देख नहीं सकता, किंतु हृदयस्थानीय आत्माकी शक्तिसे ही देख सकता है; इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियाँ आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर ही अपना कार्य करती हैं। जैसी यह बात शरीरमें है, उसी प्रकार जगत्की सूर्यादि देवताएँ तेज फैलाना आदि कार्य अपनी शक्तिसे नहीं कर सकतीं। विश्वव्यापी परमात्माकी शक्ति लेकर ही सूर्य प्रकाशता, विद्युत् चमकती और वायु बहता है। इसलिये सूर्यप्रकाशसे, विद्युत्की चमकाहटसे अथवा वायुके वेगसे न केवल इन देवताओंकी शक्तियां प्रकट हो रही हैं, परंतु परमात्माकी ही विविध शक्तियां प्रकट हो रही हैं। यह भाव ध्यानमें रखकर यदि पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे, तो उनको इस सूक्तमें विद्युत्की चमकाहटसे परमात्माका तेज फैल रहा है यही भाव विदित होगा। इसी रीतिसे इस सूक्तका विचार करना चाहिये।

प्रथम मंत्रमें विद्युत्की चमकाहट, मेघोंकी प्रचंड गर्जना, मेघोंसे बर्फकी वृष्टि अथवा जलकी वृष्टि आदिद्वारा परमात्माका प्रचंड कार्य देखना उचित है। इसीसे परमात्मा प्राणिमात्रके दुःख दूर करता है। वृष्टिसे अन्न और जल प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंके अनंत क्लेश दूर हो रहे हैं। यही परमात्माकी कृपा है।

तपका महत्त्व।

द्वितीय मंत्रमें तपका महत्त्व वर्णन किया है। तप अपने हरएक शक्तिसे किया जाता है, वाणीका तप, मनका तप, शरीरका तप, ब्रह्मचर्यका तप, हरएक इन्द्रियका तप आदि अनेक तप मनुष्यको करने चाहियें। इन सब तपोंका जितना बडा (तपः समूहसि) समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्यको प्राप्त होगा। अर्थात् तपके जीवनपर मनुष्यका महत्त्व अवलंबित है।

जिस कारण तपके प्रभावसे मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तपके प्रभावसे ही मनुष्य नहीं गिरता। इसीलिये इस द्वितीय मंत्रमें उच्चतासे न गिरनेका हेतु तपका प्रभाव (प्रवतः न-पात्, यत् तपः समूहसि) कहा है। यहां पाठक इनका परस्पर संबंध देखें और गिरावटसे बचनेका कारण जान अपने आपको गिरावटसे बचावें। जो स्वयं अपने आपको गिरावटसे बचा सकता है, वह दूसरोंको सुखी कर सकता है।

परमधाम।

तृतीय मन्त्रमें परमेश्वरके परम धामका पता दिया है। परमेश्वरका परम धाम हरएक के हृदयमें है, विशेषतः भक्तके हृदयमें ही है। परमेश्वरके भक्त ही उस धामको जानते है और वर्णन करते हैं। कौन दूसरा उसको जान सकता है और वर्णन कर सकता है? यही स्थान जानना और इसीका अनुभव लेना मनुष्यका साध्य है।

मनुष्य समुद्रके अंदर गिर पडा है, इस समुद्र की लहरें बडी भारी लहरा रहीं है, प्रचंड वायु चल रहा है, धुवांधार मेघ बरस रहे हैं, बिजलियां चकमका रहीं हैं, और यह मनुष्य ऐसे प्रक्षुब्ध समुद्रमें सहायताके लिये पुकार रहा है। उसका ख्याल है, कि सहायता बाहरसे आनेवाली है। यही मनुष्यका भ्रम है, यही अज्ञान है और यही कमजोरी है।

यह तृतीय मंत्र स्पष्ट शब्दोंसे कह रहा है, कि उस प्रक्षुब्ध समुद्रका केन्द्र वही परमात्मा है और वह भक्तके हृदयमें विराजता है। हे भक्त! यदि तू सचमुच उसकी सहायताके लिये पुकार रहा है तो अपने हृदयमेंही उसे ढूंढनेका यत्न कर, वही उसका परम धाम है। और वहाही वह अपने वेभवसे प्रकाश रहा है।

पाठको! आप यह ध्यानमें रखिये कि आपमेंसे हरएक के हृदयमें वह आत्मज्योति है। वही सब उन्नति की सहायक शक्ति है। आप उसे पकड लीजिये, तो आपकी उन्नति निःसंदेह हो जायगी। सब जगत् अंदरसे बढ रहा है, बाहरसे नहीं। आपकी उन्नतिका भी यही नियम है।

युद्धमें सहायता।

युद्धके समय, शत्रुका हमला होनेके प्रसंगमें, डरके समयमें इस परमात्माकी सहायता सब चाहते हैं। मरण, दुःख आदिके कारण मनुष्य परमात्माकी खोज करते हैं। इसीलिये बडे सत्पुरुष दुःखको स्वीकारते हैं और अन्योंको सुख देते हैं। यही दुःखका महत्त्व है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है, कि " सब देव उसको प्रकट करते हैं। " इसीका स्पष्टीकरण इससे पूर्व किया जा चुका है। "युद्धमें उसकी प्रशंसा या स्तुति प्रार्थना होती है" इसका भी कारण स्पष्टतापूर्वक हमने देखा है। यह सब इसलिये करते हैं कि " शत्रुको दूर भगानेके लिये प्रबल शक्ति प्राप्त हो। " जो परमात्माके सच्चे भक्त होते हैं, या तो उनके सन्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता, अथवा जो उनकी शत्रुता करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है। अर्थात् परमेश्वर भक्तिही एक बडी भारी शक्ति है, जो संपूर्ण शत्रुओंका नाश कर सकती है।

नमन।

इस चार मंत्रोंके सूक्तमें परमेश्वरको सात बार नमन किया है, अर्थात् यहांका अनेक बारका नमन सिद्ध कर रहा है, कि परमेश्वरकी सार्वभौम सत्ताके सामने सिर झुकाना, उसको सर्वत्र उपस्थित समझना, उसीको सर्वतोपरि समझना मनुष्यकी उन्नतिके लिये अत्यावश्यक है। उसको छोडकर किसी दूसरेको नमन न करनेके संबंधमें " तुभ्यं एव नमोऽस्तु " (मंत्र ३) यह मंत्रभाग देखने योग्य है। "मैं तुझे ही नमन करता हूं।" तेरेसे भिन्न किसी अन्यकी उपासना मैं नहीं करता, हे ईश्वर! तेरे सामने ही मैं सिर झुकाता हूं। मुझे अनुगृहीत कर और कृतार्थ कर। इस सूक्तमें सर्वोत्कृष्ट उपासना कही है, पाठक इसका उपयोग उपासनाके समय कर सकते हैं।

कुलवधू-सूक्त

[ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता-यमः]

(१४)

भग॑मस्या॒ वर्च॒ आदि॒ष्यधि॑ वृ॒क्षादि॑व॒ स्रज॑म्। म॒हाबु॑ध्न इव॒ पर्व॑तो॒ ज्योक् पि॒तृष्वा॑स्ताम् ॥१॥

ए॒षा ते॑ राजन्क॒न्या॑ व॒धूर्नि धू॑यतां यम। सा मा॒तुर्ब॑ध्यतां गृ॒हेऽथो॒ भ्रातु॒रथो॑ पि॒तुः ॥२॥

ए॒षा ते॑ कुल॒पा रा॑जन्तामु॑ ते॒ परि॑ दद्मसि। ज्योक् पि॒तृष्वा॑साता॒ आ शी॒र्ष्णः स॒मोप्या॑त् ॥३॥

असि॑तस्य ते॒ ब्रह्म॑णा क॒श्यप॑स्य॒ गय॑स्य च। अ॒न्तःको॒शमि॑व जा॒मयोऽपि॑ नह्यामि ते॒ भग॑म् ॥४॥

अर्थ—(वृक्षात् अधि स्रजं इव) वृक्षसे जिस प्रकार फूलोंकी माला लेते हैं, उस प्रकार (अस्याः भगं वर्चः आदिषि) इस कन्याका ऐश्वर्य और तेज मैं स्वीकारता हूं। (महाबुध्न: पर्वतः इव) बडे जडवाले पर्वतके समान स्थिरतासे यह कन्या (पितृषु ज्योक् आस्तां) मातापिताके घर बहुत समयतक रहे ॥ १ ॥ हे (यम राजन्) नियमपालन करनेवाले स्वामिन् ! (एषा कन्या) यह कन्या (ते वधूः) तेरी वधू होकर (निधूयतां) व्यवहार करे। (अथो) अथवा (सा) वह माताके, भाईके (अथो) किंवा पिताके (गृहे वध्यताम्) घरमें रहे ॥ २ ॥ हे (राजन्) हे स्वामिन् ! (एषा) यह कन्या (ते कुल–पा) तेरे कुलका पालन करनेवाली है। (तां) उसको (उ ते परिदद्मसि) तेरे लिये देते हैं। यह (ज्योक्) उस समयतक (पितृषु आसातै) मातापिताके घरमें निवास करे (आ शीर्ष्णः समोप्यात्) जबतक सिर न सजाया जावे ॥ ३ ॥ (असितस्य) बंधन रहित, (कश्यपस्य) द्रष्टा (च) और (गयस्य) प्राण साधन करनेवाले (ते) तेरे (ब्रह्मणा) ज्ञानके साथ मैं [ते भगं अपि नह्यामि] तेरे ऐश्वर्यको बांधता हूं, [जामयः अंतः कोशं इव] स्त्रियां अपनी पिटारीको जैसे बांधती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ [१] वृक्षमे फूल और पत्ते निकाल कर जैसी माला बनाकर लोग पहनते हैं उसी प्रकार इस कन्याका सौंदर्य और तेज मैं स्वीकारता हूं और उससे अपने आपको सजाना चाहता हूं। जिस प्रकार बडी जडवाला पर्वत अपने ही आधारपर स्थिर रहता है; उस प्रकार कन्या भी अपने मातापिताओंके घरमें निडर होकर देरतक सुरक्षित रहे ॥ १ ॥ [२] हे नियमपालक पति ! यह हमारी कन्या तेरी वधू होकर नियमपूर्वक व्यवहार करे। जिस समय वह आपके घर न रहेगी उस समय वह पिता, माता अथवा भाईके घर रहे, परंतु किसी अन्यके घर जाकर न रहे ॥ २ ॥ हे पति ! यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसको तेरे लिये हम समर्पण करते हैं। जबतक इसका सिर सजाने का समय न आवे तबतक यह मातापिताके घरमें रहे ॥ ३ ॥ बंधनरहित, द्रष्टा और प्राणोंको स्वाधीन करनेवाले तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके भाग्यका संबंध मैं करता हूं। जिस प्रकार स्त्रियाँ अपने जेवर संदूकमें बंद रखती हैं, उस प्रकार इसका भाग्य सुरक्षित रहे ॥ ४ ॥

पहला प्रस्ताव।

इस सूक्तमें चार मंत्र हैं। पहले मंत्रमें भावी पतिका प्रस्तावरूप भाषण है। पति कन्याके रूपको और तेजको पसंद करता है और उस तेजका स्वीकार करना चाहता है। इस विषयमें मंत्रका रूपक अतिस्पष्ट है—

"वृक्षवनस्पतियोंसे पत्ते फूल और मंजरियां लेकर लोग माला बनाते हैं, और उस मालाको गलेमें धारण करते हैं। इस प्रकार यह कन्या सुगंधित फूलोंवाली वल्ली है, इसके फूल और पत्ते (मुखकमल और हस्तपल्लव) अथवा इसका सौंदर्य और तेज मैं लेता हूं और उससे मैं सुशोभित होना चाहता हूं। अर्थात् मैं इस कन्याके साथ गृहस्थाश्रम करनेकी इच्छा करता हूं। जैसा पर्वत अपने विशाल आधारपर रहता है, उस प्रकार यह कन्या अपने मातापिताओंके सुदृढ आधार-पर रहे। अर्थात् मातापिताओंसे सुशिक्षा पाकर यह कन्या सुयोग्य बने और पश्चात् मेरे (पतिके) घर आजावे।"

यह भाव प्रथम मंत्रका है। इसमें भावी पतिका प्रथम प्रस्ताव है। भावी पति कन्याका सौंदर्य और तेज पसंद करता है और उसके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट करता है। अर्थात् भावी पति कन्याकी प्रार्थना उसके माता पिताके पास करता है। और साथ यह भी कहता है कि, कन्या कुछ समयतक माता-पिताके घर ही रहे अर्थात् योग्य समय आनेतक कन्या माता-पिताके घर रहे, तत्पश्चात् पतिके घर आवे। योग्य समय की मर्यादा आगे तृतीय मंत्रमें कही जायगी।

इस मंत्रके विचारसे पता लगता है कि, पुरुष अपनी सहधर्मचारिणी को पसंद करता है। पुरुष अपनी रुचि के अनुसार कन्याको चुनता है और अपना मानस कन्याके मातापिताओंसे निवेदन करता है। कन्याके मातापिता इस प्रस्ताव का विचार करते हैं और भावी पतिको योग्य उत्तर देते हैं।

इस सूक्तसे यह स्पष्ट नहीं होता है, कि कन्याको भी अपने पतिके विषयमें पसंदगी नापसंदगीका विचार प्रदर्शित करने का अधिकार है वा नहीं। प्रस्ताव होनेपर भी कन्याका मातापिताके घरमें देरतक वास्तव्य [पितृषु कन्या ज्योक् आस्तां] बता रहा है कि, यह प्रस्ताव कन्याके रजोदर्शन के पूर्व ही, अथवा उपवर होनेके पूर्व ही होना है। आज-कल जिसको "मंगनी" कहते हैं, उसके समान ही यह बात दीखती है। इस सूक्तमें कन्याका एक भी भाषण नहीं है,

परन्तु भावी पति और कन्याके मातापिता या पालकोंका ही भाषण है। इससे अनुमान होता है कि, कन्याको उतना अधिकार नहीं है, कि जितना पतिको है।

तीसरे मंत्रमें कन्याके पालक कहते हैं कि, हम [ते सां परि दद्मसि] तेरेलिये इस कन्याको समर्पण करते हैं।" यह मंत्रभाग स्पष्ट बता रहा है कि, कन्या इस विषयमें परतंत्र है। मंत्रमें दो बार आया है कि "कन्या पिता माता अथवा भाईके घरमें रहे" अथवा आगे जाकर हम कह सकते हैं कि, विवाह होनेपर वह पतिके घर रहे। परन्तु वह कभी स्वतन्त्रतासे न रहे।

जिस प्रकार वृक्षका आधार उसकी जड है, अथवा पर्वतका आधार उसकी अति विस्तृत बुनियाद है, उसी प्रकार कन्याका पहला आधार मात पिता अथवा भाई है, और पश्चात्का आधार पति ही है। इससे भिन्न किसी अन्यका आधार स्त्रीको लेना उचित नहीं है।

प्रस्तावका अनुमोदन।

प्रथम मंत्रमें कथित भावी पतिका प्रस्ताव सुननेके पश्चात् कन्याके माता पिता विचार करके भावी पतिसे कहते हैं; कि—

"हे नियमसे चलनेवाले स्वामिन्! यह कन्या तेरे साथ नियमपूर्वक व्यवहार करे। तबतक यह माता पिता अथवा भाईके घरमें रहे॥ हे स्वामिन्! यह कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये हम तेरे लिये इसका प्रदान करते हैं। यह तबतक मातापिताके घर रहे, जबतक इसके सिर सजानेका समय आजाय॥ तू बंधनरहित, द्रष्टा और प्राणशक्तिसे युक्त है, इसलिये तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके भाग्यका सम्बन्ध हम जोड देते हैं। जैसी स्त्रियां अपने जेवर संदूकमें बंद रखती हैं उस प्रकार इसके साथ तेरा भाग्य सुरक्षित रखता हूं।"

यह तीनों मंत्रोंका तात्पर्य है, यह बहुतही विचार करने-योग्य है। पाठक इसका बहुत विचार करें। यहां उनकी सुविधाके लिये कुछ विचार किया जाता है—

वरकी परीक्षा।

इस सूक्तमें पतिके गुण धर्म बताये हैं जो यहां प्रथम देखने योग्य हैं—

१ यमः= यमनियमोंका पालन करनेवाला, धर्मनियमोंके अनुकूल अपना आचरण रखनेवाला।

२ राजन्=राजा (रञ्जयति।) अपनी धर्मपत्नीका रंजन करने-वाला। (यहां पत्नी के विषयका अर्थ होनेसे 'राजन्' शब्दका अर्थ यह लेना योग्य है।) राजा शब्दका अर्थ "प्रकृतिका रंजन करनेवाला।" गृहस्थधर्ममें धर्मपत्नी पुरुष की प्रकृतिही है। उस धर्मपत्नीका संतोष बढानेवाला।

३ असितः— (अ-सितः अबद्धः) बंधनरहित। अर्थात् जिसका मन स्वतंत्रताका चाहनेवाला है। गुलामीके भाव जिसके मनमें नहीं हैं।

४ कश्यपः- (पश्यकः) देखनेवाला। अपनी परिस्थितिको उत्तम रीतिसे जाननेवाला और अपने कर्तव्यको ठीक प्रकार समझनेवाला।

५ गयः— (प्राणबलयुक्तः) प्राणायामादि योगसाधनद्वारा जिसने अपने प्राणोंका बल बढाया है।

६ ब्रह्मणा युक्तः— ज्ञानसे युक्त। ज्ञानी।

ये छः शब्द इस सूक्तमें पतिके गुणधर्म बता रहे हैं।

पतिके गुणधर्म।

धर्मनियमोंके अनुकूल आचरण करना, धर्मपत्नीको संतुष्ट रखना, स्वाधीनताके लिये यत्न करना, अपनी पारिस्थितिको ठीक प्रकार जानना, योगादि साधनद्वारा अपनी दीर्घ आयु नीरोगता तथा सुदृढताका संपादन करना, तथा ज्ञान बढाना, ये गुण पतिकी योग्यता प्रदर्शित कर रहे हैं।

यहां स्त्रीको संतुष्ट रखना धर्मानुकूल चलनेसे जितना हो सकता है उतनाही कहा है, क्योंकि "यम राजन्" ये दो शब्द मंत्रमें इकट्ठे प्रयुक्त हुए हैं।

अपनी कन्या के लिये वर ढूंढना हो तो उक्त छः गुणोंकी कसौटीसे ही ढूंढना तथा पसंद करना चाहिये। जिसका आचरण धर्मानुकूल हो, जो धर्मपत्नीके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेवाला हो, जो स्वाधीनताके लिये प्रयत्नशील हो, जो अपनी अवस्थाको जाननेवाला और तदनुकूल कार्य व्यवहार करनेवाला हो, जो बलवान तथा नीरोग हो और स्वास्थ्य रक्षा कर सकता हो, तथा जो ज्ञानवान और प्रबुद्ध हो, तो उस वरको अपनी कन्या प्रदान करना योग्य है।

तथा जो धर्मानुकूल आचरण नहीं करता, जो किसीके साथ प्रेममय आचरण नहीं करता, जो पराधीनतामें रहता है, जो अपनी अवस्थाके प्रतिकूल आचरण करता है, तथा जो निर्बल और रोगी हो, तथा जो ज्ञानी न हो, उसको किसी भी अवस्थामें अपनी कन्याके लिये वर रूपमें पसंद नहीं करना चाहिये।

पाठक वर परीक्षाके विषयमें इन बातोंका ध्यान रखें। अब वधू परीक्षा करनेके नियम देखिये—

वधू-परीक्षा।

इस सूक्तमें वधूपरीक्षाके निम्नलिखित मंत्र भाग हैं—

१ कन्या— [कमनीया] कन्या ऐसी हो, कि जिसको देखनेसे मनमें प्रेम उत्पन्न हो। रूप तेज, अवयवोंकी सुंदरता, स्वच्छता, ज्ञान आदि सब बातें, जिससे देखनेवालेके मनमें प्रेम उत्पन्न होता हो, इस शब्दसे ज्ञात हो जाती हैं।

२ वधू— [उह्यते पतिगृहं] जो पतिके घर जाकर रहना पसंद करती है। जो पतिके घरको ही अपना सच्चा घर मानती है।

३ कुलपा-कुलका पालन करनेवाली। पिताके तथा पति के कुलोंकी मर्यादाओंका पालन करनेवाली। जो अपने सदाचारसे दोनों कुलोंका यश बढाती है।

४ ते [पत्युः] भगम् —धर्मपत्नी ऐसी होनी चाहिये, कि जो पतिका भाग्य बढावे। जिससे पतिको धन्यता अनुभव हो।

५ पितृषु आस्ताम्- विवाहके पूर्व अथवा आपत्कालमें मातापिता अथवा भाई इनके घरमें रहनेवाली और विवाहके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली। किसी अन्यके घर जाकर रहनेकी इच्छा न करनेवाली कन्या होनी चाहिये।

६ वृक्षात् स्रक्-वृक्षसे पुष्पमालाके समान कन्या हो, पिताके कुलरूपी वृक्षको पुष्पमालारूप कन्या सुगंधित करे।

ये छः मंत्रभाग कन्याकी परीक्षा करनेके नियम बता रहे हैं। पाठक इनका उत्तम विचार करें और इन उपदेशोंके अनुकूल कन्याकी परीक्षा करें।

कन्याके गुणधर्म।

कन्या सुरूप तथा तेजस्विनी हो, पतिके घर प्रेमपूर्वक रहनेवाली हो, दोनों कुलोंका यश अपने सदाचरणसे बढानेवाली हो, पतिका भाग्य बढानेवाली, यौवनके पूर्व पिताके घरमें तथा यौवन प्राप्त होनेके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली, तथा पुष्पमालाके समान अपने कुलकी शोभा बढानेवाली हो। इस प्रकारकी जो सुलक्षणी कन्या हो उसकोही पसंद करना योग्य है।

परंतु जो फीकी, निस्तेज, दुर्मुखी, पतिके घर जानेकी इच्छा न करनेवाली, दुराचारिणी, पतिके भाग्यको घटानेवाली, तथा दोषयुक्त हो, वह कन्या विवाहके लिये योग्य नहीं है।

मंगनीका समय।

इस सूक्तसे विवाहके समयका ठीक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसका ज्ञापक कोई प्रमाण यहां नहीं है॥ 'कन्या सिर सजानेके समयके पूर्व माताके घर देरतक रहे" इस तृतीय मंत्रके कथनसे मंगनीका समय ऋतुप्राप्त होनेके पूर्व कुछ वर्ष-अधिकसे अधिक एक दो वर्ष-होना संभव है। तथापि वधूपरीक्षाके जो छः लक्षण ऊपर बताये हैं, वे लक्षण स्पष्टतया व्यक्त होनेके लिये प्रौढ दशाकी प्राप्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। "पतिके घर जानेकी कल्पना" जिस अवस्थामें कन्याके मनमें आती है वह अवस्था मंगनीकी प्रतीत होती है। ये छः शब्द अच्छी, प्रौढ, प्रबुद्ध, करीब उपवर, कन्याकी अवस्था बता रहे हैं। पाठक सब शब्दोंका विचार अच्छी प्रकार करेंगे, तो उनको कन्या की किस आयुमें मंगनी होनी चाहिये इस विषयका निश्चय हो सकता है।

भावी पति मंगनी करे और कन्याके माता पिता पूर्वोक्त लक्षणोंका खूब विचार करके भावी पतिके प्रस्तावका स्वीकार या अस्वीकार करें। इस सूक्तमें वरके मातापिताको तथा कन्याको अपना मत देनेका अधिकार है ऐसा माननेके लिये एक भी प्रमाण नहीं है। यह बात यदि किसी अन्य सूक्तमें आगे मिल जायगी, तो उस समय कही जायगी।

सिरकी सजावट।

तृतीय मंत्रमें कहा है "ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात्।" (देरतक मातापिताके घरमें कन्या रहे, जबतक सिर सजानेका समय आजावे।) यहां एक बात कहना आवश्यक है, कि जिस समय स्त्री ऋतुमती होती है, उस समय उसको "पुष्पवती" कहते हैं। पुष्पवतीका अर्थ फूलोंसे अपने आपको सजाने योग्य। प्रथम रजोदर्शन, प्रथम ऋतु प्राप्ति अथवा प्रथम पुष्पवती होते ही उसको फूलोंद्वारा सजानेकी प्रथा विशेषतः उसका सिर फूलोंसे सजानेकी प्रथा भारतवर्षमें इस समय में भी है। मैसूर और मद्रासकी ओर तो पहले गर्भाधानके प्रसंगके लिये सैकडों रुपयोंके फूल इस पुष्पवती स्त्रीकी सजावट के लिये लाये जाते हैं। मुंबईमें भी कई जातियोंमें यह प्रथा है। अन्य जातियोंमें कम है, परंतु सिरमें फूल पहननेका रिवाज इस ऋतुप्राप्तिके समयके लिये विशेष है। यह रिवाज प्रतिदिन कम हो रहा है। एक धनाभावका कारण और दूसरा उत्साहके अभाव के कारण यह रिवाज न्यून हो रहा है।

धनी लोग इस प्रसंगके लिये सोने और रत्नोंके भी फूल बनाते है और पुष्पवती स्त्रीके चतुर्थ दिनमें उसका सिर बहुत सजाते हैं । जिन प्रांतोंमें घूंगट निकालनेका रिवाज है, उन प्रांतोंमें यह रिवाज कम है ऐसा हमारा ख्याल है, परंतु सच्ची बात वहा के लोग ही जान सकते हैं । इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि घूंगटकी प्रथा अवैदिक कारणोंसे हमारे समाजमें घुस गई है।

मंगनीके पश्चात् विवाह ।

इस सूक्तके देखनेमे ऐसा प्रतीत होता है कि, मंगनीके पश्चात् विवाह का समय बहुत दूर का नहीं है । प्रथम मंत्रमें वरसे पहला प्रस्ताव अर्थात् मंगनीका प्रस्ताव हुआ है । और द्वितीय तथा तृतीय मत्रमें ही कन्याके अर्पण का विषय आगया है। देखिये--

१ एषा कन्या ते वधूः निधूयताम्=यह हमारी कन्या तेरी पत्नी बनकर निःशेष व्यवहार करे । तथा--

२ एषा [कन्या] ते कुलपा, तां उ ते परिदद्मसि=- यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये उसको तेरे लिये हम प्रदान करते हैं ।

३ ते भगं अपिनह्यामि= तेरा भाग्य [इस कन्या के साथ] बांधता हूं, अर्थात् इससे तू अलग न हो ।

ये मंत्रभाग स्पष्ट बता रहे हैं कि मंगनीका स्वीकार होनेके पश्चात् शीघ्र ही विवाहका समय होता है । यद्यपि इसमें समय का साक्षात् उल्लेख नहीं है, तथापि [१] मंगनी, [२] कन्या-दान की संमति, [३] सिर सजानेके समयतक अर्थात् पुष्पवती होनेतक कन्याके पितृघरमें निवास का विधान स्पष्ट बता रहा है, कि मगनी के पश्चात् विवाह होनेके बाद ऋतुमती और पुष्पवती होनेके नंतर कन्याका पतिके घर निवास होनेका क्रम दिखाई देता है। पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें । यह विषय अन्यान्य सूक्तोंके साथ संबंधित है, इसलिये इस विवाह प्रकरणके सूक्त जहा जहां आवेंगे वहा वहा इसके साथ संबंध देखकर ही सब बातोंका निर्णय होगा । पाठक भी इस विषयमें अपने विचारों की सहायता देंगे, तो अधिक निर्दोष निश्चय होना संभव है

संगठन-महायज्ञ-सूक्त ।

[ऋषिः- अथर्वा । देवता-सिंधुः]

(१५)

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥
इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२॥
ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः । तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥३॥
ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च । तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥४॥

अर्थ— [सिंधवः] नदियां [सं स स्रवन्तु] उत्तम रीति से मिलकर बहती रहें, [वाताः सं] वायु उत्तम रीतिसे मिलकर बहते रहें, [पतत्रिणः सं] पक्षी भी उत्तम गतिसे मिलकर उडते रहें। इसी प्रकार (प्र दिवः) उत्तम दिव्य जन (मे इमं यज्ञं) मेरे इस यज्ञको (जुषन्तां) सेवन करें, क्योंकि मैं (संस्राव्येण हविषा) संगठनके अर्पणसे (जुहोमि) दान कर रहा हूं ॥ १ ॥ (इह एव) यहां ही [मे हवं] मेरे यज्ञके प्रति (आयात) आओ

(उत) और हे (संस्राव्याः) संगठन करनेवाले [गिरः] वक्ताओ ! [इमं वर्धयत] इस संगठनको बढाओ ; [यः पशुः] जो सब पशुभाव है वह (इह एतु) यहां आवे और (अस्मिन्) इसमें (या रयिः) जो संपत्ति है, वह (तिष्ठतु) रहे ॥ २ ॥ (नदीनां) नदियोंके जो (अक्षिताः उत्सासः) अक्षय स्रोत इस (सदं) संगठन स्थानमें (संस्रवन्ति) बह रहे हैं, (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन मेरे सब स्रोतोंसे हम सब (धनं) धन (संस्रावयामसि) इकट्ठा करते हैं ॥ ३ ॥ (ये) जो (सर्पिषः) घीकी (क्षीरस्य) दूधकी (च उदकस्य) और जलकी धाराएं(संस्रवन्ति) बह रही हैं, (तेभिःमे सर्वैः संस्रावैः) उन सब धाराओंसे हम (धनं संस्रावयामसि) धन इकट्ठा करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—नदियां मिलकर बहती है, वायु मिलकर बहते हैं, पक्षी भी मिलकर उडते हैं, उस प्रकार दिव्य जन भी इस मेरे यज्ञमें मिल जुलकर संमिलित हों, क्योंकि मैं संगठनके बढानेवाले अर्पणसे ही यह संगठनका महायज्ञ कर रहा हूं ॥ १ ॥ सीधे मेरे इस संगठनके महायज्ञमें आजाओ और हे संगठनके साधक वक्ता लोगो ! तुम अपने उत्तम संगठन बढानेवाले वक्तृत्वोंसे इस संगठन महायज्ञको फैला दो । जो हम सबमें पशुभाव हो, वह यहां इस यज्ञमें आवे और हम सबमें धन्यताका भाव चिरकालतक निवास करे ॥ २ ॥ जो नदियोंके अक्षय स्रोत इस संगठन महायज्ञमें बह रहे हैं उन सब स्रोतोंसे हम अपना धन संगठन-द्वारा बढाते हैं ॥ ३ ॥ क्या घी, क्या दूध और क्या जलकी जो धाराएं हमारे पास बह रहीं हैं, उन सब धाराओंसे हम अपना धन इस संगठनद्वारा बढाते हैं ॥ ४ ॥

संगठनसे शक्तिकी वृद्धि ।

यह संगठन महायज्ञका सूक्त है । इसके प्रथम मंत्रमें संगठनसे शक्ति बढनेका वर्णन है. वह संगठन करनेवालोंको देखना और उसपर खूब विचार करना चाहिये । देखिये---

१ सिंधवः—नदियां । जो जल बहती हैं उसको स्रोत कहते हैं । इस प्रकारके सैकडों और हजारों स्रोत जब इकट्ठे होते हैं और अपना भेदभाव छोडकर एकरूप होकर बहते हैं, तब उसका नाम "नदी" होता है । नदी भी जिस समय महा-पूरसे बहती है,उस समय विविध छोटे स्रोतोंके एकरूप होकर बहनेके कारण जो महाशक्ति प्रकट होती है, वह अपूर्व ही शक्ति है । वह नदी इस समय बडे बडे वृक्षोंको उखाड देती है; जो उसके सामने आजाते हैं उनको भी अपने साथ बहा देती हैं । बडे वृक्ष, बडे मकान, बडे पहाड भी महानदीके वेगके सामने तुच्छ हो जाते हैं । यह वेग कहांसे आता है ?

पाठक विचार करेंगे तो पता लग जायगा कि यह वेग छोटे स्रोतमें नहीं होता, परंतु जब अनंत छोटे स्रोत एकरूप होकर और अपना भेदभाव नष्टकर एकरूपसे बहने लगते हैं; अर्थात् अनंत छोटे स्रोत अपना संगठन करते हैं, तभी उनमें यह अश्रुतपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार नदियां मनुष्यको "संगठन द्वारा अपनी शक्ति बढानेका उपदेश" दे रही हैं।

२ वातः-वायु भी इसी प्रकार मनुष्योंको संगठनका उपदेश दे रहे हैं । छोटे छोटे वायु जिस समय बहते हैं उस समय वृक्षके पत्ते भी नहीं हिलते, परंतु वही सब एक होकर प्रचंड वेगसे जब बहने लगते हैं तब महावृक्ष टूट जाते हैं और मनुष्य भी डर जाते हैं । पाठक इन झंझावातोंसे भी संगठन-के बलका उपदेश ले सकते हैं । इस प्रकार वायु भी संगठनका उपदेश मनुष्योंको दे रहा है ।

३ पक्षी—पक्षी भी संगठन करते हैं । जब एकएक पक्षी होता है तो उसको दूसरा कोई भी मार सकता है, परंतु जब सैकडों और हजारों चिडिया एक कलापमें रहकर अपना संगठन करती हैं, तब उनकी शक्ति बडी भारी होती है । इस प्रकारके पक्षियोंके कलाप बडे बडे खेतोंका धान अल्प समयमें प्राप्त करके खा जाते हैं । यह संगठनका सामर्थ्य पाठक देखें और अपना संघ बनाकर अपना ऐश्वर्य बढावें । पक्षी यह उपदेश मनुष्योंको अपने आचरणसे दे रहे हैं ।

इस प्रकार पहिले मंत्रमें ये तीन उदाहरण मनुष्योंके संमुख रखकर संगठनका महत्त्व बताया है । यदि पाठक इन उदाहरणोंका उत्तम मनन करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि अपना संगठन किस प्रकार किया जाय ।

यज्ञमें संगतिकरण ।

"यज्ञमें संगठन होता ही है । कोई यज्ञ ऐसा नहीं है कि जिसमें संगतिकरण न हो । यज्ञका मुख्य अर्थ संगठन ही है । प्रथम मंत्रके द्वितीयार्धमें इसीलिये कहा है, कि नदियोंमें, वायुओंमें और पक्षियोंमें संगठनकी शक्ति अनुभव करके उस-प्रकार अपने संगठन बनानेके उद्देश्यसे हमारे समाजके अथवा

हमारे देश, जाति या राष्ट्रके लोग, इस संगठन महायज्ञमें संमिलित हों। एक स्थानपर जमा होना पहिली सीढी है। इसके पश्चात् परस्पर समर्पण करनेसे संगठनकी शक्ति बढने लगती है। हवनमें सात प्रकारकी समिधाएं एकत्रित होतीं हैं और अग्निद्वारा प्रकाश करती हैं। यदि एक एक समिधा अलग होगी तो अग्नि बुझ जायगा। इसी प्रकार जातिके सब लोग संगठित होनेसे उस जातिका यश चारों दिशाओंमें फैलता है, परंतु जिस जातिमें एकता नहीं होती, उसकी दिन प्रति दिन गिरावट होतीं जाती है। इससे यहां स्पष्ट हुआ कि संगठन करनेवाले लोगोंमें परस्परके लिये आत्मसमर्पणका भाव अवश्य चाहिये।

इस प्रकार प्रथम मंत्रने संगठन करनेके मूल सिद्धान्तोंका उत्तम उपदेश दिया है।

संगठनका प्रचार।

"सब लोग यहां आजांय, उनकी एक परिषद् बने और संगठन बढानेवाले उत्तम वक्ता अपने ऐक्यभाव बढानेवाले वक्तृत्वसे इस संगठन महायज्ञका फैलाव करें।" यह द्वितीय मंत्रके पूर्वार्धका भाव है।

सभा, परिषद्, महासभा आदि द्वारा जातियोंका संगठन करनेकी रीति इस मंत्रार्धमें कही है। सब लोग इसका महत्त्व जानते ही हैं। आगे जाकर इसी द्वितीय मंत्रमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह अवश्य ध्यानसे देखने योग्य है—

पशुभावका यज्ञ।

"जो सब पशुभाव हम सबमें हों वह इस यज्ञमें आजावे, और यहीं रहे अर्थात् फिर हमारे साथ वह पशुभाव न रहें।" पशुभावकी प्रधानता जिन मनुष्योंमें होती है, उनमें ही आपसके झगडे होते हैं। यदि पशुभाव संगठनके लिये दूर किया जाय और मनुष्यत्वका भाव बढाया जाय, तो आपसके झगडे नहीं होंगे। इसलिये पशुभाव की यज्ञमें समाप्ति करनेकी सूचना इस द्वितीय मंत्रके तृतीय चरणमें दी है और संगठनके लिये वह अत्यंत आवश्यक है। इसके विना कोई संगठन हो ही नहीं सकता।

पशुभाव छोडनेका फल।

पशुभाव छोडने और मनुष्यत्वका विकास करनेसे तथा संगठनसे अपनी शक्ति बढानेसे जो फल होता है उसका वर्णन द्वितीय मंत्रके चतुर्थ चरणमें किया है—

"जो धन है वह इस हमारे समाजमें स्थिर रहे।" संगठनका यही परिणाम होना है। जिससे मनुष्य धन्य होता है उसका नाम धन है। मनुष्यको धन्य बनानेवाले सब धन मनुष्यको अपने संगठन करनेके पश्चात् ही प्राप्त हो सकते हैं। इस द्वितीय मंत्रमें संगठनके नियम बताये हैं, वे ये हैं—

१ एक स्थानपर संमिलित होना, सभा करना,

२ उत्तम वक्ता जनताको संगठनका महत्त्व समझा देवे;

३ अपने अंदरका पशुभाव छोडकर, पशुभावसे मुक्त होकर, लोग वापस जांय, सब लोग मनुष्य बनकर परस्पर बर्ताव करें।

इन बातोंके करनेसे संगठन होना संभवनीय है। इस प्रकार जो लोग संगठन करेंगे, वे जगत्में धन्य हो जायगे।

तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें फिर नदियोंके और जलोंके स्रोतों का वर्णन आया है, जो पूर्वोक्त रीतिसे एकताका उपदेश पुनः पुनः कर रहा है। संगठन करनेवालोंको घी, दूध, दही आदि पदार्थ भरपूर मिल सकते हैं, मानो उनमें इन पदार्थोंकी नदियां ही बहेंगी। इसलिये संगठन करना मनुष्योंकी उन्नतिका एकमात्र प्रधान साधन है।

इस कारण तृतीय और चतुर्थ मंत्रोंके उत्तरार्धमें कहा है, कि "इन संघटित प्रयत्नोंसे हम अपना धन बढाते हैं।" संघटित प्रयत्नोंसे ही यश, धन और नाम बढता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे और संगठनद्वारा अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढाकर अपना यश चारों दिशाओंमें फैलायेंगे।

चोर-नाशन-सूक्त ।

[ऋषि-चातनः । देवताः अग्निः, इन्द्रः, वरुणः]

(१६)

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः । अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥१॥
सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति । सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम् ॥२॥
इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः । अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥३॥
यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् । तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४॥

अर्थ-(ये अत्रिणः) जो डाकू चोर (अमावास्यां रात्रीं) अमावसकी रात्रिके समय हमारे (व्राजं) समूहपर (उदस्थुः) हमला करते हैं, उस विषयमें (यातुहा सः तुरीयः अग्निः) चोरों का नाशक वह चतुर्थ अग्नि (अस्मभ्यं) हमें (अधि ब्रवत्) सूचना दे ॥ १ ॥ वरुणने सीसेके विषयमें (अध्याह) कहा है । अग्नि सीसेको (उपावति) रक्षक कहता है । इन्द्रने तो (मे) मुझे सीसा (प्रायच्छत्) दिया है । हे (अंग) प्रिय ! (तत् यातुचातनम्) वह डाकू हटानेवाला है ॥ २ ॥ (इदं) यह सीसा (विष्कंध)रुकावट करनेवालोंको [सहते] हटाता है । यह सीसा (अत्रिणः) डाकुओंको (बाधते)पीडा देता है । (अनेन) इससे (पिशाच्या या विश्वा जातानि) पिशाचों की जो जातियां हैं, उनको (ससहे) मैं हटाता हूं ॥ ३ ॥ (यदि नः गां हंसि) यदि हमारी गायको तू मारता है, (यदि अश्वं) यदि घोडेको और (यदि पूरुषं) यदि मनुष्यको मारता है (तं त्वा) तो उस तुझको (सीसेन विध्यामः) सीसेसे हम वेधते हैं, (यथा) जिससे तू (नः अ-वीर-हा असः) हमारे वीरोंका नाश करनेवाला न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—अमावास्या को अंधेरी रात्रिके समय जो डाकू हमारे संघपर हमला करते हैं, उस विषयमें हमें ज्ञानीसे उपदेश मिला है ॥ १ ॥ जलके रक्षक तथा उपदेशक सीसेकी गोली का प्रयोग करनेको प्रेरणा देते हैं । शूर वीरने तो सीसेकी गोली हमें दे रखी है । हे बंधुओ ! यह डाकुओंको हटानेवाली है ॥ २ ॥ यह सीसेकी गोली डाकुओंको हटाती है और प्रतिबंध करनेवालोंको दूर करती है । इससे खून पीनेवाली सब जातियोंको दूर भगाया जाता है ॥ ३ ॥ हे चोर ! यदि तू हमारी गाय, हमारा घोडा अथवा मनुष्यका वध करेगा, तो तुझपर हम गोली चलावेंगे, जिससे तू हमारा नाश करनेके लिये फिर जीवित न रह सकेगा ॥ ४ ॥

सीसेकी गोली ।

इस सूक्तमें सीसेकी गोली का प्रयोग डाकुओंपर करनेको कहा है । सूक्तमें केवल "सीस" शब्द है, गोलीका वाचक शब्द नहीं है। तथापि "सीसेन विध्यामः" (सीसेके द्वारा वेध करेंगे) इस प्रयोगसे सीस शब्दसे सीसेकी गोली का भाव समझना उचित है । केवल सीसेका उपयोग डाकुओंके नाशमें किसी अन्य प्रकार संभवनीय नहीं दीखता है । (विध्यामः) वेध करनेका भाव दूरसे चांदमारीके समान निशाना मारना है। आजकल सीसेकी गोली बंदूककी नलीमें रखकर दूरसे शत्रुको वेधते हैं। बाण भी धनुष्यपरसे दूरसे ही निशाने पर फेंका जाता है । तात्पर्य इन मंत्रोंके शब्द बता रहे हैं कि सीसेकी गोलीसे दूरसे ही डाकुओंका वेध करना चाहिये । लाठी सोटीके समान यह पाससे नहीं प्रयोग होता है इतना ही यहां बताना है ।

शत्रु ।

"अत्रिन्, यातु" आदि शब्दोंके अर्थ सप्तम-सूक्तके विवरणमें किये हैं, पाठक वहां ही देखें । ये सब शब्द डाकू चोर लुटेरे अर्थात् समाजके शत्रुओंके वाचक हैं । इनसे भिन्न जिन शब्दोंका इससे पूर्व विचार नहीं हुआ उनका विचार यहां करते हैं—

१ विष्कन्ध— प्रतिबंध करनेवाला, रुकावटें उत्पन्न करनेवाला, हरएक बातमें विघ्न डालनेवाला ।

२ पिशाच, पिशाची-रक्त पीनेवाले और कच्चा मांस खानेवाले क्रूर लोग, जो मनुष्यका मांस भी खाते हैं।

ये सब तथा (अत्रिन्) भूके डाकू, (यातुः) चोर ये सब समाजके शत्रु हैं। इनको उपदेशद्वारा सुधारनेका विषय पूर्व आये हुए (कां० १, सू० ७, ८) धर्मप्रचारके सूक्तोंमें आचुका है। जो नहीं सुधरते उनको दंडके लिये क्षत्रियोंके आधीन करनेकी आज्ञा भी सप्तम सूक्तके अंतमें दी है। उपदेश और दण्ड इन दो उपायोंसे जो नहीं सुधरते उनपर सीसेकी गोलीका प्रयोग करनेका विधान इस सूक्तमें आया है। अपने संगठन करनेका उपदेश पूर्व सूक्तमें करनेके पश्चात् इस सूक्तमें शत्रुपर गोली चलानेकी आज्ञा है यह विशेष ध्यानसे देखना चाहिये। जिनका आपसमें उत्तम संगठन नहीं है यदि ऐसे लोग शत्रुपर हमला करेंगे, तो संभव है कि वे स्वयं ही नष्टभ्रष्ट हो जायगे। इसलिये " प्रथम अपना संगठन और पश्चात् शत्रुपर चढाई " यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये।

आर्य वीर।

अग्नि, इन्द्र आदिके विषयमें सूक्त सातके प्रसंगमें वर्णन आया ही है। (अग्निः) ज्ञानी उपदेशक, (इन्द्रः) शूरवीर ये आर्यवीर हैं यह पहिले बताया है। इन दो शब्दोंसे ब्राह्मण और क्षत्रियोंका बोध होता है यह बात पहिले बतायी जाचुकी है।

इस सूक्तमें "वरुण" शब्द आया है। वरुण समुद्र अथवा जलका अधिपति वेदमें तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। जलस्थान, नदी आदि तथा समुद्र परसे जो शत्रुओंके हमले होते हैं उनसे रक्षा करनेका यह ओहदेदार है। जिस प्रकार " अग्नि " शब्द ब्राह्मणत्ववाचक, " इन्द्र " शब्द क्षात्रधर्मका बोधक है उसी प्रकार " वरुण " शब्द जलमार्गसे आनेजानेवाले और देशांतरोंमें व्यापार करनेवाले वैश्योंका अथवा वैश्यत्वका सूचक यहां प्रतीत होता है। इसलिये गोली चलानेके विषयमें (अग्नि) ब्राह्मण, (इन्द्र) क्षत्रिय और (वरुण) वैश्यने भी संमति दी है और (इन्द्र) क्षत्रिय ने तो सीसेकी गोलियां हमारेपास दे रखी हैं, इत्यादि द्वितीय मंत्रका भाव इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। सप्तम सूक्तमें दिये उपदेशानुसार ब्राह्मण प्रचारकोंने प्रयत्न किया और उन्होंने कहा कि ये डाकू सुधरते नहीं हैं, क्षत्रियोंने भी कहा कि अनेक वार देहदंड देनेपर भी इन दुष्टोंका सुधार नहीं हुआ, वैश्य तो लूटे जानेके कारण कहते ही रहे, इस प्रकार तीनों वर्णोंकी परिषद्ने जब गोली चलानेकी आज्ञा दी, तब इस सूक्तके आधारपर गोली चलायी जा सकती है। पाठक यह पूर्वापर संबंध अवश्य ध्यानमें रखें।

सूक्तकी शेष बातें स्पष्ट हैं। इसलिये अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है।

(यहां तृतीय अनुवाक और पहिला प्रपाठक भी समाप्त हुआ।)

रक्तस्राव बंद करना।

[ऋषिः ब्रह्मा। देवता-योषित्]

(१७)

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥१॥
तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे। कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही ॥२॥
शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्। अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥३॥
परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत्। तिष्ठतेलयता सु कम् ॥४॥

अर्थ - (अमूः याः) यह जो (लोहित-वाससः) रक्त लाल कपडे पहनी हुई (योषितः) स्त्रियां हैं अर्थात् लाल रंगका खून ले जानेवाली (हिराः) धमनियां शरीरमें हैं वे (तिष्ठन्तु) ठहर जांय अर्थात् अपना चलना बंद करें, (इव) जिस

प्रकार (अ-भ्रातरः) विना भाईके (हत-वर्चसः) निस्तेज बनी (जामयः) बहिनें ठहर जाती हैं ॥ १ ॥ (अवरे तिष्ठ) हे नीचेकी नाडी ! तू ठहर । (परे तिष्ठ) हे ऊपरवाली नाडी ! तू ठहर । (उत मध्यमे) और बीच वाली (त्वं तिष्ठ) तू भी ठहर । (कनिष्ठिका च तिष्ठति) छोटी नाडी भी ठहरती है तथा (धमनिः इत् तिष्ठात्) बडी नाडी भी ठहर जावे ॥ २ ॥ (धमनीनां शतस्य) सैकडों धमनियोंके और (हिराणां सहस्रस्य) हजारों नाडियोंके बीचमें (इमाः मध्यमाः अस्थुः) ये मध्यम नाडियां ठहर गई हैं । (साकं) साथ साथ (अंताः) अंत भाग भी (अरंसत) ठीक हुए हैं ॥३॥ (बृहती धनुः) बडे धनुष्यने (वः परि अक्रमीत्) तुमपर हमला किया है, अतः (सिकतावतीः तिष्ठत) रेतवाली अथवा शर्करावाली बनकर ठहर जाओ, जिससे (कं) सुख (सु इलयत) प्राप्त करोगे ॥ ४ ॥

भावार्थ—शरीरमें लाल रंगका रक्त शरीरभर पहुंचानेवाली धमनियां है । जब घाव लग जावे तब उनकी गति रोकनी चाहिये, जिस प्रकार दुर्भाग्यको प्राप्त हुई भाई रहित बहिनोंकी गति रुक जाती है ॥ १ ॥ नीचेवाली, ऊपरवाली, तथा बीचवाली छोटी और बडी सब नाडियोंको बंद करना चाहिये ॥ २ ॥ सैकडों और हजारों नाडियोंमेंसे आवश्यक नाडियां ही बंद की जावें अर्थात् उनके फटे हुए अंतिम भाग ठीक किये जावें ॥ ३ ॥ बडे मनुष्यके बडे बाणोंसे धमनियोंपर हमला होकर नाडियां फट गई है, उनको शर्कराके साथ संबंध करनेसे शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

घाव और रक्तस्राव ।

शरीरमें शस्त्रादिसे घाव होनेपर घावके ऊपरकी और नीचेकी नाडियोंको बंदसे बांधनेसे रक्तका स्राव बंद हो जाता है । घाव देखकर ही निश्चय करना चाहिये, कि कौनसे भागपर बंद लगाना चाहिये । यदि रक्तस्राव इस प्रकार बंद किया जाय तो ही रोगीको शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है, अन्यथा रक्तके बहुत स्राव होनेके कारण ही मनुष्य मर सकता है । इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिये ।

इससे पूर्व सूक्तमें शत्रुको गोलीसे मारनेकी सूचना दी है । इस लडाईमें शरीरपर घाव होना संभव है, इसलिये इस रक्तस्रावके बंद करनेके विषयमें इस सूक्तमें उपदेश दिया है " सिकतावती " अर्थात् रेतवाली अथवा शर्करावाली धमनी करनेसे रक्तस्राव बंद होता है । बारीक मिश्रीका बारीक चूर्ण लगानेसे स्राव बंद होता है, यह कथन विचार करनेयोग्य है ।

दुर्भाग्यकी स्त्री ।

(हत-वर्चसः जामयः) जिनका तेज नष्ट हुआ है ऐसी स्त्रियां, दुर्भाग्यको प्राप्त हुई स्त्रियां अर्थात् पति मरनेके कारण जिनकी भाग्यहीन अवस्था हुई है ऐसी स्त्रियां पिता, माता अथवा भाईके घर जाकर रहें, किसी अन्य स्थानपर न जावें यह उपदेश पूर्व आये चतुर्दश सूक्त (कां. १, सू. १४) में कहा है । परंतु यदि वही स्त्रियां (अ-भ्रातरः) भ्रातासे हीन हों अर्थात् उनको भाई न हो तो उनकी गति रुक जाती है, अर्थात् ऐसी स्त्रिया कहीं भी जा नहीं सकतीं । जिस प्रकार पति जीवित रहनेपर स्त्रियां बडे बडे समारंभोंमें और उत्सवों-में जा सकती हैं, उस प्रकार पति मर जानेके पश्चात् वे जा नहीं सकतीं अर्थात् उनकी गति रुक जाती है । पहले उनकी गति सर्वत्र होती थी, परंतु दुर्भाग्य-वश होनेके पश्चात् उनका भ्रमण नहीं हो सकता ।

यहां स्त्रीविषयक एक वैदिक मर्यादाका पता लगता है, कि पति मरनेके पश्चात् स्त्री उस प्रकार नहीं घूम सकती कि जैसी पतिके होनेके समय घूम सकती है । घरमें रहना, उत्सवोंके आनंद प्रसंगोंमें न जाना, मंगलोत्सवोंमें भाग न लेना इत्यादि मृतपति स्त्रीके व्यवहार की रीति यहां प्रतीत होती है ।

मृतपतिकी स्त्री भाई होनेपर भाईके घर जा सकती है, भाई न रहनेपर किंवा पिता माता न रहनेपर उनको दुःखमें ही रहना होता है । इस समय वह दुर्भाग्यवती स्त्री परमेश्वर भक्तिसे अपना समय गुजारे और परोपकार का कार्य करे ॥

विधवाके वस्त्र ।

" हतवर्चसः जामयः लोहितवाससः योषितः । " ये शब्द विधवा स्त्रीके कपडोंका लाल रंग होना बता रहे हैं । "निस्तेज दुर्भाग्यमय बहिनें लालवस्त्र पहनेवाली स्त्रियें" ये शब्द दुर्भाग्यमय स्त्रियोंके लाल रंगके कपडे होनेकी सूचना दे रहे हैं । दक्षिण भारतमें इस समय भी यह वैदिक प्रथा जारी है, इसलिये विधवा स्त्रियां यहां केवल लाल रंगके कपडे पहनती है । पतियुक्त स्त्रियां केवल लाल रंगका कपडा नहीं पहनतीं, परंतु अन्य रंगोंकी लकीरोंसे युक्त कपडे अर्थात् लालके साथ

अन्यान्य रंग मिले जुले हैं तो वैसे सब रंगके कपडे पहनती है। केवल श्वेत वस्त्र भी विधवा स्त्रियां पहनती हैं, यह श्वेत वस्त्रका रिवाज संपूर्ण भारतवर्षमें एक जैसा ही है।

पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें, क्योंकि इस विषयका निश्चय होनेके लिये कई अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

सौभाग्य-वर्धन-सूक्त ।

(१८)

(ऋषिः—द्रविणोदाः । देवता—वैनायकं सौभगम्)

निर्लक्ष्म्यं॑ ललाम्यं१ निरराति सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥ १ ॥
निररणिं सविता साविषक् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥
यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥
रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं॑ ललाम्यं१ ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ-(ललाम्यं) सिरपर होनेवाले (लक्ष्म्यं) बुरे चिन्हको (निः) निःशेषतासे दूर करते हैं; तथा (अ-रातिं) कंजूसी आदि (नि सुवामसि) निःशेष दूर करते हैं। (अथ या भद्रा) और जो कल्याण कारक चिन्ह हैं (तानि नः प्रजायै) वे सब हमारी संतानके लिये हम प्राप्त करते हैं और (अरातिं) कंजूसी आदिको (नयामसि) दूर भगाते हैं ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र और अर्यमा (पदोः हस्तयोः) पांवों और हाथोंकी । (अरणिं) पीडाको (निः नि साविषत्) दूर करें। (रराणा अनुमति) दानशील अनुमतिने (अस्मभ्यं निः) हमारे लिये निःशेष प्रेरणा की है। तथा (देवाः) देवोंने (इमां) इस स्त्रीको (सौभगाय) सौभाग्यके लिये (प्र असाविषुः) प्रेरित किया है ॥ २ ॥ (यत् ते आत्मनि) जो तेरी आत्मामें तथा (तन्वां) शरीरमें (वा यत् केशेषु) अथवा जो केशोंमें (वा प्रतिचक्षणे) अथवा जो दृष्टिमें (घोरं अस्ति) भयानक चिन्ह है (तत् सर्वं) वह सब (वयं वाचा हन्मः) हम वाणीसे हटा देते हैं। (सविता देवः) सविता देव (त्वा सूदयतु) तुझे सिद्ध करे अर्थात् परिपक्व बनावे ॥ ३ ॥ (रिश्यपदीं) हरणके समान पांववाली, (वृषदतीं) बैलके समान दांतवाली, (गोषेधां) गायके समान चलनेवाली, (विधमां) विरुद्ध शब्द बोलनेवाली, जिसका शब्द कठोर है ऐसी स्त्री (उत ललाम्यं विलीढ्यं) और सिरपरका कुलक्षण यह सब हम (अस्मत् नाशयामसि) अपनेसे नाश करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ-सिरपर तथा शरीरपर जो कुलक्षण होंगे उनको दूर करना चाहिये तथा अंतःकरणमें कंजूसी आदि जो दुर्गुण हैं उनको भी दूर करना चाहिये, और जो सुलक्षण है उनको अपने तथा अपने संतानोंके पास स्थिर करना अथवा बढाना चाहिये। तथा कंजूसी आदि मनके बुरे भावोंको हटाना चाहिये ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र, अर्यमा, अनुमति आदि सब देव और देवता हाथों और पांवोंकी पीडाको दूर करें, इस विषयमें ये हमें उपदेश दें। क्योंकि देवोंने स्त्री और पुरुषको उत्तम भाग्यके लिये ही बनाया है ॥ २ ॥ तुम्हारे आत्मा अथवा मनमें, शरीरमें, केशोंमें तथा दृष्टिमें जो कुछ कुलक्षण हों, जो कुछ भी दुर्गुण हों उनको हम

बचनसे हटाते हैं। परमेश्वर तुम्हें उत्तम लक्षणोंसे युक्त बनावे ॥ ३ ॥ हरिणके समान पांव, बैलके समान दांत, गायके समान चलनेकी आदत, कठोर बुरा आवाज होना तथा सिरपरके अन्य कुलक्षण यह सब हमसे दूर हों ॥ ४ ॥

कुलक्षण और सुलक्षण।

इस सूक्तमें शरीरके तथा मन, बुद्धि, आत्मा आदिके भी जो कुलक्षण हों उनको दूर करने तथा अपने आपको पूर्ण सुलक्षण-युक्त बनानेका उपदेश किया है। इस सूक्तमें वर्णित कुलक्षण ये हैं-

(१) ललाम्यं लक्ष्म्यं-सिरपरका लक्षण, कपाल छोटा होना, भालपर बाल होने, बुद्धिहीन दर्शन आदि कुलक्षण। (मंत्र १)

(२) ललाम्यं विलीर्यं-सिरपर बालोंके गुछे रहने और उससे सिरकी शोभाका बिगाड आदि कुलक्षण। (मंत्र ४)

(३) रिश्यपदी—हरिणके समान कृश पांव। (मंत्र ४)

(४) वृषदती-बैलके समान बडे दात। (मंत्र ४)

(५) गोषेधा—गायके समान चलना। (मंत्र ४)

(६) वि-धमा-कानोंको बुरा लगनेवाला आवाज, जिसका मीठा मंजुल आवाज नहीं। (मंत्र ४)

ये अंतिम (३-६) चार कुलक्षण स्त्रीलिंग निर्देशसे स्त्रियोंके लिये बहुत बुरे हैं अर्थात् स्त्रियोंमें ये न हों। वधू पसंद करनेके समय इन लक्षणोंका विचार करना योग्य है।

(७) केशेषु घोरं—बालोंमें क्रूरता अथवा भयानकता दिखाई देना अर्थात् बालोंके कारण मुख क्रूरसा दीखना। (मंत्र ३)

(८) प्रतिचक्षणे क्रूरं-नेत्रोंमें क्रूरता, भयानक नेत्र, भयानक दृष्टि। (मंत्र ३)

(९) तन्वा क्रूरं-शरीरमें भयानकता, अर्थात् शरीरके अवयवके टेढामेढा होनेके कारण भयानक दृश्य। (मं. ३)

(१०) आत्मनि क्रूरं-मन, बुद्धि, चित्त, आत्मामें क्रूरताके भाव होना। (मंत्र ३)

(११) अ-रातिं—कंजूसी, उदारभावका अभाव। (मं. १)

(१२) पदोः हस्तयोः अ-रणिः—पांव और हाथों की पीडा अथवा कुछ विकार। (मं. २)

ये बारह कुलक्षण इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तका विचार करनेके समय इससे पूर्व आया हुआ " कुलवधूसूक्त " (अथर्व. १। १४) भी देखनेयोग्य है। अर्थात् इन दोनोंका विचार करनेसे ही वधूवर परीक्षा करनेका ज्ञान हो सकता है। इसलिये पाठक इन दोनों सूक्तोंका साथ साथ विचार करें। इन कुलक्षणोंमेंसे कई लक्षण केवल स्त्रियोंमें और कई पुरुषों तथा कई दोनोंमें होंगे। अथवा सब लक्षण न्यूनाधिक भेदसे स्त्रीपुरुषोंमें दिखाई देना भी संभव है।

ये कुलक्षण दूर करना और इनके विरोधी सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका कर्तव्य है। इन कुलक्षणोंका विचार करनेसे सुलक्षणोंका भी ज्ञान हो सकता है। जिससे शरीर सुडौल दिखाई देता है वे शरीरके सुलक्षण समझने चाहिये। इसी प्रकार इंद्रियों, मन, बुद्धि, वाचा आदिके भी सुलक्षण हैं। इन सबका निश्चित ज्ञान प्राप्त करके अपनेमेंसे कुलक्षण दूर करना और सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है।

वाणीसे कुलक्षणोंको हटाना।

मंत्र ३ में " सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं। " अर्थात् हम ये सब कुलक्षण वाणीसे दूर करते हैं, अथवा वाणीसे इन कुलक्षणोंका नाश करते हैं, कहा है; तथा साथ साथ " देवस्त्वा सविता सूदयतु " अर्थात् सविता देव तुम्हें पूर्ण सुलक्षणयुक्त बनावे, कहा है। परमेश्वर कृपासे मनुष्य सुलक्षणोंसे युक्त हो सकता है, इसमें किसीको संदेह नहीं हो सकता, परंतु वाणीसे कुलक्षणोंको दूर करनेके विषयमें बहुत लोगोंको संदेह होना संभव है, अतः इस विषयमें कुछ स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है। वेदमें यह विषय कई सूक्तोंमें आचुका है। इसलिये पाठक इसका खूब विचार करें।

वाणीसे प्रेरणा।

वाणीसे अपने आपको अथवा दूसरेको भी प्रेरणा या सूचना देकर रोग दूर करना, तथा मन आदिके कुलक्षण दूर करना संभवनीय है, यह बात वेदमें अनेक स्थानोंमें प्रकाशित हुई है। यह सूचना इस प्रकार दी जाती है— "मेरे अंदर ...... यह कुलक्षण है, यह केवल थोडा देर रहनेवाला है, यह चिरकाल नहीं रहेगा, यह कम हो रहा है, अतिशीघ्र कम होगा। मेरे अंदर सुलक्षण बढ रहे हैं, मैं सुलक्षणोंसे युक्त होऊंगा। मैं निर्दोष बन रहा हूं। मैं निरोगी रहूंगा। मैं दोषोंको हटाता हूं और अपनेमें गुणोंको विकसित करता हूं। "

इत्यादि रीतिसे अनेक प्रकारकी सूचनायें मनको देने और उनका प्रतिबिंब मनके अंदर स्थिर रखनेसे इष्ट सिद्धि होती है। वेदका यह मानसशास्त्रका सिद्धांत हरएकको विचार

*

करने योग्य है। "मैं हीन हूं, दीन हूं" आदि विचार जो लोग आज कल बोलते हैं, वे विचार मनमें प्रतिबिंबित होनेसे मनपर कुसंस्कार होनेके कारण हमारी गिरावटके कारण हो रहे हैं। इसलिये शुद्ध वाणीका उच्चारही हमेशा करना चाहिये, कभी भी अशुद्ध गिरे हुए भावोंसे युक्त शब्दोंका उच्चार नहीं करना चाहिये। वाणीकी शुद्ध प्रेरणाके विषयमें साक्षात् उपदेश देनेवाले कई सूक्त आगे आनेवाले हैं, इसलिये इस विषयमें यहा इतना ही लेख पर्याप्त है। अस्तु इस प्रकार शुद्ध वाणीद्वारा और परमेश्वर भक्तिद्वारा अपने कुलक्षणोंको दूर करना और अपने अंदर सुलक्षणोंको बढाना हरएक मनुष्यको योग्य है।

हाथों और पांवोंका दर्द।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि सविता (सूर्य), वरुण (जल), मित्र (प्राणवायु), अर्यमा (आगका पौधा) ये हाथों और पावोंके दर्दको तथा शरीरके दर्दको दूर करें। सूर्यप्रकाश, समुद्र आदिका जल, शुद्ध वायु, आकके पत्तोंका सेक आदिसे बहुतसे रोग दूर हो जाते हैं। इस विषयमें इससे पूर्व बहुत कुछ कहा गया है और आगे भी यह विषय वारंवार आनेवाला है। आरोग्य तो इनसे ही प्राप्त होता है।

सौभाग्यके लिये।

" इमां देवा असाविषुः सौभगाय। " इसको देवोंने सौभाग्यके लिये बनाया है। विशेष करके स्त्रीके उद्देश्यसे यह मंत्रभाग है, परंतु सबके लिये भी यह माना जा सकता है। अर्थात् मनुष्य मात्र स्त्री हो या पुरुष हो वह अपना कल्याण साधन करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है और वह यदि परमेश्वर भक्ति करेगा तथा शुद्ध वाणीकी सूचनासे अपने मनको प्रभावित करेगा तो अवश्यमेव सौभाग्यका भागी बनेगा। हरएक मनुष्य इस वैदिक धर्मके सिद्धांतको मनमें स्थिर करे। अपनी उन्नतिको सिद्ध करना हरएकके पुरुषार्थपर अवलंबित है। यदि अपनी अवनति हुई है तो निश्चय जानना चाहिये कि पुरुषार्थमें त्रुटी हुई है।

सन्तानका कल्याण

यदि अपनेमें कुछ कुलक्षण रहे भी, तथापि अपनी संतानोंमें सब सुलक्षण आजांय (या भद्रा तानि नः प्रजायै) यह प्रथम मंत्रका उपदेश हरएक गृहस्थीको ध्यानमें धरना चाहिए। अपनी संतान निर्दोष और सुलक्षणोंसे तथा सद्गुणोंसे युक्त बने यह भाव यदि हरएक गृहस्थीमें रहेगा, तो प्रति पुश्तमें मनुष्योंका सुधार होता जायगा और राष्ट्र प्रतिदिन उन्नतिकी सीढीपर चढेगा। यह उपदेश हरएक प्रकारसे कल्याण करनेवाला है इसलिये इसको कोई गृहस्थी न भूले।

इस प्रकार पाठक इस सूक्तका विचार करें और अपने कुलक्षणोंको दूर करके अपने अंदर सुलक्षण बढानेका प्रयत्न करें।

शत्रु-नाशन-सूक्त।

(१९)

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-ईश्वरः, ब्रह्म)

मा नो॑ विदन् विव्या॒धिनो॒ मो अ॑भिव्या॒धिनो॑ विदन्। आ॒राच्छ॑र॒व्या॑ अ॒स्मद्वि॑षूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

विष्व॑ञ्चो अ॒स्मच्छर॑वः पतन्तु॒ ये अ॒स्ता ये चा॒स्या॑ः। दैवी॑र्मनुष्येषवो॒ ममा॒मित्रा॒न् वि वि॑ध्यत ॥ २ ॥

यो न॒ः स्वो यो अर॑णः सजा॒त उ॒त निष्ट्यो॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति।

रु॒द्रः श॑र॒व्य॑यै॒तान् ममा॒मित्रा॒न् वि वि॑ध्यतु ॥ ३ ॥

यः स॒पत्नो॒ योऽस॑पत्नो॒ यश्च॑ द्वि॒षञ्छपा॑ति नः। दे॒वास्तं सर्वे॑ धूर्वन्तु॒ ब्रह्म॒ वर्म॒ ममान्त॑रम् ॥ ४ ॥

अर्थ-(वि-व्याधिनः) विशेष वेधनेवाले शत्रु (नः मा विदन्) हमतक न पहुंचें। (अभिव्याधिनः) चारों ओरसे मारने काटनेवाले शत्रु (नः मो विदन्) हमतक कभी न पहुचें। हे (इन्द्र) परमेश्वर! (विषूचीः शरव्याः) सब ओर फैलने-

वाले बाण समूहोंको (अस्मत् आरात् पातय) हमसे दूर गिरा ॥ १ ॥ (ये अस्ताः) जो फेंके हुए और (ये च अस्याः) जो फेंक जायेंगे, वे सब (विष्वञ्चः शरवः) चारों ओर फैले हुए बाण आदि शस्त्र (अस्मत् पतन्तु) हमसे दूर जाकर गिरें (दैवीः मनुष्येषवः) हे मनुष्योंके दिव्य बाणो ! (मम अमित्रान्) मेरे शत्रुओंको (विविध्यत) वेध कर डालो ॥ २ ॥ (यः नः स्वः) जो हमारा अपना अथवा (यः अरणः) जो दूसरा परकीय हो, किंवा जो (स-जातः) समान उच्च जातिका कुलीन (उत) अथवा जो (निष्ट्यः) भिन्न जातिवाला या संकर जातिका हीन (अस्मान् अभिदासति) हमपर चढाई करके हमें दास बनानेकी चेष्टा करे, [एतान् मम अमित्रान्] इन मेरे शत्रुओंको [रुद्रः] रुलानेवाला वीर [शरव्यया विविध्यतु] बाणोंसे वेध करे ॥ ३ ॥ [यः] जो [सपत्नः] विरोधी और [यः अ-सपत्नः] जो प्रकट विरोधी नहीं है । [च यः द्विषन्] और जो द्वेष करता हुआ [नः शपाति] हमको शापता है [तं] उसका [सर्वे देवाः] सब देव [धूर्वन्तु] नाश करें । [मम अन्तर वर्म] मेरा आंतरिक कवच [ब्रह्म] ब्रह्मज्ञान ही है ॥ ४ ॥

भावार्थ-हमारे वीरोंका शौर्य ऐसा हो कि हमारा नाश करनेकी इच्छा करनेवाले सब शत्रु हमसे सदा दूर रहें और हमतक वे कभी न पहुंच सकें। उनके शस्त्र भी हमसे दूर रहें ॥ १ ॥ सब शस्त्र हमसे दूर गिरें । और हमारे शत्रुओंपर ही सब शस्त्र गिरते रहें ॥ २ ॥ कोई हमारा मित्र या शत्रु, हमारी जातिवाला वा परजातीका, कुलीन या हीन, कोई भी क्यों न हो, यदि वह हमें दास बनाने या हमारा नाश करनेकी चेष्टा करता है तो उसका नाश शस्त्रोंसे करना योग्य है।। ३ ॥ जो प्रकट या छिपा हुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या हमें बुरे शब्द बोलता है सब सज्जन उसको दूर करें। मेरा आंतरिक कवच सत्य ज्ञान ही है ॥ ४ ॥

यह "सांग्रामिक गण" का सूक्त है, इस कारण "अपराजित गण" के सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध है, अतः पाठक इस गणके सूक्तोंके साथ इसका भी विचार करें।

आन्तरिक कवच।

इस सूक्तमें जो सबसे महत्त्व पूर्ण बात कही है वह आंतरिक कवचकी है। देशके कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होनेके कारण बाहरके शत्रु देशमें घुस नहीं सकते। ग्रामके कवच किले होते हैं इनके कारण शत्रु ग्राममें घुस नहीं सकते। शरीरके कवच लोहेके अथवा तारके बनाये जाते हैं जिनके कारण शत्रुके शस्त्र शरीरपर लगते नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है। शरीरके अंदर आत्मा और अंतःकरण है, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार मिलकर अंतःकरण होता है, इसकी साथ आत्माके लिये रहती है । इस " अन्तःकरण " के लिये " अंतः कवच " अवश्य चाहिये, जो इस शत्रुनाशन सूक्तने " ब्रह्म वर्म ममान्तरम् " शब्दोंद्वारा बताया है। " ज्ञानरूप कवच ही मेरा आंतरिक कवच " है। जिसके आत्मा और अंतःकरणका ज्ञानरूप कवचसे संरक्षण होता है, उनको किसी शत्रुसे डर नहीं हो सकता, वह अजात शत्रु ही बन सकता है। इस ज्ञानरूप कवचके बतानेमें जो ज्ञानवाचक "ब्रह्म" शब्द सूक्तमें प्रयुक्त किया है। वही परमेश्वर या परब्रह्मका वाचक है और इसलिये इस 'ब्रह्म' शब्दसे "परमात्म-विषयक आस्तिक्य बुद्धियुक्त ज्ञान " इतना अर्थ इस शब्दसे समझना योग्य है।

इस सूक्तके दो विभाग।

इस सूक्तके दो विभाग होते हैं, प्रथम विभागमें प्रारंभसे चतुर्थ मंत्रके तृतीय चरणतकके सब मंत्र आते हैं और द्वितीय विभागमें चतुर्थ मंत्रके चतुर्थ चरणका ही समावेश होता है। इन विभागोंको देखकर इस सूक्तका विचार करनेसे बडा बोध मिलता है।

वैदिकधर्मका साध्य। ब्राह्म कवच।

" परमात्माकी भक्तिसे परिपूर्ण सत्य सनातन ज्ञान ही मेरा कवच है " इस ब्राह्म कवचसे सुरक्षित होनेपर मुझे किसी भी शत्रुका भय नहीं, यह आत्मविश्वास मनुष्यमें उत्पन्न करना वैदिक धर्मका साध्य है। यह भाव मनुष्यमात्रमें स्थापित करनेके लिये ही वैदिक धर्मकी शिक्षा है। परंतु यह ज्ञान समय समयपर थोडेसे परिशुद्ध महात्माओंमें उत्पन्न होता है और उनसे भी थोडे संतोंमें इसका साक्षात् अनुभव होता है, यह बात हम इतिहासमें देखते हैं। इसलिये यद्यपि वेदका यह साध्य है, तथापि सब मनुष्योंमें यह साध्य साक्षात् प्रत्यक्षमें आना कठिन है इसमें भी संदेह नहीं है। इसीलिये सर्व साधारण मनुष्य आत्मिक दिव्य शक्तिकी शरण जानेकी अपेक्षा मतभेदका निश्चय करनेके समय शारीरिक पाशवी

शक्तिका ही आश्रय करते हैं।। अतः हम कहते हैं प्रथम विभागके मंत्र पाशवी शक्तिका विचार करते हुए साधारण जनोंका मार्ग बता रहे हैं और द्वितीय विभागका मंत्रभाग आत्मिक दिव्य शक्तिका मानवी अंतिम ध्येय बता रहा है।

"आत्मिक शक्ति या आत्मिक ज्ञान ही मेरा सबसे बडा कवच है, जिससे मैं सब प्रकारके शत्रुओंसे सुरक्षित रह सकता हूं, मेरे अंदर अहिंसाका भाव पूर्ण रूपसे स्थिर रहा, तो जो जो मेरे पास आवेंगे उनके अंदरसे भी शत्रुताका भाव दूर हो जायगा"

इत्यादि वैदिक धर्मकी शिक्षा अन्तिम साध्य है, मनुष्यको यही बात अंतमें स्वीकारनी है, परंतु यह स्वीकार बाह्य दबावसे नहीं होना चाहिये, परंतु अंत:स्फूर्तिसेही होना चाहिये, अपना स्वभाव ही ऐसा बनाना चाहिये। इसी भावसे मनुष्यका सबसे अधिक कल्याण है।

अन्य कवच। क्षात्र कवच।

शरीरके, नगरोंके तथा देशोंके अन्यान्य कवच उक्त विश्वासके अभावमें आवश्यक ही हैं। स्वसंरक्षणके शस्त्रास्त्र आदि सब इस अवस्थामें ही सहायक है। अर्थात् जबतक जनता पूर्वोक्त अधिकारके लिये योग्य नहीं होती, तबतक शूरवीर क्षत्रियगण राष्ट्रका संरक्षण इन शस्त्रास्त्रोंसे करें। ये क्षात्र साधन है। ज्ञान कवचसे सुरक्षित होना ब्राह्म साधन है और लोहेके कवचों तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुरक्षित होना क्षात्र-साधन है। ब्राह्मसाधन स्वीकारने योग्य जनताकी उन्नति धर्मसाधनसे करनी चाहिये और जबतक उतनी उन्नति नहीं होती, तबतक क्षात्रसाधनसे शत्रुओंका प्रतिकार करना योग्य है। क्षात्रसाधनोंसे युद्धोंके बहुत होनेसे ही मनुष्य इन साधनोंकी क्रूरताका अनुभव करता है और ब्राह्मसाधनको स्वीकारनेका यत्न करता है।

इस प्रकार युद्ध भी मनुष्यको ब्राह्मसाधनतक पहुंचानेवाले मार्गदर्शक बनते हैं।

दासभावका नाश।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि "जो अपना या पराया हमें दास बनाने की चेष्टा करता है उसका नाश करना चाहिये।" राष्ट्रीय पारतंत्र्य शारीरिक दास भावका द्योतक है, इसके अतिरिक्त मानसिक, बौद्धिक तथा वाचिक, पारतंत्र्य भी है और ये सबसे अधिक घातक हैं। किसी प्रकारका भी पारतंत्र्य जो अपने नाशका कारण हो वह स्वीकारना नहीं चाहिये, परंतु उसके कारणको दूर करना चाहिये। आर्योंको दास कर्मी नहीं बनना चाहिये। स्वाधीनता ही मनुष्यका साध्य है। ज्ञान और पुरुषार्थसे स्वाधीनता-बंधनसे मुक्ति-प्राप्त होती है, इसका भी आशय यही है। मनुष्यके सब दुःख दासत्वके कारण हैं। इसलिये कोई मनुष्य या कोई राष्ट्र दूसरे मनुष्यको या राष्ट्रको दासत्वमें दबानेका यत्न न करे और यदि किसीसे ऐसा प्रयत्न हुआ तो सब मनुष्य उसका विरोध करें।

दासभावको हटानेका उपदेश पाठक इस सूक्तमें विशेष प्रकारसे देखें और उसको अपने जीवनमें घटावें। पाठक इस सूक्तके इस प्रकार विचार करनेसे बहुत ही बोध प्राप्त कर सकते है।

महान् शासक।

(२०)

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—सोमः)

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमा॒स्मिन्य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृजि॒ना द्वेष्या॒ या ॥ १ ॥
यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो॒ऽघायू॒नामु॒दीर॑ते। यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्या॑वयतं॒ परि॑ ॥ २ ॥
इ॒तश्च॒ यद॒मुत॑श्च॒ यद्व॒धं व॑रुण यावय। वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥
शा॒स इ॒त्था म॒हाँ अ॑स्यमित्रसा॒हो अ॑स्तृ॒तः। न यस्य॑ ह॒न्यते॒ सखा॒ न जी॒यते॑ क॒दा च॒न ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (देव सोम) सोम देव ! (अ-दार-सृत् भवतु) आपसकी फूट उत्पन्न करनेका कार्य न हो। हे (मरुतः) मरुतो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (नः मृडत) हमें सुखी करो। (अभि-भाः नः मा विदत्) पराभव हमारे पास न आवे, (अशस्तिः मो) अकीर्ति हमें प्राप्त न हो, (या द्वेष्या वृजिना) जो द्वेष बढानेवाले कुटिल कृत्य हैं वे भी (नः मा विदत्) हमारे पास न हों ॥ १ ॥ (अघायूनां) पापमय जीवनवालोंका (यः सेन्यः वधः) जो सेनाके शूर वीरोंसे वध (अद्य उदीरते) आज हो रहा है। हे मित्र और वरुणो ! (युवं) तुम (तं अस्मत् परि यावयतं) उसको हमसे सर्वथा हटा दो ॥ २ ॥ हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ ईश्वर ! (यत् इतः च यत् अमुतः) जो यहांसे और जो वहांसे वध होगा उस (वधं यावय) उसको भी दूर कर दे। (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख अथवा आश्रय हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वधको अतिदूर कर दे ॥ ३ ॥ (इत्था महान् शासः) इस प्रकार सत्य और महान् शासक ईश्वर (अ-मित्र-साहः अस्तृतः) शत्रुका पराजय करनेवाला और कभी न हारनेवाला (असि) तू है। (यस्य सखा) जिसका मित्र (कदाचन न हन्यते) कभी भी नहीं मारा जाता और (न जीयते) न पराजित होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! आपसकी फूट बढानेवाला कोई कार्य हमसे न हो। इस सत्कर्मसे हमें सुख प्राप्त हो ! पराजय, अपकीर्ति, अयश, द्वेष और कुटिलता हमारे पास न आवें ॥ १ ॥ हे देव ! शूरवीरोंके द्वारा जो पापियोंके वध हो रहे हैं, वैसे वधोंके प्रसंग भी हमारे अंदर न उत्पन्न हों ॥ २ ॥ हे प्रभु ! हमारे अंदर अथवा दूसरोंके अंदर वध करनेका भाव न रहे। वधका भाव ही हम सबसे दूर कर और तेरा बडा आश्रय—सुखपूर्ण आश्रय-हमें दो ॥ ३ ॥ इस रीतिसे तेराही महान् सत्य शासन सबके ऊपर है, तूही सच्चा शत्रुओंका दूर करनेवाला और सर्वदा अपराजित है, तेरा मित्र बनकर जो रहता है न उसका वध कभी होगा और नही उसका कभी पराजय होगा ॥ ४ ॥

पूर्व सूक्तसे संबंध।

पूर्व सूक्तके अंतमें " ईश्वरभक्तियुक्त सत्यज्ञान ही मेरा सच्चा कवच है " यह विशेष बात कही है, उसीका विशेष वर्णन इस सूक्तमें हो रहा है। सबसे पहिले आपसकी फूटको दूर करनेकी सूचना दी है।

आपसकी फूट हटा दो।

" अ-दार-सृत् भवतु " हमारा आचरण फूट हटानेवाला हो, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। देखिये—

दार=फूट (दृ=फटना धातु)
दार+सृत्=फूटका प्रयत्न, फूटका कार्य।
अ+दार+सृत्=फूट हटानेवाला कार्य।

" अ+दार+सृत् भवतु" अर्थात् "आपसकी फूट हटानेवाला कार्य हम सबसे होता रहे। " आपस की फूटके कारण शत्रु हमला करते हैं और शत्रुओंके हमले हो जानेपर हमें शत्रुओंको भगानेका यत्न करना पडता है। इसलिये युद्धका कारण आपस की फूट है। यदि आपसकी फूट न होगी और सब लोग एक मतसे रहेंगे तो दूसरे लोग हमला करनेके लिये भी डरेंगे। जहां आपसमें फूट होती है वहीं शत्रुओंका हमला होता है। इसलिये युद्धोंका कारण आपसकी फूटमें देखना और आपस की फूटको दूर करना चाहिये। राष्ट्रीय सुखकी यही बुनियाद है।

आपसकी फूट हट जानेके पश्चात् ही (मृडत) सुख होनेकी संभावना है। अन्यथा सुखकी आशा नहीं है। आपसकी फूट हटानेसे जो लाभ होगा वह निम्नलिखित प्रकारसे प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें वर्णन किया है।

१ अभिभा नः मा विदत्=पराजय हमारे पास न आवे,
२ अशस्तिः मो=दुष्कीर्ति हमारे पास न आवे,
३ वृजिना नः मा=कुटिल कृत्य हमसे न हों,
४ द्वेष्या नः मा विदत्=द्वेष भाव हमारे पास न आवें।

जिस समय हम आपसकी फूट हटायेंगे, उस समय हमें किसीके द्वेष करनेका कोई कारण नहीं रहेगा, किसीसे कपटयुक्त कुटिल व्यवहार करनेकी आवश्यकता नहीं पडेगी, हमारा कभी पराभव न होगा अथवा हमपर कोई आपत्ति नहीं आवेगी और हमारी अपकीर्ति भी नहीं होगी, क्योंकि जब हम आपसकी फूट हटाकर अपना उत्तम संगठन करेंगे और एकता के बलसे आगे बढेंगे, उस समय सब लोग हमारे मित्र बनकर हमारे साथ मित्रताका व्यवहार करेंगे, हम भी सबके साथ सरल व्यवहार करते जायगे, एकताके कारण हमारा बल बढेगा और उस हेतुसे कभी पराभव नहीं होगा तथा हमारा यश फैलता जायगा। (मंत्र १)

द्वितीय और तृतीय मंत्रमें जो सैनिक वीरोंसे होनेवाले दुष्टोंके संहारका वर्णन है, वह वर्णन भी हमारी आपसकी फूट के कारण ही दुष्ट लोग हमें सताते हैं और उनका वध करनेका प्रयोजन उत्पन्न होता है, अर्थात् यदि हमारा समाज सुसंगठित होगा तो उन वधकी जडही नष्ट होनेसे वह वध भी नहीं होंगे और हमें (महत् शर्म) बडा सुख प्राप्त होगा । "शर्म" शब्दका अर्थ "सुख और आश्रय" है । पूर्वापर संबंधसे यहां परमेश्वरका आश्रय अभीष्ट है। क्योंकि सच्चा सुख भी परमात्माके आश्रयसे ही होता है। (मंत्र. २, ३)

बडा शासक।

एक ईश्वर ही सबसे बडा शासनकर्ता है, उसके ऊपर किसी अन्यका अधिकार नहीं है, सब उसीके शासनमें कार्य करते हैं. वही सर्वोपरि है। वह शत्रुताका सच्चा नाशक और कभी पराजित न होनेवाला है। यदि ऐसे समर्थ प्रभुका मित्र बनकर कोई रहे तो उसका कभी नाश न होगा, और कभी पराजय भी न होगा। अर्थात् प्रभुका मित्र बनकर व्यवहार करनेवालेका यश सर्वत्र फैलेगा और उसका ही नाम सर्वत्र होगा। (मंत्र ४)

पूर्व सूक्तमें जिस "ज्ञान-कवच, ब्रह्म-वर्म" का वर्णन किया है वह ब्रह्म-कवच यही है कि "परमेश्वरका शासन सर्वोपरि मानना और उसका सखा बनकर व्यवहार करना।"

आशा है कि पाठक इस प्रकार प्रभुके मित्र बननेका यत्न करेंगे,

प्रजा-पालक-सूक्त।

(२१)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-इन्द्रः)

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥
वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज । वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥
अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् । वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अर्थ (स्वस्ति दा) मंगल देनेवाला, (विशां पतिः) प्रजाओंका पालक, (वृत्र हा) घेरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, (वि-मृधः वशी) विशेष हिंसकोंको वशमें करनेवाला, (वृषा) बलवान् (सोम पाः) सोमका पान करनेवाला, (अभयं-करः) अभय देनेवाला (इन्द्रः) प्रभु राजा (नः) हमारे (पुरः एतु) आगे चले, हमारा नेता बने ॥ १ ॥ हे इन्द्र ! (नः मृधः) हमारे शत्रुओंको (निजहि) मार डाल । (पृतन्यतः) सेनाके द्वारा हमपर हमला चढानेवालोंको (नीचा यच्छ) नीचेही प्रतिबंध कर । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है, या हमारा घात करना चाहता है, उसको (अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुंचा दें ॥ २ ॥ (रक्षः मृधः वि विजहि) राक्षसों और हिंसकोंको मार डाल, [वृत्रस्य हनू विरुज] घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबडोंको तोड दे । हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक प्रभो ! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्युं विरुज) उत्साहको तोड दे ॥ ३ ॥ हे (इन्द्र) प्रभो ! राजन् ! (द्विषतः मनः अप) द्वेषीका मन बदल दे । [जिज्यासतः वधं अप] हमारी आयुका नाश करनेवालेको दूर कर (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वधको दूर कर ॥४॥

भावार्थ—प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेरकर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृतपान करनेवाला, प्रजाको अभय देनेवाला राजा ही हमारा अग्रगामी बने ॥ १ ॥ हे राजन्! प्रजाके शत्रूका नाश

कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो घातपात और नाश करना चाहता है उसको भगा दे ॥ २ ॥ हिंसक क्रूर शत्रुओंको मारडाल, घेर कर सतानेवाले दुष्टोंको काट दो, सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नाश कर दे ॥ ३ ॥ शत्रुओंके मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड दें, नाश करनेवालोंको दूर कर दे, घातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्म ।

यह "अभयगण" का सूक्त है। इस सूक्तमें क्षात्रधर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है उसका मनन पाठक करें। उत्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें वर्णन किये हैं। इस मंत्रकी कसौटीसे राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है। अन्य तीन मन्त्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करनेका उपदेश है। सब प्रकारके अंतर्बाह्य शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है। यह सूक्त अति सरल है इसलिये इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है।

[चतुर्थ अनुवाक समाप्त]

हृदयरोग तथा कामिलारोग

की चिकित्सा

(२२)

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः)

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते । गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥
परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि । यथाऽयमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥
या रोहिणीर्देवत्याङ्गावो या उत रोहिणीः । रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥
शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि । अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ-(ते हृद्-द्योतः च हरिमा) तेरे हृदयकी जलन (और पीलापन सूर्यं अनु उदयताम्) सूर्यके पीछे चला जावे। गौके अथवा सूर्यके (रोहितस्य तेन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्ट पुष्ट करते हैं ॥ १ ॥ (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये घेरते हैं। (यथा) जिससे (अयं) यह (अ-रपा असत्) नीरोग हो जाय और (अ-हरितः भुवत्) पीलक रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २ ॥ (याः देवत्या रोहिणीः गावः) जो दिव्य लाल रंगकी गौवें हैं (उत याः रोहिणीः) और जो लाल रंगकी किरणें हैं (ताभिः) उनसे (रूपं रूपं) सुंदरता और (वयः वयः) बलके अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुम्हें घेरते हैं ॥ ३ ॥ (ते हरिमाणं) पीलक रोगको (शुकेषु रोपणाकासु च) तोते और पौधोंके रंगोंमें (दध्मसि) धारण करते हैं (अथो) और ते (हरिमाणं) तेरा फीकापन हम (हारिद्रवेषु) हरी वनस्पतियोंमें (नि दध्मसि) रख देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेरा हृदयरोग और पीलक रोग सूर्यकिरणोंके साथ संबंध करनेसे चला जायगा। लाल रंगकी गौवें और सूर्यकी लाल किरणें होती हैं, इनके द्वारा नीरोगता हो सकती है ॥ १ ॥ लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है, पीलक रोग

दूर होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ॥ २ ॥ लाल रंगकी गौवें और लाल रंगकी सूर्यकिरणें दिव्य गुणोंसे युक्त होती हैं। रूप और बलके अनुसार उनके द्वारा रोगी घेरा जावे ॥ ३ ॥ इस लाल रंगकी चिकित्सासे रोगीका पीलापन तथा फीकापन दूर होगा और वह हरे पक्षी और हरी वनस्पतियोंमें जाकर निवास करेगा, अर्थात् रोगीके पास फिर नहीं आवेगा ॥ ४ ॥

वर्णचिकित्सा।

यह सूक्त " वर्ण-चिकित्सा " के महत्त्वपूर्ण विषयका उपदेश दे रहा है। मनुष्यको हृदयका रोग और कामिला नामक पीला रोग कष्ट देते हैं। अपचन, पेटके विकार, तमाखू, मद्यपान आदि अनेक कारण हैं, जिनके कारण हृदयके दोष उत्पन्न होते हैं। तरुण अवस्थामें वीर्यदोष होनेके कारण भी हृदयके विकार उत्पन्न होते हैं। कामिला रोग पित्तके दूषित होनेके कारण उत्पन्न होता है। इन रोगोंके कारण मनुष्य कृश, निस्तेज, फीका, दुर्बल और दीन होता है। इसलिये इन रोगोंको हटानेका उपाय इस सूक्तमें वेद बता रहा है। सूर्यकिरणों द्वारा चिकित्सा तथा लाल रंगवाली गौओंके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते हैं और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है।

सूर्यकिरण-चिकित्सा।

सूर्यकिरणोंमें सात रंग होते हैं अथवा रंगवाली शीशोंकी सहायतासे इष्ट रंगके किरण प्राप्त किये जा सकते हैं। नंगे शरीरपर इन किरणोंको रखनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते हैं। *यह रंगीन सूर्यकिरणोंका स्नान ही है।* यह नंगे शरीरसे ही करना चाहिये। छतपर लाल रंगके शीशे रखनेसे कमरेमें लालरंगकी किरणें प्राप्त हो सकती हैं, इसमें नंगे शरीरसे रहनेसे यह चिकित्सा साध्य हो सकती है।

जिस प्रकार उक्त रोगोंके लिये लाल रंगकी किरणोंसे चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य वर्णोंकी सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा होना संभवनीय है। इसलिये सुयोग्य वैद्य इसका अधिक विचार करें और सूर्यकिरण-चिकित्सासे रोगियोंके रोग दूर करके जनताके सुखकी वृद्धि करें।

परिधारण विधि।

सूर्यकिरण-चिकित्सामें " परिधारण विधि " का महत्त्व है इस सूक्तमें " परि दध्मसि " शब्द वार वार, " निदध्मसि " शब्द एक वार और " दध्मसि " शब्द एक वार आया है। " चारों ओरसे धारण करना " यह भाव इन शब्दोंसे व्यक्त होता है। शरीरके चारों ओरसे संबंध करनेका नाम " परिधारण " है। जिस प्रकार तालावके पानीमें तैरनेसे शरीरके साथ जलका परिधारण हो सकता है, उसी प्रकार लाल रंगकी सूर्यकिरणें कमरेमें लेकर उसमें नंगे शरीर रहना और शरीरको उलट पुलट करके सब शरीरके साथ लाल रंगके सूर्यकिरणोंका संबंध करना परिधारण विधिका तात्पर्य है।

१ रोहितैः वर्णैः परिदध्मसि। (मंत्र २)
२ दीर्घायुत्वाय परिदध्मसि। (")
३ गो रोहितस्य वर्णेन त्वा परिदध्मसि। (मंत्र १)
४ ताभिष्ट्वा परिदध्मसि। (मंत्र. ३)

ये सब मंत्रभाग रक्त वर्णके सूर्यकिरणोंका स्नान अर्थात् " परिधारण " करनेका विधान कर रहे हैं। रोगीको नंगे शरीर पूर्वोक्त रक्त वर्णके शीशेवाले कमरेमें रखने और उसके शरीरका संबंध रक्त वर्णकी सूर्यकिरणोंके साथ करनेसे यह परिधारण हो सकता है और इससे नीरोगता, दीर्घ आयुष्य-प्राप्ति तथा बलप्राप्ति भी हो सकती है। अन्यान्य रोगोंके निवारणके लिये अन्यान्य वर्णोंके किरणोंकी स्नानोंकी योजना करना चतुर वैद्योंकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है।

रूप और बल।

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिधारण-विधि अथवा किरण-स्नान करना योग्य है यह सूचना तृतीय मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते हैं। रूपका अर्थ शरीरका सौंदर्य, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमारता है। यदि गोरा शरीर हो, यदि सुकुमार नाजुक शरीर हो तो उसके लिये कितना किरण स्नान देना चाहिये, उसके लिये सवेरेका कोमल प्रकाश, या दोपहरका कठोर प्रकाश बर्तना चाहिये, इत्यादिका विचार करना वैद्योंका कार्य है। जो काले शरीरवाले तथा सुदृढ या कठोर शरीरवाले होते हैं उनके लिये किरणस्नानका प्रमाण भी भिन्न होना योग्य है। तथा जो घरमें बैठनेवाले लोग होते हैं और जो धूपमें कार्य करनेवाले होते हैं उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है। इस विचारका नाम ही ' रूप और बलके अनुसार विचार " करना है। (रूपं रूपं वयो वयः) यह प्रमाण दर्शानेवाला मंत्रभाग अत्यंत महत्त्वका है। रोगीकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगीका रहना सहना, रोगीका पेशा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके किरणस्नानकी योजना करनी चाहिये। नहीं तो कोमल प्रकृतिवालेको अधिक स्नान देनेसे आरोग्यके

स्थानपर अनारोग्य होगा। अथवा कठोर प्रकृतिवालेको अल्प प्रमाणमें देनेसे उसपर कुछ भी परिणाम न होगा। इस दृष्टीसे तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध बहुत मनन करने योग्य है।

रंगील गौके दूधसे चिकित्सा।

इसी सूक्तमें रंगीन गौके दूधसे रोगीकी चिकित्सा करनेकी विधि भी बता दी है। गौवें सफेद, काले, लाल, भूरे, नसवारी, बादामी तथा विविध रंगके धब्बोंवाली होती हैं। सूर्यकिरणें गौकी पीठपर गिरती हैं और उस कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है। श्वेत गौके दूधका गुणधर्म भिन्न होगा, काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, उसी प्रकार अन्यान्य रंगवाली गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे। एक वार वर्ण-चिकित्साका तत्त्व मान लेनेपर यह परिणाम मानना भी पडता है। इसीलिये इस सूक्तके मंत्र ३ में "रोहिणीः गावः" अर्थात् लाल गौवोंके दूधका तथा अन्यान्य गोरसोंका उपयोग हृदय विकार और कामला रोगकी निवृत्तिके लिये करनेका विधान है। यह विधान मनन करनेसे बडा बोधप्रद प्रतीत होता है। और इसके मनन करनेसे अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य गौवोंके गोरसोंका उपयोग करनेका उपदेश भी प्राप्त होगा वर्ण-चिकित्सा का ही तत्त्व गोदुग्ध-चिकित्साके लिये बर्ता जायगा। दोनोंके बीचमें तत्त्व एक ही है।

पथ्य।

वर्ण-चिकित्साके साथ साथ गोरस-सेवनका पथ्य रखनेसे अत्यधिक लाभ होना संभवनीय है। अर्थात् लालरंगके किरणोंके परिधारण करनेके दिन लाल गौके दूधका सेवन करना इत्यादि प्रकार यह पथ्य समझना उचित है।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

श्वेतकुष्ठ-नाशन-सूक्त।

(२३)

(ऋषिः--अथर्वा। देवता--ओषधिः)

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥
किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्। आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥
असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव। असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥
अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि। दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे रामा कृष्णा और असिक्नी औषधि! तू (नक्तं जाता असि) रात्रिके समय उत्पन्न हुई है। हे (रजनि) रंग देनेवाली! (यत् किलासं पलितं च) जो कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ है (इदं रजय) उसको रंग दे ॥ १ ॥ (इतः) इसके शरीरसे (किलासं पलितं) कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ तथा (पृषत्) धब्बे आदि सब (निः नाशय) नष्ट कर दे। (शुक्लानि परा पातय) श्वेत धब्बे दूर कर दे (स्वः वर्णः) अपना रंग (त्वा) तुझे (आविशतां) प्राप्त हो ॥ २ ॥ (ते प्रलयनं) तेरा लयस्थान (असितं) कृष्ण वर्ण है तथा (तव अवस्थानं) तेरा स्थान भी (असितं) काला है हे औषधे! तू स्वयं (असिक्नी असि) काली है इसलिये (इतः) यहांसे (पृषत्) धब्बे (निः नाशय) नष्ट कर दे ॥ ३ ॥ (दूष्या कृतस्य, दोषके कारण उत्पन्न हुए (अस्थिजस्य तनूजस्य च) हड्डीमें तथा शरीरमें उत्पन्न हुए (किलासस्य यत् त्वचि श्वेतं लक्ष्म) कुष्ठका जो त्वचापर श्वेत चिन्ह है उसको (ब्रह्मणा अनीनशम्) इस ज्ञानसे मैंने नाश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—रामा कृष्णा असिक्नी ये औषधियां हैं, इनका पोषण रात्रिके समय होता है, इनमें रंग चढानेका सामर्थ्य है।

इसलिये इनके लेपनसे श्वेतकुष्ठ दूर होता है ॥ १ ॥ शरीरपर जो श्वेत कुष्ठके धब्बे होते हैं, उन श्वेत धब्बोंको इस औषधिके लेपनसे दूर कर दे और अपनी चमडीका असली रंग शरीरपर आने दें ॥ २ ॥ यह वनस्पति नष्ट होनेपर भी काला रंग बनता है, उसका स्थान काले रंगका होता है और वनस्पति भी स्वयं काले रंगवाली है, इसी कारण यह वनस्पति श्वेत धब्बोंको दूर कर देती है ॥ ३ ॥ दुराचारके दोषोंसे उत्पन्न, हड्डीसे उत्पन्न, मांससे उत्पन्न हुए सब प्रकारके श्वेत कुष्ठके धब्बोंको इस ज्ञानसे दूर किया जाता है ॥ ४ ॥

श्वेतकुष्ठ ।

शरीरका रंग गव्हमी सा होता है । गोरे कालेका भेद होनेपर भी चमडी का एक विलक्षण रंग होता है । जो रंग नष्ट होनेसे चमडीपर श्वेतसे धब्बे दिखाई देते हैं। उनका नाम ही श्वेत कुष्ठ होता है । यह श्वेत कुष्ठ शरीरपर होनेसे शरीरका सौंदर्य नष्ट होता है और सुडौल सुंदर मनुष्य भी कुरूपसा दिखाई देता है, इसलिये इस (श्वेत लक्ष्म) श्वेत चिन्ह-श्वेत कुष्ठ -दूर करनेका उपाय वेदने यहां बताया है ।

निदान ।

वेद इस श्वेत कुष्ठके निदान इस सूक्तमें निम्न प्रकार देता है—

(१) दूष्या कृतस्य-दोषयुक्त कृत्य अर्थात् दोषपूर्ण आचरण । सदाचार न होनेसे अथवा आचारविषयक कोई दोष कुलमें रहनेसे यह कुष्ठ होता है । जिस प्रकारसे व्यक्तिदोपसे तथा कुलके दोषसे भी यह कुष्ठ होता है ।

(२) अस्थिजस्य—अस्थिगत दोषसे यह होता है ।

(३) तनूजस्य—शारीरिक अर्थात् मांसके दोषसे होता है ।

(४) त्वचि-चमडीके अंदर कुछ दोष होनेसे भी यह होता है ।

ये दोष सबके सब हों या इनमेंसे थोडे हों यह कुष्ठ हो जाता है ।

दो भेद और उनका उपाय ।

इस कुष्ठमें दो भेद होते हैं, एक किलास और दूसरा पलित। पलित शब्दसे केवल श्वेतत्वका ही बोध होता है इस कारण यह श्वेत धब्बोंका वाचक स्पष्ट है । इसको छोडकर दूसरे कुष्ठका नाम किलास प्रतीत होता है, जिसमें चमडी विरूपसी बनती है। सुयोग्य वैद्य इन शब्दोंका अर्थ निश्चय करें ।

" रामा, कृष्णा, असिक्नी " इन औषधियोंका इस कुष्ठ-पर उपयोग होता है । ये नाम निश्चयसे किन औषधियोंके बोधक हैं और किन औषधियोंका उपयोग इस कुष्ठके निवारण करनेके लिये हो सकता है, यह निश्चय केवल शब्द शास्त्रज्ञ नहीं कर सकता, न यह विषय केवल कोशोंकी सहायतासे हल हो सकता है । इस विषयमें केवल सुयोग्य वैद्य ही निश्चित मत दे सकते हैं, तथा वे ही योग्य मार्गसे खोज कर सकते हैं । इसलिये इस लेखद्वारा वैद्योंको प्रेरणा देना ही यहां हमारा कार्य है । वेदमें बहुत विद्याएं होनेसे अनेक विद्याओंके पंडित विद्वान मिलनेपर ही वेदकी खोज हो सकती है । अतः सुयोग्य वैद्योंको आयुर्वेदविषयक वेदभागकी खोज लगानी चाहिये और यह प्रत्यक्ष विषय होनेसे इन औषधादिका प्रयोग करके ही इसका सप्रयोग प्रतिपादन करना चाहिये । आशा है कि वैद्य और डाक्टर इस विषयमें योग्य सहायता देंगे ।

रंगका घुसना ।

कई लोग समझते हैं कि ऊपर ही ऊपर वनस्पतिका रस आदि लगानेसे चमडीका ऊपरका रंग बदल जाता है, परंतु यह सत्य नहीं है । इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें—

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः ।

" अपना रंग अंदर घुस जाय " यह मंत्रभाग बता रहा है कि इन औषधियोंका परिणाम चमडीके अंदर ही होना अभीष्ट है, न कि केवल ऊपर ही ऊपर । ऊपर परिणाम हो परंतु " विशता " क्रिया " अंदर घुसने " का भाव बता रही है । इसलिये चमडीके अंदर रंग घुस जाता है और वहां वह स्थिर हो जाता है । यह मंत्रका कथन स्पष्ट है ।

औषधियोंका पोषण ।

औषधियोंका पोषण दिनके समय होता है या रात्रिके समय, यह प्रश्न बडे शास्त्रीय महत्त्वका है । औषधियोंका राजा सोम-चंद्र-है, इसलिये औषधियोंका पोषण और वर्धन रात्रिके समय होता है ' यही बात " नक्तं जाता " शब्दोंसे इस सूक्तमें बतायी है । रात्रिके समय बनी बढी या पुष्ट हुई औषधि होती है । प्रायः सभी औषधियोंके संबंधमें यह बात सत्य है ऐसा हमारा ख्याल है। वनस्पति विद्या जाननेवाले लोग इस कथनका अधिक विचार करें ।

" सौभाग्य-वर्धन " के (१८ वें) सूक्तमें सौंदर्यवर्धनका उपदेश दिया है, इसलिये उस कार्यके लिये श्वेत कुष्ठ यदि किसीको हो, तो उसको दूर करना आवश्यक ही है। अतः पाठक इस सूक्तको पूर्वोक्त १८ वें सूक्तके साथ पढें। आशा है कि पाठक इस प्रकार पूर्वापर सूक्तोंका संबंध देखकर सूक्तार्थसे अधिकसे अधिक लाभ उठावें।

कुष्ठ-नाशन सूक्त।

(२४)

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-आसुरी वनस्पतिः।)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ। तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥
आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्। अनीनशत्किलासं सरूपामकरत्त्वचम् ॥ २ ॥
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता। सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥
श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

अर्थ-सुपर्ण (प्रथमः जातः) सबसे पहिले हुआ (तस्य पित्तं) उसका पित्त (त्वं आसिथ) तूने प्राप्त किया है। (युधा जिता) युद्धसे जीती हुई वह आसुरी (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको (तत् रूपं चक्रे) वह रूप करती रही ॥ १ ॥ (प्रथमा आसुरी) पहिली आसुरीने (इदं किलास-भेषजं) यह कुष्ठका औषध (चक्रे) बनाया। (इदं) यह (किलास-नाशनं) कुष्ठ रोगका नाश करनेवाला है। इसने (किलासं) कुष्ठका (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचं) त्वचाके (स-रूपां) समान रंगवाली (अकरत्) बना दिया ॥ २ ॥ हे औषधे! तेरी माता (सरूपा) समान रंगवाली है तथा तेरा पिता भी समान रंगवाला है। इसलिये (त्वं स-रूप-कृत्) तू भी समानरूप करनेवाली है (सा) वह तू (इदं सरूपं) इसको समान रंगरूपवाला (कृधि) कर ॥ ३ ॥ श्यामा नामक वनस्पति (सरूपं-करणी) समान रूपरंग बनानेवाली है। यह (पृथिव्याः अध्युद्भृता) पृथ्वीसे उखाडी गई है। (इदं उ सु प्रसाधय) यह कर्म ठीक प्रकार सिद्ध कर और (पुनः रूपाणि कल्पय) फिर पूर्ववत् रंगरूप बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सुपर्ण नाम सूर्य है उसकी किरणोंमें पित्त बढानेकी शक्ति है। सूर्यकिरणों द्वारा वह पित्त वनस्पतियोंमें संचित होता है। योग्य उपायोंसे स्वाधीन बनी हुई वनस्पतियां रूप रंगका सुधार करनेमें सहायक होती हैं ॥ १ ॥ आसुरी वनस्पतिसे कुष्ठ रोगके लिये उत्तम औषध बनता है। यह निश्चयसे कुष्ठ रोग दूर करती है और इससे शरीर की त्वचा समान रंग रूपवाली बनती है ॥ २ ॥ जिन पौधोंके संयोगसे यह वनस्पति बनती है, वे पौधे (अर्थात् इसके माता पितारूपी पौधे भी) शरीरका रंग सुधारनेवाले हैं। इसलिये यह वनस्पति भी रंगका सुधार करनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥ यह श्यामा वनस्पति शरीर की चमडीका रंग ठीक करनेवाली है। यह भूमिसे उखाडी हुई यह कार्य करती है। अतः इसके उपयोगसे शरीरका रंग सुधारा जाय ॥ ४ ॥

वनस्पतिके माता पिता।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें वनस्पतिके मातापिताओंका वर्णन है अर्थात् दो वृक्षवनस्पतियोंके संयोगसे बननेवाली यह तीसरी वनस्पति है। दो वृक्षोंके कलम जोडनेसे तीसरी वनस्पति विशेष गुणधर्मसे युक्त बनती है, यह उद्यानशास्त्र जाननेवाले जानते ही हैं। कुष्ठनाशक श्यामा आसुरी वनस्पति इस प्रकार बनायी जाती है। शरीरके रंगका सुधार करनेवाली दो औषधियोंके संयोगसे यह श्यामा बनती है। जो आधारका पौधा होता है उसका

नाम माता और जिसकी शाखा उसपर चिपकायी या जोडी जाती है वह उसका पिता तथा उस संयोगसे जो नयी वनस्पति बनती है वह उक्त दोनोंका पुत्र है। पाठक इस उद्यान-विद्याको इस मंत्रमें देखें। (मंत्र ३)

सरूप-करण।

शरीरके वास्तविक रंगके समान कुष्ठरोगके स्थानके चमडेका रंग बनाना "सरूपकरण" का तात्पर्य है आसुरी श्यामा वनस्पति यह करती है इसीलिये कुष्ठरोगपर इसका उपयोग होता है। (मं.२-३)

वनस्पतिपर विजय।

"युद्धसे जीती हुई आसुरी वनस्पति औषध बनाती है।" यह प्रथम मंत्रका कथन विशेष मननीय है। वैद्यको हरएक दवापर इस प्रकार प्रभुत्व संपादन करना पडता है। औषधि उसके हाथमें अनेकी आवश्यकता है। वनस्पतिके गुणधर्मोंसे पूर्ण परिचय और उसका उपयोग करनेका उत्तम ज्ञान वैद्यको होना आवश्यक है। नहीं तो औषध सिद्ध नहीं कहा जा सकता। (मं. १)

सूर्यका प्रभाव।

सूर्यमें नाना प्रकारके वीर्य हैं। वे वीर्य किरणों द्वारा वनस्पतियोंमें जाते हैं। वनस्पतिद्वारा वे ही वीर्य प्राप्त होते हैं और रोगनाश अथवा बलवर्धन करते हैं। इस प्रकार यह सब सूर्यका ही प्रभाव है। (मं. १)

सूर्यसे वीर्य-प्राप्ति।

सूर्यसे नाना प्रकारके वीर्य प्राप्त करनेकी यह सूचना बहुत ही मनन करने योग्य है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋग्वेद १।११५।१)

" सूर्य ही स्थावर जंगम का आत्मा है " यह वेदका उपदेश भी यहां मनन करना चाहिये। जब सूर्यसे नाना प्रकारसे वीर्य प्राप्त करके हम अधिक वीर्यवान हो जायगे तभी यह मंत्रभाग हमारे अनुभवमें आ सकता है।

नंगे शरीर सूर्यकिरणोंमें विचरनेसे और सूर्यकिरणोंद्वारा अपनी चमडी अच्छी प्रकार तपानेसे शरीरके अंदर सूर्यका जीवन संचारित होता है उसी प्रकार सूर्यसे तपा हुआ वायु प्राणायामसे अंदर लेनेके अभ्याससे क्षयरोगमें भी बडा लाभ पहुंचता है। इसी प्रकार कई रीतियोंसे हम सूर्यसे वीर्य प्राप्त कर सकते हैं। पाठक स्वयं इसका अधिक विचार करेंगे तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है।

वैद्योंको उचित है, कि वे खोजसे श्यामा वनस्पतिको प्राप्त करें और उसके योगसे कुष्ठ रोग दूर करें। तथा सूर्यसे अनेक वीर्य प्राप्त करनेके उपाय ढूंढकर निकाल दें और उनका उपयोग आरोग्य बढानेमें करते रहें।

शीत-ज्वर-दूरीकरण सूक्त।

(२५)

(ऋषिः-भृग्वङ्गिराः। देवता-अग्निः, तक्मा।)

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत्प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म॒धृतो॒ नमां॑सि।
तत्र॑ त आ॒हुः प॑र॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः श॑कल्ये॒षि यदि॑ वा ते ज॒नित्र॑म्।
ह्रूडु॒र्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि॑ शो॒को यदि॑ वाऽभिशो॒को यदि॑ वा॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्यासि॑ पु॒त्रः।
ह्रूडु॒र्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

अर्थ—(यत्र) जहां (धर्म-धृतः) धर्मका पालन करनेवाले सदाचारी लोग (नमांसि कृण्वन्) नमस्कार करते हैं, वहां (प्रविश्य) प्रवेश करके (यत् अग्निः) जो अग्नि (आपः अदहत्) प्राणधारक जलतत्त्वको जलाता है (तत्र) वहां (ते परमं जनित्रं) तेरा परम जन्म स्थान है, ऐसा (आहुः) कहते हैं । हे (तक्मन्) कष्ट देनेवाले ज्वर ! (सः संविद्वान्) जानता हुआ तू (नः परि वृङ्ग्धि) हमको छोड दे ॥ १ ॥ (यदि अर्चिः) यदि तू ज्वालारूप, (यदि वा शोचिः असि) अथवा यदि तापरूप हो, (यदि ते जनित्रं) यदि तेरा जन्म स्थान (शकल्य-इषि) अंगप्रत्यंगमें परिणाम करता है, तो तू (ह्रूडुः नाम असि) ह्रूडु [अर्थात् गति करनेवाला] इस नामका है । अतः हे (हरितस्य देव तक्मन्) पीलक रोगको उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव ! (सः संविद्वान्) वह तू यह जानता हुआ (नः परि वृङ्ग्धि) हमें छोड दे ॥ २ ॥ (यदि शोकः) यदि तू पीडा देनेवाला अथवा (यदि अभि शोकः) यदि सर्वत्र पीडा उत्पन्न करनेवाला हो, (यदि वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि) किंवा वरुण राजाका तू पुत्र ही क्यों न हो, तुम्हारा नाम ह्रूडु है । हे पीलक रोगके उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव ! तू हम सबको यह जानकर छोड दे ॥ ३ ॥ (शीताय तक्मने नमः) शीत ज्वरके लिये नमस्कार, (रूराय शोचिषे नमः कृणोमि) रूखे तापको भी नमस्कार करता हूं । (यः अन्येद्युः) जो एक दिन छोडकर आनेवाला ज्वर है, (उभयद्युः) जो दो दिन आनेवाला (अभ्येति) होता है, जो (तृतीयकाय) तिहारी है, उस (तक्मने नमः अस्तु) ज्वरके लिये नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ-धार्मिक लोग जहां प्राणायामद्वारा पहुंचते और प्राणशक्तिका महत्त्व जानकर उसको प्रणाम भी करते हैं उस प्राणके मूलस्थानमें पहुंचकर यह ज्वरका अग्नि प्राणधारक आप् तत्त्वको जला देता है । यही इस ज्वरका परम स्थान है । यह जानकर इससे मनुष्य बचे ॥ १ ॥ यह ज्वर बहुत जोरकी तपिश चढानेवाला हो किंवा अंदर ही अंदर तपनेवाला हो, किंवा हरएक अंग-प्रत्यंगको कमजोर करनेवाला हो, वह हरएक जीवनके अणुको हिला देता है इसलिये इसको " ह्रूडु " कहते हैं, यह पाण्डुरोग अथवा कामिला रोगको उत्पन्न करता है, यह जानकर हरएक मनुष्य इससे अपना बचाव करें ॥ २ ॥ कई ज्वर विशेष अंगमें दर्द उत्पन्न करते हैं और कई संपूर्ण अंगप्रत्यंगोंमें पीडा उत्पन्न करते हैं, जलरूप वरुणसे इनकी उत्पत्ति होती है, यह हरएक अंगप्रत्यंगको हिला देता है और पीलक रोग शरीरमें उत्पन्न कर देता है । इसलिये हरएक मनुष्य इनसे बचता रहे ॥ ३ ॥ शीत ज्वर, रूक्ष ज्वर, प्रतिदिन आनेवाला, एकदिन छोडकर आनेवाला, दो दिन छोडकर आनेवाला, तीसरे दिन आनेवाला ऐसे अनेक प्रकारके जो ज्वर हैं उनको नमस्कार हो अर्थात् ये हम सबसे दूर रहें ॥ ४ ॥

ज्वरकी उत्पत्ति ।

यह " तक्मनाशन गण " का सूक्त है और इस सूक्तमें ज्वरकी उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार लिखी है ।

वरुणस्य राज्ञः पुत्रः । (मंत्र ३)

यह " वरुण राजाका पुत्र है । " अर्थात् वरुणसे इसकी उत्पत्ति है । जलका अधिपति वरुण है यह सब जानते ही हैं । वरुण राजाके जलरूपी साम्राज्यमें यह जन्म लेता है । इसका सीधा आशय यह व्यक्त हो रहा है कि जहां जल स्थिररूपमें रहता या सडता है वहांसे इस ज्वरकी उत्पत्ति होती है । आजकल भी प्रायः यह बात निश्चितसी हो चुकी है कि जहां जल प्रवाहित नहीं होता परंतु रुका रहता है, वहां ही शीतज्वरकी उत्पत्ति होती है और शीतज्वर ऐसे ही स्थानोंसे फैलता है ।

यदि यह ज्ञान निश्चित हुआ तो ज्वरनाशक पहिला उपाय यही हो सकता है कि अपने घरके आसपास तथा अपने ग्राममें अथवा निकट कोई ऐसे स्थान नहीं रखने चाहिये कि जहां जल रुकना और सडता रहे । पाठक ज्वरनाशक इस प्रथम और सबसे मुख्य उपायका विचार करें । और इससे अपना लाभ उठावें ।

ज्वरका परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वरका नाम " ह्रूडु " लिखा है । इसका अर्थ " गति करनेवाला " है । यह ज्वर जब शरीरमें आता है तब शरीरके खूनमें तथा अंगप्रत्यंगोंके जीवन-तत्त्वमें गति उत्पन्न करता है । और इसी कारण अंगप्रत्यंगका जीवनरस (आप् तत्त्व) जल जाता है । यही बात प्रथम मन्त्रमें कही है- -

अग्निः आपः अदहत् ॥ (मंत्र १)

"यह ज्वर जीवनरसको ही जला देता है।" इसी कारण ज्वरसे शरीरकी शक्ति कम होती है। आप् तत्त्व प्राणशक्ति का धारण करनेवाला है। (आपोमयः) आप् तत्त्वमय प्राण है यह उपनिषदोंका कथन है। प्राणक आश्रयका शरीरस्थ आप् तत्त्व इस ज्वरके द्वारा जल जाता है, इसी कारण ज्वर आनेपर जीवन शक्ति कम हो जाती है। इसी कारण इस ज्वरको पीलक रोगका उत्पादक कहा है। देखिये—

हरितस्य देव ! (मंत्र २ , ३)

"पीलापन उत्पन्न करनेवाला" फीका निस्तेज बनानेवाला, पीलकरोग, कामिला, पांडुरोग, जीवनरसका क्षय करनेवाला रोग इन सबका उत्पादक ज्वर है। यह ज्वर इतने भयानक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, इसीलिये इससे मनुष्यको अपने आपका बचाव करना चाहिये। यह ज्वर प्राणको मूल स्थानपर हमला करके उसीको कमजोर करता है। इस विषयमें यह मंत्र देखिये–

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन्
धर्मधृतो नमांसि ॥ [मंत्र १]

"जहां धार्मिक लोग जाकर मनन करते हैं वहां प्रविष्ट होकर यह अग्नि–ज्वर–प्राण धारक जीवनरसको जलाता है।' योगादि साधनद्वारा धार्मिक लोग समाधि अवस्थामें हृदय' कमलमें प्रविष्ट होते हैं, उसी हृदयमें जीवनका रस है, वही रस-ज्वरसे जलता है। अर्थात् ज्वरका हृदयपर बहुत बुरा परिणाम होता है, जिससे बहुत कमजोरी भी उत्पन्न होती है। इसी कारण यह ज्वर पीलक रोग अथवा पाडुरोग उत्पन्न करता है ऐसा सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है। यह हिमज्वर जिसको आजकल " मलेरिया " कहा जाता है बहुत बहुत ही हानि-कारक है। इसलिये उसको हरएक प्रयत्नसे दूर रखना चाहिये, यही निम्नलिखित मंत्रभागमें सूचित किया है—

स नः संविद्वान् परिवृंग्धि तक्मन् ॥ (मंत्र १, २, ३)

" यह बात जानता हुआ ज्वर दूर रखा जाय " अर्थात् ज्वरके कारण दूर करके उसका हमला मनुष्यपर न हो इस विषयमें योग्य प्रयत्न किये जांय। ज्वर आनेके बाद उसके प्रतिकारका यत्न करना चाहिये इसमें किसीका विवाद नहीं हो सकता, परंतु इस सूक्तद्वारा वेद यही उपदेश देना चाहता है, कि अपने घरकी और ग्रामकी व्यवस्था मनुष्य इस प्रकार रखे कि यह मलेरिया ज्वर आवेही न और उसके निवारणके लिये दवाइयां पीनी न पडें। क्योंकि यह विष इतना घातक है कि एक बार आया हुआ हिमज्वर अपना परिणाम स्थिर रूपसे शरीरमें रख जाता है और उसके निवारणके लिये पर्याप्तक और बडे व्ययसे यत्न करने आवश्यक होते हैं।

हिमज्वरके नाम।

इस सूक्तमें हिमज्वरके निम्नलिखित नाम दिये हैं—

१ रूढु-गति उत्पन्न करनेवाला, शरीरमें कंप उत्पन्न करनेवाला, ज्वरका शीत जिस समय प्रारंभ होता है, उस समय मनुष्य कांपने लगता है। मराठी भाषामें इस हिम ज्वरका नाम " हुडहुडा ताप " है, यह शब्द भी वैदिक " रूढु " शब्दके साथ मिलता जुलता है। यही शब्द विभिन्न हस्तलिखित पुस्तकोंमें निम्नलिखित प्रकार लिखा हुआ मिलता है–रूडु, रूढु, रूडु, हुडु, रुडु, रूढु, रुढू, रूढू " । अथर्ववेदकी पिप्पलाद शाखा की संहितामें " हुडु " पाठ है। यह " हुडु " शब्द मराठी " हुडहुडा " शब्दकेही सदृश शब्द है। (मंत्र २, ३)

२ शीतः–जो ज्वर शीत लग कर प्रारंभ होता है॥ यह प्रतिदिन आनेवाला समझना उचित है। (मंत्र ४)

३ अन्येद्युः–एक दिन छोडकर आनेवाला। (मं० ४)

४ उभयद्युः–दूसरे दिन आनेवाला अथवा दो दिन छोडकर आनेवाला। (मं० ४)

५ तृतीयकः–तीसरे दिन आनेवाला किंवा तीन दिन छोडकर आनेवाला अथवा नियत दिन बीचमें छोडकर आनेवाला। (मं० ४)

६ तक्मा:०-जीवन दुःखमय बनानेवाला ज्वर।

७ अर्चिः–अग्निकी ज्वालाएं भडकनेके समान जिसकी उष्णता बाहर बहुत होती है। (मं० २)

८ शोचिः, शोकः-जिसमें शरीरमें पीडा होती है (मं० २)

९ शकल्य-इषिः–अंग-प्रत्यंग अलग अलग होनेके समान शिथिलता आती है। (मं० २)

१० अभिशोकः-जिसमें सब शरीर बडा दर्द करता है। (मं० ३)

इन नामोंका विचार करनेसे इस ज्वरके स्वरूपका पता लग सकता है और निश्चय होता है कि यह वर्णन शीतज्वर जिसे मलेरिया आजकल कहते हैं इसका ही है।

घरके पास जल सडता न रहे, घरके पासकी भूमि अच्छी रहे और किसी भी स्थानमें इस रोगकी उत्पत्ति होने योग्य परिस्थिति न हो, इसी प्रकार ग्राममें और ग्रामके आसपास भी

स्थान योग्य और आरोग्य कारक हों, जिससे यह रोग उत्पन्न ही न होगा। क्योंकि यह ज्वर जलके दलदलसे उत्पन्न होता है। इसीलिये "जल देवताका पुत्र" इसका एक नाम इसी सूक्तमें दिया है। यदि पाठक इसका योग्य विचार करेंगे तो उनको इससे बचनेका उपाय ज्ञात हो सकता है। आशा है कि वे इसका विचार करेंगे और अपने आपको इससे बचायेंगे॥

नमः शब्द।

इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें "नमः" शब्द तीनवार आया है। यहांका यह नमनवाचक शब्द घातक मनुष्यको दूर रखनेके लिये किये जानेवाले नमस्कारके समान उस ज्वरसे बचनेका भाव सूचित करता है ऐसा हमारा ख्याल है। कोशोंमें "नमस्कर, नमस्कारी" शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं। यदि "नमः" शब्दसे किसी औषधीका बोध होता हो तो वह खोज करना चाहिये। "नमः" शब्दके अर्थ "नमस्कार, अन्न, शस्त्र, दण्ड" इतने प्रसिद्ध हैं,' "नमस्करी, नमस्कार, नमस्कारी" ये शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं। अतः इस विषयका अन्वेषण वैद्य लोग करें।

सुख प्राप्ति सूक्त।

(२६)

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवताः- इंद्रादयः)

आरे॒ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत्। आ॒रे अश्मा॒ यमस्य॑थ ॥ १ ॥
सखा॒साव॒स्मभ्य॑मस्तु रा॒तिः सखेन्द्रो॒ भगः॑ सवि॒ता चि॒त्ररा॑धाः ॥ २ ॥
यू॒यं नः॑ प्रवतो नपा॒न्मरु॑तः॒ सूर्य॑त्वचसः। शर्म॑ यच्छाथ स॒प्रथा॑ः ॥ ३ ॥
सु॒षू॒दत॑ मृ॒डत॑ मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि ॥ ४ ॥

अर्थ-हे (देवासः) देवो! (असौ हेतिः) यह शस्त्र (असत् आरे अस्तु) हमसे दूर रहे। और (यं अस्यथ) जिसे तुम फेंकते हो वह (अश्मा आरे असत्) पत्थर भी हमसे दूर रहे॥ १॥ (असौ रातिः) यह दानशील, (भगः) धनयुक्त सविता, (चित्रराधः इन्द्रः) विशेष ऐश्वर्यसे युक्त इन्द्र हमारा (सखा अस्तु) मित्र होवे॥ २॥ हे (प्रवतः नपात्) अपने आपका रक्षण करनेवालेको न गिरानेवालो हे (सूर्यत्वचसः मरुतः) सूर्यके समान तेजस्वी मरुत् देवो! (यूयं) तुम (नः) हमारे लिये (सप्रथः शर्म) विस्तृत सुख (यच्छाथ) दो॥ ३॥ (सुषूदत) तुम हमें आश्रय दो, (मृडत) हमें सुखी करो, (नः तनूभ्यः मृडय) हमारे शरीरोंको आरोग्य दो तथा (तोकेभ्यः मयः कृधि) बालबच्चोंके लिये आनन्द करो॥ ४॥

भावार्थ-हे देवो! आपका दंडरूप शस्त्र आदि हमारे ऊपर प्रयुक्त होनेका अवसर न आवे, अर्थात् हमसे ऐसा कोई कार्य न हो कि जिसके लिये हम दण्डके भागी बनें॥ १॥ इन्द्र सविता भग आदि देवगण हमारे सहायक हों॥ २॥ मरुत देव हमारा सुख बढावें॥ ३॥ सब देव हमें उत्तम आधार दें, हमारे शरीरका आरोग्य बढावें, हमारे मनकी शांति वृद्धिंगत करें, हमारे बाल बच्चोंको कुशल रखें और सब प्रकारसे हमारा आनंद बढावें॥ ४॥

देवोंसे मित्रता।

इन्द्र, सविता, भग, मरुत आदि देवोंसे मित्रता करनेसे सुख मिलता है और उनके प्रतिकूल आचरण करनेसे दुःख प्राप्त होता है। इसलिये प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है कि उन देवोंका दंड हमपर न चले, और दूसरे मंत्रमें प्रार्थना है कि ये सब देव हमारे मित्र; हमारे सहायक बनकर हमारा सुख बढावें, अथवा हमारा ऐसा आचरण बने कि ये हमारे सहायक बनें और विरोधी न हों। देखिये इसका आशय क्या है-

१ सविता-सूर्यदेव है, वह स्वयं मित्रता करनेके लिये हमारे पास नहीं आता है, परन्तु सवेरे उदय होनेके समयसे अपना हाथ हमारे पास भेजता है और हमसे मिलना चाहता है, परंतु पाठक ही ख्याल करें कि हम अपने आपको तंग मकानोंमें बंद रखते हैं, और सविता देवके पवित्र हाथके पास जाते ही नहीं। सूर्य ही आरोग्य की देवता है, उसके साथ इस प्रकार विरोध करनेसे उसका वज्राघात हमपर गिरता है जिससे नाना रोगके दुःखोंमें गिरना आवश्यक होता है।

२ मरुत्-नाम वायु देवता का है। यह वायुदेव भी हमारी सहायता करनेके लिये हरएक स्थानमें हमारे पहिलेसे ही उपस्थित है, परन्तु हम खुली हवा सेवन नहीं करते हैं, परिशुद्ध वायु हमारे घरों और कमरोंमें आवे ऐसी व्यवस्था नहीं करते, इतना ही नहीं परन्तु वायुको बिगाडनेके अनंत साधन निर्माण करते हैं। इत्यादि कारणोंसे वायु देवताका क्रोध हमपर होता है और उनका वज्राघात हमें सहन करना पडता है। जिससे विविध बीमारियां वायुके क्रोधसे हमें सता रही हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध जानना उचित है। इस विषयमें अथर्ववेद स्वाध्याय कां० १ सूक्त ३, ९ देखिये, इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणके प्रसङ्गमें देवताओंसे हमारे संबंधका वर्णन किया है। इसलिये इस सूक्तके साथ उन सूक्तोंका संबंध अवश्य देखना चाहिये।

जिस प्रकार ये बाह्य देवताएं हमारे मित्र बनकर रहनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और सुख बढ सकता है, उसी प्रकार उनके प्रतिनिधि-जो हमारे शरीरमें स्थान स्थानमें रहे हैं उनको मित्र बनाकर रखनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है, इस विषयमें अब थोडासा विवरण देखिये—

१ सविता सूर्य देव आकाशमें है, उसीका प्रतिनिधि अंशरूप देव हमारी आंखमें तथा नाभिस्थानके सूर्यचक्रमें रहा है। क्रमशः इनके काम दर्शनशक्ति और पाचनशक्तिके साथ संबंधित हैं। पाठक यहां अनुभव करें कि ये देव यदि हमारे मित्र बनकर रहें तो ही स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है। यदि आंख किसी समय धोखा देवे, अथवा रूपके विषयमें मोहित होकर हीन मार्गसे इस शरीरको ले चले, तो उससे प्राप्त होनेवाली शरीर की कष्टमय दशा की कल्पना पाठक ही कर सकते हैं। इसी प्रकार पेटकी पाचन शक्ति ठीक न रहनेसे कितने रोग उत्पन्न हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंसे छिपा नहीं है। अर्थात् शरीरस्थ मीत्र सूर्य-सविताके अंश रूप देव के सखा बनकर न रहनेसे मनुष्यकी आपत्तियोंकी परंपरा कितनी बढ सकती है इसका पाठक ही विचार करें।

२ इसी प्रकार मरुत् वायु देव फेंफडोंमें तथा शरीरके नाना स्थानोंमें रहते हैं। यदि उनका कभी प्रकोप हो जाय तो नाना विकारोंकी उत्पत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार इन्द्रदेव अंतःकरण के स्थानमें तथा अन्यान्य देव शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें रहते हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि उनके " सखा " बनकर रहनेसे ही मनुष्य मात्रको स्वास्थ्य और आनंद प्राप्त हो सकता है। इनके विरोधी बननेसे दुःखका पारावार नहीं होगा।

पहले मंत्रमें " देवोंके दण्डसे दूर रहने की " और दूसरे मंत्रमें " देवोंसे मित्रता रखने की " सूचनाका इस प्रकार विचार पाठक करें और यह परम उपयोगी उपदेश अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करें और परम आनंद प्राप्त करें। तीसरे मंत्रका " इसी आचरणसे विस्तृत सुख मिलता है, " यह कथन अब सुस्पष्ट हो हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें जो कहा है कि " ये ही देव हमें सहारा देते हैं, हमें सुखी रखते हैं, हमारे शरीरका आरोग्य बढाते हैं और बालबच्चोंको भी आनंदित रखते हैं, " यह कथन अब पाठकोंको भी दिनके प्रकाशके समान प्रत्यक्ष हुआ होगा। इसलिये स्वास्थ्य और सुखकी प्राप्तिके इस सच्चे मार्गका अवलंबन पाठक करें।

विशेष सूचना।

विशेष कर पाठक इस बातका अधिक ख्याल रखें, कि वेद सुख स्वास्थ्य और आनंदके प्राप्त करनेके लिये धनादि साधन नहीं बताता है, प्रत्युत " जल, वायु, सूर्य आदि के साथ सख्य करो " यही साधन बता रहा है। यह हरएक कर सकता है। चाहे धन किसीको मिले या न भी मिले, परंतु " जल वायु और सूर्य प्रकाश " तो हरएक को मिल सकता है। इस स्वास्थ्यके अति सुलभ साधनका पाठक अधिक विचार करें, वेदकी इस शैलीका अवश्य मनन करें और उपदेशके अनुसार आचरण करके लाभ उठावें।

विजयी स्त्री का पराक्रम ।

(२७)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-इन्द्राणी)

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥
विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती । विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥
न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः । वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥
प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् । इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

अर्थ—(अमूः पारे) वह पारमें (निर्जरायवः) झिल्लीसे निकली हुई (त्रि-सप्ता) तीन गुणा सात (पृदाक्वः) सर्पिणियोंके समान [illegible] हैं । (तासां) उनकी (जरायुभिः) केंचुलियोंसे (वयं) हम (अघ—आयोः परिपंथिनः) पापी दुष्टशत्रुकी (अक्ष्यौ) दोनों आखें (अपि व्ययामसि) ढके देते हैं ॥ १ ॥ (पिनाकं इव बिभ्रती) धनुष्य धारण करनेवाली, और शत्रुको (कृन्तती) काटने वाली वीरसेना (विषुची एतु) चारों और आगे बढे । जिससे (पुनर्भुवाः) फिर इकट्ठी की हुई शत्रुसेनाका (मनः विष्वक्) मन इधर उधर हो जावे । और उससे (अघायवः) पापी शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥२॥ (बहवः न समशकन्) बहुत शत्रु भी उनके सामने ठहर नहीं सकते । फिर (अर्भकाः) जो बालक हैं वे (न अभि दाधृषुः) धैर्यही नहीं कर सकते । (वेणोः अद्गाः इव) बांसके अंकुरोंके समान (अभितः) सब ओरसे (अघायवः) पापीलोग (असमृद्धाः) निर्धन होवें ॥ ३ ॥ हे (पादौ) दोनों पांवो ! (प्रेतं) आगे बढो, (प्र स्फुरतं) फुरती करो, (पृणतः गृहान् वहतं) संतोष देनेवाले घरोंके प्रति हमें पहुंचाओ । (अजीता) विना जीती, (अमुषिता) विना लूटी हुई और (प्रथमा) मुखिया बनी हुई (इन्द्राणी) महारानी (पुरः एतु) सबके आगे बढे ॥ ४ ॥

भावार्थ—केंचुलीसे बाहर आयी हुई सर्पिणीके समान चपल सेनाएं तीन गुने सात विभागोंमें विभक्त होकर युद्धके लिये सिद्ध हैं, उनकी हलचलोंसे हम सब पापी दुष्टोंकी आखें बंद कर देते हैं ॥ १ ॥ शस्त्र धारण करनेवाली और शत्रुको काटनेवाली वीरोंकी सेना चारों दिशाओंमें आगे बढे, जिससे शत्रुसेनाका मन तितर बितर हो जावे और सब पापी शत्रु निर्धन हो जावें ॥ २ ॥ ऐसी शूर वीरोंकी सेनाके सन्मुख बहुत शत्रु भी ठहर नहीं सकते फिर कमजोर बालक कैसे ठहर सकेंगे ? बांसके कोमल और अशक्त अंकुरके समान चारों ओरसे पापी शत्रु धनहीन होकर नाशको प्राप्त होंगे ॥ ३ ॥ विजयी अपराजित और न लूटी गई वीर स्त्री महारानी मुखिया बनकर आगे बढे, इतर लोग उसके पीछे चलें, हरएक वीरके पांव आगे बढें, शरीरमें फुर्ती चढे और सब लोग संतोष बढानेवालोंके घरोंतक पहुंच जांय ॥ ४ ॥

इन्द्राणी ।

" इन्द्र " शब्द राजाका वाचक है जैसा-नरेन्द्र (मनुष्योंका राजा) मृगेन्द्र (मृगोंका राजा), खगेन्द्र (पक्षियोंका-राजा) इत्यादि । केवल इन्द्र शब्द भी राजाका ही वाचक है, और " इन्द्राणी " शब्द इन्द्रकी रानी, राजाकी रानी, महारानी, रानी " का वाचक है । यह इन्द्राणी सेनाकी प्रेरक देवी है यह बात तैत्तिरीय संहितामें कही है देखिये—

इन्द्राणी वै सेनायै देवता । तै० सं० २।२।८।१

" इन्द्राणी सैन्यकी देवता है । " क्योंकि इसकी प्रेरणासे सैनिक अपना पराक्रम दिखाते और विजय प्राप्त करते हैं ।

वीर स्त्री ।

" इन्द्राणी अर्थात् रानी सेनाकी मुखिया बनकर सेनाको

प्रोत्साहन देती हुई आगे चले, हरएकके पाव आगे बढें, हरएकका मन उत्साहसे युक्त रहे, संतोष बढाने वाले सज्जनोंके घरोंमें ही लोग जायं। " परंतु जो लोग संतोषको कम करने वाले, उत्साहका नाश करने वाले, और मनकी आशाका घात करनेवाले हों उनके पास कोई न जावे, क्योंकि ऐसे लोग अपने हीन भावोंसे मनुष्योंको निरुत्साहित ही करते हैं। यह मंत्र ४ का भाव विचार करने योग्य है।

जिस राष्ट्रमें स्त्रियाभी ऐसी शूर और दक्ष होंगी. वह राष्ट्र सदा विजयी ही होगा इसमे क्या संदेह है? जिस देश में स्त्रिया सेनाको चला सकेंगी उस देशके पुरुष कितने शूर और कैसे वीर होंगे। क्या ऐसी वीर स्त्रियोंको कोई हीन मनवाला आदमी धमका सकता है और ऐसी शूर स्त्रियोंकी किसी स्थानपर कोई बेइज्जती कर सकता है। इसलिये आत्मसंमान रखनेकी इच्छा करने वालोंको उचित है, कि वे स्वयं मर्द बनें और अपनी स्त्रियोंको भी ऐसी शिक्षा दें कि वेभी शूरवीर बनकर अपने संमान की रक्षा कर सकें।

" हाथमें शस्त्र धारण करती हुई, शत्रुको काटती हुई आगे बढे, जिसका वेग देखकर शत्रुका मन उत्साहरहित होवे और शत्रु निर्धन अर्थात् परास्त हो जावें। " यह द्वितीय मंत्रका भाव भी चतुर्थ मंत्रके साथ देखने योग्य है। क्योंकि यह मंत्र भी वीर स्त्रीका पराक्रम ही बता रहा है। यह सेना का वर्णन करता हुआ भी वीर स्त्रीका वर्णन करता है। (मंत्र२)

वीरस्त्रियोंको उपमा केंचुलीसे निकली हुई सर्पिणीकी इस सूक्तमें दी है। स्वभावत. सर्पिणी बडी तेज रहती ही है और अति फुर्तीसे शत्रुपर हमला करती है। परंतु जिस समय वह केंचुलीसे बाहर आती है उस समय अतितेजस्वी और अतिचपल रहती है क्योंकि इस समय यह नवजीवनसे युक्त होती है। वीर स्त्री ऐसी ही होती है। स्त्री स्वभावतः चपल होती है, परंतु जिस समय कार्यवश राष्ट्रीय आपत्तिसे प्रेरित होकर, आत्मसंमानकी रक्षाके लिये कोई वीरा स्त्री अपने अंतर्गृह रूपी केंचुलीसे बाहर आती है, उस समय उसकी तेजस्विताका वर्णन क्या करना है? वह उस समय सचमुच सर्पिणीकी भांतति चमकती हुई, बिजलीके समान तेजस्विनी बनकर वीरसेनागणोंको प्रेरित करती है। उस समयका उत्साह वीर पुरुष ही कल्पनासे जान सकते हैं। " उसके तेजसे शत्रुकी आखें ही अंधी बन जाती हैं " और उसके सब शत्रु नि.सत्व हो जाते है। (मंत्र १)

जहा ऐसी वीरांगनाएं समर्थ हैं उन लोगोंके सामने बडे बडे शत्रु भी ठहर नहीं सकते, फिर अल्प शक्तिवाले कमजोर मनुष्योंकी बात ही क्या है? घासके अंकुरोंके समान उनके शत्रु नष्टभ्रष्ट ही हो जाते हैं। " (मंत्र ३)

शत्रुवाचक शब्द।

इस सूक्तमें शत्रुवाचक कुछ शब्द हैं उनका विचार यहां करना आवश्यक है-

१ अघायु = आयु भर पाप कर्म करनेवाला।

२ परिपन्थिन् = बटमार, बुरे मार्गसे चलनेवाला।

पापीलोग ये हैं और इनके बुरे आचरणके कारण ही ये शत्रुत्व करने योग्य हैं। "असमृद्धा अघायवः" यह शब्द प्रयोग इस सूक्तमें दोवार आया है। " पापी समृद्धिसे रहित होते हैं।" यह इसका भाव है। पापसे कभी वृद्धि नहीं होगी। पापसे मनुष्य गिरता ही जाता है। यह भाव इसमें देखने योग्य है। जो मनुष्य पाप कर्म द्वारा धनाढ्य बनना चाहते हैं उनको यह मंत्र भाग देखना योग्य है। यह मंत्र उपदेश दे रहा है कि " पापी कभी उन्नत नहीं होगा; " यदि किसी अवस्थासे वह धनवान् हुआ, तो भी वह उसका धन उसके नाशका ही हेतु नि.संदेह बनेगा। तात्पर्य परिणामकी दृष्टिसे यह स्पष्ट ही समझना चाहिये कि पापी लोग अवश्य ही नाशको प्राप्त होंगे।

तीन गुणा सात।

सेनाके तीन गुणा सात विभाग हैं। रथयोधी, गजयोधी, अश्वयोधी, पदाती, दुर्गयोधी, जलयोधी तथा कूटयोधी ये सात प्रकारके सैनिक होते हैं। प्रत्येकमें अधिकारी, प्रत्यक्ष युद्धकारी, और सहायक इन तीन भेदोंसे तीन गुणा सात सैनिक होते हैं।

निर्जरायु।

" जरायु शब्द झिल्ली, जेरीका वाचक है, परन्तु यहां श्लेषार्थसे प्रयुक्त है। यहा इसका अर्थ (जरा+आयु) वृद्धावस्था अथवा जीर्णता किंवा थकावट, तथा आयुष्य। (निः+जरा+आयुः) जो जीर्णता, थकावट, वृद्धावस्था अथवा आयुकी पर्वा न करने वाले होते हैं, अर्थात् जो अपने जीने मरनेकी पर्वाह न करके लडते हैं, जो अपनी अवस्थाकी तथा सुखदुःख की पर्वाह न करते हुए अपने यशके लिये ही लडते रहते हैं उनको "निर्जरायु" अर्थात् " जरा और आयुके विचारसे मुक्त " कहते हैं। जीवित की आशा छोडकर लडनेवाले सैनिक।

इस सूक्तके मंत्र वीरा स्त्री-विषयक तथा सेना विषयक अर्थ बताते हैं, इसलिये ये मंत्र विशेष मननके साथ पढने योग्य हैं।

तथा इसमें कई शब्द द्वेष अर्थ बताने वाले भी हैं जैसा कि ऊपर बताया है। इन सब बातोंका विचार करके यदि पाठक इस सूक्तका अभ्यास करेंगे तो उनको बहुत बोध मिल सकता है।

आशा है कि इस प्रकार पाठक अपने राष्ट्रमें वीरा स्त्री और वीर पुरुष उत्पन्न करेंगे और अपना यश बढानेका परम पुरुषार्थ करेंगे।

यह सूक्त " स्वस्त्ययन गण" का है इसलिये इस गणके अन्य सूक्तोंके साथ पाठक इसका विचार करें।

दुष्ट नाशन सूक्त।

(२८)

(ऋषिः-चातनः। देवता-स्वस्त्ययनम्।)

उप प्रागा॑द्दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः। द॒हन्नप॑ द्वया॒विनो॑ यातु॒धाना॑न्किमी॒दिनः॑ ॥ १ ॥
प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न्प्रति॑ देव किमी॒दिनः॑। प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥ २ ॥
या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑मा॒दधे॑। या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु सा ॥ ३ ॥
पु॒त्रम॑त्तु यातु॒धानीः॒ स्वसा॑रमु॒त न॒प्त्य॑म्।
अधा॑ मि॒थो वि॑के॒श्यो॑ ३ वि घ्न॑तां यातु॒धान्यो॑ ३ वि तृ॑ह्यन्तामरा॒य्यः॑ ॥ ४ ॥

अर्थ-(अमीव-चातनः) रोगोंको दूर करनेवाला और (रक्षोहा) राक्षसोंका नाश करनेवाला अग्निदेव (किमीदिनः) सदा भूखोंको (यातुधानान्) लुटेरों को तथा (द्वयाविनः) दुमुखे कपटियोंको (अप दहन्) जलाता हुआ (उप प्रगात्) पास पहुंचा है ॥ १ ॥ हे अग्निदेवा (यातुधानान् प्रति दह) लुटेरों को जलादे तथा (किमीदिनः प्रति) सदा भूखोंको भी जलादे। हे (कृष्णवर्तने) कृष्ण मार्गवाले अग्निदेवा (प्रतीचीः यातुधान्यः) संमुख आनेवाली लुटेरी स्त्रियोंको भी (संदह) ठीक जला दो ॥ २ ॥ यह दुष्ट लुटेरी स्त्रियां (शपनेन शशाप) शापसे शाप देती हैं, (या अघं मूरं आदधे) जो पाप ही प्रारंभसे स्वीकारती हैं, (या रसस्य हरणाय) जो रस पीनेके लिये (जातं तोकं आरेभे) जन्मे हुए बालकको खाना आरंभ करती हैं और (सा अत्तु) वह पुत्र खाती है ॥ ३ ॥ (यातुधानीः) पापी स्त्री (पुत्रं अत्तु) पुत्र खाती है। (स्वसारं उत नप्त्यं) बहिन को तथा नाती को खाती है। (अथ) और (विकेश्यः) केश पकड पकड कर (मिथः घ्नतां), आपसमें झगडती हैं। (अराय्यः यातुधानीः) दानभाव-रहित घातकी स्त्री (वितृह्यन्तां,) आपसमें मारपीट करती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ--रोग दूर करनेमें समर्थ अर्थात् उत्तम वैद्य, आसुर भावको हटाने वाला, अग्निके समान तेजस्वी, उपदेशक स्वार्थी लुटेरे तथा कपटियोंको दूर करता हुआ आगे चले ॥ १ ॥ हे उपदेशक! तू लुटेरे स्वार्थी दुष्टोंको नाश कर, तथा सामने आने वाली दुष्ट स्त्रियोंकी भी दुष्टता दूर कर दे ॥ २ ॥ इन दुष्टोंका लक्षण यह है कि ये आपसमें गालियां देते रहते हैं, हरएक काम पाप हेतुसे करते हैं, यहांतक ये क्रूर होते हैं कि रक्त पीनेकी इच्छासे नये उत्पन्न बालकको ही चूसना आरंभ कर देते हैं ॥ ३ ॥ इनकी स्त्री अपने पुत्रको खाती है, बहिन तथा नातीको भी खाती है, तथा एक दूसरेके बाल पकडकर आपसमें ही लडती रहती हैं ॥ ४ ॥

पूर्वापर संबंध।

इसी प्रथम कांडके ७ तथा ८ वें सूक्तकी व्याख्याके प्रसंगमें धर्मप्रचार प्रकरणमें अग्निदेव किस प्रकार ब्राह्मण उपदेशक ही है तथा वह किस प्रकार जलाता है अर्थात्

दुष्टोंको सुधारता है, इत्यादि सब विषय अतिस्पष्ट कर दिया है। इसलिये इन ७ और ८ वें सूक्तके स्पष्टीकरण पाठक यहां पहिले पढें और पश्चात् यह सूक्त पढें

संस्कृतमें " वि दग्ध " (विशेष प्रकारसे जलाहुआ) यह शब्द "अति विद्वान्" के लिये प्रयुक्त होता है। यहां अज्ञानका दहन जलन आदि अर्थ समझना उचित है। जिस प्रकार अग्नि लोहे आदिको तपाकर शुद्ध करता है उसी प्रकार उपदेशक द्वारा प्रेरित ज्ञानाग्नि अज्ञानी मनुष्योंके अज्ञानको जला कर शुद्ध करता है। इस कारण "ब्राह्मण" के लिये वेदमें "अग्नि" शब्द आता है। ब्राह्मण और क्षत्रियके वाचक वेदमें " अग्नि और इन्द्र " शब्द प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणधर्म अग्नि देवताके और क्षात्रधर्म इन्द्र देवताके सूक्तोंसे प्रकट होता है। इत्यादि बातें विस्तारसे ७ और ८ वें सूक्तकी व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट कर दी हैं। वही धर्म प्रचार की बात इस सूक्तमें है इसलिये पाठक उक्त पूर्व सूक्तोंके साथ इस सूक्तका संबंध देखें।

इस सूक्तमें " अमीव-चातनः " (रोगोंका दूर करनेवाला) यह शब्द विशेषण रूपमें आया है। यह यहां चिकित्सा द्वारा रोग दूर कर सकने वाले उत्तम वैद्यका बोध करता है। उपदेशक जैसा शास्त्रमें प्रवीण चाहिये वैसा ही वह उत्तम वैद्य भी चाहिये। वैद्य होनेसे वह रोगोंकी चिकित्सा करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है। धर्म प्रचारकके अन्य गुण सूक्त ७, ८ में देखिये।

दुर्जनोंके लक्षण।

इस सूक्तमें दुर्जनोंके पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक लक्षण कहे हैं जो सूक्त ७, ८ में कहे लक्षणोंकी पूर्ति कर रहे हैं; इस लिये उनका विचार यहां करते हैं-

१ द्वयाविन- मनमें एक भाव और बाहर एक भाव ऐसा कपट करनेवाले। (मं० १) "किमीदिन्, यातुधानु" इन शब्दोंका भाव सूक्त ७, ८ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया ही है। इस सूक्तमें दुर्जनों के कई व्यवहार बताये हैं, वेभी यहां देखिये-

२ शपनेन शशाप- शापसे शाप देना, बुरे शब्द बोलना, गालियां देना इ०। मं ३

३ अघं मूरं आदधे= प्रारंभमें पापका भाव रखता है। हरएक काममें पाप दृष्टीसे ही उसका प्रारंभ करना।

४ रसस्य हरणाय जातं तोकं आरेभे- रक्त पीनेके लिये नवजात बच्चेको खाती है।

५ यातुधानी पुत्रं स्वसारं नप्त्यं आत्ति= यह दुष्ट आसुरी स्त्री बच्चा, बहिन अथवा नाती को खाती है।

६ विकेश्यः मिथः विघ्नतां, वितृह्यन्तां- आपसमें केश पकड कर परस्पर मार पीट करती है।

ये सब दुर्जन स्त्रीपुरुषोंके लक्षण हैं। बालबच्चोंको खानेवाले लोग इस समय अफ्रिकामें कई स्थानोंपर हैं, परंतु अन्य देशोंमें अब ये नहीं हैं। जहां कहीं ये हों, वहां धर्मोपदेशक चला जावे और उनको उपदेश देकर उत्तम मनुष्य बना देवे, ज्ञानी बनावे, उनकी दुष्टता दूर करके उनको सज्जन बना देवे।

ऐसे मनुष्य-भक्षक दुष्ट, क्रूर, हिंसक, मनुष्योंमें भी जाकर धर्मोपदेश देकर उनको सुधारनेका यत्न करनेका उपदेश होनेसे इससे कुछ सुधरे हुए किंचित् ऊपरली श्रेणीके मनुष्योंमें धर्म जागृति करनेका आशय स्वयंही स्पष्ट हो जाता है।

दुष्टोंका सुधार।

दुष्ट लोगोंमें दुष्टता होनेके कारण ही वे असभ्य समझे जाते हैं। उनकी दुष्टता उपदेश आदि द्वारा हटाकर उनको सभ्य बनाना ब्राह्ममार्ग है और उनको दंड देकर डरावेसे उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षात्र मार्ग है। वेदमें अग्निदेवता से ब्राह्ममार्ग और इन्द्र देवतासे क्षात्र मार्ग बताया है। जलाते या तपाते तो दोनों ही हैं, परंतु एक उपदेशद्वारा उनके अज्ञानको जलाता है और दूसरा शस्त्र दण्ड और इसीप्रकार के कठोर उपायोंसे पीडा देकर उनको सुधारता है।

सुधार तो दोनोंसे होता है, परंतु क्षत्रियोंके दंडद्वारा तपाने के उपायसे ब्राह्मणोंके ज्ञानाग्निद्वारा तपानेका उपाय अधिक उत्तम है और इसमें कष्ट भी कम हैं।

पाठक अग्नि शब्द से आगका ग्रहण करके उससे दुष्टोंको जलानेका भाव इस सूक्तसे न निकालें, क्योंकि इस सूक्तका संबंध आगेपीछेके अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्निशब्दसे ऐसे सूक्तोंमें अभीष्ट है यह सूक्त ७, ८ के प्रसंगमें स्पष्ट बताया ही है। इसके अतिरिक्त "रोग दूर करनेवाला अग्नि" इस सूक्तमें कहा है यदि यह उन लोगोंको जलाही देवे तो उसके रोगमुक्त, करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है। इसलिये यह अग्निका जलाना "ज्ञानाग्निसे अज्ञानताका जलाना" ही है। दुष्ट गुणधर्मोंको हटाना और वहां श्रेष्ठ गुण धर्म स्थापित करना ही यहां अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम

वैद्यही धर्मोपदेशकका कार्य करे, यह सूचना इस सक्तमें हमें मिलती है। क्योंकि रोगीके मनपर वैद्यके उपदेशका जैसा असर होता है वैसा वक्ताके व्याख्यानसे श्रोताओंपर नहीं होता। रोगीका मन आतुर होता है इसलिये श्रवण की हुई उत्तम बात उसके मनमें जम जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है ॥

[यह तृतीय और चतुर्थ मंत्रमे "अत्तु" शब्द है जिसका अर्थ 'खावे' ऐसा होता है परंतु "शशाप आदधे" इन क्रियाओंके अनुसंधानसे "अत्तु" के स्थानपर "अत्ति' मानना युक्त है। क्योंकि यहां यातुधानोंकी रीति बताई है जैसे (शशाप) शाप देते रहते है, (अधं आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोकं अत्ति) बच्चेको खाते रहते हैं अर्थात् यह उनकी रीति है। पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ यहां अभीष्ट है ऐसा हमें प्रतीत होता है। तथापि पाठक अधिक योग्य और कोई अन्य बात इस सूक्तमें देखेंगे, तो अर्थकी खोज होनेमें अवश्य सहायता होगी।

इति पंचम अनुवाक समाप्त।

राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त।

(२९)

(ऋषिः-वसिष्ठः । देवता-अभीवर्तो मणिः)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे । तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥
अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः । अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥
अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् । अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ६ ॥
अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः । राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥
उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः । यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥
सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः । यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ-हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी पुरुष ! (येन इन्द्रः अभिवावृधे) जिससे इन्द्रका विजय हुआ था, (तेन अभिवर्तेन मणिना) उस विजय करनेवाले मणिसे (अस्मान्) हमको (राष्ट्राय अभिवर्धय) राष्ट्रके लिये बढा दो ॥ १ ॥ (याः नः अरातयः) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य (सपत्नान्) वैरियोंको (अभिवृत्य) पराभूत करके, (यः नः दुरस्यति) जो हमसे दुष्टताका आचरण करता है तथा जो (पृतन्यन्तं) सेनासे हमपर चढाई करता है उससे (अभि अभि तिष्ठ) युद्ध करनेके लिये स्थिर हो जाओ ॥ २ ॥ (सविता देवः) सूर्य देवने तथा (सोमः) चंद्रमा देवने भी (त्वा) तुझे (अभि अभि-अवीवृधत्) सब प्रकारसे बढाया है। (विश्वा भूतानि) सब भूत (त्वा अभि) तुझे बढा रहे हैं, जिससे तू (अभिवर्तः अससि) शत्रुको दबानेवाला हुआ है ॥ ३ ॥ (अभिवर्तः) शत्रुको घेरनेवाला, (अभिभवः) शत्रुका पराभव करनेवाला, (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला यह (मणिः) मणि है। यह (सपत्नेभ्य पराभुवे) प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये तथा (राष्ट्राय) राष्ट्रके अभ्युदयके लिये [मह्यं बध्यतां) मुझपर बाधा जावे ॥ ४ ॥ (असौ सूर्यः उदगात्) यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, (यथा) जिससे (अहं शत्रुहः) शत्रुका नाश करनेवाला, (सपत्नहा) प्रतिपक्षिका घात करनेवाला होकर मैं (असपत्नः असानि) शत्रुरहित होऊं ॥ ५ ॥

(यथा) जिससे (अहं) मैं (सपत्न-क्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला, (वृषा) बलवान् और (विषासहिः) विजयी होकर (अभिराष्ट्रः) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रकी सहायता प्राप्त करके (एषां वीराणां) इन वीरोंका (जनस्य च) और सब लोगोंका (वि राजानि) विशेष प्रकारसे रंजन करने वाला राजा होऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ-हे राष्ट्रके ज्ञानी पुरुषो ! जिस राजचिह्न रूपी मणिको धारण करके इन्द्र विजयी हुआ था, उसी विजयी मणिसे हमें राष्ट्रके हितके लिये बढाइये ॥ १ ॥ जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं उनको परास्त करनेके लिये; तथा जो हमसे बुरा व्यवहार करते हैं और जो हमपर सेना भेजकर चढाई करते हैं उनको ठीक करनेके लिये अपनी तैयारी करके आगे बढो ॥२॥ सूर्य चन्द्र आदि देव तथा सब भूतमात्र तुझे सहायता देकर बढा रहे हैं, जिससे तू सब शत्रुओंको दबानेवाला बन गया है। ॥ ३ ॥ शत्रुको घेरनेवाला, वैरीका पराभव करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला यह राजचिह्न रूपी मणि है । इसलिये प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये मुझपर यह मणि बांध दीजिये ॥ ४ ॥ जैसा यह सूर्य उदय हुआ है, वैसा यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, अब तुम ऐसा करो कि जिससे मैं शत्रुका नाश करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला होकर शत्रु रहित हो जाऊं ॥ ५ ॥ मैं प्रतिपक्षियोंका नाश करके बलवान बनकर, विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हित साधन करूंगा ॥ ६ ॥

अनुसन्धान

यह सूक्त राज प्रकरणका है इसलिये इसी कांडके अपराजित गणके सब सूक्तोंके साथ इसका विचार करना योग्य है। तथा आगे आनेवाले राज प्रकरणके सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध देखने योग्य है। इससे पूर्व अपराजित गणके सूक्त २, १९, २०, २१ ये आये हैं, इसके अतिरिक्त अभय गण, सांग्रामिक गणके सूक्तोंके साथ भी इन सूक्तोंका विचार करना चाहिये।

अभीवर्त मणि।

जिस प्रकार राजाके चिन्ह राजदंड, छत्र, चामर आदि होते हैं उसी प्रकारका 'अभीवर्त मणि' भी एक राजचिन्ह है। इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोला जाता है।

देवोंका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित बृहस्पति ब्रह्मणस्पति है। यह पुरोहित इन्द्रके शरीरपर यह अभीवर्त मणि बांधता है। अर्थात राज पुरोहित ही राजाके शरीरपर यह राजचिन्ह रूपी मणि बांध देवे। यहां संबंध देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त संवाद रूप है। यह संवाद इस प्रकार है। देखिये—

इस सूक्तका संवाद।

राजा=हे पुरोहित जी ! जो अभीवर्त मणि इन्द्रके शरीरपर देव गुरु बृहस्पतिने बांध दिया था और जिससे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था, वह राजचिन्हरूपी मणि मेरे शरीरपर आप धारण कराइये, जिससे मैं राष्ट्रका वर्धन करनेमें समर्थ हो जाऊं ॥ १ ॥

पुरोहित= हे राजन्। जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं तथा जो हमारे राष्ट्रके साथ बुरा व्यवहार करते हैं और हमपर सैन्यसे चढाई करते हैं उन्हीको परास्त करनेकी तैयारी करो ॥ २ ॥ सूर्य, चंद्र तथा सब भूत तुम्हारी सहायता कर रहे हैं, जिससे तू शत्रुको दबा सकता है ॥ ३ ॥

राजा- पुरोहित जी ! यह राजचिन्ह रूपी मणि शत्रुको घेरने, वैरीका पराभव करने और प्रतिपक्षियोंको हटानेका सामर्थ्य देनेवाला है। इसलिये विरोधियोंका पराभव और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके कार्यमें मुझे समर्थ बनानेके लिये मुझपर यह मणि बांध दीजिये ॥ ४ ॥ जैसा सूर्य उदयको प्राप्त होता है वैसाही मेरेसे शब्दोंका प्रकाश होता है, इसलिये आप ऐसा करें कि जिससे मैं शत्रुका नाश कर सकूं ॥ ५ ॥ मैं बलवान् बनकर प्रतिपक्षियोंको दूर करूंगा और विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और राष्ट्रका हित करूंगा ॥ ६ ॥

पाठक यह संवाद विचारसे पढेंगे तो उनके ध्यानमें इस सूक्तका आशय शीघ्रतासे आसकेगा। राजा राजचिन्ह धारण करता है, उस समय पुरोहित राजासे प्रजाहितकी कुछ बातें करनेके लिये कहते हैं और राजा भी राष्ट्रहित करनेकी प्रतिज्ञा उस समय करता है। पुरोहित ब्राह्मशक्तिका और राजा क्षात्र शक्तिका प्रतिनिधि है। राष्ट्रकी ब्राह्मशक्ति पुरोहित मुखसे राजकर्तव्यका उपदेश राजाको करती है, राजगद्दीपर राजाको रखना या न रखना राष्ट्रकी ब्राह्मशक्तिके आधीन रहना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मशक्तिके आधीन क्षात्रशक्ति रहनी चाहिये। यह बात यहां प्रकाशित होती है। ज्ञानी लोगोंपर

शूरोंकी हुकूमत न रहे, परंतु शूर ज्ञानिलोगोंके आधीन कार्य करें। राष्ट्रकी (Civil and military) ब्राह्म तथा क्षात्र शक्ति एक दूसरेके साथ कैसा बर्ताव करे, यह इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है। ब्राह्मशक्ति द्वारा संमत हुआ राजा ही राजगद्दीपर आसकता है अन्य नहीं।

राजाके गुण।

इस सूक्तमें राजाके गुण बताये हैं, वे निम्न शब्दोंद्वारा पाठक देख सकते हैं-

१ अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय=हमारी शक्ति राष्ट्रकी उन्नति के लिये बढे अर्थात् राजाके अंदर जो शक्ति बढती है वह राष्ट्रकी उन्नतिके लिये ही सार्थकमें लगे, यही भाव राजाके अंदर रहे। अपनी बढी हुई तन मन धन आदि सब शक्ति अपने भोगके लिये नहीं है प्रत्युत राष्ट्रकी भलाईके लिये ही है यह जिस राजाका निश्चय होगा वही सच्चा राजा कहा जासकता है॥ (मंत्र १॥)

२ राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे=राष्ट्रकी उन्नति और वैरियोंका पराभव करनेके लिये राजचिह्नरूप मणि मेरे (राजाके) शरीरपर बांधा जावे। मणि आदि रत्न तथा अन्य राजचिह्न जो राजा धारण करता है वह अपनी शोभा वढाने के लिये नहीं है, प्रत्युत वे केवल दो ही उद्देश्य के लिये हैं, (१) राष्ट्रकी उन्नति हो, और (२) जनताके शत्रु दूर किये जांय। राजाके अंदर यह शक्ति उत्पन्न करनेके लिये ही उसपर राजचिन्ह चढाये जाते हैं। (मंत्र ४)

३ अभिराष्ट्रः-(अभितः राष्ट्रं यस्य) जिसके चारों ओर राष्ट्र है, ऐसा राजा हो। अर्थात् राजा अपने राष्ट्रमें रहे, राष्ट्रके साथ रहे, राष्ट्रका बनकर रहे। राजाका हित राष्ट्रहित ही हो, और राष्ट्रका हित राजहित हो, अर्थात् दोनोंके हित संबंधमें फरक न रहे। राजाके लिये राष्ट्र अनुकूल रहे और राष्ट्रके लिये राजा अनुकूल हो। राष्ट्रहितका उच्च ध्येय अपने सामने रखनेवाले राजाका बोध इस शब्दसे होता है। जिस राजाके लिये अपनी जान देनेके लिये राष्ट्र तैयार होता है उस राजाका यह नाम है। यह शब्द आदर्श राजाका वाचक है। (मंत्र ६)

४ शत्रुहः-शत्रुका नाश करने वाला। (मं० ५)

५ असपत्नः—अंदरके प्रतिपक्षी या विरोधी जिसको न हों। (मं. ५)

६ सपत्न-हा—प्रतिपक्षीका नाश करनेवाला, अर्थात् प्रतिपक्षियोंका पराभव करने वाला। (मंत्र ५) "सपत्न-क्षयणः" यह शब्दभी इसी अर्थमें (मं. ६ में) आया है।

७ वृषा— बलवान्। सब प्रकारके बलोंसे युक्त राजा होना चाहिये, अन्यथा वह परास्त होगा। (मं० ६)

८ विषासहिः-शत्रुके हमले होनेपर उनको सहन करके अपने स्थानसे पीछे न हटने वाला। (मं० ६)

९ वीराणां जनस्य च विराजानि- राष्ट्रके शूरवीर तथा राष्ट्रकी संपूर्ण जनता इन सबको संतुष्ट करनेवाला। (मं. ६)

१० प्रतिपक्षियोंको दबाना, वैरियोंका नाश करना, सेनाके साथ चढाई करनेवालेका प्रतिकार करना और जो दुष्ट व्यवहार करता है उसको ठीक करना आदि राजाके कर्तव्य(मंत्र०२) में कहे हैं।

ये दश कर्तव्य राजाके इस सूक्तमें कहे हैं ये सब मनन करने योग्य हैं। ये सब कर्तव्य वही भाव बता रहे हैं कि राजा अपने भोगके लिये राजगद्दीपर नहीं आता है, प्रत्युत राष्ट्रका हित करनेके लिये ही आता है। यदि राजालोग इस सूक्तका अधिक मनन करके अपने लिये योग्य बोध लेंगे तो बहुत ही उत्तम होगा।

राजचिह्न।

छत्र, चामर, राजदण्ड, मणि, रत्न, रत्नमाला, मुकुट, विशेष कपडेलत्ते, राजसभाका ठाठ, हाथी, घोडे आदि सब जो राजचिन्ह रुपमें समझे जाते हैं, इन चिन्होंके धारण करनेसे जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पडता है और उस प्रभाव के कारण राजाके इर्द गिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिन्हमें कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजचिन्ह धारण करनेवाले साधारण सिपाहीमें भी अन्य सामान्य जनोंकी अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है; इसी प्रकार उक्त चिन्होंके कारण अमूर्त राज शासनका एक विशेष प्रभाव जनतापर पडता है जिस कारण राजा शक्तियोंका केन्द्र बनता है। जिस समय अपने चिन्होंसे और संपूर्ण ठाठसे राजा जाता है उस समय उसका बडाभारी प्रभाव सामान्यजनता पर पडता है, इसी कारण राजामें शक्ति इकट्ठी होती है। इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें " यह मणि ही शत्रुनाश करने वाला, प्रभाव बढानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है " इत्यादि कहा है, उसका भाव उक्त प्रकार ही समझना योग्य है। सिपाहीकी शक्ति उसके चिन्होंसे ही उसमें आती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्रत्युत एक विशेष भावनासे ही उत्पन्न होती है। संपूर्ण राजचिन्हों की शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है। अस्तु, अब शत्रुके लक्षण देखिये—

शत्रुके लक्षण ।

इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकारसे शत्रुके लक्षणोंका वर्णन किया है—

१ यः दुरस्याति = जो दुष्ट व्यवहार करता है । (मं० २)

२ सपत्नः = भिन्न पक्षका मनुष्य । राष्ट्रमें जितने पक्ष होंगे, उतने पक्षवाले आपसमें सपत्न होंगे । सपत्न शब्द (Party Politics) पक्ष भेदका राजकारण बता रहा है ।

३ अरातिः = अनुदार, जो मनमें श्रेष्ठभाव नहीं रखता ।

४ पृतन्यन् = सैन्यसे चढाई करनेवाला ।

इन शब्दोंके विचारसे शत्रुका पता लग सकता है । इनमें कई अंदरके शत्रु हैं और कई बाहरके हैं ।

सबकी सहायता ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि " सूर्य चंद्र और सब भूतमात्र जिस राजाके सहायक होते हैं वह शत्रुको पराजित करता है ॥" (मं० ३) इसमें सूर्य चंद्र आदि शब्द बाह्य सृष्टिकी सहायता बता रहे हैं, (Nature's help) निसर्गकी सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्त्वपूर्ण भाग है । राष्ट्रकी रचना ही ऐसी हो कि जहां शत्रुका प्रवेश सुगमतासे न हो सके । यह एक शक्ति ही है ।

दूसरी शक्ति (विश्वा भूतानि) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है । पंचमहाभूतोंसे शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे ज्ञात हो सकती है । " भूत " शब्दका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ " प्राणी, मनुष्य " ऐसा होता है । जिस राजाको राष्ट्रके सब प्राणी और सब मनुष्य सहायक हो, उसकी शक्ति विशेष होगी ही, इसमें क्या संदेह है ? यही सब जनताकी शुभ इच्छासे प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिये क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलंबित है ॥

वैदिक राजप्रकरणके विषयमें इस सूक्तमें बडा अच्छा उपदेश है । यदि पाठक अधिक मनन करेंगे तो उनको राजप्रकरणके बहुत उत्तम निर्देश इस सूक्तमें मिल सकते हैं ।

केवल राष्ट्रके लिये ।

इस सूक्तके अंदर कई सामान्य निर्देश भी हैं जिनका यहां विचार करना आवश्यक है । इससे पाठकोंको इस बातका भी पता लग जायगा कि वेदके विशेष उपदेशोंसे भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त होते हैं । देखिये प्रथम मंत्रमें कहा है—

अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय । (मंत्र १)

इसका अर्थ—" हमें राष्ट्रके लिये बढाओ " अर्थात् हमारी उन्नति इसलिये करो कि हम राष्ट्रहित साधन करनेके योग्य बनें । हमारा शरीर सुदृढ हो, हमारी आयु दीर्घ हो, हमारे इंद्रिय अधिक कार्य क्षम बनें, हमारा मन मननशक्तिसे युक्त हो, हमारी बुद्धी ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें आत्मिक बल बढे, तथा हमारी कौटुंबिक, सामाजिक तथा अन्यान्य शक्तियां बढें । ये सब शक्तियां इसलिये बढें कि इनके योगसे हमारा राष्ट्र अभ्युदयसे युक्त हो । इन शक्तियोंकी वृद्धि इसलिये नहीं करनी है कि इनसे केवल व्यक्तिका ही सुख बढे, केवल एक जातीके हाथमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलके पास परम अधिकार हो जाय; परंतु ये शक्तियां इसलिये बढानी चाहियें कि इनके संयोगसे राष्ट्रकी प्रगति हो, राष्ट्रकी उन्नता हो ।

सामान्य अर्थ देखनेके समय इस प्रथम मंत्रका " अस्मान् " शब्द बडा महत्त्व रखता है । इसका अर्थ होता है " हम सबको " । अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्र हितके लिये वृद्धिंगत करो । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एककी ही उन्नति या किसी एककी शक्तिका विकास ही यहां अपेक्षित नहीं है, परंतु सबकी शक्तिका विकास यहां अपेक्षित है । राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो प्रजाजनोंकी शक्तिका विकास करना है वह हरएक प्रजाजनका, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते हुए, करना चाहिये । अर्थात् जातिविशिष्ट या संघविशिष्ट पक्षपातके लिये यहां कोई स्थान रहना नहीं चाहिये ।

जो मैं करता हूं वह राष्ट्रके लिये समर्पित हो यही भाव हरएकके मनमें रहना चाहिये ।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां ।
सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ (मं० ४)

" मुझे राष्ट्रके लिये बांध दे ताकि मैं राष्ट्रके शत्रुओंका पराभव कर सकूं । " यह भाव मनमें धारण करना चाहिये । मैं राष्ट्रके साथ बांधा जाऊं, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा संबंध जुड जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जीवित रहूं, इत्यादि प्रकारके भाव उक्त मंत्रमें हैं । जो जिसके साथ बाधा जाता है वह उसीके साथ रहता है । यदि स्वराष्ट्राभिमानसे मनुष्य राष्ट्रके साथ एक बार अच्छी प्रकार कसकर बाधा जाय तो वह वहांसे नहीं हटेगा । इसी प्रकार मनुष्य अपने राष्ट्रके साथ बाधे जांय और ऐसा परस्पर संबंध जुडनेके कारण राष्ट्रमें अपूर्व संघ शक्ति उत्पन्न हो यह बात वेदको अभीष्ट है ।

हरएक मनुष्य 'अभिराष्ट्र' (मं ६) बने अर्थात् राष्ट्रहित करनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे । वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके सन्मुख अपने राष्ट्रके अभ्युदयका विचार

जाग्रत रहे। इस प्रकार जिसके मनके सामने राष्ट्रका विचार सदा जाग्रत रहता है, उसीको वेद 'अभिराष्ट्र' कहता है (अभितः राष्ट्रं) अपने चारों ओर अपना राष्ट्र है ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने संमुख अपने राष्ट्रको देखनेवाला जो होता है उसका यह नाम है।

'राष्ट्र' का अर्थ

राष्ट्र शब्द केवल देश अथवा केवल जनताका वाचक वेदमें नहीं है। केवल भूमिके एक विभागपर रहनेवाले मनुष्य समाजका बोध 'राष्ट्र' शब्दसे वेदमें नहीं होता है। इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परंतु वेद जिसको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र कितने होंगे इसका विचार पाठकोंको अवश्य करना चाहिये वेदमें 'राष्ट्र' शब्द (राजते तत् राष्ट्रं) जो चमकता है, वह राष्ट्र है' इस अर्थका बोधक है। जो मनुष्योंका समुदाय भूमंडल पर अपने कमाये यशसे चमकता है और सब अन्य लोगोंकी आंख अपनी ओर खींच सकता है वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है। अन्य मानवी समुदाय राष्ट्र नहीं हैं। इस प्रकारके राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बडा हो, वह राष्ट्र ही कहलायेगा। परंतु जो विस्तारसे अति प्रचंड हो, परंतु यशकी दृष्टिसे जिसमें चमकाहट न हो तो वह राष्ट्र नहीं होगा। वैदिक धर्मियोंको अपने परिश्रमसे अपने राष्ट्रमें इस प्रकारका तेज उत्पन्न करना चाहिये और बढाना चाहिये, तभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा। वेदमें राष्ट्रवर्धन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है। पाठक जिस समय इन सूक्तोंका विचार करने लगें उस समय आगे पीछेके राष्ट्रीय सूक्तोंका संबध अवश्य देखें और सब उपदेशका इकठ्ठा मनन करें।

पाठक इस प्रकार मंत्रोंके सामान्य उपदेशोंसे अधिक मनन करके बोध उठावें। वेदमें राष्ट्र हितके उपदेश किस प्रकार स्पष्ट रूपमें हैं यह इस रीतिसे पाठक देख सकते हैं।
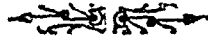
आयुष्य-वर्धन-सूक्त।

(३०)

(ऋषिः— अथर्वा आयुष्यकामः। देवता विश्वे देवाः)

विश्वे॑ दे॒वा वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒मम्ु॒तादि॑त्या जागृ॒त यू॒यम॒स्मिन्।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्राप॒त् पौरु॑षेयो व॒धो यः ॥ १ ॥
ये वो॑ देवाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒दमु॒क्तम्।
सर्वे॑भ्यो वः॒ परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑नं ज॒रसे॑ वहाथ ॥ २ ॥
ये दे॑वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॒१॒न्तः।
ते कृ॑णुत ज॒रस॒मायु॑र॒स्मै श॒तम॒न्यान्परि॑ वृणक्तु मृ॒त्यून् ॥ ३ ॥
येषां॑ प्रया॒जा उ॒त वा॑नुया॒जा हु॒तभा॑गा अहु॒ताद॑श्च दे॒वाः।
येषां॑ वः॒ पञ्च॑ प्र॒दिशो॒ विभ॑क्ता॒स्तान्वो॑ अ॒स्मै स॑त्र॒सदः॑ कृणोमि ॥ ४ ॥

अर्थ– हे (विश्वे देवाः) सब देवो! हे (वसवः) वसुदेवो! (इमं रक्षत) इसकी रक्षा करो। (उत) और हे (आदित्याः) आदित्य देवो! (यूयं अस्मिन् जागृत) तुम इसमें जागते रहो। (इमं) इस पुरुषको (सनाभिः) अपने बंधुका (उत वा-) अन्य-नाभिः) अथवा किसी दूसरेका (वधः मा प्रापत्) वधकारक शस्त्र न प्राप्त करे, न प्रहार करे तथा (यः पौरुषेयः वधः

जो पुरुष प्रयत्नसे होनेवाला घातपात है वह भी (इमं मा प्रापत्) इसको प्राप्त न करे॥ १ ॥ हे(देवाः) देवो (ये वः पितरः) जो आपके पिता हैं तथा (च ये पुत्राः) जो पुत्र हैं वे सब (स-चेतसः) सावधान होकर (मे इदं उक्तं शृणुत) मेरा यह कथन श्रवण करें (सर्वेभ्यो वः एतं परिददामि) सब आपकी निगरानीमें इसको मैं देता हूं (एनं जरसे स्वस्ति वहाथ) इसको वृद्ध आयुतक सुखपूर्वक पहुंचा दो ॥ २ ॥ (ये देवाः दिवि स्थ) जो देव द्युलोकमें हैं, (ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्षे) जो पृथ्वीमें और अंतरिक्षमें हैं और जो (ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः) औषधि, पशु और जलोंके अंदर हैं (ते अस्मै जरसं-आयुः कृणुत) वे इसके लिये वृद्धावस्थावाली दीर्घ आयु करें। यह पुरुष (शतं अन्यान् मृत्यून् परिवृणक्तु) सैंकडों अन्य अपमृत्युको हटा देवे ॥ ३ ॥ (येषां) जिन तुम्हारे अंदर (प्रयाजाः) विशेष यजन करनेवाले, (उत वा अनुयाजाः) अथवा अनुकूल यजन करनेवाले तथा (हुत-भागाः अहुतादः च देवाः) हवनमें भाग रखनेवाले और हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं, (येषां वः पञ्च प्रदिशः विभक्ताः) जिन आपकी ही पांच दिशायें विभक्त की गई हैं, (तान् वः) उन तुमको (अस्मै) इस पुरुषकी दीर्घ आयुके लिये (सत्र-सदः कृणोमि) सदस्य करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सब देवो, हे वसुदेवो ! मनुष्यकी रक्षा करो ! हे आदित्य देवो ! तुम मनुष्यमें जाग्रत रहो। मनुष्यका उसीके बंधुसे अथवा कोई अन्य मनुष्यसे अथवा कोई पुरुषसे वध न हो ॥ १ ॥ हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब मेरा कथन सुनें ! मनुष्यको पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाना तुम्हारे आधीन है, अतः मनुष्यकी दीर्घ आयु करो ॥ २ ॥ जो देव द्युलोक, अंतरिक्षलोक, भूलोक, औषध, पशु, जल आदिमें हैं वे सब मिलकर मनुष्यकी दीर्घ आयु करें। तुम्हारी सहायतासे मनुष्य सैंकडों अपमृत्युसे बचें ॥ ३ ॥ विशेष याजन करनेवाले, अनुकूल याजन करनेवाले, हवनका भाग लेनेवाले तथा हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं और जिन्होंने पांच दिशाएं विभक्त की हैं, वे सब आप देव मनुष्यकी आयुष्यवर्धक सभाके सदस्य बनें और मनुष्यकी आयु दीर्घ बनानेमें सहायता करें ॥ ४ ॥

आयुका संवर्धन।

मनुष्यका आयुष्य न केवल पूर्ण होना चाहिये प्रत्युत अति-दीर्घ होना चाहिये। पूर्ण आयुष्यकी मर्यादा तो १२० वर्षोंकी है इससे कम १०८ वर्षकी और इससे कम १०० सौ वर्षकी है। सौ वर्षकी मर्यादा तो हरएकको प्राप्त होनी ही चाहिये, परंतु उसके प्रयत्न इससे अधिक आयुष्य प्राप्त करनेकी और होने चाहिये इसका सूचक मंत्र यह है—

भूयश्च शरदः शतात्। यजुर्वेद. ३६। २४

सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त हो। १२० वर्षोंसे अधिक आयु जितनी भी होगी वह दीर्घ या अतिदीर्घ संज्ञाको प्राप्त होगी। अर्थात् अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना वैदिक धर्मके अनुकूल है। इस दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिकी वैदिक रीति इस सूक्तमें दर्शाई है, इसलिये पाठक इस सूक्तका विचार करें तथा जो जो सूक्त इस विषयके साथ संबंध रखनेवाले हैं उनकाभी मनन इसके विचारके साथ करें।

सामाजिक निर्भयता।

दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिके लिये समाजमें-सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिमें, तथा धार्मिक और अन्यान्य दृष्टियोंसे निर्भयता रहनी अत्यंत आवश्यक है। निर्भयता-सुरक्षितता न रहेगी तो मनुष्य दीर्घायु हो नहीं सकते। समाजमें कोई एक दूसरे पर हमला करनेवाला न हो, इस प्रकारका समाज बनना चाहिये। राजनैतिक कारणसे हो, धर्मके नामपर हो, अथवा किसी दूसरे निमित्तसे हो, कानून अपने हाथमें लेकर एक दूसरेपर हमला करना किसीको भी उचित नहीं है, यह दर्शानेके लिये प्रथम मंत्रका उत्तरार्ध है, इसका आशय यह है—

" इस मनुष्यका वध कोई सजातीय, अन्य जातीय या कोई अन्य मनुष्य किसी साधनसे न करे ॥ " (मंत्र १)

यह वेदका उपदेश मनुष्य मात्रके लिये है, हरएक मनुष्य यह ध्यानमें रखे और अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करे। " मैं किसीका वध न करूंगा, किसी दूसरेकी हिंसा मैं नहीं करूंगा। मैं अहिंसा वृत्तिसे आचरण करूंगा।" यह प्रतिज्ञा हरएक मनुष्य करे और तदनुकूल आचरण करें।

इस मंत्रमें जो शांति वर्णन की है वह मनुष्य मात्रमें स्थिर रहनी चाहिये, यह बुनियाद है और इसी अहिंसा वृत्तिपर दिर्घायुका मंदिर खडा होना है। जबतक मनुष्यमें हिंसक वृत्ति रहेगी तब तक वह दीर्घायु बन नहीं सकता। घातपात करनेकी वृत्ति, क्रोधकी लहर, दूसरे का खून करनेकी वासना, दूसरेको दबाकर अपनी धनसंपत्ति बढानेकी अभिलाषा जबतक रहेगी

तब तक मनुष्यकी आयु क्षीण ही होती जायगी । इसलिये वध करनेकी वृत्ति अपने समाजमें से दूर करनेका यत्न मनुष्य प्रथम करें ।

देवोंके आधीन आयुष्य ।

मनुष्यका समाज जितना अहिंसावृत्तिवाला होगा उतनी उसकी आयुष्यमर्यादा दीर्घ होसकती है । यह बात जितनी सिद्ध होगी उतनी सिद्ध करके आगेका मार्ग आक्रमण करना चाहिये। आगेका मार्ग यह है कि-" अपना आयुष्य देवोंके आधीन है, देव हमारी रक्षा कर रहे हैं " यह भाव मनमें धारण करना। इसकी सूचना प्रथम मंत्रके पूर्वार्धने दी है, उसका आशय यह है—

" हे सब वसुदेवो ! मनुष्यकी रक्षा करो । हे सब आदित्यो ! मनुष्यमें जागते रहो । " (मंत्र १)

इस मंत्रमें भी दो भाग हैं । पहिले भागमें वसु देवोंकी रक्षक शक्तिके साथ संबंध बताया है और दूसरे भागमें आदित्य देवोंको मनुष्यके अंदर, मनुष्यके देहमें, जाग्रत रहनेकी सूचना दी है । ये दोनों बातें दीर्घ आयु करनेके लिये अत्यंत आवश्यक हैं । अब इनका संबंध देखिये—

सबसे पहिले मनुष्य यह विचार मनमें धारण करे कि संपूर्ण देव मेरी रक्षा कर रहे हैं, परब्रह्म परमात्मा सर्वेश्वर सर्व समर्थ प्रभु मेरी रक्षा कर रहा है और उसकी आधनिता में सूर्यादि सब देव सदा मेरी रक्षा कर रहे हैं । मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूं इसलिये मेरा परमपिता परमात्मा मेरी रक्षा करता था, करता है और करताही रहेगा । परमात्माके आधीन अन्य सब देव होनेके कारण वे भी उस परमात्माके पुत्रकी रक्षा अवश्य करेंगे ही।

इस प्रकार संपूर्ण देव मेरा संरक्षण करते हैं इसलिये मैं निर्भय हूं यह विचार मनमें दृढ करके मनके अंदर जो जो चिन्ताके विचार आयेंगे उनको हटाना चाहिये और विश्वाससे मनकी ऐसी दृढ अवस्था बनानी चाहिये कि जिसमें चिंताका विचार ही न उठे और चिंतारहित निर्भय होनेके भाव आनंद वृत्तिके साथ मनमें रहें । दीर्घायुष्यके लिये इस प्रकार परमात्मा पर तथा अन्यान्य देवोंकी संरक्षक शक्तिपर अपना पूर्ण विश्वास रखना चाहिये, अन्यथा दीर्घ आयुष्य प्राप्त होना असंभव है ।

कई पाठक शंका करेंगे कि अन्यान्य देव हमारी रक्षा किस प्रकार कर रहे हैं ? इस विषयमें इससे पूर्व कई स्थानोंपर उल्लेख आगया है । तथापि संक्षेपसे यहांभी इसका विचार करते हैं । पाठक जानते ही हैं कि प्रथम मंत्रमें ' वसु ' देवोंका उल्लेख है, ये सब जगत्के निवासक देव होनेके कारण ही इनको " वसु " कहते हैं । सबके जो निवासक होते हैं वे सबकी रक्षा अवश्य ही करेंगे ।

सब वसुओंका भी परम वसु परमात्मा है क्योंकि वह जैसा सब जगत् को बसाता है इसी प्रकार जगत्के संरक्षक सब देवोंको भी बसाता है । उसके बाद पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये अष्टवसु हैं ऐसा कहा जाता है । भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, आदि के साथ हमारे क्षणक्षणके आयुष्यका संबंध है, इनमें से एकका भी संबंध हमसे टूट गया तो हमारा नाश [illegible] । इतना महत्त्व इनका है और इसी कारण इनके रक्षणमें सदा मनुष्य रहता है ऐसा ऊपरवाले मंत्रमें कहा है । इससे स्पष्ट हुआ कि मनुष्य की रक्षा इन देवोंके कारण हो रही है और अति निःपक्षपातसे हो रही है । ये देव कभी किसीका पक्षपात नहीं करते हैं । सूर्य सबपर एकसा प्रकाशता है, वायु सबके लिये एकसा बह रहा है, जल सबके लिये आकाशसे गिरता है, पृथ्वी सबको समानतया आधार दे रही है, इस प्रकार ये सब देव न केवल सबकी रक्षा कर रहे हैं प्रत्युत सबके साथ निःपक्षपातका भी वर्ताव कर रहे हैं ।

हमारे जीवनके साथ इनका संबंध इतना घनिष्ठ है कि इनके विना हमारा जीवन ही अशक्य है । वायुके विना प्राण धारणा कैसी होगी ? सूर्यके विना जीवन ही असंभव होगा, इत्यादि प्रकार पाठक देखें और मनमें निश्चयपूर्वक यह बात धारण करें कि परमात्माके नियमके आधीन रहते हुए ये सब देव हमारी रक्षा कर रहे हैं ।

हम क्या करते हैं ?

सब देव तो हमारी रक्षा कर ही रहे हैं, परंतु हम क्या कर रहे हैं, हम उनकी रक्षामें रहनेका यत्न कर रहे हैं या उनकी रक्षासे बाहर होनेके यत्नमें हैं ? इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये । देखिये, परमात्माकी और देवोंकी रक्षासे हम कैसे बाहर जाते हैं—परमात्मापर जो विश्वास ही नहीं रखते वे परमात्माकी रक्षासे बाहर हो जाते हैं । दयामय परमात्मा तब भी उनकी रक्षा करता ही रहता है यह उनकी ही अपार दया है, परंतु ये अविश्वासी लोग उनकी अपार दयासे लाभ नहीं उठाते । अविश्वासके कारण जितनी हानि है, किसी अन्य कारणसे नहीं हो सकती । दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये इसी कारण मनमें परमात्मविषयक दृढ विश्वास चाहिये ।

इसके बाद सूर्य अपने प्रकाशसे सबको जीवनामृत देकर सबकी रक्षा कर ही रहा है, परंतु मनुष्य सूर्य प्रकाशसे दूर रहते हैं, तंग गलियोंके तंग मकानोंमें रहते हैं, दिनभर कमरोंमें अपने आपको बंद रखते हैं और इस प्रकार सूर्यदेवकी संरक्षक शक्तिसे अपने आपको दूर रखते हैं। इनके लिये भगवान् सहस्ररश्मी सूर्यदेव क्या कर सकते हैं ? इसी प्रकार वायु और जल आदि देवोंके विषयमें समझना उचित है। ये देव तो सबकी रक्षा कर ही रहे हैं परंतु मनुष्योंको भी चाहिये कि वे इनकी उत्तम रक्षासे अपने आपको दूर न रखें और जहातक होसके उतना प्रयत्न करके उनकी रक्षामें अपने आपको अधिक रखें।

पाठक यहां समझ ही गये होंगे कि संपूर्ण देव मनुष्यमात्रकी किस रीतिसे रक्षा कर रहे हैं और मनुष्य उनकी रक्षासे किस प्रकार दूर होते हैं और स्वयं अपना नुकसान किस प्रकार कर रहे हैं।

आदित्य देवोंकी जाग्रती।

इस प्रथम मंत्रमें दीर्घ आयुष्य वर्धक एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह है- " हे आदित्य देवो ! इस मनुष्यमें जाग्रत रहो। " मनुष्यके अंदर आदित्यसे ही सब जीवन शक्ति आरही है। यह जीवन शक्ति जैसी मनुष्यमें कार्य करती है उसी प्रकार सब जगतमें कार्य कर रही है। इसी शक्तिसे सब जगत् चल रहा है। परंतु यहां मनुष्यका ही हमें विचार करना है। मनुष्यमें यह आदित्य शक्ति मस्तिष्कमें रहती है, नेत्रमें रहती है और पेटमें रहती है। मस्तिष्कमें मज्जाकेंद्र चलाती है, पेटमें पाचक केंद्रको चेतना देती है और नेत्रमें देखनेका व्यापार कराती है। इनमेंसे कोई भी आदित्य शक्ति कम हुई तो भी मनुष्यका आयुष्य घटता जायगा। मस्तिष्कका मज्जाकेंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होगया तो संपूर्ण शरीर चेतना रहित हो जाता है पेटका पाचक केंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होगया तो हाजमा बिगड जाता है, नेत्रकी आदित्यशक्ति हटगई तो मनुष्य अंधा बनता है और उसके सब व्यवहार ही बंद हो जाते हैं। इतना महत्त्व इस आदित्य शक्तिका मनुष्यके अथवा प्राणीके शरीरमें है। इसलिये वेदमें कहा है कि—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद. १। ११५। १

" यह आदित्य सूर्य ही स्थावर जंगम जगत्का आत्मा है।" पाठक इस मंत्रका आशय ध्यानमें रखें और अपने अंदरकी आदित्य शक्ति सदा जाग्रत रखनेका अनुष्ठान करें। सूर्यभेदन व्यायाम और सूर्यभेदी प्राणायाम द्वारा पेटके स्थानमें रहनेवाली आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है, ध्यान धारणा द्वारा मस्तिष्ककी आदित्य शक्ति जाग्रत होती है, तथा त्राटक आदि अभ्यास द्वारा नेत्रकी आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है। इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा अपने अंदरकी आदित्य शक्ति जाग्रत और बलयुक्त करनेसे मनुष्य दीर्घजीवी हो सकता है।

इस प्रथम मंत्रके ये उपदेश यदि पाठक ध्यानमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंका योग्य अनुष्ठान करेंगे, तो उनकी आयु बढ जायगी इसमें कोई संदेह ही नहीं है। " समाजमें निर्भयता, परमेश्वरपर दृढनिष्ठा, वायु जल सूर्य आदि देवताओंसे अधिक संबंध करना और अपने अंदर आदित्य शक्तियोंकी जाग्रती करना " यह संक्षेपसे दीर्घायु प्राप्त करनेका मार्ग है।

इसी मार्गका थोडासा स्पष्टीकरण आगेके मंत्रोंमें है, वह अब देखिये-

देवोंके पिता और पुत्र।

इस आयुष्यवर्धन सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि " हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और तुम्हारे पुत्र हैं वे मेरी बात सुनें। मैं तुम्हारे ही आधीन इस मनुष्यको करता हूं, तुम इसको दीर्घ आयुष्य तक सुखसे पहुंचाओ। " (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें " देव, देवोंके सब पिता और देवोंके सब पुत्र ये सब मनुष्यको सुखसे दीर्घ आयुष्य तक पहुंचानेवाले हैं " ऐसा कहा है, यह सूचना मनन करने योग्य है। यह मंत्र ठीक समझमें आनेके लिये देव कौन हैं, उनके पिता कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं, इसका विचार करना यहां अत्यंत आवश्यक है। अथर्ववेदमें इन पिता पुत्रोंका वर्णन इस प्रकार आया है—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥ ३ ॥
प्राणापानौ चक्षुःश्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥
कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताऽजायत ॥ ८ ॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत ॥ ९ ॥
ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यःपुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
[अथर्व. ११।८।१०]

(पुरा) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंमें दश देव (साकं अजायन्त) साथ साथ उत्पन्न हुए। जो इनको प्रत्यक्ष जानेगा, (सः अद्य महत् वदेत्) वह बडे ब्रह्मके विषयमें

बोलेगा। वही ब्रह्मका ज्ञान कहेगा ॥ ३ ॥ प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, (अ-क्षितिः) अविनाशी बुद्धि, और (क्षितिः) नाशवान चित्त, व्यान, उदान, वाचा और मन ये दस देव तेरे (आकूतिं आवहन्) संकल्पको उठाते हैं ॥ ४ ॥ कहांसे इन्द्र, सोम, और अग्नि होगये ? कहांसे त्वष्टा हुआ, और धाताभी कहांसे हो गया ? ॥ ८ ॥ इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा, और धातासे धाता हुआ है ॥ ९ ॥ (ये पुरा देवेभ्यः दश देवाः) जो पहिले देवोंसे दश देव हुए हैं, (पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा) पुत्रोंको स्थान देकर वे स्वयं (कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें बैठे हैं ? ॥ १० ॥

इन मंत्रोंमें देव, देवोंके पिता और पुत्र कौनसे हैं इसका वर्णन है। प्राण अपानादि दश देव इन्द्रादि देवोंसे बने हैं और वे पुत्र रूप देव इस शरीरमें रहते हैं, इन पुत्रदेवोंके पिता देव इस जगत्में हैं और उनके भी पिता परमात्मामें रहते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है—प्राणरूप देव मनुष्य शरीरमें है, वह जगत्में संचार करनेवाले वायुका पुत्र है, और इस वायु-काभी पिता-वायुका भी वायु-परमपिता परमात्मा है। इसी प्रकार चक्षुरूपी पुत्रदेव शरीरमें रहता है, उसका पिता सूर्यदेव द्युलोकमें है, और सूर्यका पिता--सूर्यका भी सूर्य--परमपिता परमात्मा है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके विषयमें जानना योग्य है। यह विषय इससे पूर्व आचुका है, इसलिये यहां अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है।

सबका सारांश यह है कि पुत्र रूपी देव प्राणियोंके इन्द्रियों और अवयवोंमें अर्थात् शरीरमें रहते है। इनके पितादेव भूः-भुवः स्वः इस त्रिलोकीमें रहते हैं और इन सूर्यादि देवोंके भी पिता विशेष शक्तिके रूपसे परमात्मामें निवास करते हैं।

हमारी आंख सूर्यके विना कार्य करनेमें असमर्थ है और सूर्य परमात्माकी और महाशक्तिके विना अपना कार्य करनेमें असमर्थ है। इसी प्रकार संपूर्ण देवों और उनके पिता पुत्रोंके विषयमें जानना योग्य है। इन सबके आधीन मनुष्यका दीर्घायु बनना है।

इसलिये जो दीर्घ आयुष्यके इच्छुक हैं, वे भक्तियुक्त अंतःकरणसे अपना संबंध परम पिता परमात्मासे दृढ करें। यह परम पिता परत्मा सूर्यका भी सूर्य, वायुका भी वायु, प्राण का भी प्राण, अर्थात् देवोंका भी देव है और वही इस सबका पिता है। इसकी भक्ति यदि अंतःकरणमें दृढ हो गई तो मनकी समता स्थिर रह सकती है और उससे दीर्घ आयु प्राप्त होती है। इस प्रकार देवोंके पितासे मनुष्यका संबंध होता है और यह संबंध अत्यंत लाभकारी है।

वायु सूर्य आदि देवोंसे हमारा संबंध किस प्रकार है और उसका हमारे आरोग्य और दीर्घ आयुसे कितना घनिष्ठ संबंध है, यह हमने प्रथम मंत्रके व्याख्यानके प्रसंगमें वर्णन किया ही है इसलिये उनको दुहरानेकी यहां आवश्यकता नहीं है।

प्राण, चक्षु, कर्ण आदि देवपुत्र हमारे शरीरमें ही रहते हैं। योगादि साधनोंसे इनका बल बढ सकता है। इसलिये इनके व्यायामके अनुष्ठानसे पाठक इनकी शक्ति विकसित करें और अपना शरीर नीरोग और बलवान बनाकर दीर्घायुके अधिकारी बनें।

इस प्रकार मनुष्यका दीर्घ आयुष्यके साथ देवों, देवोंके पितरों और देवोंके पुत्रोंका संबंध है। यह जानकर योग्य-अनुष्ठान द्वारा आयुष्यवर्धन का प्रयत्न करें।

परमपिता परमात्मा यद्यपि एक ही है तथापि वह संपूर्ण सूर्य, चंद्र, वायु, रुद्र आदि अनेक देवताओंकी विविध शक्तियोंसे युक्त है, इसलिये संपूर्ण देवताओंका सामुदायिक पितृत्व उसमें है, ऐसा काव्यमय वर्णन मंत्रमें किया है वह उचितही है। इस प्रकार इस मंत्रमें मनुष्यके दीर्घ आयुष्यके अनुष्ठान का मार्ग इस मंत्रमें उत्तम और स्पष्ट शब्दोंद्वारा बताया है। पाठक इसका विशेष विचार करें।

देवोंके स्थान।

तृतीय मंत्रमें देवोंके स्थान कहे हैं। यह तृतीय मंत्र यह आशय प्रकट करता है, कि " द्युलोक, अंतरिक्ष, पृथिवी, औषधि, पशु, जल, इन, स्थानोंमें देव रहते हैं, वे मनुष्यके लिये दीर्घ आयु करते हैं और जिनकी सहायतासे सेंकडों अपमृत्यु दूर हो जाते है।" (मंत्र ३) यह मंत्र बडा विचार करने योग्य है।

द्युलोकमें सूर्यादि देव, अंतरिक्षमें वायु, रुद्र, इन्द्र, चन्द्र आदि देव, पृथ्वीमें अग्नि आदि देव, औषधियोंमें रसात्मक सोमदेव पशुओंमें दुग्धादिरूपसे अमृत देव, जलमें वरुण आदि देव निवास करते हैं। ये सब देव मनुष्यकी आयु बढानेके कार्यमें सहायक होते हैं। सूर्य देव जीवन देता है, वायु प्राण देता है; इन्द्र और चन्द्र क्रमशः सुषुप्ति और जाग्रतिके व्यापक और अव्यापक मनके संचालक देव हैं, रुद्र स्वयं प्राणोंका चालक है, अग्नि वाणीसे संबंध रखता है, औषधिवनस्पतियोंसे अन्न तथा दवाइयां बनकर मनुष्यकी सहायता करती हैं, पशुओंसे दुग्ध रूपी अमृत मिलता है, जल देवसे वीर्य बनता है, इस प्रकार अन्यान्य देव मनुष्यके सहायक हैं। परंतु प्रयत्न द्वारा

मनुष्यने उनसे लाभ उठानेका पुरुषार्थ करना आवश्यक है ।

इन सब देवोंसे अपना संबंध सुरक्षित करके, उनसे यथायोग्य लाभ लेनेका यत्न करनेसे आयुष्य बढ सकता है । इन देवोंसे नाना प्रकारकी चिकित्साएं बनी हैं, द्युलोकके देवोंसे सौरचिकित्सा, वर्णचिकित्सा, प्रकाशकिरण-चिकित्सा; अंतरिक्षस्थानीय देवोंसे वायुचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा, मानसचिकित्सा अथवा चांद्रचिकित्सा; पृथ्वीस्थानीय देवोंसे अग्निचिकित्सा, खनिजपदार्थोंसे रसचिकित्सा, शस्त्रचिकित्सा, औषधियोंसे तथा वनस्पतियोंसे भैषज्यचिकित्सा, पशुओंके दूधसे दुग्धचिकित्सा अर्थात् पशुओंको विविध औषधियां खिलाकर तथा विविध रंगोंकी गौओंके दूधका उपयोग करनेसे, तथा पशुके मूत्रादिके उपयोगसे विविध चिकित्साएं सिद्ध होती हैं; जलसे जल चिकित्सा, इस प्रकार अनेकानेक चिकित्साएं होती हैं ।

इन सब चिकित्साओंका अर्थ ही यह है कि विविध रीतिसे इन सब देवोंकी दिव्य शक्तियोंसे लाभ उठाना । प्राचीन कालके ऋषिमुनियोंने इन सब देवोंसे लाभ उठानेके जो जो प्रयत्न किये, उनका फल ही ये सब चिकित्साएं हैं । आजकल भी इस दिशासे विविध प्रयत्न हो रहे हैं । इन देवताओंमें विविध और अनंत शक्तियां हैं, उनकी समाप्ति नहीं होगी, इसलिये मनुष्योंको विविध रीतिसे यत्न करके इन देवताओंसे विशेष लाभ उठानेके लिये यत्न करना चाहिये । इतने प्राचीन कालमे ऋषिलोग यह उद्योग करते थे और लाभ उठाते थे और दीर्घजीवी भी बने थे। यह सिलसिला टूट गया है, तथापि आजकल प्रयत्न करनेपर उसी मार्गसे बहुत खोज होना संभव है । जो पाठक इस क्षेत्रमें कार्य कर सकते हैं कार्य करें और विद्याकी उन्नति करें तथा यशके भागी बनें । अस्तु । इस प्रकार इन देवताओं की शक्ति अपने अंदर लेने और उस शक्तिको अपने अंदर स्थिर करनेसे मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है ।

साधारणसे साधारण प्रयत्नसे भी बडा लाभ हो सकता है। जैसा सूर्य किरणों में अपना नंगा शरीर तपानेसे, वायुमें नंगे शरीर घूमनेसे, जलमें तैरनेसे उत्तम औषधियोंका रस पीनेसे और गोदुग्ध आदिके सेवनसे साधारण परिस्थितिमें रहने वाले मनुष्य भी बहुत लाभ उठा सकते हैं । फिर जो विविध यंत्र निर्माण द्वारा इन दैवी शक्तियोंसे अधिक लाभ उठानेका पुरुषार्थ करेंगे उनके विषयमें क्या कहना है । इस प्रकार ये देवताएं गौके समान हैं, इससे जितना दूध दोहना चाहो, आप उतना दुह सकते हैं । इनमें अखंड अमृत रस भरा है । जो जितना पुरुषार्थ करेगा, उसको उतना अमृत मिलेगा और वह उतना अमर होगा ।

देवताओंके चार वर्ग ।

इस प्रकार तीन मंत्रोंमें देवताओंसे अमृतरस प्राप्त करके अमरत्व प्राप्त करके अर्थात् दीर्घायु बननेके अनुष्ठानका स्वरूप बतानेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रमें देवताओंके चार वर्गोंका वर्णन किया है और इन देवताओंके अपने सहकारी सदस्य बनानेका उपदेश किया है । इस चतुर्थ मंत्रका आशय यह है—

" देवोंमें प्रयाज, अनुयाज, हुतभाग और अहुताद ये चार वर्गके देव हैं । इन देवोंसे ये पाचों दिशाएं विभक्त हुई हैं । ये सब देव मनुष्यके सहकारी सभ्य बनें । " (मंत्र ४)

इन चार वर्गोंके देवोंके लक्षण इनके वाचक शब्दोंसे ही व्यक्त होते हैं । ये लक्षण देखिये—

१ प्रयाजाः-- विशेष यजन करने वाले,

२ अनुयाजाः-- अनुकूल यजन करने वाले,

३ हुतभागाः-- हवन का भाग लेने वाले,

४ अहुतादः-- हवनका भाग न खानेवाले ।

पाठक इन देवोंको अपने शरीरमें सबसे प्रथम देखें-- (१) जिनपर इच्छा शक्तिका परिणाम नहीं होता, परंतु जो अवयव अपनी ही गतिसे कार्य करते हैं उन अवयवोंका नाम प्रयाज है, जैसे हृदय आदि अवयव । (२) जो अवयव अपनी इच्छा शक्तिसे अनुकूल कार्यमें लगाये जा सकते हैं उनको अनुयाज कहते हैं, जैसे हाथ, पांव, आंख आदि । (३) हुतभाग वे इन्द्रियां हैं जो भोग की इच्छुक हैं और कार्य करनेसे थकती हैं और विश्रामसे तथा अन्नरस मिलनेसे पुष्ट होती हैं। (४) शरीरमें अहुताद केवल ग्यारह प्राण ही हैं, क्योंकि ये प्राण शरीरमें सदा कार्य करते हैं और स्वयं कुछभी भोग नहीं लेते, जन्मसे लेकर मरनेतक बराबर कार्य करते हैं ।

इस प्राणका वर्णन तथा अन्य इन्द्रियोंका वर्णन इसी प्रकार उपनिषदोंमें किया है । प्राणाग्निहोत्र उपनिषद्में शरीर यज्ञके प्रयाज और अनुयाज का वर्णन इस प्रकार है--

शारीरयज्ञस्य…के प्रयाजाः केऽनुयाजाः ॥
महाभूतानि प्रयाजाः ॥
भूतान्यनुयाजाः ॥　　　प्राणाग्निहोत्र० ॥ ३—४

शरीरमें चले हुए यज्ञके प्रयाज और अनुयाज कौन हैं ? महाभूत प्रयाज और भूत अनुयाज हैं । इसीप्रकार हुतभाग और अहुताद विषयक वर्णन उपनिषदोंमें तथा ब्राह्मणोंमें लिखा है जिसका तात्पर्य ऊपर दिया ही है ।

इसी आभ्यंतर यज्ञका नकशा बाह्ययज्ञमें किया जाता है,

उसका वर्णन यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनुयाजों से प्रयाज अधिक महत्त्व के हैं तथा हुतभागों से अहुताद विशेष महत्त्व रखते हैं। जो शरीरशास्त्र जानते हैं उनको इसका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे जानते ही हैं कि इच्छा शक्तिकी नियंत्रणासे चलनेवाले हस्तपादादि अवयवोंकी अपेक्षा अनिच्छासे कार्य करनेवाले हृदयादि अंतरवयव अधिक महत्त्वके हैं। तथा अहुताद अर्थात् कुछ भी भोग न लेते हुए जन्मसे मरनेतक अविश्रान्त कार्य करनेवाले प्राणादिक अधिक श्रेष्ठ हैं और नेत्र, कर्ण आदि अवयव जो श्रमसे थकते हैं, विश्राम करते हैं और भोग भी भोगते हैं ये उनसे गौण हैं।

यह मुख्य गौणका भेद देखकर दीर्घायु प्राप्तिका अनुष्ठान करनेवाले को उचित है, कि वह अपने अंदर के मुख्य देवों अर्थात इंद्रियशक्तियोंको अधिक बलवान् करे और अन्यों को भी बलवान करे, परंतु यह ख्याल रखे कि गौण अवयवों की शक्ति बढाने के कार्य करते हुए मुख्य अवयवोंकी क्षीणता न होने दें। उदाहरण के लिये पहलवानोंके व्यायाम ही लीजिये। पहलवान लोग अपने शरीरके पुट्ठोंको बलवान बनानेके यत्न बहुत करते हैं, परंतु हृदय आदि अंतरवयवोंका ख्याल नहीं करते हैं, इससे ऐसा होता है कि उनका स्थूल शरीर बडा बलशाली होता है, परंतु हृदयादि विशेष महत्त्वके अवयव कमजोर हो जाते हैं। इसका परिणाम अल्पायुमें उनकी मृत्यु हो जाती है।

यदि ये लोग साथ हृदयको भी बलवान बनानेका यत्न करेंगे तो ऐसा नहीं होगा इसलिये यहां कहना यह है कि अपने अंदर जो देवताओंके अंश रहते हैं उनमें मुख्य अवयवोंका विशेष ख्याल करना, उनकी शक्ति बढानेका और उनकी कमजोरी न बढे इसका विशेष विचार करना चाहिये। इसके पश्चात् गौण अवयवोंका विचार करना उचित है। श्वाससंस्थान, मज्जा-संस्थान और हृदयसंस्थान आदि महत्त्वपूर्ण संस्थानोंका बल बढना चाहिये और स्नायु आदि उनके अनुकूल रहनेयोग्य शक्तिशाली बनने चाहियें।

मंत्रका प्रयाज शब्द मुख्यका भाव और अनुयाज शब्द गौणका भाव बताता है। ये सब देव हमारे चारों ओर सब दिशाओंमें विभक्त हुए हैं और उन्होंने संपूर्ण स्थानको विभक्त किया है। ये सब देव हमारे शरीरमें चलनेवाले शतसांवत्सरिक सत्रके भागी बनें, अर्थात ये इस सौ वर्ष चलनेवाले जीवन रूपी महायज्ञके हिस्सेदार हैं ही, परंतु ये अपना कार्य करनेमें समर्थ बनकर अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करनेमें समर्थ हों, अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करें और निर्विघ्नतासे यह शतसांवत्सरिक यज्ञ चलानेमें हमारे सहकारी बनें।

इस प्रकार इन मंत्रोंका आशय है, ये मंत्र स्पष्ट हैं और बहुत बोधप्रद हैं। यदि पाठक इस ढंगसे अनुष्ठान करेंगे तो उनको निःसंदेह लाभ हो सकता है। यह "आयुष्य-गण" का सूक्त है और पाठक इस विषयके अन्य सूक्तोंके साथ इसका विचार करें।

आशा-पालक-सूक्त।

(३१)

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— आशापालाः; वास्तोष्पतिः)

आशा॑नामाशापा॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः। इ॒दं भू॒तस्याध्य॑क्षेभ्यो विधेम ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥

य आशा॑नामाशापा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ देवाः। ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतांह॑सो-अंहसः ॥ २ ॥

अस्रा॑मस्त्वा ह॒विषा॑ यजा॒म्यश्लो॑णस्त्वा घृ॒तेन॑ जुहोमि।
य आशा॑नामाशापा॒लस्तु॒रीयो॑ दे॒वः स नः॑ सुभू॒तमेह व॑क्षत् ॥ ३ ॥

स्व॒स्ति मा॒त्र उ॒त पि॒त्रे नो॑ अस्तु स्व॒स्ति गोभ्यो॒ जग॑ते॒ पुरु॑षेभ्यः।
विश्वं॑ सुभू॒तं सु॑वि॒दत्रं॑ नो अस्तु॒ ज्योगे॒व दृ॑शेम॒ सूर्य॑म् ॥ ४ ॥

अर्थ- (भूतस्य अध्यक्षेभ्यः) जगत्के अध्यक्ष (अमृतेभ्यः) अमर (आशानां चतुर्भ्यः आशापालेभ्यः) दिशाओंके चार दिशापालकोंके लिये (वयं) हम सब (हविषा इदं विधेम) हविर्द्रव्यसे इस प्रकार अर्पण करते हैं ॥ १ ॥ हे (देवा) देवो! (ये आशानां चत्वारः आशापालाः स्थन) जो तुम दिशाओंके चार दिशापालक हो (ते नः) वे तुम हम सबको (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) अवनतिके पाशोंसे तथा (अंहस. अंहसः) हरएक पापसे (मुञ्चतां) छुडाओ ॥ २ ॥ (अ स्रामः) न थका हुआ मैं (हविषा त्वा यजामि) हविर्द्रव्यसे तेरा यजन करता हूं। (अ-श्लोणः त्वा घृतेन जुहोमि) लंगडा न होता हुआ तुझको घीसे अर्पण करता हूं। यह (आशानां आशापालः तुरीयः देवः) जो दिशाओंका दिशापाल चतुर्थ देव है (सः नः सुभूतं इह आवक्षत्) वह हम सबको उत्तम प्रकारसे यहां पहुंचावे ॥ ३ ॥ (नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु) हम सबकी माताके लिये तथा हमारे पिताके लिये आनंद होवे। तथा (गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः स्वस्ति) गौवोंके लिये, चलने फिरनेवालोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख होवे। (नः विश्वं सुभूतं सुविदत्रं अस्तु) हम सबके लिये सब प्रकारका ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हो और हम (सूर्यं ज्योक् एव दृशेम) सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें अर्थात् हम दीर्घायुषी हों ॥ ४ ॥

भावार्थ— चार दिशाओंके चार अमर दिक्पाल हैं, वे इस बने हुए जगत्के अध्यक्ष हैं। उनकी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥ चार दिशाओंके चार दिक्पाल हैं, वे हमें हरएक पापसे बचावें और दुर्गतिसे भी हमारा छुटकारा करें ॥ २ ॥ मैं न थकता हुआ उनका सत्कार करता हूं, लंगडा लूला न बनकर मैं उनको घी देता हूं, जो इन चार दिक्पालोंके चतुर्थ देव है वह हमें सुखपूर्वक उत्तम अवस्थातक पहुंचावे ॥ ५ ॥ हमारे माता पिता, हमारे अन्य इष्टमित्र, हमारे गाय घोडे आदि पशु तथा जो भी हमारे प्राणी हो वे सब इस इस प्रकार सुखी हो। हमारा सब प्रकारसे अभ्युदय होवे और हमारा ज्ञान उत्तम पकारसे बढे तथा हम दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

दिक्पाल।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिशाएं हैं। उनकी रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल हैं, वे अपनी अपनी दिशाका संरक्षण कर रहे हैं। ये विश्वके रक्षक इतने दक्ष हैं कि इनको न समझते हुए कोई मनुष्य किसी भी प्रकार बुरा कार्य कर नहीं सकता। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह उक्त बात मनमें धारण करे और इन देवी लोकपालोंके दण्डके योग्य कोई आचरण न करे।

राजा अपने राज्यकी व्यवस्था और राज्यका सुशासन करनेके लिये अपने राज्यमें चार विभाग करके उनपर एक एक मुख्य शासक अधिकारी नियत करे, वह अधिकारी दक्षतासे अपने विभागका योग्य शासन करे। दुष्टोंको दंड दे और सुष्टोंका प्रतिपालन करे। और कहीं भी अनाचार होने न दें। यह राष्ट्रनीतिका पाठ इस सूक्तसे हमें मिलता है।

विश्वके अंदर राष्ट्र, और राष्ट्रके अंदर व्यक्तिका देह है। और इन तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसा ही है। इसलिये राष्ट्रशासनका विचार होनेके पश्चात् जिन व्यक्तियोंका राष्ट्र बनता है उन व्यक्तियोंके अन्दर चार दिशाओंके चार दिक्पाल किस रूपमें हैं और उनका शासन इस अध्यात्मभूमिकामें कैसा चल रहा है और उससे हमें वैयक्तिक सदाचारके विषयमें कौनसा बोध लेना है, इसका विचार अब करना चाहिये।

देहमें चार दिक्पाल।

देहमें मुखको "पूर्व द्वार" कहते हैं और गुदाको "पश्चिम द्वार" कहते हैं। ये द्वार एक दूसरेके साथ संबंधित भी हैं। पूर्व द्वारसे अर्थात् मुखसे अन्न पान शरीरके अंदर घुसता है, वहां का कार्य करता है और शरीरके मलादिके रूपमें परिवर्तित होकर पश्चिम द्वारसे अर्थात् गुदासे बाहर हो जाता है। अर्थात् पोषक अन्नका प्रवेश पूर्व द्वारसे इस शरीरमें होता है और मलको दूर करनेका कार्य पश्चिम द्वारसे होता है। दोनों कार्य शरीरके स्वास्थ्य के लिये अत्यंत आवश्यक ही हैं। परंतु यह तो स्थूल शरीरके स्वास्थ्य के साथ का संबंध है, इससे और दो द्वार हैं जिनका संबंध मनुष्यकी उन्नति या अधोगतिके साथ अधिक है; वे दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही हैं, जिनको "उत्तर द्वार" तथा "दक्षिण द्वार" कहते हैं।

"उत्तर द्वार" मस्तकमें है जिसका नाम "विद्रति द्वार" उपनिषदोंमें कहा है, इस द्वारसे शरीरमें जीवात्माका प्रवेश होता है और इसी द्वारसे अपने प्रयत्नसे जिस समय यह बाहर जाता है उस समयसे यह जन्ममरण के दुःखसे छूटता है और पुनः शरीरके बंधनमें पडता नहीं। बालकके मस्तकमें छोटेपनमें इस स्थानपर हड्डी नहीं होती। इसका नाम उत्तर द्वार है क्योंकि

इस द्वार से जानेसे उच्चतर अवस्था प्राप्त होती है।

यह द्वार मज्जा केन्द्रके साथ संबंधित है। इसी मज्जा केन्द्रके साथ संबंध रखनेवाला निचला द्वार शिश्न है जिससे वीर्यका पात होता है। इसके योग्य नियम पालनसे सुयोग्य संतति उत्पन्न होती है, परंतु इसके अनियम में चलानेसे मनुष्यकी अधोगति होती है। ये दो द्वार मनुष्यको उच्च और नीच बनानेमें समर्थ हैं। ब्रह्मचर्य पालनद्वारा उत्तर मार्गसे जानेका उपनिषदोंका वर्णन इसी उत्तर मार्गको सूचित करता है, इसीका नाम "उत्तरायण (उत्तर+अयन)" अर्थात् उत्तर मार्गसे जाना है। इसके विरुद्ध "दक्षिणायन" अर्थात् दाक्षिण मार्गसे जाना है, जिसके संयमसे उत्तम गृहस्थधर्मपालनपूर्वक उन्नति होना संभव है, परंतु असंयमसे मनुष्य इतना गिरता है कि उसका कोई ठिकाना ही नहीं होता। ये दो मार्ग मज्जातंतुओंके साथ संबंध रखनेवाले हैं।

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार ये शरीरमें अन्ननलिका के साथ संबंध बताते हैं तथा उत्तर द्वार और दक्षिण द्वार ये दो मार्ग मज्जातंतुओंके साथ संबंध रखते हैं। ये चार द्वारोंके चार संरक्षक देव हैं परंतु ये देव राक्षसोंके हमलेके अंदर दबने नहीं चाहिये।

आशा और दिशा।

इस सूक्तमें दिशावाचक "आशा" शब्द है और, उसके पालकका नाम "आशापाल" मंत्रोंमें आया है। "आशा" शब्दके दो अर्थ हैं। एक 'दिशा" और दूसरा "आशा, महत्त्वाकांक्षा, उम्मीद"। मनुष्यकी जैसी आशा, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा और उम्मीद होती है उसी प्रकारकी उसकी कार्य करनेकी दिशा होती है। मनुष्य जिस समय आशाहीन हो जाता है, निराश होता है, हताश होता है, उस समय वह इस जगत्से हटनेका या मर जानेका इच्छुक होता है। यह विचार यदि पाठकोंके मनमें जम जायगा, तो उनको पता लग जायगा कि यह सूक्त मनुष्यके साथ कितना घनिष्ठ संबंध रखता है।

जिस समय "आशा" शब्दका अर्थ "आशा, आकांक्षा," आदि किया जाता है उस समय यही सूक्त मनुष्यका अभ्युदयका मार्ग बताता है। तथा जिस समय इसी "आशा" शब्दका अर्थ "दिशा" कियाजाता है, उस समय यही सूक्त बाह्य जगत् तथा राष्ट्रके प्रबंधका भाव बताता है। सूक्तकी यह शब्दरचना विशेष गंभीर है और वह हरएक को वेदकी अद्भुत वर्णन शैलीका स्वरूप बता रही है।

सूक्तका मनुष्यवाचक भावार्थ।

मनुष्यकी चार आशाएँ हैं, उनके चार अमर पालक हैं। इन भूताध्यक्षोंकी हम हवनसे पूजा करते हैं ॥१॥ मनुष्यकी चार आशाओंके चार पालक हैं, वे हमें पापसे बचावें और दुष्ट अवस्थासे भी बचावें ॥२॥ मैं न थकता हुआ और अंगोंसे दुर्बल न होता हुआ हविसे तथा घृतसे इनको तृप्त करता हूं इन चार आशाओंके पालकोंमें से चतुर्थ पालक जो है वह हमें उत्तम आनंदको प्राप्त करनेमें सहायक होवे ॥३॥ इनकी सहायतासे हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, गाय, घोडे आदि सब सुखी हों। हमारा अभ्युदय होवे और हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु बनें।

केवल एक "आशा" शब्दका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेसे व्यक्तिविषयक उन्नतिके मार्गके संबंधमें कैसा उत्तम उपदेश मिल सकता है यह पाठक यहां देखें। यह उपदेश इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके अनुसार चलनेसे मनुष्य ऐहिक अभ्युदय तथा पारमार्थिक निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है। इस सूक्तपर बहुत लिखा जा सकता है, परंतु यहां संक्षेपसे ही इसका विवरण करेंगे।

मनुष्यमें
चार द्वारोंकी चार आशाएँ।

मनुष्यके शरीरमें चार द्वार हैं, इस बातका वर्णन इससे पूर्व कियाही है। इन चार द्वारोंके कारण चार आशाएं मनुष्यके मनमें उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार घरके जितने द्वार होते हैं उनसे बाहर जाने और उन दिशाओंसे कार्य करनेकी इच्छा घरके मालिक की होती है, उसी प्रकार इस शरीररूपी घरके स्वामी आत्मदेवकी आशाएं इस घरके द्वारोंसे जगत्में गमन करके वहांके कार्यक्षेत्रमें पुरुषार्थ करनेकी होती हैं। वास्तवमें इस शरीरमें अनेक द्वार हैं, इसमें नौ द्वार हैं, ऐसा अन्यत्र कई स्थानोंमें कहा है। देखिये-

> अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
> तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥
> (अथर्व० १०।२।३१)

*

"आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नामक नगरी है, इसमें सुवर्णमय कोश है वही तेजस्वी स्वर्ग है।"

इस अथर्व श्रुतिमें शरीरका और हृदय गुहाका वर्णन करते हुए कहा है, कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं। ये द्वार हैं इसमें कोई संदेह ही नहीं है। दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुख, गुदा और शिश्न ये नौ द्वार यहां कहे हैं। इनमें से मुख पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिश्न दक्षिण द्वार इन तीनोंका संबंध इस अपने प्रचलित सूक्तके मंत्रमें है। जो चतुर्थद्वार है वह आठ चक्रवाले पृष्ठवंशके ऊपर मस्तिष्कसे भी ऊपर के भागमें विद्दति नामसे प्रसिद्ध है। इसका वर्णन अथर्ववेदमें इस प्रकार है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥
(अथर्व॰ १० २।२६)

"मस्तक और हृदय को सीकर अर्थात् एक केन्द्रमें लीन करके मस्तकसे भी ऊपर सिरके बीचमें से प्राण फेंका जाता है।"

विद्दति-द्वारसे प्रवेश।
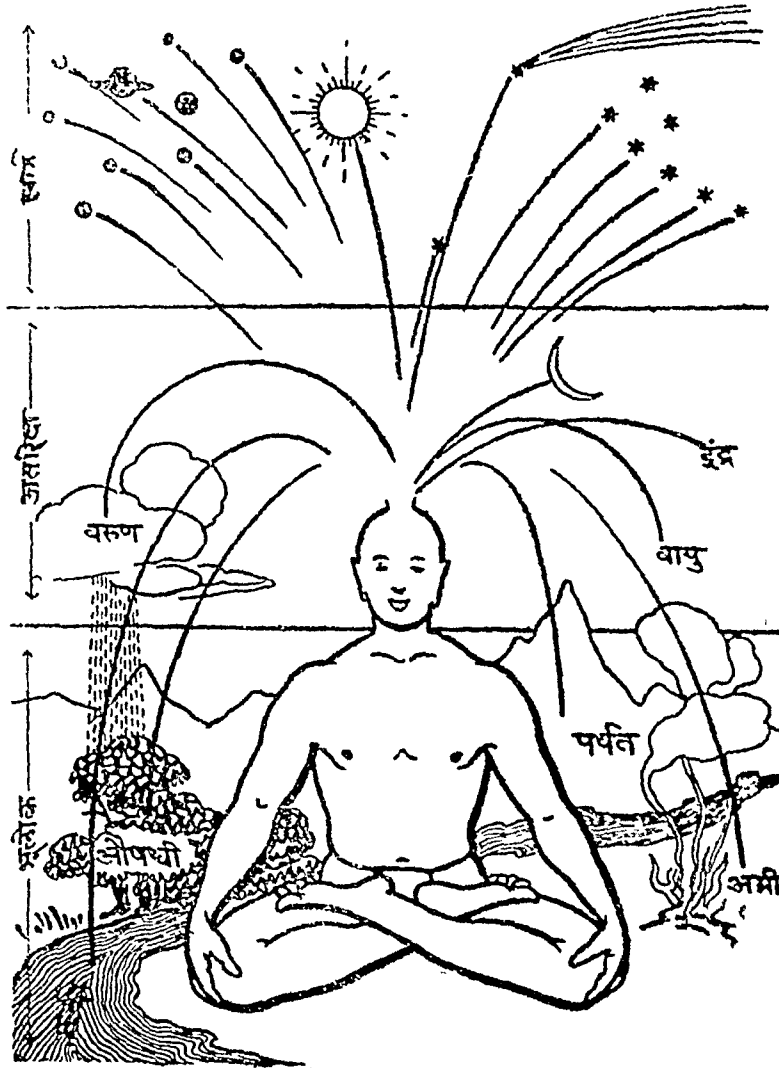
विदृति द्वारसे तैंतीस देवोंके साथ आत्माका शरीरमें प्रवेश। अंदर आनेपर वह द्वार बंद होता है। पश्चात् प्राणसाधन द्वारा अपनी इच्छासे इसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति। साधारण जन देहत्याग करनेके समय किसी अन्य द्वारसे बाहर जाते हैं, परन्तु केवल योगी ही अथर्ववेदके कहे मार्गसे मस्तिष्कके परे इसी द्वारसे जाता है और मुक्त होता है।

मस्तकमें विदृतिद्वार

इस मंत्रमें "मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः। अधि शीर्षतः।" आदि शब्दों द्वारा मस्तकके ऊपर के उत्तर द्वारका वर्णन किया है। अर्थात् जो चार द्वार हमने इस मंत्रके व्याख्यानके प्रसंगमें निश्चित किये हैं उनका वेदमें अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है। नौ द्वारोंमेंसे तीन और इस मज्जा-संस्थानका एक मिलकर चार द्वार हैं और उनकी चार आशाएं अथवा दिशाएं हैं। अब ये आशाएं देखिये—

द्वार			आशा
१ पश्चिमद्वार	= गुदा	= की आशा	विसर्जन करना। शरीरधर्म।
२ पूर्वद्वार	= मुख	= ,, ,,	मधुर भोजन करना। अर्थप्राप्ति।
३ दक्षिणद्वार	= शिश्न	= ,, ,,	भोगका उपभोग करना। काम।
४ उत्तरद्वार	= विदृति	= ,, ,,	बंधनसे मुक्त होना। मोक्ष।

आरोग्यका आधार

इनमें पश्चिमद्वारसे जो आशा है वह केवल "शरीरधर्म" पालन करने की ही है तथापि इस शौच धर्मसे अर्थात् पवित्र बनने के कर्मसे शरीर शुद्धि होनेके कारण इससे शरीर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। सब अन्य भोग इसके आश्रयसे हैं यह बात हरएक जान सकते हैं। इस द्वारका कार्य बिगड जानेसे शरीर रोगी होता है और अन्य द्वारों की आशाएं पूर्ण होने की असमर्थता होती है। इसके उत्तम प्रकार कार्य करनेपर अन्य आशाएं सफल होनेकी संभावना है। इसलिये हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम द्वारकी आशा मनुष्यके मनमें "आरोग्यकी प्राप्ति" रूपसे रहती है। इस आशाका कार्यक्षेत्र बहुत बडा है, मनुष्य इस विषयमें जितना कार्य करेगा उतना वह स्वस्थता प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस पश्चिम द्वारके व्यवहार ठीक न चलें तो उसके रोगी होनेमें कोई शंकाही नहीं है।
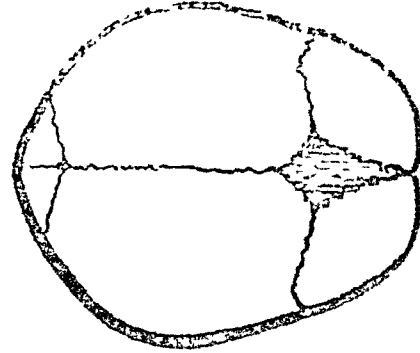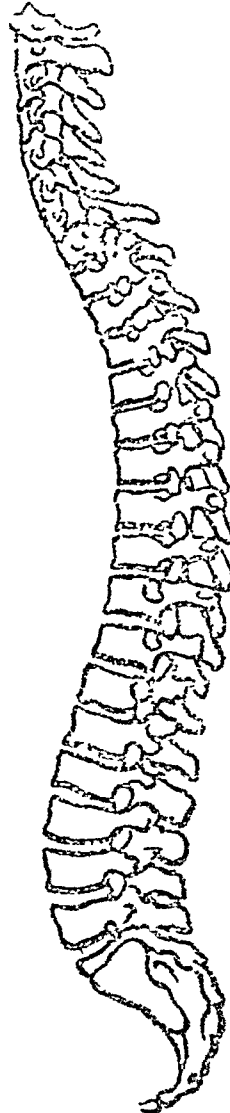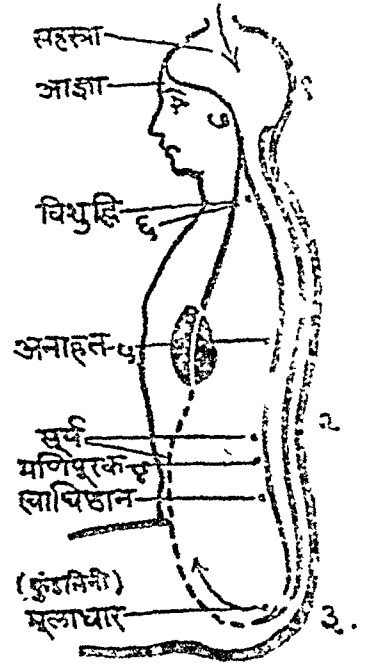
पृष्ठवंश

सहस्रार चक्र
पृष्ठवंशमें चक्रोंके स्थान।

खानपान ।

अब पूर्वद्वारकी आशा देखिये । संक्षेपमें इतना कहना इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस द्वारसे मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करने की इच्छा करता है । मधुरताका प्रेम करते करते मनुष्य इतना अधिक खाता है कि वह अजीर्णसे बीमार हो जाता है । इसलिये इस विषयमें प्रयत्नपूर्वक संयम रखना चाहिये । इन्द्रियोंका गुलाम और जिह्वाका दास जो बनता है उसकी आयु कष्टप्रद ही होती है । हरएक इंन्द्रियके विषयमें यही बात है । इस प्रकार इंद्रिय भोगके लिये धनकी आवश्यकता है इस हेतु इस द्वारकी आशा " अर्थकी प्राप्ति " ही है । यह आशा अत्यधिक बढानेसे कष्ट होंगे और संयम द्वारा अत्यावश्यकताके अनुसार भोग लेनेसे सुख बढेगा, उन्नति होगी । मुखद्वारसे शब्द बोलनेका भी एक काम होता है । उत्तम शब्द-प्रयोगसे जगत्में शांति फैलती है और कुशब्दके प्रयोगसे अशांति फैलती है । इस विषयमें भी जिह्वापर संयम रहना आवश्यक है । अन्यथा अनर्थ होनेमें कोई देर नहीं लगेगी । इस प्रकार इस द्वितीय द्वारकी आशाका संबंध मनुष्यकी उन्नतिके साथ है ।

कामोपभोग ।

तीसरा दक्षिण द्वार है । इस शिस्नद्वारा जगत्में उत्तम प्रजनन अर्थात् सुप्रजाजनन करना आवश्यक है । परंतु जगत् में इसके असंयमसे जो अनर्थ हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं है । इसका संयम महत्प्रयाससे साध्य होता है । ऊर्ध्वरेता होना ही वैदिक धर्मका साध्य है । इसके विचारसे इस द्वारकी आशाका पता लग जायगा । यह केंद्र अत्यंत महत्त्वका है, परंतु जनताका लक्ष्य इसके कार्यमें बिगाड करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयत्न अति कम हैं ।

बंधनका नाश ।

अब चतुर्थ विद्दति द्वारपर हम आते हैं । यह विद्दति-द्वार है । इससे जीवात्मा इस शरीरमें घुसा है, परंतु इसी द्वारसे बाहर जानेका मार्ग इसको मिलता नहीं है । युद्धभूमिमें प्रवेश करना यह जानता है, परंतु सुरक्षित वापस फिरनेकी विद्या इसे पता नहीं है । चक्रव्यूहमें घुसनेकी विद्या जाननेवाला, परंतु चक्रव्यूहमें घुमकर युद्धमें विजय प्राप्त करने और सुरक्षित वापस आनेकी विद्या न जाननेवाला अभिनव कुमार अभिमन्यु यही है । यदि यह सुरक्षित वापस आनेकी विद्या जानेगा तो यह विजय-अर्जुन - होगा, फिर इसको डर किसका है ? " विजयी " बननेके लिये ही ये सब धर्ममार्ग है । जिस समय आये हुए मार्गसे यह जीवात्मा वापस जानेकी शक्ति प्राप्त कर सकेगा उस समय इसको कोई बंधन कष्ट नहीं पहुंचा सकता । हरएक बंधन को दूर करनेकी इच्छा इसमें इस द्वारके कारण है ।

इस प्रकार चार द्वार की चार आशाएं हैं और हरएक मनुष्य इन आशाओंके कार्यक्षेत्रमें बुरा या भला कार्य करता है और गिरता है या उठता है । इन आशाओंके कार्यक्षेत्रकी कल्पना पाठकोंको ठीक प्रकार हो गई, तो इस सूक्तके मंत्रोंका विचार समझनेमें कोई कठिनता नही होगी । इसलिये प्रथम इन चार द्वारोंका विचार पाठक बारबार मननद्वारा करें और यह बात ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें । तत्पश्चात् निम्नलिखित स्पष्टीकरण पढें—

अमर दिक्पाल ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रके कथनमें तीन बातें कही हैं—"(१) चार आशाओंके चार अमर आशा पालक हैं । (२) वेही चार भूताध्यक्ष हैं । (३) उनकी पूजा हम हवनसे करते हैं ।"

मनुष्यमें चार आशाएं कौनसी हैं, उन आशाओंका स्वरूप क्या है और उनके साथ मनुष्यके पतन अथवा उत्थापनका किस प्रकार संबंध है, यह पूर्व स्थलमें बताया ही है । चार आशाएं मनुष्यके अंदर सनातन हैं, (१) शरीरधर्मका ख्याल करना, (२) भोग प्राप्त करना, (३) कामका भोग करना और (४) बंधनसे निवृत्त होना, ये चार भावनाएं अथवा कामनाएं मनुष्यमें सदा जागती हैं, मूढमें तथा प्राज्ञमें ये समानतासे रहती हैं । पशुपक्षियोंमें भी अल्पांशसे ये रहती हैं अर्थात् भूतमात्रमें ये सदा रहती हैं, इसलिये इनका सनातन अधिकार प्राणीमात्रपर है, मानो ये ही भूतोंके अध्यक्ष हैं । इनको अध्यक्ष इसलिये कहा कि है इनकी प्रेरणासे ही प्राणी अपने अपने सब व्यवहार करते है । यदि ये आशाएं प्राणियोंके अंदर न रहीं तो उनकी हलचल भी बंद हो जायगी । मनुष्यके संपूर्ण प्रयत्न इनकी आधीनतामें ही हो रहे हैं । इसलिये ये ही चार आशा -पालक मनुष्यके चार अधिकारी हैं । इनकी आधीनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने व्यवहार करता है और उनका बुरा या भला परिणाम भोगता है ।

हवनसे पूजन ।

इनका पुजन हवनसे ही हो रहा है । पूर्वद्वार मुख है, उसमें अन्नपानका हवन हो रहा है । कौन प्राणी ऐसा है कि जो यह हवन नहीं करता । इसी प्रकार दक्षिणद्वार शिस्न देवके पूजक सब ही प्राणी हैं, इतनाहीं नहीं परंतु इस कामदेव की अति

पूजा से लोग अपना ही घात कर रहे हैं। इतनी बात सत्य है कि उत्तरद्वार जिसका नाम विद्दति है उसके पूजक अत्यंत अल्प हैं और पश्चिमद्वार की पूजा करना थोडे ही जानते हैं। पश्चिमद्वार की पूजा योगमें प्रसिद्ध " अपानायाम " से की जाती है। जिस प्रकार नासिका द्वारसे करनेका प्राणायाम होता है उसी प्रकार पश्चिम गुद द्वारसे अपानायाम किया जाता है। इसकी क्रिया भी थोडे लोग जानते हैं। यह क्रिया योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है और इससे नाभिके निचले भागका आरोग्य प्राप्त होता है। उत्तरद्वार विद्दतिके उपासक खास योगी होते हैं वे इस स्थानकी चालना करके अपनी मुक्तता प्राप्त करते हैं। इनकी हवनसे पूजा यह है—

१ पूर्वद्वार——(मुख)- अन्नपानादिके हवनसे पूजा
२ दक्षिणद्वार- (शिस्न)- भोगादिद्वारा कामदेवकी पूजा।
३ पश्चिमद्वार – (गुदा)-- अपानायाम--अपानका प्राणमें हवन करके पूजा। इसका उल्लेख भगवद्गीतामें। भी है -- अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे। (भ० गी० ४।२९)
४ उत्तरद्वार-- (विद्दति)-- मस्तिष्कके मज्जाकेन्द्रके सहस्रारचक्रमें ध्यानादिसे पूजा।

यहां पाठक जान गये होंगे, कि पहिली दो उपासनाएं जगत् में अधिक हैं और दूसरी दो कम हैं। परंतु बीजरूपसे हैं। प्रथम मंत्रमें " हम चारों अमर आशापालोंकी हवनद्वारा पूजा करेंगे" ऐसा स्पष्ट कहा है। यह इसलिये कि हरएक मनुष्य चारोंकी उपासनाद्वारा अपना उद्धार करे।

यहां नियमन की बात पाठकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये। यह नियमन इस प्रकार है—

पूर्वद्वार ○ मुख — उत्तरद्वार ○ सिरमें विद्दति
आंतें | अन्नस्रोत — पृष्ठवंश | मज्जास्रोत
पश्चिमद्वार ○ गुदा — दक्षिणद्वार ○ शिस्न
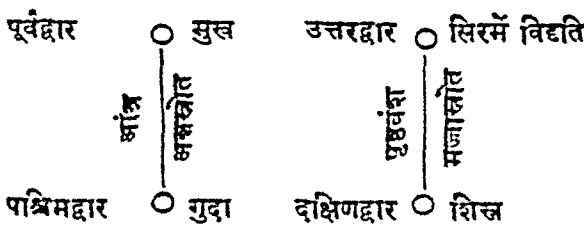
पूर्व तथा पश्चिमद्वार ये हमारे आंतोंके विरुद्ध दिशाके मुख हैं। मुखका अतिरेक होनेसे गुदाका कार्य बिगडता है, और गुदाका कार्य ठीक रहनेसे मुखकी रुचि ठीक रहती है। इस प्रकार ये एक दूसरेपर नियमन करते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क और शिस्न ये परस्परका नियमन करते हैं। यदि शिस्नदेवने अतिरेक किया तो मस्तिष्क हलका होता है, और मनुष्य बुद्धिका कार्य करनेमें असमर्थ होता है, पागल बनता है, निकम्मा होता है। तथा मस्तिष्कमें सुविचारोंको स्थिर करनेसे वे सुविचार शिस्नदेवका संयम करनेमें सहायक होते हैं। इस प्रकार ये परस्पर उपकारक भी हैं और घातक भी हैं। पाठक सोच कर जाननेका प्रयत्न करें कि ये किस प्रकार उपकारक होते हैं और कैसे घातक होते हैं तथा इनकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और इनके प्रकोपसे किस प्रकार बचना चाहिये। अब द्वितीय मंत्रका विचार करेंगे--

पापमोचन।

द्वितीय मंत्रका आशय यह है— "चार आशाओंके चार आशापालक देव हैं वे हमें पापसे तथा अधोगतिके पाशसे बचावें।"

पूर्वोक्त वर्णनसे पाठकोंने जान लिया होगा कि ये चार देव हमें किस प्रकार बचा सकते हैं और किस प्रकार गिरा सकते हैं। देखिये—

१ पूर्वद्वार–मुख=जिह्वाकी गुलामीसे खानपानमें अतिरेक होकर, पेटका बिगाड और स्वास्थ्यका नाश। इसी जिह्वाके संयमसे आरोग्यप्राप्ति।

२ पश्चिमद्वार--गुदा=पूर्वोक्त संयम और असंयमसे ही इसका लाभ या हानि प्राप्त होनेका संबंध है।

३ दक्षिणद्वार–शिस्न=ब्रह्मचर्यद्वारा संयमसे उन्नति, संयमपूर्वक गृहस्थधर्म पालनसे सुप्रजाप्राप्ति और असंयमसे क्षय।

४ उत्तरद्वार--विद्दति—पूर्वोक्त संयम और असंयमसे इसके लाभ और हानि प्राप्त होनेका संबंध है।

इसका मनन करनेसे ये किस नियमसे पापसे छुडा सकते हैं इसका ज्ञान हो सकता है। पापसे छुडानेसे ही निर्ऋति के पाशसे मनुष्य छूट जाता है। निर्ऋतिका अर्थ नाश है। पाप करनेवालेको निर्ऋतिके अर्थात् विनाशके पाश बांध देते हैं। और पुण्यवानोंको उनसे कोई कष्ट नहीं होता। इस मंत्रका यह कथन बडा बोधप्रद है कि ये चार द्वारकी चार आशाएं मनुष्यको पापसे छुडा सकती हैं और बंधनसे भी मुक्त कर सकती हैं। पाठक अपनी अपनी अवस्थाका विचार करें और आत्मपरीक्षाद्वारा जाननेका यत्न करें कि उनके शरीरमें क्या हो रहा है। यदि

कोई आशापालक उनके विरुद्ध कार्य करता हो, या शत्रुके आधीन हुआ हो, तो सावधानीसे अपने बचावका यत्न करें। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका विचार करनेसे इतना बोध मिला; अब तृतीय मंत्र देखते हैं—

चतुर्थ देव।

तृतीय मंत्रका आशय यह है--"मैं न थकता हुआ और अंगोंसे दुर्बल न होता हुआ हवनसे, तथा घीसे इनकी तृप्ति करता हूं। इन चार आशापालोंमें जो चतुर्थ आशापालक देव है वह हमें सुखसे यहां आनंद स्थानमें पहुंचावे।"

इस मंत्रमें कहा हुआ "तुरीयः देवः" अर्थात् चतुर्थ देव विहितद्वारका रक्षक मोक्षकी आशाका पालक है। इसी देवकी कृपासे अन्य सब द्वारोंका नियमन हो सकता है। इसी दृष्टिसे अन्य सब कार्य-व्यवहारका नियमन होना चाहिये। वैदिक धर्मके संपूर्ण कार्य-व्यवहार इसी दृष्टिसे रचे गये हैं। मोक्षके मार्गके ध्यानसे जगत्के सब व्यवहार होने चाहियें। इसीका नाम धर्म है। बंधनसे मुक्त होना मुख्य साध्य है, उसके सहायकारी सब अन्य व्यवहार होने चाहियें। अन्यथा जगत्के व्यवहारको अधिक महत्त्व देनेसे और मोक्षधर्मको कम महत्त्व देनेसे मनुष्यमें लोभवृद्धि होनेके कारण बडा अनर्थ होगा। त्यागपूर्ण जीवन और भोगपूर्ण जीवनका भेद यहां स्पष्ट होता है।

मंत्रमें कहा है कि न थकता हुआ और अवयवोंसे विकल न होता हुआ मैं इन देवोंकी पूजा करूंगा। इस कथनका भाव स्पष्ट है कि मनुष्य प्रयत्न करके अपना शरीर सुदृढ बनावे और अनेक पुरुषार्थ करनेका उत्साह मनमें स्थिर करे।

इन चार देवोंकी अन्नादिसे तथा घी आदिसे तृप्ति करनी चाहिये। जिसका जो हवन है उसीके अनुकूल उसका घी भी है। वह जैसा जिसको देना है वह यथायोग्य रीतिसे देकर उसकी तृप्ति करनी चाहिये। इस विषयमें थकावट करना योग्य नहीं। न थकते हुए और न श्रांत होते हुए ये भोग प्राप्त करने और योग्य प्रमाणसे उनका स्वीकार भी करना चाहिये। अर्थात् बडी दक्षतासे जगत् का व्यवहार करना उचित है। परंतु सब व्यवहार करते हुए चतुर्थ देवकी कृपा संपादन करनेका अनुसंधान रखना चाहिये। क्योंकि उसीकी कृपासे आनंद, उन्नति, यश आदि की यहां प्राप्ति होती है और सद्गति भी मिल सकती है।

दीर्घ आयु।

पूर्वोक्त प्रकार तीन मंत्रोंका विचार करनेके पश्चात् अब चतुर्थ मंत्र इस प्रकार हमारे सम्मुख आता है-"इन आशापालोंकी सहायतासे हम तथा हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, गाय, घोडे आदि सब सुखी हों। हमारा अभ्युदय होवे तथा हम ज्ञानी बनकर निःश्रेयसके भागी बनें और दीर्घायु बनें।" इस मंत्रमें चार बातें कहीं हैं—

१ स्वस्ति (सु+ अस्ति) = सबका उत्तम अस्तित्व हो अर्थात् इस लोकका जीवन सुखपूर्वक हो।

२ सुभूतं = (सु + भूति) = उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, यह उत्तम अभ्युदयका सूचक विधान है।

३ सुविदत्रं = (सु + विद + त्रं) = उत्तम ज्ञान मिले। आत्मज्ञान ही सब ज्ञानोंमें उत्तम और निःश्रेयसका हेतु है। वह हमें प्राप्त हो।

४ ज्योक् = दीर्घकाल जीवन हो। यह तो अभ्युदय और निःश्रेयससे सहज ही प्राप्त हो सकता है।

वेदमंत्रोंमें वारंवार "ज्योक् च सूर्यं दृशेम" अर्थात् "दीर्घकालतक सूर्यको हम देखते रहें।" यह एक मुहावरा है, इसका तात्पर्य "हमारी आयु अतिदीर्घ हो" यह है। परंतु यहा ध्यानमें विशेषतया धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका संबंध सूर्यसे अवश्यही है। जहां जहां दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपदेश वेदमें आया है वहां वहां सूर्यका संबंध अवश्य बताया है। इसलिये जो लोग दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते हैं वे सूर्यके साथ आयुष्यवर्धनका संबंध है यह बात न भूलें। ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु प्राप्त होती है इस विषयमें अथर्ववेदमें अन्यत्र कहा है—

> यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
> तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥
> न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
> पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३०॥
> (अथर्व १।२)

"जो निश्चयसे ब्रह्मकी अमृतसे परिपूर्ण नगरीको जानता है उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मके साथी अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं॥ २९॥ अति वृद्धावस्थासे पूर्व उसको प्राण और चक्षु छोडते नहीं जो ब्रह्मपुरीको जानता है और जिस पुरीमें रहनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं॥ ३०॥"

भाव स्पष्ट है कि ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु, सुसंतान और आरोग्य पूर्ण इंद्रियोंसे युक्त उत्तम शरीर प्राप्त होता है। यही भाव संक्षेपसे अपने प्रचलित सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कहा है

इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इस परलोकमें यशस्वी होता है। यही इस सूक्तका उपदेश है।

विशेष दृष्टि।

यह सूक्त केवल बाह्य दिशाएं और उनके पालकोंका ही वर्णन नहीं करता है। बाह्य दिशाओंका वर्णन इस सूक्तमें है, परंतु दिशा शब्द न प्रयुक्त करते हुए " आशा" शब्द का प्रयोग इसमें इसीलिये हुआ है कि मनुष्य अपनी आशाओं और उनकी पालक शक्तियोंको अपने अंदर अनुभव करे और उनके संयम, नियमन, और योग्य उपासन आदिसे अपना अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करे

इस सूक्तका यह श्लेषालंकार बडा ही महत्व पूर्ण है। और जो इस सूक्तको केवल बाह्य दिशाओंके लिये ही समझते हैं वे इसके महत्वपूर्ण उपदेशसे वंचित ही रहते हैं। पाठक इस दृष्टिसे इसका अध्ययन करें

इस सूक्तका संबंध आयुष्य गण, अपराजित गण आदि अनेक गणोंसे विषयकी अनुकूलतासे है। यह सूक्त स्वयं वास्तोष्पति गण अथवा वसु गण का है। इसलिये "यहांके निवास" के साथ इसका अपूर्व संबंध है। इस प्रकारकी दृष्टिसे विचार करनेसे पाठक इससे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं और उसको आचरणमें ढालकर अपना अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

जीवन-रसका महासागर।

(३२)

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता-द्यावापृथिवी)

इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति। न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥
अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव। आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ॥ २ ॥
यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्। आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥
विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधिश्रितम्। दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (जनासः) लोगो! (इदं विदथ) यह ज्ञान प्राप्त करो। वही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मके विषयमें कहेगा। (येन वीरुधः प्राणन्ति) जिससे औषधियां आदि प्राण प्राप्त करती है, (तत् पृथिव्यां न, नो दिवि) वह पृथ्वीमें नहीं और नही द्युलोक में है ॥ १ ॥ (आसां अन्तरिक्षे स्थाम) इन औषधि आदिकोंका अन्तरिक्षमें स्थान है, (श्रान्तसदां इव) थक कर बैठेहुओंके समान (अस्य भूतस्य आस्थानं) इस बने हुएका स्थान जो है (तत् वेधसः विदुः वा न) वह ज्ञानी जानते हैं वा नहीं? ॥ २ ॥ (यत् रेजमाने रोदसी) जो हिलनेवाले द्यावापृथिवीने और (भूमिः च) केवल भूमिने भी (निरतक्षतं) बनाया (तत् अद्य सर्वदा आर्द्रं) वह आजतक सदासर्वदा रसमय है (समुद्रस्य स्रोत्याः इव) जैसे समुद्रके स्रोत होते हैं ॥ ३ ॥ (विश्वं) सब ने (अन्यां अभीवार) दुसरीको घेरलिया है, (तत्) वह (अन्यस्यां अधिश्रितम्) दुसरीमें आश्रित हुआ है। (दिवे च) द्युलोक और (विश्ववेदसे च पृथिव्यै) संपूर्ण धनोंसे युक्त पृथिवीके लिये (नमः अकरं) नमस्कार मैंने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ- हे लोगो! यह समझो कि जो तत्वज्ञान समझेगा वही ज्ञानी उसका विवरण करेगा। तत्वज्ञान यह है कि— जिससे बढनेवाली वनस्पतियां आदिक अपना जीवन प्राप्त करती है वह जीवनका सत्व पृथ्वीपर नहीं है और नहीं द्युलोक में है ॥ १ ॥ इन वनस्पति आदिका स्थान अंतरिक्ष है। जैसे थकेमांदे विश्राम करते हैं उसप्रकार ये वनस्पति आदिक अंतरिक्षमें रहते हैं। इस बने हुए जगतका जो आधार है उसको कौनसे ज्ञानी लोग जानते हैं और कौनसे नहीं जानते? ॥ २ ॥ हिलने जुलनेवाले

द्युलोक और पृथ्वीलोक के द्वारा जो कुछ बनाया गया है, वह सब इस समयतक बिलकुल नया अर्थात् जीवन रससे परिपूर्ण जैसा है, जैसे सरोवरसे चलनेवाले स्रोत रससे परिपूर्ण होते हैं ॥ ३ ॥ यह सब जगत् दूसरी शक्तिके ऊपर रहा है और वह भी दूसरी के ही आश्रयसे रही है। द्युलोक और सब धनोंसे युक्त पृथ्वी देवीको मैं नमन करता हूं (क्योंकि ये दो देवताए इस जगत् का निर्माण करनेवाली हैं।) ॥ ४ ॥

स्थूल सृष्टि।

जो सृष्टि दिखाई देती है वह स्थूल सृष्टि है, इसमें मिट्टी पत्थर आदि अतिस्थूल पदार्थ, वृक्षवनस्पत्यादि बढनेवाले पदार्थ, पशुपक्षी आदि बढने और हिलनेवाले प्राणी तथा मनुष्य बढने हिलने और उन्नत होनेवाले उच्च कोटीके प्राणी हैं। पत्थर मिट्टी आदि स्थिर सृष्टीको छोडा जाय और वनस्पति पशु तथा मानव सृष्टिमें देखा जाय, तो ये उत्पन्न होते हैं, बढते हैं और प्राण धारण करते हैं यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। इसमें दिखाई देनेवाला जीवनतत्व कौनसा तत्व है ? क्या यह स्थूल ही है या इससे भिन्न और कोई तत्व है इस का विचार इस सूक्तमें किया है।

सब लोग इस जीवन रसका ज्ञान प्राप्त करें। यदि उनको जीवनसे आनंद प्राप्त करना है तो उनको उचित है कि वे इस (जनासः ! विदथ) ज्ञानको प्राप्त करें। यह मनन करने योग्य सूचना प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही दी है। (मंत्र १)

यह जीवन रसकी विद्या कौन देगा ? किससे यह प्राप्त होगी ? यह शंका यहां आती है, इस विषयमें प्रथम मंत्रने ही आगे जाकर कहा है कि, जो इस विद्याको जानता होगा, वही (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मके विषयमें अर्थात् इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके विषयमें कहेगा। जिसको इस विद्याकी प्राप्ति करनेकी इच्छा हो, वह ऐसे विद्वानके पास जावे और ज्ञान प्राप्त करे। किसी अन्यके पास जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जीवन का रस

सारांश रुपसे यह समझो कि "जिस जीवनतत्त्वके आश्रयसे बढनेवाले वृक्ष वनस्पति प्राणी आदि प्राण धारण करते हैं यह जीवनका आधारतत्त्व न तो पृथ्वीपर है और नहीं द्युलोकमें है।" (मंत्र १) वह किसी अन्य स्थानमें है इसलिये उसको इस बाह्य द्यावापृथिवीसे भिन्न किसी अन्य स्थानमें ही ढूंढना चाहिये।

इस प्रथम मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंसे कहा है कि जिससे जीवनका रस मिलता है वह तत्त्व इस स्थूल संसारसे बाहर अर्थात् वह अतिसूक्ष्म है। वह कहां है इसका पूर्ण उत्तर आगे के मंत्रोंमें आजायगा।

भूतमात्रका आश्रय।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि-"इस सृष्टिगत संपूर्ण पदा र्थोंका आश्रयस्थान अंतरिक्ष है। इन स्थूल पदार्थ मात्रका जो अंतरिक्षमें आश्रय स्थान है वह ज्ञानी भी जानते हैं वा नहीं ?" अर्थात् इसका ज्ञान सब ज्ञानियोंको भी एकसा है वा नहीं। ज्ञानियोंमें भी जो परिपूर्ण ज्ञानी होते हैं वे ही केवल जानते हैं। सृष्टि विद्याके जाननेवाले इस बातको नहीं जान सकते, परंतु आत्मविद्याका ज्ञान जाननेवाले ही इसको यथावत् जानते हैं। (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें " भूत " शब्द है, इसका अर्थ "बना हुआ पदार्थ।" जो यह बनी हुई सृष्टि है इसीका नाम भूत है और इसकी विद्याका नाम भूतविद्या है। इस सब सृष्टिका आधार देनेवाला एक सूक्ष्मतत्त्व है जिसका ज्ञान अध्यात्मविद्या जाननेवाले ही जान सकते हैं। इसलिये जीवनरस विद्याका अध्ययन करनेवाले ऐसे सद्गुरुके पास जावें, कि जो इसके ज्ञाता हो और उसके पाससे वह जीवनकी विद्या प्राप्त करें। यह ही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मका ज्ञान कहेगा। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका प्रथम मंत्रके साथ संबंध है।

सनातन जीवन।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि-"जो इस द्यावापृथिवीके अंदर बना हुआ पदार्थ मात्र है वह सदा सर्वदा, जिस समय बना है उस समयसे लेकर इस समयतक बराबर जीवन रससे परिपूर्ण होनेके कारण नवीन सा रहा है, इसमें जीवन रस ऐसा भरा है जैसा सरोवरसे चलनेवाले विविध स्रोतोंमें सरोवरका जल चलता है।"

जगत्के माता पिता।

अदिति भूमि जगत्की माता है और द्यौष्पिता जगत् का पिता है। भूलोक और द्युलोक, भूमि और सूर्य, स्त्रीशक्ति और पुरुष शक्ति, ऋण शक्ति और धन शक्ति, रयि शक्ति और प्राण शक्ति, प्रकृति और पुरुष, प्रकृति और आत्मा इस प्रकारके दो शक्तियोंसे यह जगत् बना है, इसलिये इनको जगत्के माता पिता कहा है। विविध ग्रंथकारोंने उक्त द्वन्द्व शक्तियोंके

विविध नामोंमेंसे किसी नामका प्रयोग किया है और जगत्की मूल उत्पादक शक्तियोंका वर्णन किया है।

जीवनका एक महासागर।

वेदमें द्यावा पृथिवी — द्युलोक और पृथ्वीलोग — को जगत् के माता पिता करके वर्णन किया है क्योंकि संपूर्ण जगत् इन्हींके अंदर समाया है। यह बना हुआ जगत् यद्यपि बननेके पश्चात् बढता और बिगडता भी है तथापि बने हुए संपूर्ण पदार्थोंमें जो जीवन तत्त्व व्याप रहा है वह एक रूप-से व्यापता है, इसलिये संपूर्ण जगत्के नियम अटल और एक जैसे हैं। हजारों वर्षोंके पूर्व जैसा जीवन संसारमें चलता था वैसा ही आज भी चल रहा है। इससे जीवनामृतकी अगाध सत्ता की कल्पना हो सकती है।

जिस प्रकार एक ही सागरसे अनेक स्रोत चलते हों तो उनमें एक ही जीवन रस सबमें एकसा प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार इस संसारके अंदर बने हुए अनंत पदार्थोंमें एक ही अगाध जीवनके महासागरसे जीवन रस फैल रहा है, मानो संपूर्ण पदार्थ उस जीवनामृतसे ओतप्रोत भरपूर हो रहे हैं।

पाठक क्षणभर अपने आपको भी उसी जीवन महासागरमें ओतप्रोत भरनेवाले एक घडेके समान समझें और अपने अंदर वही जीवन स्रोत चल रहा है इसका ध्यान करें। जिस प्रकार तैरनेवाला मनुष्य अपने चारोंओर जलका अनुभव करता है उसीप्रकार मनुष्य भी उसी जीवन महासागरमें तैरनेवाला एक प्राणी है, इसलिये इस प्रकार ध्यान करनेसे उस जीवनामृतके महासागर की अल्पसी कल्पना हो सकती है। यह जीवन सदा ही नवीन है, कभी भी यह पुराना नहीं होता, कभी बिगडता नहीं। अन्य पदार्थ बनने और बिगडने पर भी यह एकसा नवीन रहता है। और यही सबको जीवन देता है। (तत् अद्य सर्वदा आर्द्र) वह आज और सदा सर्वदा एक जैसा अभिनव रसपूर्ण रहता है। सबको जीवन देने पर भी जिसकी जीवन शक्ति रतिमात्र भी कम नहीं होती, इतनी अगाध जीवन शक्ति उसमें है।

सबका एक आश्रय।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि—"संपूर्ण विश्व अर्थात् यह स्थूल जगत् एक दूसरी शक्तिके ऊपर रहता है और वह शक्ति और दूसरी शक्तिके आश्रयसे रही है। वही आधारका तत्त्व पृथ्वी और द्युलोकके स्वरूपमें दिखाई दे रहा है इसलिये मैं द्युलोकमें उसकी प्रकाशशक्तिको और पृथ्वीमें उसकी आधार शक्तिको नमस्कार करता हूं।" अर्थात् संपूर्ण जगत्में उसकी शक्ति ही जगत् के रूपमें प्रकट होगई है ऐसा जानकर, जगत्को देखकर उस शक्तिका स्मरण करता हुआ उस विषयमें अपनी नम्रता प्रकट करता हूं।

स्थूल सूक्ष्म और कारण।

इस मंत्रमें विश्व "शब्द" स्थूल जगत्का बोधक है इस स्थूलका आधार (अन्या) दूसरा है, इससे सूक्ष्म है और वह इसके अंदर है अथवा उसके बाहर यह सब विश्व है। प्रत्येक स्थूल पदार्थके अंदर यह सूक्ष्म तत्त्व है और यह भी तीसरे अतिसूक्ष्म तत्त्व पर आश्रित है। यह तीसरा तत्त्व ही सबका एक मात्र आधार है और इसीका जीवन अमृत सबमें एक रस होकर व्याप रहा है। इसी जीवनके समुद्रमें सब विश्वके पदार्थ तैर रहे हैं अथवा संपूर्ण पदार्थ रूपी छोटे बडे स्रोत उसी एक अद्वितीय जीवनमहासागर से चल रहे हैं। इनमें उसीका जीवन कार्य कर रहा है यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य है। अनेकों में एक ही जीवन भरा है इसका अनुभव यहां होता है।

यह सूक्त केवल पढनेके लिये नहीं है, प्रत्युत यह मनकी धारणा करके अपने मनमें धारणासे स्थिर करनेके अनुष्ठानके लिये ही है। जो पाठक इसकी उक्त प्रकार धारणा कर सकेंगे वे ही इससे योग्य लाभ प्राप्त कर सकेंगे। पाठक यहां देखें कि छोटेसे छोटे सूक्तों द्वारा वेद कैसा अद्भुत उपदेश दे रहा है! निःसंदेह यह उपदेश जीवन पलटादेनेमें समर्थ है। परंतु यह लाभ वही प्राप्त करेगा कि जो इसको जीवनमें ढालनेका यत्न करेगा।

जलसूक्त

(३३)

(ऋषिः-शन्तातिः । देवता आपः । चन्द्रमाः)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥
यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ-जो (हिरण्य-वर्णाः) सुवर्णके समान चमकनेवाले वर्णसे युक्त (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्रता बढानेवाला (यासु सविता जातः) जिनमें सविता हुआ है और (यासु अग्निः) जिनमें अग्नि है, (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल (अग्निं गर्भं दधिरे) अग्निको गर्भमें धारण करता है (ताः आपः) वह जल (नः शं स्योनाः भवन्तु) हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ १ ॥ (यासां मध्ये) जिस जलके मध्यमें रहता हुआ (वरुणः राजा) वरुण राजा (जनानां सत्यानृते अवपश्यन्) जनोंके सत्य और असत्य कर्मोंका अवलोकन करता हुआ (याति) चलता है । (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ २ ॥ (देवाः दिवि) देव द्युलोकमें (यासां भक्षं कृण्वन्ति) जिनका भक्षण करते हैं, और जो (अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति) अन्तरिक्षमें अनेक प्रकारसे रहता है और जो उत्तमवर्णवाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ३ ॥ हे (आपः) जल! (शिवेन चक्षुषा मा पश्यत) कल्याणकारक नेत्र द्वारा मुझको तुम देखो । (शिवया तन्वा मे त्वचं उपस्पृशत) कल्याणमय अपने शरीरसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो । जो (घृतश्चुतः) तेज देनेवाला (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्र (आपः) जल है (ताः नः शं स्योनाः भवन्तु) वह जल हमारे लिये शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ-अंतरिक्षमें संचार करनेवाले मेघमंडलमें तेजस्वी पवित्र और शुद्ध जल है, जिन मेघोंमेंसे सूर्य दिखाई देता हो, जिनमें विद्युत् रूपी अग्नि कभी व्यक्त और कभी गुप्त रूपसे दिखाई देता हो, वह जल हमें शांति और आरोग्य देनेवाला होवे ॥ १ ॥ जिनमेंसे वरुण राजा घूमता है और जाते जाते मनुष्योंके सत्य और असत्य विचारों और कर्मोंका निरीक्षण करता है जिन मेघोंने विद्युत् रूपी अग्निको गर्भके रूपमें धारण किया है उन मेघोंका उदक हमें सुख और आरोग्य देवे ॥ २ ॥ द्युलोक के देव जिसका भक्षण करते हैं और जो विविध रूपरंगवाले अंतरिक्षस्थानीय मेघोंमें रहता है तथा जो विद्युतका धारण करते हैं उन मेघोंका जल हमारे लिये सुख और आरोग्य देवे ॥ ३ ॥ जल हमारा कल्याण करे और उसका हमारे शरीरके साथ होनेवाला स्पर्श हमें आल्हाद देनेवाला प्रतीत हो । मेघोंका तेजस्वी और पवित्र जल हमें शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

वृष्टिका जल।

इन चारों मंत्रोंमें वृष्टिजलका काव्यमय वर्णन है। इन मंत्रोंका वर्णन इतना काव्यमय है और छंद भी ऐसा उत्तम है कि एक स्वरसे पाठ करनेपर पाठकको एक अद्भुत आनंदका अनुभव होता है। इन मंत्रोंमें जलके विशेषण "शुचि, पावक, सु-वर्ण" आदि शब्द वृष्टि जलकी शुद्धता बता रहे हैं। वृष्टि जल जितना शुद्ध होता है उतना, कोई दूसरा जल नहीं होता। शरीर शुद्धिकी इच्छा करनेवाले दिव्यलोग इसी जलका पान करें और आरोग्य प्राप्त करें। इसके पानसे शरीर पवित्र और निरोग होता है। सामान्यतया वृष्टि जल शुद्ध ही होता है परंतु जिस वृष्टिमें सूर्यकिरणें भी प्रकाशती हैं उसकी विशेषता अधिक है। इसी प्रकार चंद्रमाकी किरणोंका भी परिणाम होता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें उत्तम स्वास्थ्यका लक्षण बताया है वह ध्यानमें धारण करने योग्य है-" जलका स्पर्श हमारी चमडीको आल्हाद देवे।" जबतक शरीर नीरोग होता है तबतक ही शीत जलका स्पर्श आनंद कारक प्रतीत होता है, परंतु शरीर रुग्ण होते ही जल स्पर्श बुरा लगने लगता है।
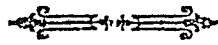
मधु-विद्या।

(३४)

(ऋषिः-- अथर्वा। देवता-मधुवल्ली)

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि। मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

अर्थ- (इयं वीरुत् मधुजाता) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई है, मैं (त्वा मधुना खनामसि) तुझे मधुसे खोदता हूं। (मधोः अधि प्रजाता असि) शहदके साथ तू उत्पन्न हुई है अत (सा) वह तू (नः मधुमतः कृधि) हम सबको मधुर कर ॥ १ ॥ (मे जिह्वाया अग्रे मधु) मेरी जिह्वाके अग्र भागमें मधुरता रहे। (जिह्वामूले मधूलकं) मेरी जिह्वाके मूलमें भी मीठास रहे। हे मधुरता ! तू (मम क्रतौ इत् अह असः) मेरे कर्ममें निश्चयसे रह। (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तमें मधुरता बनी रहे ॥ २ ॥ (मे निक्रमणं मधुमत्) मेरा चालचलन मीठा हो। (मे परायणं मधुमत्) मेरा दूर होना भी मीठा हो। मैं (वाचा मधुमत् वदामि) वाणीसे मीठा बोलता हूं जिससे मैं (मधुसन्दृशः भूयासं) मधुरताकी मूर्ति बनूंगा ॥ ३ ॥ मैं (मधोः मधुतरः अस्मि)शहदसे भी अधिक मीठा हूं। (मधुघात् मधुमत्तरः) मधुरपदार्थसे अधिक मधुर हूं। (मां इत् किल त्वं वनाः) मुझपर ही तू प्रेम कर (मधुमतीं शाखां इव) जैसे मधुर रसवाली वृक्ष शाखासे प्रेम करते हैं ॥ ४ ॥ (अ-विद्विषे) वैर दूर करने के लिये (परितत्नुना इक्षुणा त्वा परि अगाम्) फैले हुए ईखके साथ तुझे घेरता हूं। (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली होवे और (यथा मत् न अपगाः असः) जिससे तू मुझसे दूर न होनेवाली होवे ॥५॥

भावार्थ- यह ईख नामक वनस्पति स्वभावसे मधुर है और उसको लगानेवाला और उखाडनेवाला भी मधुरता की भावनासे ही उसको लगाता है और उखाडता है। इस प्रकार यह वनस्पति परमात्मासे मीठास अपने साथ लाती है, इसलिये हम चाहते हैं कि यह हम सबको मधुरतासे युक्त बनावे ॥ १ ॥ मेरी जिह्वाके अग्रभागमें मधुरता रहे, जिह्वाके मूल में और मध्यमें मधुरता

रहे। मेरे कर्ममें मधुरता रहे, और मेरा चित्त भी मधुर विचारोंका मनन करे ॥ २ ॥ मेरा चालचलन मीठा हो, मेरा खाना जाना मीठा हो, मेरे इशारे और भाव तथा मेरे शब्द भी मीठे हों। ऐसा होनेसे मैं अंदर बाहरसे मीठास की मूर्ति ही बनूंगा। ॥ ३ ॥ मै शहदसे भी मीठा बनता हूं, मैं मिठाईसे भी मीठा बनता हूं, इसलिये जिस प्रकार मधुर फलवाली शाखापर पक्षी प्रेम करते हैं इस प्रकार तू मुझपर प्रेम कर ॥ ४ ॥ कोई किसीका द्वेष न करे इस उद्देश्यसे व्यापक मधुरवल्लियोंका अर्थात् व्यापक मधुर विचारोंकी बाढ चारों ओर बनाता हूं ताकि इस बाढमें सब मधुरता ही बढे और सब एक दूसरेपर प्रेम करें और विद्वेषसे कोई किसीसे विमुख न हो ॥ ५ ॥

मधुविद्या।

वेदमें कई विद्याएं है अध्यात्मविद्या, देवविद्या, जन विद्या, युद्ध विद्या; इसी प्रकार मधुविद्या भी वेदमें है। मधुविद्या जगत् की ओर किस प्रकार देखना चाहिये वह दृष्टिकोण ही मनुष्यमें उत्पन्न करती है। उपनिषदों में भी यह मधुविद्या वेद मंत्रोंसे ली है। यह जगत् मधुरूप है अर्थात् मीठा है ऐसा मानकर जगत् की ओर देखना इस बातका मधु विद्या उपदेश करती है। दूसरी विद्या जगत् को कष्टका आगर बताती है; इसको पाठक कटुविद्या कह सकते हैं। परंतु यह कटुविद्या वेदमें नहीं है। वेद जगत् की ओर दुःख दृष्टिसे देखाता नहीं, न ही दुःख दृष्टिसे जगत्को देखनेका उपदेश करता है। वेदमें मधुविद्या इसीलिये है कि इसका ज्ञान प्राप्त करके लोग जगत् की ओर मधुदृष्टिसे देखनेकी बात सीखें। इस विद्याके मंत्र अथर्ववेदमें भी बहुत हैं और अन्य वेदोंमें भी हैं, उनका यहां विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूक्तके मंत्र ही स्वयं उक्त विद्याका उत्तम उपदेश देते है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

जन्म स्वभाव।

वृक्षोंमें क्या और प्राणियोंमें क्या हरएक का व्यक्तिनिष्ठ जन्मस्वभाव रहता है जो बदलता नहीं। जैसा सूर्यका प्रकाशना, अग्निका उष्ण होना, ईखका मीठा होना, करेलेका कडवा होना, इत्यादि ये जन्मस्वभाव है। ये जन्मस्वभाव कहांसे आते हैं यह विचारणीय प्रश्न है। ईख मिठास लाता है और करेला कडवाहट लाता है। एक ही भूमिमें उगी ये दो वनस्पतियां परस्पर भिन्न दो रसोंको अपने साथ लाती हैं। कभी करेलेमें मीठा रस नहीं होता और न ही ईखमें कडुवा। ऐसा क्यों होता है? कहांसे ये रस आते हैं?

कोई कहेगा कि भूमिसे। क्योंकि भूमिका नाम "रसा" है। इस भूमिमें विविध रस होते हैं। जो जो पौधा उसके पास जाता है, वह अपने स्वभावके अनुसार भूमिसे रस खींचता है और जनताको देता है। करेलेका स्वभाव-कडुवा है और ईखका मीठा है। ये पौधे भूमिके विविध रसोंमें से अपने स्वभावके अनुकूल रस लेते हैं और उनको लेकर जगत् में प्रकट होते हैं।

मनुष्यमें भी यही बात है। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य विभिन्न गुणधर्म प्रगट कर रहे हैं, उनको एक ही खजानेसे एकही जीवनके महासागरसे जीवन रस मिलता है, परंतु एकमें वही जीवन शान्ति बढानेवाला और दूसरेमें अशान्ति फैलानेवाला होता है। ये स्वभाव धर्म हैं। एकही जल मेघोंमें जाता है और मीठा बनकर वृष्टिसे परिशुद्ध स्थितिमें प्राप्त होता है, जिसको पीकर मनुष्य तृप्त हो सकता है वही जल समुद्रमें जाता है और खारा बनता है, जिसको कोई पी नहीं सकता नहीं यह स्वभाव भेद है।

अन्य पदार्थ अथवा अन्य योनियां अपने स्वभाव बदल नहीं सकती। मरनेतक उनमें बदल नहीं होता। परंतु मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है कि जिस योनिके लोग सुनियमोंके आचरणसे अपना स्वभाव बदल सकते हैं। दुष्टके सुष्ट बन सकते हैं, मूर्खके प्रबुद्ध बन सकते है, दुराचारियोंके सदाचारी हो सकते हैं, इसीलिये वेद मनुष्योंकी भलाई के लिये इस मधुविद्याका उपदेश दे रहा है। मनुष्य अपनी कडवाहट कम करे और अपनेमें मिठास बढावे यही यहां इस विद्याका उद्देश्य है।

अब मधुविद्याका प्रथम मंत्र देखिये- " यह ईख नामक वनस्पति मिठास के साथ जन्मी है, मनुष्य मीठी भावनाके साथ उसे खोदते हैं। यह मधुरता लेकर आगई है, इसलिये हम सबको यह वल्ली मिठाससे युक्त करे। " (मंत्र १)

यह प्रथम मंत्र बडा अर्थपूर्ण है। इसमें चार बातें हैं -(१) स्वयं मीठे स्वभाव का होना, (२) मीठे स्वभाव वालोंसे संबंध करना, (३) स्वयं मधुर जीवनको व्यतीत करना, और (४) दूसरोंको मीठा बना देना। पाठक देखें कि- (१) ईख स्वयं स्वभावसे मीठा होता है, (२) मीठा उत्पन्न करनेकी इच्छा वाले किसानोंसे उसकी मित्रता होती है, (३) ईख स्वयं मीठा जीवन रस अपने साथ लाता है और (४) जिस चीज के साथ

मिलता है उसको मीठा बनाता है। क्या पाठक इस आदर्श मीठे जीवनसे बोध नहीं ले सकते ?

ये चार उपदेश हैं जो मनुष्यको विचार करने चाहियें। यह ईख अपने व्यवहारसे मनुष्यको उपदेश दे रहा और बता रहा है कि इस प्रकार व्यवहार करनेसे मनुष्य मीठा बन सकता है। इसके मननसे प्राप्त होनेवाले नियम ये हैं –

(१) अपना स्वभाव मीठा बनाना। अपनेमें यदि कोई कटुता, कठोरता या तीक्ष्णता हो तो उसको दूर करना तथा प्रति समय आत्मपरीक्षा करके, दोष दूर करके, अपने अंदर मीठा स्वभाव बढानेका यत्न करना।

(२) मनुष्यको उचित है कि वह स्वयं ऐसे मनुष्यों के साथ मित्रता करे कि जो मीठे स्वभाव वाले हों अथवा मधुरता फैलाने के इच्छुक हो।

(३) अपना जीवन ही मीठा बनाना, चालचलन, बोलना चालना मीठा रखना। अपने इशारेसे भी कटुताका भाव व्यक्त न करना।

(४) प्रयत्न इस बातका करना कि दूसरोंके भी स्वभाव मीठे बनें और कठोर प्रकृतिवाले मनुष्य भी सुधर कर उत्तम मधुर प्रकृतिवाले बनें।

पाठक प्रथम मंत्रका मनन करेंगे तो उनको ये उपदेश मिल सकते हैं। " ईख स्वयं मीठा है, मीठा चाहनेवाले किसान से मित्रता करता है, अपनेमें मधुर जीवन रस लाता है और जिसमें मिल जाता है उनको मीठा बना देता है।" इस प्रथम मंत्रके चार पादोंका भाव उक्त चार उपदेश दे रहे हैं। पाठक इन उपदेशोंको अपनानेका प्रयत्न करें। (मंत्र १)

यहां अन्योक्ति अलंकार है। पाठक इस काव्यमय मंत्रका यह अलंकार देखें और समझें। वेदमें ऐसे अलंकारोंसे बहुत उपदेश दिया है।

मीठा जीवन।

पूर्वोक्त प्रथम मंत्रके तीसरे पादमें अन्योक्ति अलंकारसे सूचित किया है कि "मनुष्य मिठास के साथ जीवन व्यतीत करें।" अर्थात् अपना जीवन मधुर बनावे। इसी बातकी व्याख्या अगले तीन मंत्रोंमें स्वयं वेद करता है। इसलिये उक्त तीन मंत्रोंका भाव थोडा विस्तार से यहा देते हैं–

(दूसरा मंत्र)- " मेरी जिह्वाके मूल, मध्य और अग्रभागमें मिठास रहे अर्थात् मैं वाणीसे मधुर शब्द ही बोलूंगा। कभी कटु शब्दका प्रयोग बोलनेमें और लेखमें नही करूंगा, कि जिससे जगत्‌में कटुता फैले। मेरा चित्त भी मीठे विचारोंका चिंतन करेगा। इस प्रकार चित्तके विचार और वाणीके उच्चार एक रूपता से मीठे बन गये तो मेरे (क्रतु) आचार व्यवहार अर्थात् कर्म भी मीठे हो जांयगे। इस प्रकार विचार उच्चार आचारमें मीठा बना हुआ मैं जगत् में मधुरता फैलाउंगा। मेरे विचार से, मेरे भाषणसे और मेरे आचार व्यवहार से चारों ओर मिठास फैलेगी।"

(तीसरा मंत्र)- " मेरा आचार व्यवहार मीठा हो, मेरे पासके और दूरके व्यवहार मीठे हों, मेरे इशारे मीठे हों, मैं वाणीसे मधुर ही शब्द उच्चरूंगा और उस भाषणका आशयभी मधुरता बढानेवाला ही होगा। जिस समय मेरे विचार उच्चार और आचार में स्वाभाविक और अकृत्रिम मधुरता टपकने लगेगी, उस समय मैं माधुर्य की मूर्ति ही बनूंगा।"

(चतुर्थ मंत्र) – " जब शहदसे भी मैं अधिक मीठा बनूंगा, और लड्डूसे भी मैं अधिक मीठा बनूंगा तब तुम सब लोग निःसंदेह मुझपर वैसा प्रेम करोगे कि जैसा पक्षिगण मीठे फलोंसे युक्त वृक्षशाखापर प्रेम करते हैं।"

ये तीन मंत्र कितना अद्भुत उपदेश दे रहे हैं इसका विचार पाठक अवश्य करें। ऊपर भावार्थ देते समय ही भावार्थ ठीक व्यक्त करने के लिये कुछ अधिक शब्द रखें हैं, उनके कारण इनका अब अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतिज्ञा।

ये मंत्र प्रतिज्ञा के रूपमें हैं। मैं प्रतिज्ञा इस प्रकार करता हूं यह भाव इन मंत्रोमें है। जो पाठक इन मंत्रोंसे अधिकसे अधिक लाभ उठानेके इच्छुक है वे यही प्रतिज्ञा करें, यदि उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की और उस प्रकार उनका आचरण हुआ तो उनका यश सर्वत्र फैल जायगा। यह पूर्ण अहिंसा की प्रतिज्ञा है। अपने विचार, उच्चार, आचारसे किसी प्रकार किसीकी भी हिंसा न हो, किसीका द्वेष न हो, किसीका वैर न हो, किसीकी शत्रुता न हो, इस प्रकार अपना आदर्श जीवन बननेपर जगत्‌में आनंदका ही साम्राज्य बन जायगा। इस आनंदका साम्राज्य स्थापन करना वैदिक धर्मियोंका परम धर्म ही है और इसीलिये इस मधुविद्याका उपदेश इस सूक्तमें हुआ है।

मीठी वाड।

खेतको बाड लगाते हैं जिससे खेतका नाश करनेवाले पशु उस खेततक पहुंच नहीं सकते और खेत सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार स्वयं मीठा और मधुरता फैलानेवाला मनुष्य अपने चारों ओर मीठा वाड बनावे। जिससे उसके विरोधी शत्रु-क्रौर्य द्वेष

भाव आदि शत्रु-उस तक न आसके । यह बाड अपने मनमें सुविचारोंकी हो, अपने इंद्रियोंके साथ संयम की हो, अपने घरमें परस्पर प्रेमकी हो, समाजमें परस्पर मित्रताकी हो । अपने सब मित्रभी उत्तम मीठे विचार जीवन में लाने और मधुरता फैलाने वाले हों ऐसी बाड होगई तो अंदरका मिठासका खेत बिगडेगा नहीं । इस विषयमें पंचम मंत्र देखने योग्य है-

(पंचम मंत्र)—" मैं विद्वेषको हटानेके लिये चारों ओर फैलनेवाले मीठे ईखोंकी बाड तुम्हारे चारों ओर करता हूं जिससे तू मेरी इच्छा करेगी और मुझसे दूर भी न होगी । "

यह जितना स्त्री पुरुषके आपसके अविद्वेषके लिये सत्य है उतना ही अन्य परिवारों और मित्रजनोंके अविद्वेष और प्रेम बढानेके विषयमें सत्य है । परंतु अपने चारों ओर मीठी बाड करनेकी युक्ति पाठकोंको अवश्य जाननी चाहिये । अपने साथ ईख की गंडेरियां लेनेसे यह कार्य नहीं होगा । यह कार्य करनेके लिये जो ईख चाहिये वे विचार, उच्चार और आचारके तथा मनोभावना की ईख चाहिये । जो पाठक अपने अंतःकरणके क्षेत्र में ईख लगायगे और उसकी पुष्टि अपने मीठे जीवन से करेंगे, वे ही ये वैदिक उपदेश आचरणमें ढाल सकते हैं ।

ये मंत्र स्पष्ट हैं । अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, परंतु पाठक इनको काव्य की दृष्टिसे समझनेका यत्न करेंगे तभी वे लाभ उठा सकेंगे ।

तेजस्विता बल और दीर्घायुष्य

की प्राप्ति ।

(३५)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-हिरण्यं, इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः)

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥
अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥
समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

अर्थ -(सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः) शुभ मनवाले और बलकी वृद्धि करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष (शत अनीकाय) बलके सौ विभागों के संचालक के लिये (यत् हिरण्यं अबध्नन्) जो सुवर्ण बांधते रहे (तत्) वह सुवर्ण (आयुषे वर्चसे) जीवन, तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये (ते बध्नामि) तेरे ऊपर बांधता हूं ॥ १ ॥ (न रक्षांसि, न पिशाचाः) न राक्षस और न पिशाच (एनं सहन्ते) इस पुरुषका हमला सह सकते हैं (हि) क्योंकि (एतत् देवानां प्रथमजं-

ओजः) यह देवोंमें प्रथम उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है। (यः दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति) जो मनुष्य दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है (सः जीवेषु दीर्घं आयुः कृणुते) वह जीवोंमें अपनी दीर्घ आयु करता है॥ २॥ (अपां तेजः ज्योतिः ओजः बलं च) जलका तेज, कान्ति, पराक्रम और बल (उत) तथा (वनस्पतीनां वीर्याणि) औषधियोंके सब वीर्य (अस्मिन् अधि धारयामः) इस पुरुषमें धारण कराते हैं (इन्द्रे इन्द्रियाणि इव) जैसे आत्मामें इन्द्रिय धारण होते हैं। इस प्रकार (दक्षमाणः हिरण्यं बिभ्रत्) बल बढाने की इच्छा करनेवाला सुवर्णका धारण करे॥ ३॥ (समानां मासां ऋतुभिः) सम महिनोंके ऋतुओं के द्वारा (संवत्सरस्य पयसा) वर्ष रूपी गौके दूधसे त्वा वयं पिपर्मि) तुझे हम सब पूर्ण करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (विश्वे देवाः) तथा सब देव (अ-हृणीयमानाः) संकोच न करते हुए (ते अनु मन्यन्तां) तेरा अनुमोदन करें॥४॥

भावार्थ- बल बढानेवाले और मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेवाले श्रेष्ठ महात्मा पुरुष सेना संचालकके देहपर बलवृद्धि के लिये जिस सुवर्णके आभूषणको लटका देते हैं, वही आभूषण मैं तेरे शरीरपर इसलिये लटकाता हूं कि इससे तेरा जीवन सुधरे, तेज बढे, बल तथा सामर्थ्य वृद्धिंगत हो और तुझे सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो॥ १॥ यह आभूषण धारण करनेवाले वीर पुरुषके हमलेको न राक्षस और नही पिशाच सह सकते हैं। वे इसके हमलेसे घबराकर दूर भाग जाते हैं, क्योंकि यह देवों से निकला हुआ सबसे प्रथम दर्जेका बल ही है। इसका नाम दाक्षायण अर्थात् बल बढानेवाला सुवर्णका आभूषण है। जो इसका धारण करता है वह मनुष्योंमें सबसे अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है॥ २॥ हमसब इस पुरुषमें जीवन का तेज, पराक्रम सामर्थ्य और बल धारण कराते हैं। और साथ साथ औषधियोंसे नाना प्रकारके वीर्यशाली बल भी धारण कराते हैं। जिस प्रकार इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें इंद्रिय शक्तियां रहती हैं उसी प्रकार इस सुवर्णका आभूषण धारण करनेवाले मनुष्यके अंदर सब प्रकारके बल रहें, वे बाहर प्रगट हो जांय॥ ३॥ दो महिनोंका एक ऋतु होता है। प्रत्येक ऋतुकी शक्ति अलग अलग होती है; मानो संवत्सररूपी गौका दूध ही संवत्सरकी छह ऋतुओंमें निचोडा हुआ है। यह दूध मनुष्य पीवे और बलवान् बने। इसकी अनुकूलता इंद्र अग्नि तथा सब देव, करें॥ ४॥

दाक्षायण हिरण्य।

हिरण्य शब्दका अर्थ सुवर्ण अथवा सोना है, यह परिशुद्ध स्थितिमें बहुत ही बलवर्धक है। यह पेटमें भी लिया जाता है और शरीरपर भी धारण किया जाता है। श्री० यास्काचार्य हिरण्य शब्दके दो अर्थ देते हैं-"हितरमणीयं, हृदयरमणीयं" अर्थात् यह सुवर्ण हितकारक और रमणीय है तथा हृदयकी रमणीयता बढानेवाला है। सुवर्ण बलवर्धक तथा रोग नाशक है इसलिये आरोग्य चाहनेवाले इसका उपयोग कर सकते हैं।

इस सूक्तमें "दाक्षायण" शब्द (दक्ष-अयन) अर्थात् बलके लिये प्रयत्न करनेवाला इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। प्रथम मंत्रमें यह शब्द मनुष्योंका विशेषण है और द्वितीय मंत्रमें यह सुवर्णका विशेषण है। तृतीय मंत्रमें इसी अर्थका "दक्ष-माण" शब्द है जो शक्तिमानका वाचक है। पाठक विचार करेंगे तो उनको निश्चय होगा कि "दाक्षायण और दक्षमाण" ये दो शब्द करीब शक्तिमान् के ही वाचक हैं। दक्ष शब्द वेदमें बलवाचक प्रसिद्ध है। इसप्रकार इस सूक्तमें बल बढानेका जो मार्ग बताया है, उसमें सबसे प्रथम हिरण्यधारण है। हिरण्यधारण दो प्रकारसे होता है, एक तो आभूषण शरीरपर धारण करना और दूसरा सुवर्ण शरीरमें सेवन करना। सुवर्ण शरीरमें खानेकी रीति वैद्यग्रंथों में प्रसिद्ध है। सब अन्य धातु तथा औषधियां सेवन करनेपर शरीरमें नहीं रहती, परंतु सुवर्ण की ही विशेषता है कि वह शरीरके अंदर हड्डियोंके जोडोंमें जाकर स्थिर रूपसे रहता है और मृत्युके समय तक साथ देता है। इस प्रकारकी सुवर्णधारणासे अनेक रोगोंसे मुक्तता होती है। इस रीतिसे धारण किया हुआ सुवर्ण देह मृत होनेपर उसके जलानेके बाद शरीरकी राखसे सबका सब मिलता है। अर्थात् यदि किसी पुरुषने एक तोला सुवर्ण वैद्यकीय रीतिसे सेवन किया तो वह तोलाभर सुवर्ण मृत शरीरके दाह होनेके पश्चात् उसके संबंधियोंको प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार कोई हानि न करता हुआ यह सुवर्ण बल और आरोग्य देता है।

जो वैद्य इस सुवर्ण धारण विधिको जानते हैं उनका नाम "दाक्षायण" प्रथम मंत्रने कहा है। इस प्रकारका परिशुद्ध सुवर्ण बलवर्धक होनेसे उसका नाम भी "दाक्षायण" है यह बात द्वितीय मंत्रने बता दी है। जो मनुष्य इस प्रकार सुवर्ण धारण विधिसे अपना आयुष्य बढाना चाहता है उसका भी नाम वेदने

तृतीय मंत्रमें " दक्ष-माण " बताया है। इस प्रकार यह सूक्त बलवर्धन की बात प्रारंभसे अंत तक बता रहा है।

दाक्षायणी विद्या।

बल बढानेकी विद्याका नाम दाक्षायणी विद्या है। (दक्ष+अयनः) बल प्राप्त करनेके मार्गका उपदेश इस विद्यामें होता है। इस विद्यामें मनके साथ विशेष संबंध रहता है (सु+मनस्यमान) उत्तम मनसे युक्त अर्थात् मनकी विशेष शक्तिसे संपन्न। कमजोरीकी भावनासे मन अशक्त होता है और सामर्थ्य की भावनासे बलशाली होता है। मनकी शक्ति बढानेकी जो विद्या है उस विद्याके अनुसार मन सुनियमोंसे युक्त बनानेवाले श्रेष्ठ लोग "सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः" शब्दों द्वारा वेदमें बताये हैं। पाठक अपने मनकी अवस्थाके साथ अपने बलका संबंध देखें और इन शब्दों द्वारा जो सुमनस्क होने की सूचना मिलती है, वह लेलें और इस प्रकार मानसिक धारणासे अपना बल बढावें।

सुवर्ण धारण।

यद्यपि प्रथम मंत्रमें केवल स्थूल शरीरपर सुवर्ण बांधनेका विधान किया है तथापि आगे जाकर पेटमें वीर्यवर्धक नाना रस पीनेका उपदेश इसी सूक्तमें आनेवाला है। सुवर्ण तथा अन्य कई रत्न हैं कि जो शरीरपर धारण करनेसे भी बलवर्धन तथा आरोग्य वर्धन कर सकते हैं। यह बात सूर्यकिरण चिकित्सा तथा वर्णचिकित्साके साथ संबंध रखनेवाली है अर्थात् सुवर्ण रत्नादिका धारण करना भी शरीरके लिये आरोग्यप्रद है। औषधियोंकी जडोंके मणी शरीरपर धारण करनेसे भी आरोग्यकी दृष्टिसे बडा लाभ करते हैं। संसर्गजन्य रोगोंमें वचा मणिके धारणसे अनेक लाभ हैं। यही बात सुवर्ण रत्नादि धारणसे होती है। परंतु इसकेलिये शुद्ध सुवर्ण चाहिये।

इस विषयमें प्रथम मंत्रमें कहा है कि— " बल बढानेकी विद्या जाननेवाले और उत्तम मनःशक्तिसे युक्त श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा शरीरपर लटकाया हुआ सुवर्ण जीवन, तेज, बल, तथा दीर्घ आयुष्य देता है। "इसमें शरीरपर सुवर्ण लटकानेवाले मनुष्यों का उत्तम मनोभावना भी लाभदायक होती है यह सूचित किया है, वह मनन करने योग्य है।

इस मंत्रमें "शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि" का अर्थ " सैन्य विभागोंके सचालकके शरीरपर सुवर्ण लटकाता हूं " ऐसा किया है, परंतु इसमें और भी एक गूढता है वह यह है कि "अनीक" शब्द बल वाचक है। बल शब्द सैन्य वाचक और बल वाचक भी है। विशेषतः " अनीक" शब्दमें " अन्-प्राणने" धातु है जो जीवन शक्तिका वाचक प्रसिद्ध है। इसलिये जीवन शक्तिका अर्थ भी अनीक शब्दमें है। इस अर्थके लेनेसे "शतानीक" शब्दका अर्थ "सौ जीवन शक्तियां, अथवा सौ जीवन शक्तियोंसे युक्त" होता है। यह भाव लेनेसे उक्त मंत्र भागका अर्थ ऐसा होता है कि—

शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि। (मंत्र १)

" सौ जीवन शक्तियोंकी प्राप्तिके लिये मैं सुवर्णका धारण करता हूं।" सुवर्णके अंदर सेकडों वीर्य हैं, उन सबकी प्राप्तिके लिये मैं उसका धारण करता हू। यह आशय प्रथम मंत्र भाग का है। इस प्रथम मंत्रमें इनमेंसे कुछ गुण कहे भी हैं—

आयुषे। वर्चसे। बलाय। दीर्घायुत्वाय। शतशारदाय।

" आयु, तेज, बल, दीर्घ आयु, सौ वर्षकी आयु" इत्यादि शब्द जीवन शक्तियोंके ही सूचक हैं। इनका थोडासा परिगणन यहां किया है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं और जान सकते हैं कि इसी प्रकार अनेक जीवन शक्तियां" हैं, उनकी प्राप्ति अपने अंदर करनी और उनकी वृद्धि भी करनी वैदिक धर्मका उद्देश्य है। इस विचारसे ज्ञात हो सकता है कि यहां "शतानीक" शब्दका अर्थ " जीवनके सौ वीर्य, जीवन की सैकडों शक्तियां" अभीष्ट है। यद्यपि यह अर्थ हमने मंत्रार्थ करते समय किया नहीं है तथापि यह अर्थ हमें यहां प्रतीत हो रहा है। इसलिये प्रसिद्ध अर्थ ऊपर देकर यहां यह अर्थ लिखा है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

इस प्रकार प्रथम मंत्रका मनन करनेके बाद इसी प्रकारका एक मंत्र यजुर्वेदमें थोडेसे पाठभेदसे आता है उसको पाठकोंके विचारके लिये यहां देते हैं—

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्म आबध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम्॥
(वा. यजु. ३४।५२)

"उत्तम मनवाले दाक्षायण लोग शतानीकके लिये जिस सुवर्ण भूषणको बांधते रहे, (तत्) वह सुवर्ण भूषण (मे आवध्नामि) मैं अपने शरीरपर बांधता हूं इसलिये कि मैं (आयुष्मान्) उत्तम आयुसे युक्त और (जरदष्टिः वृद्ध अवस्थाका अनुभव करनेवाला होकर (यथा शतशारदाय आसं) जिस प्रकार सौ वर्षकी पूर्ण आयुको प्राप्त होऊं।"

इसका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त भावही इस मंत्रमें अन्य रीतिसे और भिन्न शब्दोंसे व्यक्त हुआ है। इस मंत्रका द्वितीय अर्थ ही भिन्न है।

प्रथमार्ध वैसाका वैसा ही है। यहां प्रथम मंत्रका विवरण समाप्त हुआ, अब द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं। —

राक्षस और पिशाच।

नरमांस भोजन करनेवाले राक्षस होते हैं और रक्त पीनेवाले पिशाच होते हैं। ये सबसे क्रूर होनेके कारण सब लोग इनसे डरते रहते हैं। परंतु जो पूर्वोक्त प्रकार "सुवर्ण प्रयोग करता है उसके हमलेको राक्षस और पिशाच भी सह नहीं सकते।" इतनी शक्ति इस सुवर्ण प्रयोगसे मनुष्यको प्राप्त होती है। सुवर्णमें इतनी शक्ति है। क्योंकि "यह देवोंका पहिला ओज है।" अर्थात् संपूर्ण देवोंकी अनेक शक्तियां इसमें संगठित हुई है। इसलिये द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि—"जो यह बल वर्धक सुवर्ण शरीरमें धारण करता है वह सब प्राणियोंसे भी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है।" अर्थात् इस सुवर्ण प्रयोगसे शरीरका बल भी बढ जाता है और दीर्घ आयु भी प्राप्त होती है। यह द्वितीय मंत्रका भाव पहिले मंत्रका ही एक प्रकारका स्पष्टीकरण है, इसलिये इसका इतना ही मनन पर्याप्त है। यही मंत्र यजुर्वेदमें निम्न लिखित प्रकार है—

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥ यजु० ३४।५१

'यह देवोंसे उत्पन्न हुआ पहिला तेज है, इसलिये राक्षस और पिशाच भी इसके पार नहीं हो सकते। जो दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है वह देवोंमें दीर्घ आयु करता है और मनुष्योंमें भी दीर्घ आयु करता है।"

इस मंत्रके द्वितीयार्धमें थोडा भेद है और जो अथर्व पाठमें "जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः" इतनाही था, वहां ही इसमें "देवेषु और मनुष्येषु" ये शब्द अधिक हैं। "जीवेषु" शब्दका ही यह "देवेषु, मनुष्येषु" आदि शब्दोंद्वारा अर्थ हुआ है। इस प्रकार अन्य शाखासंहिताओंके पाठभेद देखनेसे अर्थ निश्चय करनेमें बडी सहायता होती है।

यहां तक दो मंत्रोंका मनन हुआ। इन दो मंत्रोंमें शरीर पर सुवर्ण धारण करनेकी बातका उपदेश किया है अब अगले दो मंत्रोंमें जल वनस्पति तथा ऋतुकालानुसार उत्पन्न होनेवाले अन्य बलवर्धक पदार्थोंका अंतर्बाह्य सेवन करनेकी महत्वपूर्ण विद्या दी जाती है, उसका पाठक विशेष ध्यानसे मनन करें।

तृतीय मंत्रमें कहा है—"जल और औषधियोंके तेज, कांति, शक्ति, बल और वीर्यवर्धक रसोंको हम वैसे धारण करते हैं कि जैसे आत्मामें इंद्रिय शक्तियां धारण हुई हैं। इसी प्रकार बल बढानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य सुवर्णका भी धारण करे।"

जलमें नाना औषधियोंके गुण हैं यह बात इसके पूर्व आये हुये जल सूक्तोंमें वर्णन हो चुकी है। वे सूक्त पाठक यहां देखें। औषधियोंके अंदर वीर्यवर्धक रस हैं, इसीलिये वैद्य औषधि प्रयोग करते हैं, अथर्ववेदमें भी यह बात आगे आजायगी। जिस प्रकार जल अंतर्बाह्य पवित्रता करके बल आदि गुणोंकी वृद्धि करता है, इसी प्रकार नाना प्रकारकी वीर्यवर्धक औषधियोंके पथ्य हित मित अन्न भक्षण पूर्वक सेवनसे मनुष्य बल प्राप्त करके दीर्घ जीवन भी प्राप्त करता है। सुवर्ण सेवनसे भी अथवा सुवर्णादि धातुओंके सेवनसे भी इसी प्रकार लाभ होते है, इसका वैद्यशास्त्रमें नाम "रस प्रयोग" है। यह रस प्रयोग सुयोग्य वैद्य ही के उपदेशानुसार करना चाहिये। यहां यजुर्वेदका इसी प्रकारका मंत्र देखिये—

सुवर्णके गुण।

आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदं हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥
वा. यजु. ३४।५०

"(आयुष्यं) दीर्घ आयु करनेवाला, (वर्चस्यं) कान्ति बढानेवाला, (रायस्पोषं) शोभा और पुष्टि बढानेवाला (औद्भिदं) खानसे उत्पन्न होनेवाला अथवा ऊपर उठानेवाला, (वर्चस्वत्) तेज बढानेवाला (जैत्राय) विजयके लिये (इदं हिरण्यं) यह सुवर्ण (मां उ आविशतात्) मुझे अथवा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो।"

सुवर्णका सेवन।

यह मंत्र सुवर्णके अनेक गुण बता रहा है। इतने गुणोंकी वृद्धि करनेके लिये यह सुवर्ण मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हो, यह इच्छा इस मंत्रमें स्पष्ट है। अर्थात् परिशुद्ध सुवर्णके सेवनसे इन गुणोंकी शरीरमें वृद्धि हो सकती है। इस मंत्रमें "हिरण्यं आविशतु" ये शब्द "सुवर्णका शरीरमें घुस जाने" का भाव बताते हैं अर्थात् यह केवल शरीरपर धारण करना ही नहीं प्रत्युत अन्यान्य औषधियोंके रसोंके समान इसका अंदर ही सेवन करना चाहिये। शरीरपर सोनेका धारण करना और सुवर्णका अंदर सेवन करना, इन दोनों रीतियोंसे मनुष्य पूर्वोक्त गुण बढाकर अपना दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

*

मनुष्यके शरीरमें देवोंके अंश।
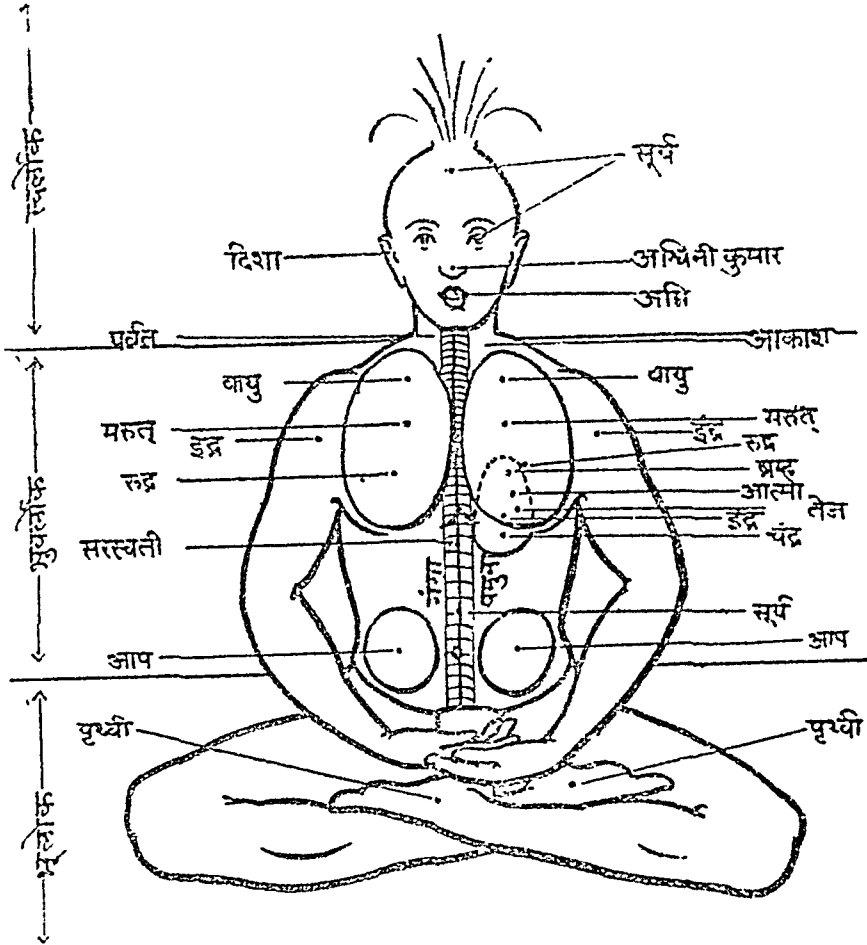
जगत्में जो अग्नि आदि देव हैं उनके अंश शरीर में हैं। इनके स्थान इस चित्रमें बताये हैं। इसके मननसे ज्ञात हो सकता है कि बाह्य जगत् के अग्नि आदि देवोंकी सहकारिताके साथ शरीरके स्वास्थ्यका कितना घनिष्ट संबंध है।

काली कामधेनुका दूध।

इस चतुर्थ मंत्रमें कहा है–कालरूपी संवत्सरका (काली काम धेनुका) दूध जो ऋतुओंके द्वारा मिलता है, उससे मनुष्यकी पूर्णता करते हैं। इस कार्यमें इन्द्र अग्नि विश्वेदेव आदि सब पूर्णतासे अनुकूल रहें।"

संवत्सर–वर्ष अथवा काल–यह एक कामधेनु है। काल संबंधी यह धेनु होनेसे इसको काली धेनु कहते हैं, यह इसलिये कामधेनु कही गई है कि मनुष्यादिकोंके इच्छित फल धान्य आदि पदार्थ ऋतुओंके अनुकूल देकर यह मनुष्यादि प्राणियों की पुष्टी करती है। प्रत्येक ऋतुके अनुकूल नाना प्रकारके फल और फूल संवत्सर देता है इसलिये वेदमें संवत्सरको पिताभी कहा है और यहां मधुर दूध देनेवाली कामधेनु कहा है। हरएक ऋतुमें कुछ नवीन फल, फूल, धान्य आदि मिलता है, यही इस धेनुका दूध है। यह दूध हरएक ऋतु इस संवत्सर रूपी गौसे निचोडकर मनुष्यादि प्राणियोंको देते हैं, यह अद्भुत अलंकार इस मंत्रमें बताया है। पाठक इस काव्यपूर्ण अलंकार का आस्वाद यहां ले।

प्रत्येक मासमें प्रत्येक ऋतुमें तथा प्रत्येक कालमें जो जो

फल फूल उत्पन्न होते हैं उनका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके बल, तेज, वीर्य, आयुष्य आदि बढ सकते है। यह इस मंत्रका आशय हरएक मनुष्यको मनन करने योग्य है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ व प्रयत्नसे ऋतुके अनुसार फल फूल धान्य आदिकी अधिक उत्पत्ति करे और उनके उपयोग से मनुष्योंको लाभ पहुंचावे।

पूर्व मंत्रमें "(अपां वनस्पतीनां च वीर्याणि) जल तथा वनस्पतियोंके वीर्य" धारण करनेका जो उपदेश हुआ है उसीका स्पष्टीकरण इस चतुर्थ मंत्रने किया है। जिस ऋतुमें जो जल और जो वनस्पति उत्तम वीर्यवान् प्राप्त होनेकी संभावना हो, उस ऋतुमें उसका संग्रह करके, उसका सेवन करना चाहिये। और इस प्रकार आयु, बल, तेज, कांति, शक्ति वीर्य आदि गुण अपने में बढाने चाहिये।

यह वेदका उपदेश मनन करने और आचरणमें लाने योग्य है। इतना उपदेश करनेपर भी यदि लोग निर्वीर्य, निःसत्त्व, निस्तेज, निर्बल रहेंगे और वीर्यवान बननेका यत्न नहीं करेंगे तो वह मनुष्योंका ही दोष है। पाठक इस स्थानपर विचार करें और निश्चय करें कि वेदका उपदेश आचरणमें लानेका यत्न वे कितना कर रहे हैं और कितना नहीं। जो वैदिक धर्मी लोग अपने वैदिक धर्मके उपदेशको आचरणमें नहीं ढालते वे शीघ्र प्रयत्न करके इस दिशासे योग्य सुधार अवश्य करें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

इस मंत्रके उत्तरार्धका भाव मनन करने योग्य है। "इन्द्र अग्नि आदि सब देव इसकी अनुकूलतासे सहायता करें" अग्नि आदि देवताओंकी सहायताके विना कौन मनुष्य कैसे उन्नतिको प्राप्त हो सकता है? अग्नि ही हमारा अन्न पकाता है, जल ही हमारी तृषा शांत करता है, पृथ्वी हमें आधार देती है, बिजली सबको चेतना देती है, वायु सबका प्राण बनकर प्राणियोंका धारण करता है, सूर्यदेव सबको जीवन शक्ति देता है, चंद्रमा अपनी किरणोंद्वारा वनस्पतियोंका पोषण करनेमें हमारा सहायक बनता है, इसी प्रकार अन्यान्य देव हमारे सहायक हो रहे हैं। इनके प्रतिनिधि हमारे शरीरमें रहते हैं और उनके द्वारा ये सब देव अपने अपने जीवनांश हमतक पहुंचा रहे हैं। इस विषयमें इसके पूर्व बहुत कुछ लिखा गया है, इसलिये यहां अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इतने विवरणसे यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी कि अग्नि आदि देवताओंकी सहायता किस रीतिसे हमें हो रही है और यदि इनकी सहायता अधिक से अधिक प्राप्त करने और उससे अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी विधि ज्ञात हो गई, तो मनुष्योंका बहुत ही लाभ हो सकता है। आशा है कि पाठक इसका विचार करेंगे और अपना आयु, आरोग्य बल और वीर्य बढाकर जगत् में यशस्वी होंगे।

यहां षष्ठ अनुवाक और प्रथम काण्ड समाप्त।

प्रथम काण्डका मनन ।

थोडासा मनन ।

इस प्रथम काण्डमें दो प्रपाठक, छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५३ मंत्र हैं । इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, और विषय बतानेवाला कोष्टक यहां देते हैं—जो पाठक इस काण्डका विशेष मनन करना चाहते हैं उनको यह कोष्टक बहुत लाभदायक होगा—

अथर्ववेद प्रथम काण्ड के सूक्तों का कोष्टक ।

सूक्त	ऋषि	देवता	गण	विषय
१	अथर्वा	वाचस्पति	वर्चस्यगण	मेधाजनन
२	,,	पर्जन्य	अपराजितगण सांग्रामिक गण	विजय
३	,,	मंत्रोक्त(पृथ्वी, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य)	——	आरोग्य
४	सिंधुद्वीपः	आपः	——	,,
५	,,	,,	——	,,
६	,,	,,	——	,,
		(इति प्रथमोऽनुवाकः)		
७	चातनः	इन्द्राग्नी	——	शत्रुनाशन
८	,,	अग्निः, बृहस्पतिः	——	,,
९	अथर्वा	वस्वादयः	वर्चस्य गण	तेजकी प्राप्ति
१०	,,	असुरो वरुणः	——	पापनिवृत्ति
११	,,	पूषा	——	सुखप्रसूति
		(इति द्वितीयोऽनुवाकः)		
१२	भृग्वंगिराः	यक्ष्मनाशन	तक्मनाशनगण	रोगनिवारण
१३	,,	विद्युत्	——	ईशनमन
१४	,,	यमो वरुणो वा	——	कुलवधुविवाह
१५	अथर्वा	सिन्धु	——	संगठन
१६	चातनः	अग्नि, इन्द्र, वरुणः	शत्रुनाशन गण	शत्रुनाशन
	(इति चतुर्थोऽनुवाकः प्रथमः प्रपाठकश्च समाप्तः ।)			
१७	ब्रह्मा	योषित्	——	रक्तस्राव-दूरीकरण
१८	द्रविणोदाः	विनायक, सौभाग्यं	——	सौभाग्यवर्धन
१९	ब्रह्मा	ईश्वरः , ब्रह्म	सांग्रामिकगण	शत्रूनाशन
२०	अथर्वा	सोम	——	महान शासक
२१	,,	इन्द्रः	अभयगण	प्रजापालन

(इति चतुर्थोऽनुवाकः)

२२	ब्रह्म	सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः	——	हृद्रोग तथा कामिला रोग नाशन
२३	अथर्वा	ओषधिः	——	कुष्ठनाशन
२४	ब्रह्मा	आसुरी वनस्पतिः	——	,,
२५	भृग्वंगिराः	अग्निः, तक्मा	तक्मनाशनगण	ज्वरनाशन
२६	ब्रह्मा	इन्द्रादयः	स्वस्त्ययनगण	सुखप्राप्ति.
२७	अथर्वा	इन्द्राणी	,,	विजयी स्त्री
२८	चातनः	स्वस्त्ययनं	,,	दुष्टनाशन
		(इति पंचमोऽनुवाकः)		
२९	वसिष्ठः	अभीवर्तमणिः	——	राष्ट्रवर्धन
३०	अथर्वा	विश्वेदेवाः	आयुष्यगण	आयुष्यवर्धन
३१	ब्रह्मा	आशापालाः,वास्तोष्पतिः	वास्तुगण	आशापालन
३२	,,	द्यावापृथिवी	——	जीवनतत्व
३३	शन्ताति	आपः। चन्द्रमाः	शांतिगण	जल
३४	अथर्वा	मधुवल्ली	——	मीठा जीवन
३५	,,	हिरण्यं, इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः	——	दीर्घायु

(इति षष्ठोऽनुवाको द्वितीयः प्रपाठकश्च समाप्तः)

इति प्रथमं काण्डम्।

इन सूक्तोंका मनन करनेके लिये ऋषि और गणोंका विभाग जाननेकी भी अत्यंत आवश्यकता है। इसलिये वे कोष्टक नीचे देते हैं—

ऋषि विभाग।

१ अथर्वा ऋषिः- १-३; ९-११; १५; २०; २१; २३; २७; ३०;३४; ३५; इन चौदह सूक्तोंका अथर्वा ऋषि है।

२ ब्रह्मा (किंवा ब्रह्म) ऋषिः- १७, १९, २२, २४, २६, ३१, ३२, इन सात सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है।

३ चातन ऋषिः-७, ८, १६, २८, इन चार सूक्तोंका चातन ऋषि है।

४ भृग्वंगिरा ऋषिः-१२—१४; २५ इन चार सूक्तोंका भृग्वंगिरा ऋषि है।

५ सिंधुद्वीप ऋषिः- ४-६ इन तीन सूक्तोंका सिंधुद्वीप ऋषि है।

६ द्रविणोदा ऋषिः- १८ वे एक सूक्तका यह ऋषि है।

७ वसिष्ठ ऋषिः—२९ वे एक सूक्तका यह

८ शन्ताती ऋषिः—३३ वे एक सूक्तका यह ऋ॰

इस प्रकार आठ ऋषियोंके देखे मंत्र इस काण्डमें हैं। यह जैसा ऋषियोंके नामसे सूक्त विभाग हुआ है, उसी प्रकार एक एक ऋषिके मंत्रोंमें किन किन विषयोंका विचार हुआ है यह अब देखिये—

१ अथर्वा ऋषि—मेधाजनन, विजयप्राप्ति, आरोग्यप्राप्ति, तेजःप्राप्ति, पापनिवृत्ति, सुखप्रसूति, संगठन, राजशासन, प्रजापालन, कुष्ठरोगनिवृत्ति, विजयी स्त्री, आयुष्यवर्धन, मीठा जीवन, आयुष्य बलादिसंवर्धन।

२ ब्रह्माऋषि-रक्तस्राव दूरकरना, शत्रुनाशन, संग्राम, हृदय तथा कामिला रोग दूरीकरण, कुष्टनाशन सुखवर्धन, आशापालन, दीर्घजीवन।

३ चातन ऋषिः—शत्रुनाशन, दुष्टनाशन।
४ भृग्वंगिरा ऋषिः-रोगनिवारण, ज्वरनाशन, ईशनमन विवाह।
५ सिंधुद्वीप ऋषिः—जलसे आरोग्य।
६ द्रविणोदा ऋषिः—सौभाग्यवर्धन।
७ वसिष्ठ ऋषिः—राष्ट्रसंवर्धन।
८ शान्ताती ऋषिः—वृष्टि जलसे स्वास्थ्य।

इस प्रकार किन ऋषियोंके नामोंसे किन किन विषयोंका संबंध है यह देखना बडा बोधप्रद होता है। (१) सिंधुद्वीप ऋषिके नाममें " सिंधु " शब्द जल प्रवाह का वाचक है और यही जल देवताके मन्त्रोंका ऋषि है। (२) चातन ऋषिके नामका अर्थात् " चातन " शब्दका अर्थ " घबरादेना भगादेना, शत्रुको उखाड देना " है और इस ऋषिके सूक्तोंमें भी यही विषय है। इस प्रकार सूक्तोंके अंदर आनेवाला विषय और ऋषिनामोंका अर्थ इसका कई स्थानोंपर घनिष्ट संबंध दिखाई देता है। इसका विचार करना योग्य है।

सूक्तों के गण।

जिन प्राचीन मुनियोंने अथर्व सूक्तोंपर विचार किया था; उन्होंने इन सूक्तोंके गण बना दिये हैं। एक एक गणके संपूर्ण सूक्तोंका विचार एक साथ होना चाहिये। ऐसा विचार करने से अर्थज्ञान भी शीघ्र होता है और शब्दोंके अर्थ निश्चित करना भी सुगम हो जाता है। इस प्रथम कांडके पैंतीस सूक्तोंमें कई सूक्त कई गणोंके अंदर आगये हैं और कई गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं। जो गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं उनको अर्थकी दृष्टिसे हम अन्यगणोंके साथ पढ सकते हैं। इस प्रकार गणशः विचार करनेसे सूक्तोंका बोध शीघ्र हो जाता है, देखिये—

१ वर्चस्य गण - इसके सूक्त १, ९ ये हैं। तथापि तेज, आरोग्य आदि बढानेका उपदेश करनेवाले सूक्त हम इस गणके साथ पढ सकते हैं, जैसे — सूक्त ३—६, १८, २५, २६, ३० ३१, ३४, ३५ आदि।

२ अपराजित गण, सांग्रामिकगण-इसके सूक्त २, १९ ये हैं तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले अभय गणके सूक्त है। तथा राष्ट्रशासन और राज्य पालनके सब सूक्त इनके साथ संबंधित हैं, जैसे—सूक्त ७, ८, १५, १६, १७, २०, २१, २७, २९, ३१ आदि।

३ तक्मनाशन गण—इस गणके सूक्त १२, २५, ये हैं तथापि सब रोग नाशक और आरोग्यवर्धक सूक्त इस गणके सूक्तोंके साथ पढना चाहिये। जैसे सूक्त ३—६; १७, २२, २३, २५, ३३, ३५, आदि—

४ स्वस्त्ययनगण—इस गणके सूक्त २६, २७ ये हैं।

५ आयुष्यगण—इस गणके सूक्त ३०, ३५ ये हैं, तथापि स्वस्त्ययन गण, वर्चस्यगण, तक्मनाशन-गण तथा शांतिगणके सूक्तोंका इससे संबंध है।

६ शांतिगण—जल देवताके सब सूक्त इस गणमें आते हैं।

७ अभयगण— इसका सूक्त २१ वां है, तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले गण स्वस्त्ययनगण, अपराजितगण, तक्मनाशनगण, चातन-सूक्त ये हैं।

इस प्रकार यह सूक्तोंके गणोंका विचार है और इस रीतिसे सूक्तोंका विचार होनेसे बहुत ही बोध प्राप्त होता है।

अध्ययन की सुगमता।

कई पाठक शङ्का करते हैं कि एक विषयके सब सूक्त इकट्ठे क्यों नहीं दिये और सब विषयोंके मिलेजुले सूक्त ही सब काण्डोंमें क्यों दिये हैं? इसका उत्तर यह है कि यदि जल आदि विषयोंके संपूर्ण सूक्त इकट्ठे होते, तो अध्ययन करनेवालेको विविधताका अभाव होनेके कारण अध्ययन करनेमें बडा कष्ट हो जाता। अध्ययनकी सुविधाके लिये ही मिलेजुले सूक्त दिये हैं। अच्छी पाठशालाओंमें घण्टे दो घण्टेमें भिन्न भिन्न विषय पढाये जाते हैं, इसका यही कारण है कि पढनेवालोंके मस्तिष्कको कष्ट न हो। सवेरेसे शामतक एक ही विषयका अध्ययन करना हो तो पढने पढानेवालोंको अतिकष्ट होते हैं। इस बातका अनुभव हरएकको होगा।

इससे पाठक जान सकते हैं कि विषयोंकी विभिन्नता रखनेके लिये विभिन्न विषयोंके सूक्त मिलेजुले दिये हैं।

इसमें दूसरा भी एक हेतु प्रतीत होता है, वह यह है कि, पूर्वापर संबंधका अनुमान करने और पूर्वापर संबंधका स्मरण रखनेका अभ्यास हो। यदि जलसूक्त प्रथम कांडमें आया हो, तो आगे जहां जल सूक्त आजायं वहां वहां इसका स्मरण पूर्वक अनुसंधान करना चाहिये। इस प्रकार स्मरणशक्ति भी बढ सकती है। स्मरणशक्तिका बढना और पूर्वापर संबंध जोडनेका

अभ्यास होना ये दो महत्वपूर्ण अभ्यास इस व्यवस्थासे साध्य होते हैं।

इस प्रथम काण्डके दो प्रपाठक हैं, इस "प्रपाठक" का तात्पर्य ये दो पाठ ही है। दो प्र-पाठ-क" अर्थात् दो विशेष पाठ है। गुरुसे एकवार जितना पाठ लिया जाता है उतना एक-प्र-पाठ-क होता है। इस प्रकार यह प्रथमकाण्ड दो पाठोंकी पढाई है। अथवा एक अनुवाकका एक पाठ अल्पबुद्धिवालोंकेलिये माना जाय तो यह प्रथमकाण्डकी पढाई छः पाठोंकी मानी जा सकती है। एक अनुवाकमें भी विषयोंकी विविधता है और एक प्रपाठकमें भी पाठ्य विषयोंकी विविधता है और इस विविधता के कारण ही पढने पढानेवालोंको बडी रोचकता उत्पन्न हो सकती है

आजकल इतनी पढाई नहीं हो सकती, यह बुद्धि कम होना या ग्राहकता कम होनेका प्रमाण है। यह अथर्ववेद प्रबुद्ध विद्यार्थीके ही पढनेका विषय है। इसलिये अच्छे प्रबुद्ध तथा अन्य शास्त्रोंमें कृतपरिश्रम उक्त प्रकार पढाई कर सकते हैं; इसमें कोई संदेह नहीं है।

अथर्ववेदके विषयोंकी उपयुक्तता।

जो पाठक इस प्रथम कांडके सब मंत्रोंको अच्छी प्रकार पढेंगे और थोडा मनन भी करेंगे तो उनको उसी समय इस बातका पता लग जायगा कि, इस वेदका उपदेश इस समयमें भी नवीन और अत्यंत उपयोगी तथा आज ही अपने आचरणमें लाने योग्य है। सूक्त पढनेके समय ऐसा प्रतीत होता है कि, यह उपाय आज ही हम आचरण में लायेंगे और अपना लाभ उठायेंगे। उपदेश की जीवितता और जाग्रतता इसी बातमें पाठकोंके मनमें स्पष्ट रूपसे खडी हो जाती है।

वेद सब ग्रंथोंसे पुराने ग्रंथ होनेपर भी नवीन से नवीन हैं और यही इनकी "सनातन विद्या" है; यह विद्या कभी पुरानी नहीं होती। जो जिस समय और जिस अवस्थामें पढेगा उसको उसी अवस्थामें और उसी समय अपनी उन्नतिका उपदेश प्राप्त हो सकता है। इस प्रथम कांडके सूक्त पढकर पाठक इस बातका अनुभव करें और वेद विद्याका महत्त्व अपने मनमें स्थिर करें।

ये उपदेश जैसे व्यक्तिके विषयमे उसी प्रकार सामाजिक, राष्ट्रीय और धर्म प्रचारके विषयमें भी सत्य और सनातन प्रतीत होंगे। इस समय जिनका उपयोग नहीं हो सकता ऐसा कोई विधान इसमें नहीं है। परंतु इन उपदेशोंका महत्व देखनेके और अनुभव करनेके लिये पाठकोंको इस काण्डका पाठ कमसे कम दस पांच वार मनन पूर्वक करना चाहिये।

व्यक्तिके विषयमें उपदेश।

प्रथम काण्डके ३५ सूक्तोंमें करीब १६ सूक्त ऐसे हैं कि जो मनुष्यके स्वास्थ्य, आरोग्य, नीरोगता, बल,- आयुष्य, बुद्धि आदि विषयोंका उपदेश देनेके कारण मनुष्यके दैनिक व्यवहार के साथ संबंध रखते हैं। हरएक मनुष्य इस समय में भी इनके उपदेशसे लाभ उठा सकता है। आरोग्यवर्धनके वैदिक उपायोंकी ओर हम पाठकोंका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। जो इस गणके सूक्त हैं उनका मनन पाठक सबसे अधिक करें और अपनी परिस्थितिमें उन उपायोंको ढालनेका जितना हो सकता है उतना यत्न करें। आरोग्यवर्धनके उपायोंमें सारांशरूपसे इन उपायोंका वर्णन विशेष बलके साथ इस काण्डमें किया है—

जलसे आरोग्य— जलसे आरोग्य होता है, शरीरमें शांति, सुख, नीरोगता आदि प्राप्त होती है यह बतानेवाले जल देवता के चार सूक्त दिये हैं। अनेक प्रकारके जलोंका इन सूक्तोंमें वर्णन करनेके बाद 'दिव्य जल' अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होनेवाले जलका महत्त्व बताया है वह कभी भूलना नहीं चाहिये। वृष्टिके दिनोंमें जिन दिनोंमें शुद्ध जलकी वृष्टि होती है—उन दिनोंमें इस जलका संग्रह हरएक गृहस्थी कर सकता है। जहां वृष्टि बहुत थोडी होती है वहांकी बात छोड दी जाय तो अन्यत्र यह जल सालभरके पीनेके लिये पर्याप्त प्रमाणमें मिल सकता है। परंतु स्मरण रखना चाहिये कि घरके छप्परपर जमा हुआ जल लेना नहीं चाहिये परंतु छत पर खुले और बडे मुखवाला बर्तन रखकर उसमें सीधी वृष्टिधाराओं से जल संगृहीत करना चाहिये। अर्थात् ऐसा इंतजाम करना चाहिये कि वृष्टिजल की धाराएं सीधी अपने बर्तनमें आजांय। बीचमें वृक्ष, छप्पर आदि किसीका स्पर्श न हो। इस प्रकारका इकठ्ठा किया हुआ जल स्वच्छ और निर्मल बोतलोंमें भरकर रखनेसे सालभर रहता है और बिगडता नहीं। यह जल यदि अच्छा रखा तो दो वर्षतक रहता है और इसका यह न बिगडनेका गुण ही मनुष्यका आरोग्य वर्धन करता है।

उपवासके दिन इसका पान करनेसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं। चौबीस घंटोंका उपवास करके उसमें जितना यह दिव्य जल पिया जाय उतना पीना चाहिये। यह प्रयोग हमने आजमाया है और हर अवस्थामें इससे लाभ हुआ है। इस प्रकारके उपवासके पश्चात् थोडा थोडा दूध और घी खाना

चाहिये और भोजन अत्यन्त लघु होना चाहिये। हरदिन भी पीनेके लिये इसका उपयोग करनेवाले बडा ही लाभ प्राप्त कर सकते है। इसका नाम 'अमरवारुणी का पान' है। इसीको 'सुरा' भी कहते हैं। सुरा शब्द केवल मद्य अर्थमें आजकल प्रयुक्त होता है, परंतु प्राचीन ग्रंथोंमें इसका अर्थ 'वृष्टि जल' भी था। वरुण का जल साम्राज्य मेघ मंडल में है और वही इस आरोग्य वर्धक वृष्टि जल को देता है । इसका वर्णन वेदके अनेक सूक्तो में है।

वेदका यह आरोग्य प्राप्तिका सीधा, सुगम और व्ययके विना प्राप्त होनेवाला उपाय यदि पाठक व्यवहारमें लायेंगे तो वे बडा ही लाभ प्राप्त कर सकते है। इसलिये हम सानुरोध पाठकों से निवेदन करते हैं कि वे इस विषयमें दत्तचित्त हों और अपना लाभ उठावें ।

आरोग्य साधनके अन्य उपाय ।

जलके पश्चात् आरोग्य साधनके उपाय जो वेदने बताये वे अब देखिये-

(२) तैजस तत्त्वोंसे आरोग्य- अग्नि, विद्युत् और सूर्य किरण ये तीन तैजस तत्त्व हैं। इनसे आरोग्य प्राप्त करनेके विषयमें वेदमंत्रोंमें वारंवार उपदेश आता है। इनमें से सूर्य प्रकाशका महत्त्व तो सबसे अधिक है, यहां तक इसका महत्व वर्णन किया है कि इसको प्राणदाता, जीवन दाता, इतना ही नहीं परंतु प्रत्यक्ष आत्मा भी कहा है। सूर्य प्रकाशसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होनेके विषयमें वेदका निश्चित और असंदिग्ध मत है। संपूर्ण आधुनिक शास्त्र भी आजकल इसकी पुष्टि कर रहे हैं।

जिस प्रकार वृष्टिजल गरीबसे गरीबको और अमीरसे अमीरको प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार सूर्य प्रकाश भी हरएक को प्राप्त हो सकता है। धनसे प्राप्त होनेवाले आरोग्य साधक उपाय तो धनी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, गरीबोंको उनसे लाभ नहीं हो सकता। परंतु जो साधन वेद बता रहा है, वे उपाय गरीबको भी प्राप्त हो सकते हैं। यह इन साधनोंका महत्व देखें और इन उपदेशोंकी सचाई अनुभवमें लानेका यत्न करें।

आजकल कपडे बहुत वर्ते जाते हैं इसलिये शरीरकी चमडी अति कोमल हो रही है। इस कारण व्याधियां शरीरमें शीघ्र बसती है। जो लोग नंगे शरीर खेत आदिमें काम करते हैं उनको उतनी व्याधियां नहीं होतीं, जितनी कमरोंमें विविध तंग कपडे पहननेवाले बाबू लोगोंको होती हैं, इसका कारण यही है कि, जिनका शरीर सूर्य किरणोंके साथ संबंध होनेके कारण नीरोग रहता है वे तन्दुरुस्त रहते हैं और जो नाना कपडे पहननेके कारण कमजोर चमडी वाले बनते हैं वे अधिक बीमार हो जाते हैं।

रामायण महाभारतके समयमें रामकृष्णादि वीर अतिदीर्घ आयुवाले थे। वे वीर लोग धोती पहनते थे और धोती ही ओढते थे। प्रायः अन्य समय शरीरपर एक उत्तरीय पहनते थे। पाठक इनके वर्णन यदि पढेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि सभाओंमें भी ये लोग केवल धोती पहनकर ही बैठते थे। इसकारण इनके शरीरके साथ वायु और सूर्य प्रकाशका संबंध अच्छी प्रकार होजाता था। अनेक कारणोंमें यह भी एक कारण है कि जिस हेतु वे अतिदीर्घायुवाले और अति बलवान् थे। वह सादगी इस समय नहीं रही है और इस समय बडी कृत्रिमता हमारे जीवन व्यवहारमें आगयी है इसीका परिणाम हमारे अल्पायु दुर्बल और रोगी होनेमें हो रहा है। पाठक वेदके उपदेशके साथ इस ऐतिहासिक बातका भी मनन करें।

सूर्य प्रकाश इतने विपुल प्रमाणमें भूमिपर आता है कि वह आवश्यकतासे कई गुना अधिक है। इतना होते हुए भी तंग गलियों, तंग मकान, अंधेरे कमरे और उनमें अत्यधिक मनुष्योंकी संख्या होनेके कारण जीवन देनेवाला सूर्यनारायण हमारे आरोग्यवर्धनके लिये प्रतिदिन आता है, तथापि हमारे लिये वह उतना लाभ नहीं पहुंचा सकता जितना कि वह पहुंचाने में समर्थ है। ये सब दोष मनुष्यकृत है। ऋषिजीवनका हमें इस विषयमें बहुत विचार करना चाहिये और जहांतक हो सके वहां तक यत्न करके वह सादगी हमारे खानपान, वस्त्राभूषण तथा अन्यान्य व्यवहारमें आनी चाहिये ? वेदके उपदेशानुसार ऋषि-अपना व्यवहार रखते थे, इसलिये ऋषि लोगोंको अतिदीर्घ आयु प्राप्त होती थी,-और हम उसके बीलकुल उलटे जा रहे हैं, इसलिये मृत्युके वशमें हम अधिक हो रहे हैं।

(३) वायुसे आरोग्य- सूर्य प्रकाशके समान ही वायुका महत्त्व है। यही प्राण बनकर मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरोंमें रहता है और इसीके कारण प्राणी प्राण धारण करते हैं। यदि वायु अशुद्ध हुआ तो मनुष्य रोगी होनेमें बिलकुल देरी नहीं लगेगी। यह बात सब लोग जानते है, मानते हैं और बोलते भी हैं। परंतु इसका पालन कितने लोग करते हैं, इसका विचार करनेसे पता लग जायगा कि, इस विषयकी मनुष्योंकी उदासीनता निंदनीय

ही है। खुली वायु और खुला सूर्य प्रकाश मनुष्योंको पूर्ण आयु प्रदान करनेमें समर्थ है, परंतु जो मनुष्य उनसे दूर भागते हैं उनका लाभ कैसे हो सकता है? वृष्टिजल, सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु ये तीन पदार्थ वेद मंत्रों द्वारा आरोग्य बढानेवाले बताये हैं और आजकलके शास्त्रभी इस बातकी पुष्टि कर रहे हैं, इतना ही नहीं परंतु युरोप अमेरिकामें जहां शीत अधिक होता है, उन देशोंमें भी ऐसी संस्थाएं स्थापित हुई हैं कि जहां आरोग्य वर्धनके लिये सूर्य प्रकाशमें करीब करीब नंगा रहना आवश्यक माना गया है। जिन लोगोंने तंग कपडे पहननेके रिवाज जारी किये, वे ही युरोप अमरिकाके लोग इस प्रकार ऋषिजीवन की ओर झुक रहे हैं यह देखकर हमें वेदकी सचाईका जगत् में विजय हो रहा है यह अनुभव होनेसे अधिक ही आनंद होता है। विना प्रचार किये हुए ही लोग भूलते और भटकते हुए वैदिक सचाईका इस प्रकार ग्रहण कर रहे हैं; ऐसी अवस्थामें यदि हम अपने वेदका अध्ययन करेंगे, उन वेद मंत्रोंके उपदेशको अपने आचरणमें ढालेंगे, और अनुभव लेनेके पश्चात् अपने धार्मिक जीवनसे उस सचाईका जगत्में प्रचार करेंगे तो जगत्में इस सचाईका विजय होनेमें कोई देरी नहीं लगेगी।

इसलिये हम पाठकोंसे निवेदन करना चाहते हैं कि वे वेदका पाठ केवल मनोरंजकताके लिये न करें, केवल पारलौकिक भावनासे भी न करें, प्रत्युत वह उपदेश इस जगत् के व्यवहार में किस प्रकार ढाला जा सकता है; इसका विचार करते हुए वेदका अध्ययन करें। तब इसके महत्त्वका पता विशेष रीतिसे लग जायगा।

राष्ट्रीय जीवन।

जैसे वैयक्तिक जीवनके लिये वैदिक उपदेशकी उपयोगिता है उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनके लिये भी वेदके उपदेश अति मनन करने योग्य हैं। यह विषय आगेके कांडोंमें विशेष रीतिसे आनेवाला है, और वहीं इसका अधिक निरूपण होगा। इस प्रथम कांडके भी राष्ट्र विषयक मंत्र बडे ओजस्वी और अत्यंत बोधप्रद हैं।

उनतीसवें सूक्तमें 'राष्ट्रके लिये मुझे बढावो,' तथा 'राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये यह आभूषण मेरे शरीरपर बांधा जावे' इत्यादि ओजस्वी उपदेश हरएक समयमें और हरएक राष्ट्रके मनुष्यों और राजपुरुषोंके लिये आदर्श रूप हैं। राष्ट्रीय दृष्टिसे यह वसिष्ठ सूक्त हरएक मनुष्यको विचार करने योग्य है।

इस प्रथम कांडमें कई महत्त्वपूर्ण विषय आगये हैं उन सबका यहां विचार करनेके लिये स्थान नहीं है। उस उस सूक्तके प्रसंगमें ही विशेष बातका दिग्दर्शन किया है। इसलिये उसको दुहराने की यहां कोई आवश्यकता ही नहीं है। पाठक इस कांडका वारंवार मनन करेंगे तो मननसे उनके मनमें ही विशेष बातें स्वयं स्फुरित हो जायगी, जो ऊपरके विवरणमें लिखी नहीं है। वेदका अर्थ जाननेके लिये मनन ही करना चाहिये।

आशा है कि पाठक मनन पूर्वक इस कांडका अभ्यास करेंगे और इस उपदेशसे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करनेका यत्न करेंगे तथा जो विशेष बात अनुभवमें आ जायगी उसका प्रकाशन जनताकी भलाईके लिये करेंगे। इस प्रकार करनेसे सबका ही भला हो जायगा।
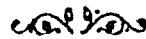
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

प्रथमकाण्डकी विषय-सूची।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वितीयं काण्डम् ।

सबका पिता।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अथर्ववेद २।१।३

"वह ईश्वर हम सबका पिता, उत्पादक और बन्धु है, वही सब स्थानों और भुवनोंको यथावत् जानता है। उसी अकेले ईश्वरको अन्य सम्पूर्ण देवोंके नाम दिये जाते हैं और सम्पूर्ण भुवन उसी प्रशंसनीय ईश्वरको प्राप्त करने के लिये घूम रहे हैं।"

अथर्ववेद का सुबोधभाष्य।

द्वितीय काण्ड।

इस द्वितीय काण्डका प्रारंभ "वेन" सूक्तसे और "वेन" शब्दसे होता है। यह मंगल वाचक शब्द है। "वेन" शब्दका अर्थ " स्तुति करनेवाला, ईश्वरके गुण गानेवाला भक्त" ऐसा है। परमात्मा पूर्ण रीतिसे स्तुति करने योग्य होनेसे उसीके साक्षात्कारके और उसीके गुण वर्णन के मन्त्रोंका यह सूक्त है। इस परमात्माकी विद्याके नाम " गुप्त विद्या, गूढ विद्या, गुह्य विद्या, परा विद्या, आत्मविद्या " आदि अनेक हैं। इस गुह्य विद्यामें परमात्माका साक्षात्कार करनेके उपाय बताये जाते हैं। यह इस विद्याकी विशेषता है। विद्याओंमें श्रेष्ठ विद्या यही है जो इस काण्डके प्रारंभमें दी गई है, इसलिये इसका अध्ययन पाठक इस दृष्टिसे करें।

जिस प्रकार प्रथम काण्ड मुख्यतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका है, उसी प्रकार यह द्वितीय काण्ड पांच मन्त्रवाले सूक्तोंका है। इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त हैं और २०७ मन्त्र हैं। अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इसमें एक सूक्त अधिक है और ५४ मन्त्र अधिक हैं। इस द्वितीय काण्डमें सूक्तोंकी मन्त्र संख्या निम्नलिखित प्रकार है।

५	मंत्रोंके	सूक्त	२२	हैं,	इनकी मंत्र	संख्या	११०	है
६	,,	,,	५	,,	,,	,,	३०	,,
७	,,	,,	५	,,	,,	,,	३५	,,
८	,,	,,	४	,,	,,	,,	३२	,,
	कुल	सूक्त संख्या	३६		कुल मंत्र	संख्या	२०७	

इस द्वितीय काण्डके ऋषि देवता छंद आदि निम्नलिखित प्रकार हैं-

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद.
प्रथमोऽनुवाकः				
१	५	वेनः	ब्रह्म, आत्मा	त्रिष्टुप्; ३ जगती
२	,,	मातृनामा	गंधर्व, अप्सराः	,, १ विराड्जगती, ४ त्रिपाद्विराण्नाम गायत्री, ५ भूरिगनुष्टुप्

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद	
३	६	अंगिराः	भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः	अनुष्टुप्,	६ स्वराडुपरिष्टान्महाबृहती.
४	,,	अथर्वा	चन्द्रमाः, जङ्गिडः	,,	१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
५	७	भृगुः (आथर्वणः)	इन्द्रः	त्रिष्टुप्;	१, २उपरिष्टाद्बृहती (१ निचृत, २ विराट्), विराट् पथ्या बृहती, ४ जगती पुरोविराट्

द्वितीयोऽनुवाकः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद	
६	५	शौनकः (संपत्कामः)	अग्निः	,,	४ चतुष्पदार्षी पंक्तिः ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
७	,,	अथर्वा	भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः	अनुष्टुप्,	१ भुरिक्, ४ विराडुपरिष्टाद्बृहती
८	,,	भृगुः (आंगिरसः)	वनस्पतिः यक्ष्मनाशनं,	,,	३ पथ्यापंक्तिः, ४ विराट् ५ निचृत् पथ्यापंक्तिः
९	,,	,, ,,	,, ,,	,, ;	१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
१०	८	,, ,,	निर्ऋति, द्यावापृथिवी, नानादेवताः	१ त्रिष्टुप्,	२ सप्तपादष्टिः ३-५, ७, ८ (१) सप्तपदी धृतिः; ६ सप्तपदी अंत्यष्टिः ८ (२, ३) द्वौ पादौ. उष्णिहौ।

तृतीयोऽनुवाकः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद	
११	५	शुक्रः	कृत्यादूषणं, कृत्यापरिहरणं		१ चतुष्पदा विराट्, २-५ त्रिपदा परोष्णिहः, ४ पिपीलिकमध्या निचृत्
१२	८	भरद्वाजः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्;	२ जगती, ७,८ अनुष्टुभौ
१३	५	अथर्वा	,, अग्निः	,, ;	४ अनुष्टुप् ५ विराड् जगती
१४	६	चातनः	शाला, अग्निः, मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्,	२ भुरिक्, ४ उपरिष्टाद्विराड्बृहती.
१५	,,	ब्रह्मा	प्राणः, अपानः, आयुः		त्रिपाद्गायत्री.
१६	७	,,	,,		१, ३ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, २ एकपदासुरी उष्णिक्, ४, ५ द्विपदासुरी गायत्री

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
१७	,,	,,	,,	१-६ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुरी उष्णिक्.

चतुर्थोऽनुवाकः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
१८	५	चातनः (सपत्न क्षयकामः)	अग्निः	साम्नी बृहती.
१९	,,	अथर्वा	,,	१-४ निचृद्विषमा गायत्री ५ भूरिग्विषमा.
२०	,,	,,	वायुः	,, ,,
२१	,,	,,	सूर्यः	,, ,,
२२	,,	,,	चंद्रः	,, ,,
२३	,,	,,	आपः	,, ,,
२४	८	ब्रह्मा	आयुष्यं	पंक्तिः
२५	५	चातनः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ४ भूरिक्
२६	,,	सविता	पशुः	त्रिष्टुप् ३ उपरिष्टाद्विराड्बृहती ४, ५ अनुष्टुभौ (४ भूरिक्)

पञ्चमोऽनुवाकः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
२७	७	कपिञ्जलः	वनस्पतिः रुद्रः, इन्द्रः	अनुष्टुप्
२८	५	शम्भुः	जरिमा, आयुः	त्रिष्टुप्, १ जगती, ५ भूरिक्
२९	७	अथर्वा	बहुदेवता	,, १ अनुष्टुप् ४परा बृहतं निचृत् प्रस्तारपंक्तिः
३०	५	प्रजापतिः	अश्विनौ	अनुष्टुप्, १ पथ्यापंक्तिः ३ भूरि
३१	,,	काण्वः	मही, चन्द्रमाः,	,, २ उपरिष्टाद्विराड्बृहती ३ आर्षीत्रिष्टुप् ४ प्रागुक्ता बृहती, ५ प्रागुक्ता त्रिष्टुप्.

षष्ठोऽनुवाकः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
३२	६	,,	आदित्यः	,, १ त्रिपाद्भूरिग्गायत्री. ६ चतुष्पान्निचृदुष्णिक्
३३	७	ब्रह्मा	यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यं	,, ३ ककुंमती, ४ चतुष्पाद्भूरिगुष्णिग्, ५ उपरिष्टाद्विराड्बृहती, ६ उष्णिग्गर्भा निचृदनुष्टुभ् ७ पथ्यापंक्तिः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद	
३४	५	अथर्वा	पशुपतिः	त्रिष्टुप्.	
३५	,,	अंगिराः	विश्वकर्मा	,,	१ बृहतीगर्भा, ४, ५ भूरिक्
३६	८	पतिवेदनः	अग्नीषोमौ	,,	१ भूरिक् २, ५-७ अनुष्टुप्. ८ निचृत्पुर उष्णिग्

इस प्रकार सूक्तोंके ऋषि देवता और छंद हैं। स्वाध्याय करनेके समय पाठकों को इनके ज्ञानसे बहुत लाभ हो सकता है। अब हम ऋषिक्रमसे सूक्तोंका कोष्टक देते हैं–

१ अथर्वा- ४,७,१३, १९-२३; २९, ३४ ये दस सूक्त ।
२ ब्रह्मा— १५-१७, २४, ३३, ये पांच सूक्त ।
३ आंगिरसो भृगुः—८-१० ये तीन सूक्त ।
४ चातनः— १४, १८, २५, ,, ,, ,,
५ अंगिराः—३, ३५, ये दो सूक्त ।
६ काण्वः ३१, ३२ ,, ,, ,,
७ आथर्वणो भृगुः-५ यह एक सूक्त ।
८ वेनः— १ ,, ,,
९ मातृनामा— २ ,, ,,
१० शौनकः— ६ ,, ,,
११ शुक्रः-- ११ ,, ,,
१२ भरद्वाजः— १२ ,, ,,
१३ सविता-- २६ ,, ,,
१४ कपिञ्जलः— २७ ,, ,,
१५ शम्भू— २८ ,, ,,
१६ प्रजापतिः-- ३० ,, ,,
१७ पतिवेदनः- ३६ ,, ,,

ये ऋषि—क्रमानुसार सूक्त हैं। अब देवता—क्रमानुसार सूक्तों की गणना देखिये–

१ ब्रह्म, आत्मा-१ यह एक सूक्त ।
२ गंधर्वः- २ ,, ,,
३ इन्द्रः - ५ ,, ,,
४ अग्निः - ६, १३, १४,१८, १९, ये पांच सूक्त ।
५ वनस्पतिः - ३, ७-९, २५, २७ ये छः सूक्त. ।
६ दीर्घायुष्यं - ३, ७, १५-१७, २४,२८ ये सात सूक्त ।
७ आरोग्यं - ८, ९, ११, १५-१७; २८ ये सात सूक्त ।
८ चंद्रमाः - ४, २२, ३१, ३३ ये चार सूक्त ।
९ जंगिडः -४ यह एक सूक्त
१० निर्ऋतिः -१० ,, ,,
११ वायुः -२० ,, ,,
१२ सूर्यः -२१ ,, ,,
१३ आदित्यः -३२ ,, ,,
१४ आपः -२३ ,, ,,
१५ अश्विनौ -३० ,, ,,
१६ विश्वकर्मा -३५ ,, ,,
१७ अग्नीषोमौ -३६ ,, ,,
१८ पशुपतिः -३४ ,, ,,
१९ पशुः -२६ ,, ,,

अन्य सूक्तों में अनेक देवताएं हैं, जो प्रत्येक मंत्रके विवरण में पाठक देख सकते हैं। समान देवताके सूक्तोंका अर्थविचार एक साथ करना चाहिए। अर्थविचार करनेके समय ये कोष्टक पाठकोंके लिए बडे उपयोगी हो सकते हैं। इस कोष्टकसे कितने सूक्तों का विचार साथ साथ करना चाहिए। यह बात पाठक जान सकते हैं और इस प्रकार विचार करके मंत्रों और सूक्तोंका अनुसंधान कर सकते हैं।

इतनी आवश्यक बात यहां कहके अब इस द्वितीय काण्डका अर्थ विचार करते हैं–

——०——

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

द्वितीय काण्ड ।

गुह्य-अध्यात्म-विद्या ।

(१)

[ऋषिः-वेनः । देवता-ब्रह्म, आत्मा]

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥
प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥
स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अर्थ— (वेनः तत् परमं पश्यत्) भक्त ही इस परमश्रेष्ठ परमात्माको देखता है, (यत् गुहा) जो हृदय की गुफामें है और (यत्र विश्वं एकरूपं भवति) जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकरूप हो जाता है । (इदं पृश्निः जायमानाः अदुहत्) इसीका प्रकृतिने दोहन करकेही जन्मलेनेवाले पदार्थ बनाये हैं और इसलिए (स्वर्विदः व्राः) प्रकाश को जानकर व्रत पालन करनेवाले मनुष्यही इसकी (अभ्यनूषत) उत्तम प्रकारसे स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

(यत् गुहा) जो हृदयकी गुफा में है (तत् अमृतस्य परमं धाम) वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान (विद्वान् गन्धर्वः प्रवोचत्) ज्ञानी वक्ता कहे । (अस्य त्रीणि पदा) इस के तीन पद (गुहा निहिता) हृदय की गुफामें रखे हैं, [यः तानि वेद) जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत्) वह पिताका भी पिता अर्थात् बडा समर्थ हो जाता है ॥२॥

[सः नः पिता) वह हम सबका पिता है, (जनिता) जन्म देनेवाला (उत सः बंधुः) और वह भाई है, वह (विश्वा भुवनानि धामानि वेद) सब भुवनों और स्थानोंको जानता है । (यः एकः एव) वह अकेलाही एक (देवानां नाम—धः) सम्पूर्ण देवोंके नाम धारण करनेवाला है,(तं सं-प्रश्नं) उसी उत्तम प्रकारसे पूछने योग्य परमात्माके प्रति (सर्वा भुवना यन्ति) संपूर्ण भुवन पहुंचते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिसमें जगत्की विविधता भेदका त्याग कर एकरूपताको प्राप्त होती है और जिसका निवास हृदयमें है, उस परमात्माको भक्तही अपने हृदयमें साक्षात देखता है । इस प्रकृतिने उसी एक आत्माकी विविध शक्तियोंको निचोड कर उत्पन्न होनेवाले इस विविध जगत् को निर्माण किया है, इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य सदा उसी एक आत्माका गुणगान करते हैं ॥१॥

जो अपने हृदयमें ही है उस अमृतके परम धाम का वर्णन आत्मज्ञानी संयमी वक्ता ही कर सकता है । इसके तीन पाद हृदयमें गुप्त हैं, जो उनको जानता है, वह परम ज्ञानी होता है ॥ २ ॥

वही हम सबका पिता, जन्मदाता और भाई भी है, वही संपूर्ण प्राणियोंकी सब अवस्थाओंको यथावत् जानता है । वह केवल अकेलाही एक है और अग्नि आदि संपूर्ण अन्य देवोंके नाम उसीको प्राप्त होते हैं अर्थात् उसको ही दिये जाते हैं । जिज्ञासू जन उसीके विषयमें वारंवार प्रश्न पूंछते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हुए अन्तमें उसीको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ॥ ४ ॥
परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

अर्थ- (सद्यः) शीघ्र ही (द्यावा-पृथिवी परि आयं) द्युलोक और पृथ्वी लोकमें सर्वत्र मैं घूम आया हूं और अब (ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे) सत्यके पहिले उत्पादक की उपासना करता हूं। (वक्तरि वाचं इव) वक्तामें जैसी वाणी रहती है, उसी प्रकार यह (भुवने—स्थाः) सब भुवनोंमें रहता है, और (एषः धास्युः) यही सबका धारक और पोषक है, (ननु एषः अग्निः) निश्चयसे यह अग्नि ही है ॥ ४ ॥

(यत्र) जिसमें (अमृतं आनशानाः देवाः) अमृत खानेवाले सब देव (समाने योनौ) समान आश्रयको (अध्यैरयन्त) प्राप्त होते हैं, उस (ऋतस्य) सत्यके (विततं कं तन्तुं दृशे) फैले हुए सुखकारक धागेको देखनेके लिए मैं [विश्वा भुवनानि परि आयं] सब भुवनोंमें घुम आया हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ- द्युलोक और पृथ्वी लोकके अंदर जो अनंत पदार्थ हैं,उन सबका निरीक्षण करनेके बाद पता लगता हैं,कि अटल सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक एकही परमात्मा है, इसलिए मैं उसीकी उपासना करता हूं। जिस प्रकार वक्तामें वाणी रहती है, उसी प्रकार जगत् के सब पदार्थों अथवा सब प्राणियोंमें यह सबका धारण पोषण कर्ता एक आत्मा रहता है, उसको अग्नि भी कह सकते हैं अर्थात् जैसा अग्नि लकडीमें गुप्त रहता है उसी प्रकार यह सब पदार्थोंमें गुप्त रहता है ॥ ४ ॥

जिस एक परमात्मामें अग्नि वायु सूर्यादि देव समान रीतिसे आश्रित हैं और जिसकी अमृत मयी शक्ति संपूर्ण उक्त देवोंमें कार्य कर रही है, वही एक सर्वत्र फैला हुआ व्यापक सत्य है, उसी का साक्षात्कार करनेके लिए सब वस्तुमात्रका निरीक्षण मैंने किया है और पश्चात् सबके अंदर वही एक सूत्र फैला है यह मैंने अनुभव किया है ॥ ५ ॥

गूढ विद्या ।

गूढ विद्या का अर्थ है गूढ तत्त्वको जाननेकी विद्या। कई समझते हैं कि, यह विद्या गुप्त रखनी है, इसलिए इसको गूढ अथवा गुह्य विद्या कहते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है। दृश्य संसारके अंदर सबका आधारभूत एक तत्त्व है, संसारके पदार्थ दृश्य हैं और यह सर्वव्यापक अधारतत्त्व अदृश्य है। हरएक मनुष्य सब पदार्थोंके रंग रूप आकार तोल आदिको देख सकता है, परंतु उस पदार्थ के अंदर व्यापनेवाले तत्त्वको, जिससे कि उस पदार्थ का अस्तित्व अनुभव होता है, उस अदृश्य तत्त्वको, वह नहीं जान सकता; बहुत थोडे ही उसका अनुभव कर सकते हैं। मनुष्य का स्थूल देह सब देख सकते हैं, परंतु उसी देहमें रहनेवाले गुह्य अथवा गुप्त आत्माका दर्शन कौन करता है? परंतु जितना देहका अस्तित्व सत्य है उससे भी अधिक सत्य देहधारी आत्माके अस्तित्वमें है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत् के अंदर व्यापनेवाले गुह्यतत्त्व के विषयमें समझना चाहिए।

दृश्य आकारवाला जगत् दिखाई देता है, इसलिए वह गुह्य नहीं है, परंतु इस दृश्य जगत् को आधार जिस गुह्य तत्त्वने दिया है, वह इस प्रकार स्पष्टतासे नहीं दिखाई देता है, इसको ढूंढना, इसका अनुभव लेना, इसका साक्षात्कार करना, इस 'गुह्य विद्या' का कार्य क्षेत्र है। इसलिए इसको "गुह्यविद्या गूढविद्या, गुप्तविद्या, गुह्याद्गुह्यतर का ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मविद्या, परविद्या, विद्या" आदि अनेक नाम हैं। इन सब शब्दोंका तात्पर्य "उस जगदाधार आत्मतत्त्वका ज्ञान" यही है।

वेदमंत्रोंमें यह विद्या विशेष रीतिसे बतायी है। स्थान स्थानमें तथा विविध रीतियोंसे इसका वर्णन किया है। कई मंत्रोंमें स्पष्ट वर्णन है और कईयोंमें गुह्य वर्णन है। यह सूक्त स्पष्ट वर्णन करनेवाला है, इसीलिए उपासकोंको इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

गूढविद्याका अधिकारी।

सब विद्याओंमें यह गुह्य विद्या मुख्य है, इसलिए हरएक को इस विद्याकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिए। वास्तवमें देखा जाय, तो सभी मनुष्य इसकी प्राप्तिके मार्ग में लगे हैं, कई दूर के मार्गपर हैं और कईयोंने समीपका मार्ग पकडा है, इन अनेक मार्गोंमेंसे कौनसा मार्ग इस सूक्तको अभीष्ट है, यह बात यहां अब देखेंगे—

वेनः तत्पश्यत् ॥ १ ॥

'वेनही उसको देखता है,' यह प्रथम मंत्रका विधान है। यहां प्रत्यक्ष देखता है, जिस प्रकार मनुष्य सूर्यको आकाशमें प्रत्यक्ष देखता है उस प्रकार यह भक्त इस आत्मा को अपने हृदयमें प्रत्यक्ष करता है, यह भाव स्पष्ट है। यह अधिकार 'वेन' का ही है यह 'वेन' कौन है ? 'वेन्' धातुके अर्थ— 'भजन पूजन करना, विचार से देखना, भक्ति करना, तथा इसी प्रकार के उपासनाके कार्य करनेके लिये जाना' ये हैं। ये ही अर्थ यहां वेन शब्द में हैं। 'जो ईश्वर का भजन पूजन करता है, हृदयसे उसकी भक्ति करता है, विचारकी दृष्टिसे उसको जाननेका प्रयत्न करता है' इस प्रकारका जो ज्ञानी भक्त है, वह वेन शब्दसे यहां अभिप्रेत है। इसलिए केवल " बुद्धिमान " अर्थ ही यहां लेना उचित नहीं है। कितनी भी बुद्धिकी विशालता क्यों न हुई हो, जबतक उसके हृदयमें भक्ति की लहरें न उठतीं हों, तबतक उस प्रकारके शुष्क ज्ञानसे परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता, यह यहां इस सूक्त द्वारा विशेष रीतिसे बताना है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—

अमृतस्य धाम विद्वान् गंधर्वः ॥ २ ॥

"अमृतके धाम को जाननेवाला गंधर्व ही उसका वर्णन कर सकता है।" इसमें "गंधर्व" शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। गंधर्व शब्द का अर्थ "संत, पवित्रात्मा" कोशों में प्रसिद्ध है और यह शब्द वेन शब्दके पूर्वोक्त अर्थके साथ मिलता जुलता भी है। तथापि "गां वाणीं धारयति" अर्थात् " अपनी वाणीका धारण करनेवाला" यह अर्थ यहां विशेष योग्य है। वाणीका धारण तो सब करते ही हैं, परंतु यहां वाणीका बहुत प्रयोग न करते हुए अपनी वाक्शक्तिका संयम करनेवाला, अत्यन्त आवश्यकता होनेपर ही वाणीका उपयोग करनेवाला, यह अर्थ गंधर्व शब्दमें है। विशेष अर्थ से परिपूर्ण परंतु अल्प शब्द बोलनेवाला विद्वान गंधर्व शब्दसे यहां लिया जाता है। प्रायः आत्मज्ञानी वक्ताका वक्तृत्व मूकतासे ही होता है, किंवा थोडे परंतु अर्थपूर्ण शब्दोंसे ही आत्मज्ञानी पवित्रात्मा आप्त पुरुष जो कुछ कहना है, कह देता है। जबतक लौकिक विद्याका ज्ञान मनुष्यके मनमें खलबली मचाता रहता है, तब तक ही मनुष्य मेघगर्जनाके समान वक्तृत्व करता रहता है, परंतु इसका परिणाम श्रोताओंपर विशेष नहीं होता। जब आत्मज्ञान होता है और ईश्वर साक्षात्कार होता है, तब इसका वक्तृत्व अल्प होने लगता है। परंतु प्रभाव बढता जाता है। वाक्शक्तिपर संयम होने लगता है। यह गन्धर्व अवस्था समझिये।

यहां "वेन और गंधर्व" ये दो शब्द आत्मज्ञानके अधिकारीके वाचक शब्द हैं। उपासक, भक्त तथा गंभीर शब्दोंका प्रयोग संयम के साथ करने वाला जो होता है, वही परमात्माका साक्षात्कार करता है और वही उसका वर्णन भी कर सकता है।

पूर्व तैयारी। (प्रथम अवस्था)

उक्त उपासक आत्मज्ञानी हो सकता है, परंतु इसके बननेके लिये पूर्व तैयारी की आवश्यकता है, यह पूर्व तैयारी निम्न लिखित शब्दों द्वारा उस सूक्तमें बताई है–

सद्यः द्यावापृथिवी परि आयम् ॥ ४ ॥

विश्वा भुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

"एकवार द्युलोक और पृथ्वीलोकमें चक्कर लगाकर आया हूं। घूमकर आया हूं।" अर्थात् द्युलोक और पृथ्वीलोक तथा अन्यान्य भुवनों और स्थानों में जो जो द्रष्टव्य. [illegible]है, उसको देखा, प्राप्त किया और भोगा जगत् में खूब भ्रमण किया, कार्य व्यवहार किये, धनदौलत [illegible] किये, विजय कमाये, यश फैला

कुछ किया, मनुष्यको जो जो अभ्युदय विषयक करना संभव है, वह सब किया। यह गूढतत्वके दर्शनकी प्रथम अवस्था है। इस अवस्थामें भोगेच्छा प्रधान होती है।

द्वितीय अवस्था।

इसके बाद दूसरी अवस्था आती है, जिस समय विचार उत्पन्न होता है, कि ये नाशवन्त भोग कितने भी प्राप्त किये, तथापि इनसे सच्ची तृप्ति नहीं होती; इसलिये सच्ची तृप्ति, सच्चा मनका समाधान प्राप्त करनेके लिये कुछ यत्न करना चाहिये। इस तीय अवस्थामें भोगोंकी ओर प्रवृत्ति कम होती है और अभौतिक तत्त्व दर्शन की ओर प्रवृत्ति बढती जाती है; इसका निर्देश इस सूक्तमें निम्न लिखित प्रकार किया है-

अमृतस्य विततं कं तन्तुं द्रष्टे दिव्या भुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

"अमृतका फैला हुआ सुखकारक मूल सूत्र देखनेके लिए मैंने सब भुवनोंमें चक्कर मारा," अर्थात् इस द्वितीय अवस्थामें इसका चक्कर इसलिये होता है, कि इस विविधतासे परिपूर्ण जगत्के अंदर एकताका मूल स्रोत होगा तो उसे देखें; इस दुःख कष्ट भेद लडाई झगडों से परिपूर्ण जगत्में सुख आराम ऐक्य और अविरोध देनेवाला कुछ तत्त्व होगा तो उसको ढूंढेंगे, इस उद्देश्यसे इसका भ्रमण होता है। यह जिज्ञासूकी दूसरी अवस्था है। इस अवस्था का मनुष्य तीर्थों क्षेत्रों और पुण्यप्रदेशों में जाता है, वहां सज्जनोंसे मिलता है, देशदेशांतरमें पहुंचता है और वहांसे ज्ञान प्राप्त करता है इसका इस समय का उद्देश्य यही रहता है, कि इस विभेद पूर्ण दुःखमय अवस्थासे अभेदमय सुखकारक अवस्थाको प्राप्त करें। इतने परिश्रम करनेसे उसको कुछ न कुछ प्राप्त होता रहता है और फिर वह प्राप्त हुए ज्ञानको अपने में स्थिर करनेका यत्न करनेकी तैयारी करता है। इस प्रकार वह दूसरी अवस्थासे तीसरी अवस्थामें पहुंचता है। इस तीसरी अवस्थाका वर्णन इससूक्तमें निम्न लिखित शब्दों द्वारा किया है-

तृतीय अवस्था।

द्यावापृथिवी परि आयं सद्यः ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे ॥ ४ ॥

" मैं द्युलोक और पृथ्वीलोक में खूब घूम आया हूं और अब मैं सत्यके पहिले प्रवर्तक की उपासना करता हूं।"

जगत् भरमें घूमकर विचार पूर्वक निरीक्षण करनेसे इसको पता लगता है कि, इस विभिन्न जगत् में एक अभिन्न तत्त्व है और वही (कं) सच्चा सुख देनेवाला है। जब यह ज्ञान इसको होता है, तब यह उसके पास जानेकी इच्छा करता है। उपासनासे भिन्न कोई अन्य मार्ग उसको प्राप्त करनेका नहीं है, इसलिये इस मार्ग में अब यह उपासक आता है। ये अवस्थायें इस सूक्तके मंत्रों द्वारा व्यक्त होगई हैं, इन मंत्रों के साथ यजुर्वेद वाजसनेयी संहिताके मंत्र देखनेसे यह विषय अधिक खुल जाता है; इसलिये वे मंत्र अब यहां देते हैं-

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥
परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ १२ ॥ - वा. यजु. अ. ३२

"(भूतानि परीत्य) सब भूतोंको जानकर या भूतोंमें घूमकरके (लोकान् परीत्य) सब लोकोंमें भ्रमण करके (सर्वाः दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंमें भ्रमण करके अर्थात् इन सबको यथावत् जानकर (ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय) सत्यके पहिले नियमके प्रवर्तक की उपासना करके (आत्मना आत्मानं) केवल आत्मस्वरूपसे परमात्माके प्रति (अभि सं विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता हूं ॥ ११ ॥

(सद्यः द्यावापृथिवी परि इत्वा) एक समय द्युलोक और पृथ्वीलोकके सब पदार्थोंको देखकर, (लोकान् परि) सब लोकोंको देखकर, (दिशः परि) दिशाओंका परीक्षण करके (स्वः परि) आत्म प्रकाशको जानकर (ऋतस्य विततं तन्तुं) अटल सत्यके फैले हुए धागेको अलग करके जब (तत् अपश्यत्) उस धागेको देखता है, तब (तत् अभवत्) वह वैसा बनता है कि, जैसा (तत् आसीत्) वह पहिले था ॥ १२ ॥"

ये दो मंत्र उपासककी उन्नतिके मार्गका प्रकाश उत्तम रीतिसे कर रहे हैं। जगत् में घूम आनेकी जो बात अथर्ववेदने कही थी, उसका विशेष ही स्पष्टीकरण इन दो मंत्रोंके प्रथम अर्धोंद्वारा हुआ है ! "सब भूत, सब लोकलोकान्तर, सब उपदिशाएँ, द्यु और पृथ्वीके अंतर्गत सब पदार्थ, अथवा अपनी सत्ता जहां तक जासकती है, वहां तक जाकर, वहांतक विजय करके, वहां-क पुरुषार्थ प्रयत्नसे यश फैलाकर तथा उन सबका परीक्षण निरीक्षण समीक्षण आदि जो कुछ किया जाना संभव है, वह सब करके देख लिया। इतने निरीक्षणसे ज्ञात हुआ कि अटल सत्यनियमोंको चलानेवाला एकही सूत्ररूप आत्मा सबके अंदर हैं, वही सर्वत्र फैला है, उसीके आधारसे सब कुछ है, उसके आधार के विना कोई ठहर नहीं सकता। जब यह जान लिया तब उसकी ही उपसना की, और केवल अपने आत्मासेही उसमें प्रवेश किया। जब वहांका अनुभव लिया, तब उपासक वैसा बन गया, जैसा पहिले था।

पाठक इन मंत्रोंके इस आशयको देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि जो अथर्ववेदके इस सूक्तके मंत्रों द्वारा आशय व्यक्त हुआ है, वही बडे विस्तारसे इन मंत्रोंमें वर्णित हुआ है। और ये मंत्र उन्नतिकी अवस्थाएं भी स्पष्ट शब्दोंद्वारा बता रहे हैं, देखिये—

१ प्रथम अवस्था—(अज्ञानावस्था)—अपने या जगत् के विषय का पूर्ण अज्ञान।

२ द्वितीय अवस्था—(भोगावस्था)—जगत् अपने भोग के लिये है, ऐसा मानना, और जगत्को अपने स्वाधीन करनेका यत्न करना। जगत् पर प्रभुत्व स्थापित करना। इसी अवस्थामें राज्यैश्वर्य भोग बढाये जाते हैं।

३ तृतीय अवस्था—(त्यागावस्था)—जगत्के भोगोंसे असमाधान होकर विभक्तोंमें व्यापक अविभक्त सत्तावाली सद्वस्तुको ढूंढनेका प्रयत्न करना। वह जिज्ञासूकी अवस्था है।

४ चतुर्थ अवस्था (भक्तावस्था)—मनुष्य विभिन्न विश्वमें व्यापक एक अभिन्न आत्मतत्त्वको देखने लगता है और श्रद्धा भक्तिसे उसकी उपासना करने लगता है।

५ पंचम अवस्था—(स्वरूपावस्था)—उपासना और भक्ति दृढ और सहज होनेपर वह तद्रूप हो जाता है, मानो उसमें एक रूप होकर प्रविष्ट होता है, या जैसा था वैसा बन जाता है। यही साक्षात्कार की अवस्था है, यहां इसको भत्र ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

यही मार्ग इस अथर्व सूक्तमें वर्णन किया है। यहां पाठकोंको स्पष्ट हुआ होगा कि पूर्व तैयारी कौनसी है और आगेका मार्ग क्या है।

पूर्णावस्था।

पूर्वोक्त यजुर्वेदके मंत्रोंमें कहा ही है कि—

उपस्थाय प्रथमजामृतस्य
आत्मनात्मानमभि सं विवेश
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य।
तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥१२॥ वा. यजु० अ. ३२

" सत्यके पहिले प्रवर्तक परमात्माकी उपासना करके आत्मासे परमात्मामें प्रविष्ट हुआ॥ सत्यके फैले हुए धागेको अलग देखकर वैसा हुआ जैसा कि पहिले था। " यह सब वर्णन पूर्ण अवस्थाका है॥ इसीको निम्नलिखित शब्दोंद्वारा इस अथर्व सूक्तमें कहा है-

स्वर्विदः त्राः अभ्यनूषत ॥ १ ॥
अमृतस्य धाम विद्वान् ॥ २ ॥
यस्तानि वेद स पितुष्पिताऽसत् ॥ २ ॥

" (व्राः) व्रत पालन करनेवाले (स्वर्विदः) आत्मज्ञानी उसी की स्तुति करते हैं । वे अमृतके धामको जानते हैं । जो ये धाम जानता है वह पिताका पिता अर्थात् सबमें अधिक ज्ञानी अथवा सबमें अधिक समर्थ होता है । " यह अंतिम फल है पूर्ण अवस्थामें पहुंचनेका निश्चय इससे हो सकता है ।

प्रथम मंत्रमें "व्राः" शब्द बडा महत्त्व रखता है । व्रतों या नियमोंका पालन करनेवाला अपनी उन्नतिके लिये जो नियम आवश्यक होंगे उनको अपनी इच्छासे पालन करनेवालेका यह नाम है। नियम स्वयं देखकर स्वयंही उस व्रतका पालन करना बडे पुरुषार्थसे साध्य होता है । इसमें व्रतभंग होनेपर अपने आपको स्वयंही दंड देना होता है, स्वयं ही प्रायश्चित करना होता है । महान् आत्माही ऐसा कर सकते हैं । हरएक मनुष्य दूसरे पर अधिकार चला सकता है, परंतु स्वयं अपने पर अधिकार चलाना अति कठिन है । अपनी संपूर्ण शक्तियां अपने आधीन रखनी और कभी कुविचार आदि शत्रुओंके आधीन न होना इत्यादि महत्व पूर्ण बातें इस आत्मशासनमें आती हैं । परंतु जो यह करेगा, वही आत्मज्ञानी और विशेष समर्थ बनेगा और उसीक महत्त्व सब लोग मानेंगे ।

सूत्रात्मा ।

मणियोंकी माला बनती है, इस मालामें जितने मणि होते हैं, उन सबमें एक सूत्र होता है, जिसके आधारसे ये मणि रहते हैं । सूत्र टूट गया तो माला नहीं रहती और मणि भी बिखर जाते हैं । जिस प्रकार अनेक मणियोंके बीचमें यह एक सूत्र या तंतु होता है, उसी प्रकार इस जगत् के सूर्यचंद्रादि विविध मणियोंमें परमात्माका व्यापक सूत्र तन्तु या धागा है, जिसके आधारसे यह सब विश्व रहा है, इसीका दर्शन नहीं होता, सब मालका ही वर्णन करते हैं, परंतु जिस धागेके आधारसे ये सब मणि मालारूपमें रहे हैं, उस सूत्रका महत्व तत्त्वज्ञानी ही जान सकता है और वह उस जगदाधार को प्राप्त कर सकता है ।

वेदमें "तन्तु, सूत्र" आदि शब्द इस अर्थमें आगये हैं । जगत्के संपूर्ण पदार्थ मात्रके अंदर यह परमात्माका सूत्र फैला है, कोइ भी पदार्थ इसके आधारके विना नहीं है। यह जानना, इस ज्ञानका प्रत्यक्ष करना और इसका साक्षात्कारसे अनुभव लेना गूढ विद्याका विषय है, जो इस सूक्त द्वारा बताया है ।

अमृतका धाम ।

यही आत्मा अमृतका धाम है, इसको ढूंढना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है। इसको कहां ढूंढना यही प्रश्न बडा विचारणीय है, इसकी प्राप्तिके लिये ही संपूर्ण जगत् घूम रहा है, विचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, सुख और आनंदके लिये हरएक प्राणी प्रयत्न कर रहा है, और हरएकका ख्याल है कि, बाह्य पदार्थकी प्राप्तिसे सुख होता है । इसलिये मनुष्य क्या अथवा अन्य कीटपतंगादि प्राणी क्या, भ्रमण कर रहे हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा रहे हैं, इष्ट पदार्थ प्राप्त होनेपर क्षणभर सुखका अनुभव लेते हैं और पश्चात् दुःख जैसा का वैसा बना रहता है। इसका मनन करते करते मनुष्यके मनमें विचार आजाता है कि, आनंद कंद को अपने से बाहर ढूंढते रहने की अपेक्षा उसको अपने अंदर तो ढूंढकर देखेंगे । यही बात "मैंने द्यावापृथ्वीमें भ्रमण किया, मैंने संपूर्ण भूतोंमें चक्कर मारा, सब दिशाएं और विदिशाएं देख लीं और अब मैं सर्वत्र व्यापक एक सूत्रात्माको जानकर उसकी उपासना करता हूं ।" इत्यादि जो भाव चतुर्थ और पंचम मंत्र का है उसमें दर्शाई है । गूढ विद्याका प्रारंभ इसके पश्चात् के क्षेत्रमें है, यहासे ही गूढ तत्त्वकी खोज शुरू होती है । जिस प्रकार आंख संपूर्ण पदार्थोंको देखती है परंतु आंखमें पडे कणको देख नहीं सकती, इसी प्रकार मनुष्य सब जगत् का विजय करता है, परंतु अपने अंदरका निरीक्षण करना उसको कठीन होता है। यही गुप्त विद्याका क्षेत्र है। इसलिए इसको कहां ढूंढना है, यह देखना चाहिये । इस सूक्तमें इस विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले शब्द ये हैं—

गुहा ।

यत् परमं गुहा ॥ १ ॥ यत् धाम परमं गुहा ॥ २ ॥

' यह परम धाम गुहामें है । ' इसलिये इसको गुफा में ही ढूंढना उचित है । इसी हेतुसे बहुतसे लोग पर्वतोंकी गुफाओंमें जाते हैं, और वहां एकान्त सेवन करते हैं । योग्य गुरुके पास रहकर पर्वत कंदरामें एकान्त सेवन करने और अनुष्ठान करनेसे

इस गुह्य विद्याका अनुभव लेनेके विषयमें बडा लाभ निःसंदेह होता है; परंतु यह एक बाह्य साधन है। सची गुफा हृदय की गुहा ही है। हृदय की गुफा सब जानते ही हैं। इसी में इस गुह्यतत्वकी खोज करनी चाहिए।

सब प्राणी तथा सब मनुष्य बाहर देखते हैं, इस बहिर्दृष्टिसे गुह्यतत्वकी खोज नहीं हो सकती। इस कार्य के लिए दृष्टि अंतर्मुख होनी चाहिए, अपनी इंद्रिय शक्तियों का प्रवाह अंदर की ओर अर्थात् उलटा शुरु होना चाहिए। तभी इस गुह्य तत्व की खोज हो सकती है। अपने हृदयमें ही उस गुह्य आत्माको देखना चाहिए। अर्थात् इसकी प्राप्तिके लिए बाह्य दिशाओंमें भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है, अंतर्मुख होकर अपनी हृदयकी गुफामें देखना चाहिए।

चार भाग

यह अमृतका धाम हृदयमें है। यदि इस अमृत के चार भाग मान लिए जांय, तो तीन भाग अंदर गुप्त हैं और केवल एक भाग ही बाहर व्यक्त है। जो बाहर दिखता है, जो स्थूल दृष्टिसे अनुभवमें आता है वह अत्यंत अल्प है, परंतु जो अंदर गुप्त है, वह बहुत विस्तृत ही है। अपने शरीर में भी देखिये आत्मा-बुद्धि, मन, प्राण ये हमारी अंतःशक्तियां अदृश्य हैं और स्थूल शरीर वह दृश्य है। यदि शक्तिकी तुलना की जाय तो स्थूलशरीर की शक्ति की अपेक्षा आंतरिक शक्तियां बहुत ही प्रभाव-शाली हैं। अर्थात् स्थूल और व्यक्त की शक्तिकी अपेक्षा सूक्ष्म और अव्यक्त की शक्ति बहुतही बडी है। यही यहां निम्नलिखित शब्दोंद्वारा व्यक्त हुआ है--

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पिताऽसत् ॥ २५ ॥

" इसके तीन पाद गुहामें गुप्त हैं, जो उनको जानता है वह समर्थसे भी समर्थ होता है। " अर्थात् स्थूलशरीरकी शक्तिकी स्वाधीनता होनेकी अपेक्षा आंतरिक शक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त होनेसे अधिक सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसी विषयमें ये मंत्र देखिये--

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ॥ ४ ॥ ऋ० १०।९०।वा. य. ३१
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादोस्येहाऽभवत्पुनः ॥ अथर्व १९। ६
त्रिपाद्ब्रह्म पुरुरूपं वितष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ अथर्व० ९।१०।१९

" उसके एक पादसे सब भूत बने हैं और तीन पाद अमृत द्युलोक में है ॥ तीन पाद पुरुष का ऊपर उदय हुआ है, और एक पाद पुरुष यहां वारंवार प्रकट होता है ॥ तीन पावोंसे स्वर्गपर चढा है और एक पाद यहां पुनः पुनः होता है ॥ तीन पाद ब्रह्म बहुत रूप धारण करके ठहरा है, जिससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं। "

इन सब मंत्रोंका तात्पर्य वही है, जो इस सूक्त के ऊपर दिए हुए भागमें बताया है। उस अमृतकी अल्पसी शक्ति स्थूल में प्रकट होती है, शेष अनंत शक्ति अप्रकट स्थितिमें गुप्त रहती है और उस गुप्त शक्तिसे ही इस व्यक्त में कार्य होता रहता है। पाठक मनकी शक्ति की शरीरकी शक्तिके साथ तुलना करेंगे, तो उक्त बातका पता उनको लग जायगा। मनकी शक्ति-बहुत है उसका थोडासा भाग शरीरमें गया है और यहां कार्य कर रहा है। यह स्थूलमें कार्य करनेवाला अंशरूप मन वारंवार मूल गुप्तमनकी शक्तिसे प्रभावित होता है, नवजीवन प्राप्त करता है और वारंवार शरीरमें आकर कार्य करता है। यही बात अधिक स्पष्टतासे अमृततत्वके साथ संगत होती है। उसका केवल एक अंश प्रकट है, शेष अनंत शक्ति गुप्त है, इसके साथ अपना संबंध जोडना गूढविद्याका साध्य है।

एक रूप।

जगत्में विविधता है और इस आत्मतत्वमें एकरूपता है। जगत्में गति है इसमें शांति है, जगत्में भिन्नता है इसमें एकता है; इस प्रकार जगत्का और आत्माका वर्णन किया जाता है, सब लोग इस वर्णन के साथ परिचित हैं, इस सूक्तमें भी देखिए--

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥

" ज्ञानी भक्त ही उसको देखता है, जो हृदयकी गुहामें है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व अपनी विविधताको छोडकर एकरूप हो जाता है । इसकी शक्तिको प्रकृति खींचती है और जन्म लेनेवाले पदार्थ पैदा करती है । इसलिये आत्मज्ञानी व्रतपालन करनेवाले भक्त उस आत्माका ही गुण गान करते हैं । "

पाठक अपने अंदर इसका अनुभव देख लें, जाग्रतीमें जगत्की विविधता का अनुभव आता है, स्वप्नमें भी काल्पनिक सृष्टिमें विविधताका अनुभव आता है, परंतु तृतीय अवस्था गाढ निद्रा—सुषुप्ति में भिन्नताका अनुभव नहीं आता और केवल एकतत्वका अनुभव व्यक्त करना असंभव है, इसलिए उस समय किसी प्रकारका भान नहीं होता । सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें " ब्रह्म रूपता " होती है, तम—रज—सत्व-गुणोंकी भिन्नता छोड दी जाय तो उक्त तीनों स्थानोंमें ब्रह्मरूपता, आत्मरूपता अथवा साधारण भाषामें ईशरूपता होती है और इस अवस्थामें भिन्नत्वका अनुभव मिट जाता है, इसलिए इस अवस्थाको " एक—त्व " कहते हैं । इसी उद्देशसे इस मंत्रमें कहा है कि—

यत्र विश्वं एकरूपं भवति ॥ १ ॥

" जहां संपूर्ण विश्व एकरूप होता है । " अर्थात् जिसमें जगत् की विविधता अनुभवमें नहीं आती, परंतु उस सब विविधता की एकताका रूप सा आजाता है । वृक्ष के जड, शाखा, पल्लव आदि भिन्न रूपताका अनुभव है, परंतु गुठली में इन भिन्नता की एक रूपता दिखाई देती है । इसी प्रकार इस जगद्रूपी वृक्षकी विविधता मूल उत्पत्तिकारण में जाकर देखनेसे एकरूपता में दिखाई देगी । इसी मुख्य आदि कारणसे विविध शक्तियां प्रकृति अपने अंदर धारण करके उत्पत्ति वाले पदार्थ निर्माण करती है। इस रीतिसे न उत्पन्न होनेवाले एक तत्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक तत्व बनते हैं । इनका ही नाम उक्त मंत्रमें ' जायमानाः ' कहा है। इनमें मनुष्यभी संमिलित हैं और अन्य प्राणी तथा अप्राणी भी हैं। इनमें मनुष्यही (व्राः) व्रतपालनादि सुनियमोंसे अपनी उन्नति करके आदि मूलको जानता और अनुभव करके (स्वर्विदः) प्रकाश प्राप्त करके प्रतिदिन अनुष्ठान करता हुआ समर्थ बनता जाता है ।

अनुभव का स्वरूप ।

आत्मज्ञानी मनुष्य को अमृत धामका अनुभव किस प्रकार होता है, उसके अनुभव का स्वरूप अब देखना चाहिये—'आत्मज्ञानी मनुष्य अमृतधाम को अपनी हृदयकी गुहामें अनुभव करता है, अनंत शक्तियां वहां ही इकट्ठी हुइ हैं, यह उसका अनुभव है ।' (मंत्र २ देखो)

और वह अनुभव करता है कि– ' वही परमात्मा हम सबका पिता, उत्पादक, और भाई है, वही सर्वज्ञ है ।' (मंत्र ३) इतनाही नहीं परंतु "वही हमारी माता और वही हमारा सच्चा मित्र है" यह भी उसका अनुभव है। यहां ऋग्वेद और अथर्व मंत्रोंकी तुलना कीजिये–

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥
यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ अथर्व. २।१।३
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥
यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ऋग्वेद १०।८२।३
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ वा. यजु. ३२।१०

इनमें कुछ पाठभेद है, परंतु सबका तात्पर्य ऊपर बताया ही है। यही ज्ञानी भक्त का अनुभव है। और एक अनुभव यजुर्वेदके मंत्रमें दिया है वहां भी यह देखिये—

जगत् का ताना और बाना।

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ वा. यजु. ३२।८

'ज्ञानी भक्त उस परमात्माको जानता है जो हृदय की गुहामें है और जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोसले में रहनेके समान रहता है, तथा जिसमें यह सब विश्व एक समय (सं एति) मिल जाता है या लीन होता है और दूसरी समय (वि एति) अलग होता है। (सः विभूः) वह सर्वत्र व्यापक तथा वैभवसे युक्त है और (प्रजासु ओतः प्रोतः) प्रजाओं में ताना और बाना किये हुए धागों के समान फैला है।"

धोती में जैसे ताने और बानेके धागे होते हैं, उस प्रकार परमात्मा इस जगत् में फैला है, यह उस ज्ञानीका अनुभव है।

बालक पर आपत्ति आती है उस समय वह बालक अपने माता पिता, बडे भाई, चचा, दादा, नाना आदिके पास सहायतार्थ जाता है। वही बालक बडा होनेपर आपत्ति आगई तो अपने समर्थ मित्रके पास जाता है और उससे सहायता लेता है। इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में गुरु, राजा, आदिकों की सहायता लेता है। ये सब संबंध परमात्मामें ज्ञानी अनुभव करता है अर्थात् ज्ञानी भक्तके लिये परमात्माही सम्राट्, राजा, सरदार, शासक, शिक्षक, गुरु, माता, पिता, मित्र, भाई आदि रूप हो जाता है।

एकके अनेक नाम

एक ही मनुष्यको उसका पुत्र पिता कहता है, स्त्री पति कहती है, उसका भाई उसको बंधु कहता है, इस प्रकार विविध संबंधी उस एकही पुरुषको विविध संबंधोंके अनुभव होनेके कारण विविध नामोंसे पुकारते हैं। इस रीतिसे एक मनुष्यको विविध नाम मिलने पर भी उसके एकत्वमें कोई भेद नहीं आता है।

इसी ढंगसे परमात्मा एक होनेपर भी उसके अनंत गुणोंके कारण और उसके ही अनंत गुण सृष्टीके अनंत पदार्थोंमें आनेके कारण उसको अनंत नाम दिये जाते हैं। जैसा अग्निमें उष्णता गुण है वह परमात्मा से प्राप्त हुआ है, इसलिये अग्निका अग्नि नाम वास्तविक गुणकी सत्ताकी दृष्टिसे परमात्माका ही नाम है, क्योंकि वह अग्निकाही अग्नि है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके नामोंके विषयमें जानना योग्य है।

शरीरमें भी देखिये-आंख नाक कान आदि इंद्रियां स्वयं अपने अपने कर्म नहीं कर सकतीं, परंतु आत्माकी शक्तिको अपने अंदर लेकर ही अपने कर्म करनेमें समर्थ होती हैं। इसलिये सब इंद्रियोंके नाम आत्मामें सार्थ होते हैं, अतः आत्माको आंखका आंख, कानका कान कहते हैं। इसी प्रकार परमात्मा सूर्यका सूर्य, विद्युतका विद्युत है। देवोंके नाम धारण करनेवाला परमात्मा है ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है, वह इस प्रकार सत्य है।

वह एकही है।

परमात्मा एक ही है, यह बात इस तृतीय मंत्रमें 'एक एव' (यह एक ही है) इन शब्दों द्वारा जोरसे कही है। किसीको परमात्माके अस्तित्वके विषयमें यत्किंचित् भी शंका न हो, इसलिये 'एव' पदकी योजना यहां की है। भक्त को भी ईश्वरके एकत्वका अनुभव होता है, क्योंकि 'विभक्तोंमें अविभक्त' आदि अनुभव उसको होता है, इत्यादि विषय इससे पूर्व बताया ही है॥

ज्ञानी भक्तका विशेष अनुभव यह है कि, वह परमात्मा "सं-प्रश्न" है अर्थात् प्रश्न पूछने योग्य और उससे उत्तर लेने योग्य है। भक्तिसे जब भक्त उसे प्रश्न पूछता है, तब वह उसका उत्तर साक्षात्कार से देता है। कठिन प्रसंगोंमें उसकी सहायता की याचना की, और एकान्त में अनन्य शरण वृत्ति से उसकी प्रार्थना की, तो वह प्रार्थना निःसंदेह सुनता है, और भक्तके कष्ट दूर करता है। अन्य मित्र सहायतार्थ समयपर आसकेंगे या नहीं इसका नियम नहीं, परंतु यह परमात्मा ऐसा मित्र है, कि वह अनन्य भावसे शरण जानेपर सदा सहायतार्थ सिद्ध रहता है और कभी ऐसा नहीं होता कि, वह शरणगत की सहायता न करे। इसलिये सहायतार्थ यदि किसीसे पूछना हो, तो अन्य मित्रोंकी प्रार्थना करनेकी अपेक्षा इसकी ही प्रार्थना करना योग्य है; क्योंकि हर समय यह सुननेके लिये तैयार है और इसका उदार दयामय हस्त सदा हम सबपर है।

यह सबका (धास्युः) धारण पोषण करनेवाला है और (भुवने-स्थाः) संपूर्ण स्थिरचर जगत्में ठहरा है अर्थात् हरएक पदार्थमें व्याप्त है। कोई स्थान उससे खाली नहीं है । वक्तामें जैसा वक्तृत्व है, उस प्रकार जगत्में यह है, सचमुच यह अग्नि ही है। (मंत्र ४) इसी प्रकार पाठक कह सकते हैं कि, यह सूर्य है और यही विद्युत् है, क्योंकि पदार्थ मात्रकी सत्ता ही यह है; फिर अग्नि वायु रवि यह है यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है ? परन्तु यहां सबकी सुबोधताके लिये ऐसा कहा है। मनुष्यका शब्द आत्मशक्तिसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार सूर्य भी परमात्माकी शक्तिसे ही प्रकाशता है।

देवोंका अमृतपान।

इस सूक्तके पांचवें मंत्रमें कहा है, कि उस परमात्मामें देव अमृतपान करते हैं—

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५॥

"उस परमात्मामें देव अमृतपान करते हुए समान अर्थात् एकही आश्रयमें पहुंचते हैं।"

अर्थात् सब देव उसमें समान अधिकार से, समान रूपसे अथवा अपनी विभिन्नताको छोडकर एक रूप बनकर उसमें लीन होते हैं और वहां का अनुपमेय अमृत पीते हैं।

मुक्ति, समाधि और सुषुप्ति में यह बात अनुभवमें आती है मुक्ति और समाधि तो हरएक के अनुभवमें नहीं है,परंतु सुषुप्ति हरएक के अनुभवमें है। इस अवस्थामें सब जीव ब्रह्मरूप होते हैं। इस समय मानवी शरीरमें रहनेवाले देव- अर्थात् सब इन्द्रियां-अपना भेदभाव छोडकर एक आदि कारणमें लीन होती हैं और वहां आत्मामें गोता लगाकर अमृतानुभव करती हैं। इस अमृतपानसे उनकी सब थकावट दूर होती है और जब सुषुप्ति से हटकर ये इंद्रियां जाग्रतावस्थामें पुनः लौट आती हैं, तब पुनः तेजस्वी बनती हैं। यदि चार आठ दिन सुषुप्ति न मिली, तो मनुष्य-शरीर निवासी एक भी देव अपना कार्य करनेके लिये योग्य नहीं रहेगा। बीमारी में भी जबतक सुषुप्ति प्रतिदिन आती रहती है, तबतक बीमार की अवस्था चिंताजनक समझी नहीं जाती। परंतु यदि चार पांच दिन निद्रा बंद हुई तो वैद्यभी कहते हैं कि, यह रोगी आसाध्य हुआ है। इतना महत्त्व तमोगुणमय सुषुप्ति अवस्थामें प्राप्त होनेवाली ब्रह्मरूपताका और उसमें प्राप्त होनेवाले अमृतपानका है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि समाधि और मुक्ति में मिलनेवाले अमृतपानसे कितना लाभ और कितना आनंद होता होगा।

यजुर्वेदमें यही मंत्र थोडे पाठ भेदसे आगया है वह भी यहां देखने योग्य है-

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ वा. यजु. ३२।१०॥

"वहां देव अमृत का भोग करते हुए तीसरे धाम में पहुंचते हैं।" पूर्वोक्त मंत्र में जहां 'समाने योनौ' शब्द हैं वहां इस मंत्रमें "तृतीये धामन्" शब्द हैं। समान योनी का ही अर्थ तृतीय धाम है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति यदि ये तीन अवस्थाएं मान लीं जांय,तो तीसरी अवस्था सुषुप्ति ही आती है जिसमें सब देव अपना भेद भाव छोडकर एक रूप होकर ब्रह्मरूप बनकर अमृत-पान करते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये प्रकृतिके रूप यहां लिये, जांय, तो सब इन्द्र चन्द्र सूर्यादि देव अपनी भिन्नता त्यागकर उस ब्रह्ममें लीन होकर अमृत रूप होते हैं। ज्ञानी भक्त महात्मा साधुसंत ये लोग अपने समान भावसे मुक्त अवस्थामें लीन होते हुए अमृत भोगके महानंदको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हरएक स्थानमें इसका अर्थ देखना चाहिये। [पाठक इस सूक्तका मनन कां० १। सू० १३ और २० इन दो सूक्तोंके साथ करें]

यहां इस प्रथम सूक्तका विचार समाप्त होता है। यदि पाठक इस सूक्तके एक एक मंत्रका तथा मंत्रके एक एक भागका विचार करेंगे, और उसपर अधिक मनन करेंगे, तो उनके मनमें गूढविद्याकी बातें स्वयं स्फुरित होंगी। इस सूक्तमें शब्द चुन चुनके रखे हैं,और हरएक शब्द विशेष भाव बता रहा है। विशेष विचार करनेकी सुगमता के लिये ऋग्वेद और यजुर्वेद के पाठ भी यहां दिये हैं इससे पाठक इसका अधिक मनन कर सकते हैं। वेदकी यह विशेष विद्या है, इसलिये पाठक इस सूक्तके मननसे जितना अधिक लाभ उठावेंगे उतना अधिक अच्छा है।

एक पूजनीय ईश्वर ।

(२)

[ऋषिः-मातृनामा । देवता-गंधर्वाप्सरसः]

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥
दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥
अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः दिव्यः गन्धर्वः) जो दिव्य पृथिव्यादिका धारक देव (भुवनस्य एक एव पतिः) भुवनोंका एक ही स्वामी (विक्षु नमस्यः ईड्यः च) जगत्में यही एक नमस्कार करने और स्तुति करने योग्य है। हे (दिव्य देव) दिव्य अद्भुत ईश्वर ! (तं त्वा) उस तुझसे (ब्रह्मणा यौमि) उपासनाद्वारा मिलता हूं। (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार हो। (ते सध-स्थं दिवि) तेरा स्थान द्युलोकमें है ॥ १ ॥

(भुवनस्य एकः एव पतिः) भुवनोंका एकही स्वामी यह (गन्धर्वः) भूमि आदियोंका धारण कर्ता (नमस्यः सुशेवाः) नमन करने और सेवा करने योग्य है, वही (मृडात्) सबको आनंद देवे । यही दिव्य देव (दिवि स्पृष्टः) द्युलोकमें प्राप्त होता है, (यजतः) पूज्य है और (सूर्य-त्वक्) सूर्य ही जिसकी त्वचा है अर्थात् सूर्यके अंदर भी व्यापनेवाला, तथा (दैव्यस्य हरसः) दैवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है। इसीलिए सबको वह पूजनीय है ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथ्वी सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि संपूर्ण जगत् का धारण करनेवाला और संपूर्ण जगत् का एकही अद्वितीय स्वामी, परमेश्वर ही है और वही सब लोगोंको पूजा और उपासना करने योग्य है । स्तुति प्रार्थना उपासनासे अर्थात् भक्तिसे उसकी प्राप्ति होती है। यह ईश्वर अपने स्वर्गधाममें है, उसीको सब लोग नमस्कार करें ॥ १ ॥

संपूर्ण जगत् का एक स्वामी और सब जगत् का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, उसी की भक्ति और सेवा सबको करना चाहिए, क्योंकि वही सबको सच्चा आनंद देनेवाला है। यही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है। सबसे अत्यन्त पूजनीय ऐसा यही एक देव है, यह सबमें रहता है, यहां तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब साधारण और असाधारण आपत्तियां हट जाती हैं ॥ २ ॥

गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः ॥ [मंत्र ५]

गंधर्वकी पत्नी ही अप्सराएं हैं। गंधर्व एक है परंतु उसकी अप्सराएं अनेक हैं। (अप्+सरस्) अर्थात् (अप्) जलके आश्रयसे (सरस्) चलनेवाली, यह नाम जलाश्रित प्राणका वाचक है। ' आपोमयः प्राणः ' —जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिए " अप्सराः " शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उच्छ्वास अर्थात् प्राण आयुष्यरूपी वस्त्रके ताने और बानके धागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्यत्र वर्णन है—

यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ।

ऋग्वेद ७।३३।९

" (अप्सरसः वसिष्ठाः) जलाश्रित प्राण (यमेन ततं) यमने फैलाई हुई (परिधिं) तानेकी मर्यादा तक (वयन्तः) आयुष्यरूपी कपडा बुनते हैं।

' यम ' = आयुष्यका ताना फैलानेवाला जुलाहा।
' ताना ' = आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा।
' प्राण ' = कपडा बुननेवाले जुलाहे।
' कपडा ' = आयुष्य।

' मनुष्य का आयुष्य एक कपडा है जो मनुष्य देहरूपी खड्डीपर बुना जाता है, यहां बुननेवाले प्राण हैं। यहा ' अप्सरस् ' शब्द और ' वसिष्ठ ' ये दो शब्द प्राणवाचक आये हैं। (अप्सरस्) जलाश्रयसे रहनेवाले (वसिष्ठ) निवासके हेतु प्राण हैं।

इससे भी अनुमान हो सकता है, कि जलतत्वके आधार से रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी धर्मपत्नी रूप है ऐसा यहां कहा है, वह प्राणशक्ति, जीवन की कला ही निःसंदेह है। गंधर्व यदि आत्मा है तो उसकी धर्मपत्नी अप्सरा निःसंशय प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है। आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहाके ' गंधर्व और अप्सराः ' के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं। शरीर में छोटा प्राण और जगत में विश्वव्यापक प्राण है, इस कारण गंधर्वका अर्थ आत्मा परमात्मा माननेपर दोनों स्थानोंमें अर्थकी संगति हो सकती है।

महान् गंधर्व।

इस सूक्तमें पहिले दो मंत्र बडे महान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखने से निश्चय होता है कि, यहा गंधर्व शब्द परमात्माका वाचक है। देखिये—

१ भुवनस्य एक एव पतिः—भुवनोंका एकही स्वामी। इसके सिवाय और कोई भी जगत् का पति नहीं है। यही परमेश्वर सबका एक प्रभु है। (मं० १,२)

२ एक एव नमस्यः— यही एक आदरणीय परमात्मा सब को नमस्कार करने योग्य है। इसके स्थानपर किसी भी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये। (मं० १,२)

३ दिव्यः गंधर्वः—यही अद्भुत है, दिव्य पदार्थ है, यहां मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यही (गां) भूमि से लेकर संपूर्ण जगत् का सच्चा (धर्वः) धारक पोषक है। (मं० १)

४ विक्षु ईड्यः-सब जगत् में यही प्रशंसाके योग्य है।

५ दिवि ते सधस्थं—स्वर्गधाम में, गुह्यधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है (मं. १)। [इस विषयमें प्रथम सूक्तके मंत्र १,२ देखें, जिसमें इसके गुहामें निवास होनेका वर्णन है।]

६ दिवि स्पृष्टः—इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुह्य स्थानमें ही होती है। यह भी पूर्वोक्त शब्दोंका ही स्पष्टीकरण है। (मं० २)

७ सूर्यत्वक्--महान् सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उस में भी है इतनाही नहीं, परंतु उसका बडा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है (मं. २)। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिए। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ विश्वा-वसुः (गंधर्वः)-विश्वका यही निवासक है। (मं. ४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहाका यह गंधर्वका वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है। किसीभी अन्य पदार्थ में ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते। इसलिए पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देव की भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिए पूजनीय देव है।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी ' ब्राह्म उपासना ' करनेका विधान बडा महत्त्वपूर्ण है।

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा। (मं० १)
२ नमस्यः। (मं० १,२) नमस्ते अस्तु। (मं० १)
३ विक्षु ईड्यः। (मं० १)
४ सुशेवाः। (मं० २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करनेके मार्ग की सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासना का अर्थ ' ब्रह्मयज्ञ ' अथवा मन द्वारा करने की ' मानस उपासना ' ही है। आत्मा बुद्धि चित्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन शक्तियोंका नामही शरीरमें ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्र भी है और मंत्रका आशय ' मनन ' है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीतिसे यह नहीं होती है, यह स्पष्टतया बतानेके लिए यहां ' ब्रह्मणा ' शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्रभागोंका अर्थ ऐसा होता है—

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा—उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूं। (मनन)
२ नमस्यः [नमस्ते] —तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। (नमन)
३ विक्षु ईड्यः—सब जगत्में तू ही प्रशंसा करनेके लिए योग्य है। (सर्वत्र दर्शन)
४ सु—शेवाः—तूही उत्तम सेवाके लिए योग्य है। (सेवन)

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजाकी विधि ज्ञात हो जाती है (१) प्रभुके गुणोंका मनसे मनन करना, (२) उसी को मनसे नमन करना, (३) प्रत्येक पदार्थ में तथा प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना और (४) सब कर्म उसकी सेवा करने के लिए करना, ये चार भाग उस प्रभुकी उपासना के हैं। इन चार भागोंमें से जितने भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उतनी उपासना उतनेही प्रमाण से हुई है, ऐसा मानना चाहिए। पाठक विचार करें और अपनी उपासनाकी परीक्षा इस कसौटीसे करें। हरएक मनुष्य अपने आपको परमात्माका उपासक मानताही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है, वह इस वैदिक मानस उपासना की उक्त कसौटीसे किस सीढीपर गिनी जा सकती है, वह भी देखना चाहिये। इस दृष्टीसे ये चार मंत्र भाग विशेषही महत्त्व रखते हैं।

' मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन ' ये चार नाम संक्षेप से मानस उपासना के चार अंगोंके दर्शक माने जा सकते हैं।

१ " मनन " से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है। इस दृष्टीसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

२ " नमन " जब मननसे उसका महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उस प्रभुके सामने लीन होता

है । मननके पश्चात् की यह स्वाभाविक ही अवस्था है ।

३ " दर्शन " मननसे ही उसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है । स्थिर चरमें एक रस व्यापक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी उच्च अवस्था है। जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है ।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं । इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवावस्था है ।

४ " सेवन " यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है । सेवन और 'भजन' ये दोनों शब्द समान अर्थके ही हैं- सेवन और भजन एकही अर्थ बताते हैं । प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना,-यही भक्ति या सेवा है ।

'दीनों का उद्धार ' करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं। इन कर्मों को परमात्मार्पण बुद्धिसे करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है।

नामस्मरण ।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा " हरि " (दुःखोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिए में भी दुःखितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करूंगा और दूसरों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा । ' राम ' (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इसलिये मैं भी दीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीडा दूर करनेके यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूंगा । ' नामस्मरण ' का यही उद्देश्य है । यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं, यह पाठक विचारसे जानें और परमेश्वरके इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें । अनेक ग्रंथ पढने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसीलिये वेदादि ग्रंथोंमें परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बडे मार्गदर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये ।

अस्तु । ईश्वर उपासना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें । यही सीधा, सरल और अतिसुगम मार्ग है।

ब्राह्म उपासना का फल ।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं-

१ तं त्वा यौमि-परमेश्वरके साथ मिलना, ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त करना। (मं० १)

२ दैव्यस्य हरसः अवयाता-परमात्मा सब महापीडाओंको दूर करनेवाला है, इसलिये सब पीडा उसकी प्राप्ति से दूर हो जाती है । (मं. २)

३ मृडात्-वह आनंद देता है । (मं. २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्ति ही है । वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृढता और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है । यह फल प्राप्त करनेकाही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । इसके पश्चात् के तीन मंत्रोंका वर्णन ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये उस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्में देखना चाहिये-

अपने अंदरकी जीवन शक्ति ।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतत्त्वके आश्रयसे कार्य करनेवाली प्राणशक्ति या जीवनशक्ति ही ' अप्सराः ' शब्दसे इस सूक्तमें कही है, देखिये इसका वर्णन-

१ क्रन्दाः-पुकारनेवाली, बुलानेवाली, प्रेरणा देनेवाली। प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंको प्रेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है।

२ तमिषी-चयः—(तामिषी) ग्लानी अथवा थकावटको (चयः) दूर करनेवाली, थकावट को हटानेवाली प्राणशक्ति है। जो उत्साह प्राणीमात्र में है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी उत्साह बढने और थकावट दूर होनेका अनुभव है।

३ अक्ष-कामाः- (अक्षि+कामाः) आंखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली। पाठक देखें कि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आखोंको तृप्त कर सकता है। मुर्दा देखकर किसी मनुष्य के आख तृप्त नहीं होते। इससे आखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है।

४ मनो-मुहः-मनको मोहित करनेवाली। इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं। पाठक इन शब्दोंके अर्थोंका अनुभव अपने अंदर करें। इनको (मंत्र ५में) ' गंधर्व-पत्नी अप्सराः ' कहा है। गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवात्मा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तिया अथवा प्राण शक्तियां हैं, प्राण जलतत्वके आश्रयसे रहता है, इसलियें जलाश्रित होनेके कारण (अप्+सरः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है। इन प्राणशक्तियों को नमन पंचम मंत्रमें किया है। प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राण-का महत्त्व जाना जाता है। पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है; इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है। जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राण-को नमन किया है।

प्राण का प्राण।

यहा प्रश्न होता है, कि क्या यह पत्नियें स्वतंत्र हैं या परतंत्र? ' पत्नी ' शब्द कहने मात्रसेही वह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढानेवाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपास्य दैवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं। वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है। इसलिये गंधर्व (आत्मा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) उसी नातेसे देखने चाहियें। जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, उसी प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) मत्र प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है। इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इसलिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्योंकि पति विरहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई नमस्कार नहीं करते। इसी प्रकार यहा बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती। इसलिये जो वर्णन, प्रशंसन या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परंतु प्राणके प्राणका— अर्थात् आत्माका- है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। इसी कारण यहाका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही उद्देश्यसे है, न कि केवल प्राणके लिये।

ऐसा क्यों कहा है?

इतने लंबे ढंगसे यह बात क्यों कही है? यहां वेदको यह बताना है, कि संपूर्ण स्थूल विश्वके जो रग, रूप, रस, आकार आदि हैं, वे सब आत्माकी शक्तिके कारण बने हैं, यदि जगत्से आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न जगत् रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी। जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित होजाती है, उसी प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, मुर्दा और तेजोहीन हो जाता है, देखने लायक नही रहता। इसी प्रकार जगत् भी आत्मासे रहित होनेपर निःसत्त्व होगा। इसलिये जगत् की ओर देखनेके समय आत्मदृष्टि रखनी चाहिए, न कि स्थूल दृष्टि। जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्री की ओर देखनेसे उसमें

पतिकी सत्ता देखनी होती है,पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाब का फूल,आमका वृक्ष,सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक " गंधर्व " सर्वत्र उपस्थित है और उसीके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वही सब के लिये (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है,यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसकी संगति लग जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होगा। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है-

विरोधालङ्कार।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ (मं. ४)

ताभ्यो गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नमः ॥ (मं. ५)

'इन गंधर्व पत्नी अप्सरा देवियोंको मैं नमस्कार करता हूं।' पहिले दो मंत्रोंमें 'एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है' ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए 'उसकी धर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है' यह विरोधालंकार है। पहिले कथन के बिलकुल विरुद्ध दूसरा कथन है। जो (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है। इस सूक्तमें विरोध भी समबल है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोवार कहा है, इतनाही नहीं परंतु-

एक एव नमस्यः। (मं० १,२)

'यही एक नमस्कार करने योग्य देव है।' ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आगया, उस समय उसी प्रकार दो मंत्रोंमें (मं. ४,५ में) उसकी पत्नियोंको ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिको नमन नहीं किया। यह साधारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखना चाहिए।

व्यवहारकी बात।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मा को नमस्कार करते है, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इंद्रियोंको करते हैं। आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं? विचार कीजिये, तो पता लग जायेगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिए नहीं है।

परंतु यदि 'आत्माके लिए नमन नहीं है,' ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको—मृत शरीरको—नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किस के लिए किया जाता है? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की हैं, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हरएक मनुष्य दूसरे को नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतन का संधि—प्राण।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इंद्रिया, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं,और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि श्वासोच्छ्वास की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धि कर्मोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती हैं, परंतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है। देखिये-

शरीर —— इंद्रिया —— 'प्राण' —— मनबुद्धि —— आत्मा

दृश्य ~×——o——×~ अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोडनेका बिंदु है। इसी लिए स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिए योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि यही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड चेतन, शक्ति पुरुष इनको जोड देता है। इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है। और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिए प्राणकाही आलंबन सबसे मुख्य माना गया है। क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इससे सूक्ष्मतत्त्वका अनुसंधान होता है।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं। यद्यपि नमन एकही है तथापि करनेवाले के अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओंके लिए होता है।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान।

इसमें एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ- एकभी न रहा, तो चेतन आत्मा की कल्पना होना-असंभव है; इसलिए चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिए स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है। अतः स्थूल के आलंबन से सूक्ष्मको कल्पना की जाती है और इसीलिए शरीरमें कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको (मंत्र ४, ५) में नमन करके शरीरके मुख्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है। यहा ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड शरीर को नमन नहीं किया; परंतु जडचेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलको पीछे रखकर जहां सूक्ष्मकी शक्तियां प्रारंभ होती हैं, वहा उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है। यहा बिलकुल स्थूल का आलंबन छोडनेका भी उपदेश मिलता है।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष।

इस विवरणसे पाठक समझही गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है। जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिए नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिए योग्य नहीं है; तथापि जगत् के स्थूल-सूर्य चंद्रादि पदार्थों-के प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके अद्भुत रचना चातुर्य का अनुमान होता है, इसलिए जगत्में— हरएक पदार्थमें— उसकी सत्ताका अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थ को देखकर प्रत्येक पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसको नमन करना चाहिए। तभी तो उसको नमन हो सकता है। सूर्यको देखकर उसके प्रकाश का तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिए। यही बात हरएक वस्तुके विषयमें हो सकती है। यही बात इसी सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है-

> अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या
> विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ॥ (मंत्र. ४)

' मेघोंकी विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके बसानेवाले सर्वधारक परमात्माको प्राप्त करती हैं।' इस मंत्रमें वही बात कही है कि विद्युत् की चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलकों को देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी सत्ताकी जागृति होनी चाहिये, उस परमात्माकी सामर्थ्य ध्यानमें आनी चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना चातुर्य मनमें खडा होना चाहिये। यही प्रभुको सर्वत्र उपस्थित समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है।

पाठक यहा देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें " वह प्रभु ही अकेला वंदनीय है " ऐसा कहा और नमन करनेके समय जगत्में कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मंत्र ४. ५ में) नमन किया, इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है। इस दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे पता लगता है कि यही सीधा मार्ग है। इसी उपासना मार्गसे-जाना हर एक के लिये सुगम है।

मेघोंमें चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकों के प्रकाशमें उस प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है । अब इसको जगत्में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये । इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बडे महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये-

प्राणोंका आना और जाना ।

समुद्र आसां स्थानं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ (मं. ३)

'समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कहा गया है, जहांसे बार बार इधर आती हैं और परे चली जाती हैं ।' इस मंत्रोंमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है । (आयन्ति, परायन्ति) इधर आती हैं और परे जाती हैं, प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक 'आना' और दूसरी 'जाना' है । श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं । प्राण अपान ये भी दो नाम हैं । एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है । ये दो गतियां सबको विदित हैं ।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगाता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है । वेदोंमें अन्यत्र कहा है कि-

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रीः नाऽहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥

अथर्व. ११।४ (६) २१

'यह (हं-सः) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पाव वहांसे हटायेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता । न दिन होगा और न रात्री होगी । (अथर्व० ११।४ (६) २१) 'प्राण अंदरसे बाहर जाने के समय अपना संबंध नहीं छोडता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणीकी मृत्यु होगी । यही बात इस सूक्त के तृतीय मंत्र में कही है । हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता; यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता । यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यहां देखना आवश्यक है । यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है । और प्राण की शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है ।

प्राणोंका पति ।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं । मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिल कर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं । प्राणको अप्सराः शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती हैं ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है । इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये--

अनवद्याभिः समु जग्म आभिः
अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत् ॥ (मं० ३)

'इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है ।'

यदि गंधर्व और अप्सराएं ये शब्द हटादिये और अपने निश्चित किये अर्थोंके अनुसार शब्द रखे, तो उक्त मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है– ' इन निर्दोष अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, संमिलित होता है और उन प्राणोंके अंदर भी यह सर्वधारक आत्मा रहता है । '

यह अर्थ अति सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्यों कि इस के हरएक बातका विशेष स्पष्टीकरण इससे पूर्व आचुका है । इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जायगे । सब प्राण आत्मासे शक्ति लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है । इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो असावहम् । यजु० अ० ४०।१७

' (सः) यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मैं हूं । ' अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं ।

ब्रह्माण्ड देह ।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें । परंतु यहां केवल अपने अंदर देखकर और अनुभव कर के ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है वही बडे ब्रह्मांड देहमें देखना है, अथवा विराट पुरुषमें कल्पना करना है । इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्मका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है । तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इसी ढंगसे ब्रह्मांड देहकी कल्पना करना चाहिये ।

जिस प्रकार प्राणीके देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देहमें विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है । इसी महाप्राण समुद्रसे हम थोडासा प्राणका अंश लेते हैं । इस प्रकार अन्यान्य शक्तिया भी ब्रह्माण्ड देहमें बडी विशाल रूपसे हैं । दोनों स्थानोंमें शक्तिया एकही प्रकारकी हैं, परंतु अल्पत्व और महत्त्व का भेद है । इसीलिये अपने अंदरकी व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती है ।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्व व्यापक सत्ता देख सकते हैं । वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है । वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है ।

इसकी प्राप्ती मानस उपासनासे करनी चाहिये । इसको सब स्थानमें उपस्थित मानकर, इसको नमन करना चाहिये । हरएक सृष्टिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें श्रद्धा बढती जाती है ।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है । यह कहां प्रकट होती है और कहां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना हो सकती है ।

यह जैसा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रखता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रखता है । प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बडोंमें भी वह बडा है, सूक्ष्मोंसे भी यह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसको जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये । इसके सामने सिर झुकाना चाहिये ।

सब जगत्में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिसे ही है । यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये ।

' मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन ' करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्यमें अपने आपको समर्पित करना चाहिये । ' सज्जन पालन, दुर्जन निर्दलन ' रूप परमात्माके कर्ममें पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही उसकी भक्ति करना है और यह करनेके लिये ' दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये । ' ईशप्राप्तिका यह सीधा उपाय इस सूक्त द्वारा प्रकाशित हुआ है । पाठक इसका अधिक विचार करें ।

—:०:—

आरोग्य-सूक्त ।

(३)

[ऋषिः-आङ्गिराः । देवता-भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः ।]

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् । तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥
आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते । तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥
नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अर्थ-(अदः यत्) वह जो (अवत्-कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् अधि अवधावति) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर दौडता है । (तत् ते) वह तेरे लिये ऐसा (भेषजं कृणोमि) औषध करता हूं (यथा सुभेषजं असखि) जिससे तेरा उत्तम औषध बन जावे ॥ १ ॥

हे (अंग अंग) प्रिय! (आत् कुवित्) अब बहुत प्रकारसे (या ते) जो तेरेसे उत्पन्न होनेवाले (शतं भिषजानि) सैकडों औषधें हैं, (तेषां) उनमेंसे (त्वं) (अनास्रावं) घावको हटानेवाला और (अ-रोगणं) रोगको दूर करनेवाला (उत्तमं असि) उत्तम औषध है ॥ २ ॥

(असु-राः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य (इदं महत् अरुस्-स्राणं) इस बडे व्रणको पकाकर भर देनेवाले औषधको (नीचैः खनन्ति) नीचेसे खोदते हैं । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् उ रोगं अनीनशत्) वह रोग का नाश करता है ॥ ३ ॥

(उपजीकाः) जलमें काम करनेवाले (समुद्रात् अधि) समुद्रसे (भेषजं उद्भरन्ति) औषध ऊपर निकालकर लाते हैं, (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् रोगं अशीशमत्) वह रोगका शमन करता है ॥ ४ ॥

(इदं अरुस्- स्राणं) यह फोडेको पकाकर भरनेवाला (महत्) बडा औषध (पृथिव्याः अधि उद्भृतं) भूमीके ऊपरसे निकालकर लाया है । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् ऊ) वह (रोगं अनीनशत्) रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उत्तम से उत्तम औषधी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकानेक औषधियां बनायी जाती हैं, परंतु घावको हटाने अर्थात् रक्तस्रावको ठीक करनेके काममें वह औषधि बहुत ही उपयोगी है ॥ २ ॥ प्राणको बचाने वाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे घावको ठीक करने का औषध बनाते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ जलमें काम करने वाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वह भी घावको ठीक कर देता है और रोगको शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ वह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोडेको ठीक करता है, घावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

अर्थ- (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और शांतिदायक हों। (इन्द्रस्य वज्र.) इन्द्रका शस्त्र (रक्षसः अपहन्तु) राक्षसोंका हनन करे। तथा (रक्षसां विसृष्टाः इषवः) राक्षसोंद्वारा छोडे हुए बाण हमसे (आरात् पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

जल और औषाधिया हमारे लिये आरोग्य देनेवाली हों। हमारे क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवें और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए शस्त्र हम सबसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका 'असु+र' शब्द 'प्राण रक्षक' वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का।

पर्वतके ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायी जाती हैं, और उन से सेकडों रोगोंपर दवाइयां बनायीं जाती हैं। इन औषधोंसे मनुष्योंके घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है। जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यानमें नहीं आया है।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्तका विशेष विचार करें। इस समय इस सूक्तमें सामान्य वर्णन ही हमें दिखाई देता है।

शस्त्रोंका उपयोग

क्षत्रियोंके शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरें अर्थात् आपसमें लडाई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपसमें एकता रखनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें 'हमारे शूर पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जांय' ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्त स्रावोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं। युद्ध करनेके समय जो एक दूसरेसे संघर्ष होता है और उसमें चोट आदि लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होनेसे जो व्रण आदि होते हैं, उनसे जैसा रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोडे उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी पीडा दूर करनेके लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तसे नहीं लगता है। इस लिये इस समय इस सूक्तका अधिक विचार करनेमें असमर्थ हैं।

—o—

जङ्गिड-मणि ।

(४)

[ऋषिः-अथर्वा । देवता-चन्द्रमाः, जङ्गिडः]

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥
जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः । अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा । विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ-(दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये तथा (बृहते रणाय) बडे आनंद के लिये (वि-स्कन्ध-दूषणं) शोषक रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिं) जंगिड मणिको (अ-रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं) न लडने वाले परंतु बलको बढानेवाले हम सब (बिभृमः) धारण करते हैं ॥ १ ॥

यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्योंसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भात्) जमुहाई बढानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करनेवाले शोषक रोगसे (अभि-शोचनात्) रोनेकी ओर प्रवृत्ति करनेवाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (नः परि पातु) हम सबका रक्षण करे ॥ २ ॥

(अयं) यह जंगिड मणि (विस्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाता है, (अयं) यह मणि (अत्रिणः बाधते) भक्षक भस्म रोगसे बचाता है । (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विश्व-भेषजः) सर्व औषधियोंका रस ही है, वह (नः अंहसः पातु) हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(देवैः दत्तेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए (मयोभुवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिसे (विष्कन्धं) शोषक रोगको और (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्ष में (सहामहे) दबा सकते हैं ॥४॥

भावार्थ— दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये और नीरोगताका बडा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इससे हमारी क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्यों कि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥ १ ॥

यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्योंसे युक्त है, परंतु विशेष कर जमुहाई बढानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरको सुखानेवाले, विना कारण आंखोंमें रोनेके आंसू लानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥ २ ॥

यह मणि शोषक रोगको दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर कृश होता रहता है; इस प्रकार के भस्म रोगसे भी बचाता है । इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इस लिये यह हमें पापवृत्तिसे बचावे ॥ ३ ॥

घोर पुरुषोंसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज भूत रोगजन्तुओंसे हमारा बचाव करे ॥४॥

शणश्च॑ मा जङ्गि॒डश्च॒ विष्क॑न्धाद॒भि र॑क्षताम्। अर॑ण्याद॒न्य आभृ॑तः कृ॒ष्या अ॒न्यो रसे॑भ्यः ॥५॥
कृ॒त्या॒दूषि॑र॒यं म॒णिरथो॑ अराति॒दूषि॑ः। अथो॒ सह॑स्वाञ्जङ्गि॒डः प्र ण॒ आयूं॑षि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ-(शणः च) सण और (जंगिडः च) जंगिड ये दोनों (विष्कंधात्) शोषक रोगसे (मा अभिरक्षताम्) मेरा बचाव करें। इन में से (अन्यः) एक (अरण्यात् आभृतः) वन से लाया है और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः रसेभ्यः) खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥ ५ ॥

[अयं मणिः] यह मणि [कृत्या-दूषिः] हिंसासे बचानेवाला है [अथो] और [अ-राति-दूषिः] शत्रुभूत-रोगों को दूर करनेवाला है [अथो] ऐसा यह [सहस्वान् जंगिडः] बलवान जंगिडमणि [नः आयूंषि तारिषत्] हमारे आयुष्योंको बढावे ॥ ६ ॥

भावार्थ- सण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें। इनमेंसे एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥

यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु रूपी रोगोंसे दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बढावे ॥६॥

सण और जंगिड।

इस सूक्तमें ' सण ' और ' जंगिड ' इन दो वस्तुओंका उल्लेख है (मं० ५)। शण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषामें भी इसका यही नाम है। सणके विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह वचन है-

१ तत्पुष्पं रक्तपित्ते हितं मलरोधकं च।
बीजं शोणितशुद्धिकरम् ॥ राजव. ३ प.

२ अम्लः कषायो मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृत्
वातकफघ्नश्च ॥ राजनिघंटु व. ४.

" (१) शणका फूल रक्तपित्त रोगमें हितकारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्तकी शुद्धि करनेवाला है। (२) शणके ये गुण हैं—खट्टा, कषाय रुचीवाला, मल-गर्भ—रक्तका स्राव करानेवाला, वमन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है। "

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें। यह सण (कृष्याः रसेभ्यः आभृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं. ५)। यह वर्णन सण कौन पदार्थ है, इसका निश्चय कराता है। सण करके जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा या रस्सी यहां अपेक्षित है। रस्सी, धागा, या कपडा हो, हमारे ख्यालमें यहां सणका धागा अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥ मंत्र ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है। इस सण का नाम ' त्वक्सार ' है, इसका अर्थ होता है (त्वक्+सार) त्वचामें जिसका सत रहता है; इसलिये इसकी त्वचाका धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें अथवा गलेमें यह धागा बांधा जाता है। व्यायाम करनेके समय जब पसीना जाता है, तब उस पसीनेसे उक्त सणके धागेके औषधिके रस शरीरपर लगते हैं और शरीर पर इष्ट प्रभाव करते हैं।

इस सणके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना उचित है। क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

' शण और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें ' यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि, शणके धागेमें जंगिडमणिको ग्रथित करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है। उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका धागा भी स्वयं गुणकारी है, और जंगिडमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनों इकठ्ठे हो गये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना संभव है। जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही यहां समझेंगे कि, सणके सूत्रमें जंगिड मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

जंगिड मणिके लाभ ।

१ दीर्घायुत्वं—आयुष्य दीर्घ होता है। (मं. १)
आयूंषि तारिषत्—आयुष्य बढाता है । (मं. ६)

२ महत् रणं (रमणीयं)—बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है। (मं. १)

३ अरिष्यन्तः—अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना । (मं. १)

४ दक्षमाणः— (दक्षं) बल बढाना, बलवान् होना । (मं. १)

५ विष्कंधदूषणः—शोषक रोगको दूर करना । जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)

६ सहस्रवीर्यः—इस मणिमें सहस्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)

७ विश्व-भेषजः—इसमें सब औषधियां हैं। (मं. ३)

८ मयोभूः—सुख देता है। (मं. ४)

९ कृत्यादूषिः—अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है। (मं. ६)

१० अराति-दूषिः—आरोग्यके शत्रुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है। (मं. ६)

११ सहस्वान्—बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाता है। (मं. ६)

इस जङ्गिड मणिसे निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख इस सूक्तमें है वह भी यहां इस स्थानपर देखने योग्य है—

१२ जम्भात् पातु—जमुहाई जिससे बढती है वह शरीरका दोष इससे दूर होता है। (मं. २)

१३ वि-शरात् पातु—जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है। (मं. २)

१४ वि-ष्कंधात् पातु—जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है। (मं. २)

१५ अभि-शोचनात्—जिससे रोनेकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है। (मं. २)

१६ अत्त्रिणः बाधते— (अद्-त्रिन्) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कृश होता रहता है, उस भस्म रोगकी निवृत्ति इससे होती है। (मं. ३)

१७ अंहसः पातु—पापवृत्तिसे बचाता है, अथवा हीन भावना मनसे हटाता है। (मं. ३)

१८ रक्षांसि सहामहे—रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंको रक्षस् (क्षरः) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है । इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है। (मं. ४)

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें हैं। यहां रक्षस् शब्दके विषयमें थोडासा कहना है : [पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित ' वेदमें रोग जन्तु शास्त्र ' नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिसूक्ष्म कृमि होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आंखसे दिखाई नहीं देते । ये रात्रीमें प्रबल होते हैं। इस वर्णन के पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाम राक्षस है । इसीको रक्षस् कहते हैं। क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है, फैलनेवाले रोगोंके रोगजंतुओंको यह मणि नाश करता है यह यहां भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उत्तम प्रकारका रोगकी छूतके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आ चुकी ही होगी।

यह जंगिड मणि किस वनस्पतिका बनाया जाता है। यह बडा प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चला। तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण वचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि वचाका होना बहुत संभवनीय है, देखिये वचाके गुण—

१ वचागुणाः— तीक्ष्णा कटुः उष्णा कफामग्रंथिशोफघ्नी
वातज्वरातिसारघ्नी वान्तिकृत् उन्मादभूतघ्नी च । राजनिघण्टु व. ६

२ वचायुष्या वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी ।

३ वचापर्यायाः ' मङ्गल्या । विजया । रक्षोघ्नी । भद्रा । '

' (१) वचाके गुण—तीक्ष्णता, कटुता, उष्णता से युक्त, कफ आम ग्रंथि और सूजन का नाश करनेवाली । वात ज्वर अतिसार का नाश करनेवाली । वमन करानेवाली । उन्माद और भूतरोग का नाश करनेवाली यह वचा है ।

(२) वचासे आयुष्य बढता है, वात-कफ-तृष्णाका नाश करती है । स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है ।

(३) वचाके पर्याय शब्दोंका अर्थ-(मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करने वाली, (रक्षोघ्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (भद्रा) कल्याण करनेवाली । '

यह वचाका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुण धर्मोंमें समानता है । पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, तो पता लग जायगा कि इनके गुणधर्म समान हैं । इस लिये हमारा विचार हुआ है, कि जंगिड मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये—

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	—[वचाके गुण]—	इस सूक्तके शब्द
१ आयुष्या	—	१ दीर्घायुत्वाय (मं. १) आयूंषि तारिषत् (मं. ६)
२ रक्षोघ्नी । भूतघ्नी	—	२ रक्षांसि सहामहे (मं. ४)
३ वातघ्नी, उन्मादघ्नी	—	३ जम्भात् पातु (मं. २) आभिशोचनात् पातु । (मं. २)
४ मंगल्या, भद्रा	—	४ अरिष्यन्तः (मं. २)
स्मृतिवर्धनी ।	—	दक्षमाणाः । सहस्रवीर्यः (मं. २)
५ विजया	—	५ अरातिदूषिः (मं. ६)
६ अतिसारघ्नी	—	६ विशरात् (वि-सारात्) पातु (मं. २)
७ शोफघ्नी, ज्वरघ्नी कफघ्नी, ग्रंथिघ्नी	—	७ विश्वभेषजः (मं. ३)

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोक्त वचाके गुणधर्म और जंगिडमणि के गुणधर्म प्रायः मिलते जुलते हैं । इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचा से ही बनाया जाता होगा । केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधिया नहीं वर्ती जातीं,अथवा नहीं वर्ती जानी चाहिये; यह हमें पूरा पता है,तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि लीजाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है ।

चरकादि ग्रंथोंमें जहा बडे बडे आयुष्य वर्धक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहा सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है । इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अयोग्य नहीं होगा । तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं । सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें ।

मणि धारण ।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंध विश्वासकी बात है, कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है ? क्या इससे तावीज, कवच, धागा, दोरा, आदिकी अंधविश्वास की बातें सिद्ध नहीं होंगी ? इस प्रकारकी शंकाएं यहां उपस्थित होना संभव है; इस लिये इस बातका यहां विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो ' जंगिडमणि ' का वर्णन है वह तावीज या धागा दोरा या जादूकी चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उत्पन्न होनेवाली औषधि वनस्पतियों-का वर्णन असंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है। ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है। इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है।

मणिपर संस्कार।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकडीसे यह बनता है तथा यह जिस धागेमें बांधाजाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है। विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है। इसके नतर—

अरण्यादन्य आभृतः।
कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥ (मंत्र. ५)

' एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है।' यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है। इसमें 'आ—भृतः' शब्द है,इसका धात्वर्थ ' (आ) चारों ओर से (भृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है,' ऐसा होता है। अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागेमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इसलिये जंगिड-मणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सशास्त्र विषय है इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है।

आजकल जो तावीज, कवच, धागा, दोरा, जादूका पदार्थ है वह केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिड मणि नहीं है। इस में औषधियोंका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है।

हमने यह बातें देखी हैं, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है। [इसी प्रकार हरीतकी (हिरड) की एक तीव्र जाती होती है, उस को हाथमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहां निर्दिष्ट करना योग्य है, कोल्हापुर रियासतके अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहां के श्री० नरेश के पास वनस्पतिके जडके मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस विषयका अनुभव हमने कई वार अपने ऊपर लिया है और अपने परिचितों पर भी लिया है। यह मणि किसी वनस्पतिकी जडका बनाया जाता है, परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरोंपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है। इसलिये यदि रस्सी और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जांय तो रोगोंका दूर होना शास्त्र दृष्टिसे सुसङ्गत प्रतीत होता है।

वचा के विषयमें हमने कई वैद्योंकी संमती ली है, उनका कहना है, कि वचाका मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण किया जाय तो वह स्पर्शजन्य रोग (छूत से फैलनेवाले रोग) की बाधा से दूर रख सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको उक्त रोग होनेकी संभावना कम है। इस बातका हमने कई वार प्रयोग भी किया है और लाभ ही प्रतीत हुआ है।

इसी प्रकार ग्रंथिक सन्निपात रोगके दिनोंमें ' इर्मासिया ' नामक वनस्पतिके बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई डाक्टर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है। परंतु मुंबईमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे।

इस थोडेसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिड मणिका धारण भी एक शास्त्रीय महत्त्वका विषय है और इसमें कोई अंधविश्वासकी बात नहीं है। अब विशेष खोज करनेवालोंका यह विषय है कि वे जंगिडमणिकी ठीक सिद्धता करने की रीतिकी

खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्राप्य करें । वैद्यशास्त्रोंके ग्रंथ देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है ।

खोजकी दिशा ।

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोडासा वर्णन करना अयोग्य न होगा । श्री० सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि काशी प्रांतमें जंगिड वृक्ष है इस वृक्षके विषयमें काशी प्रांतके लोग खोज करें और जो कुछ अनुभव हो वह प्रकाशित करें ।

वचा उग्रगंधी वनस्पति या चीज है । इसकी गंधसे अर्थात् उग्रवाससे जो इसके परमाणु हवामें फैल जाते हैं, वे रोग-जन्तुओंका नाश करते है, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं । यही कारण है कि वचा का शरीरपर धारण करनेसे छूत से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनकी बाधा नहीं होती है । प्रायः छूतसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं द्वारा फैलते हैं, वे रोगजंतु वचा की उग्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते हैं । ऐसे उग्रगंधी पदार्थ अजवायन, पूदीना, लसून, कपूर, पेपरमींट आदि अनेक हैं । आर्य वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको कृमिनाशक भी कहा है । यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनाशक वनस्पतिकी जड या काष्ठके मणिपर सुयोग्य उग्रगंधीवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जंगिडमणि अथवा तत्सदृश मणि अब भी प्राप्त होना संभवनीय है । इसलिये हम सुयोग्य वैद्योंको इस विषयकी खोज करनेके लिये सानुरोध प्रार्थना करते हैं ।

जंगिड मणिसे दीर्घ आयुष्य ।

प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही ' जंगिडमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात ' कही है । यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह बात यहां विचार करके देखनी आवश्यक है । इस विचार के लिये प्रथम आयुष्य की अल्पता क्यों होती है यह देखिये ।

रोग—आधि और व्याधि—यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है । जंगिडमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अथवा नाश करता है, इससे नीरोगता प्राप्त होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है ।

कई लोग समझते हैं, कि आयुष्यकी वृद्धि नहीं होती है ।-परंतु वेदमें सेकडों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है । यदि दीर्घायुष्य होता है वा नहीं, इस विषयमें हम आर्य वैद्यक की साक्षी देखेंगे तो हमें वह साक्षी अनुकूल ही होगी; क्यों कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्र-में कहे हैं । इसलिये आर्ष ग्रंथोंकी संमति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है । इसलिये जो सर्व साधारण जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

जंगिडमणि (Disinfectant) स्पर्शजन्य दोषको हटानेवाला होनेके कारण यदि वह शरीरपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें शंका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि नीरोगता की सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य ब्रह्मचर्यादि वैदिक उपायोंका अवलंबन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा । इसलिये पाठक इस बातका विशेष मनन करें ।

बडा रण ।

प्रथम मंत्रमें ' महते रणाय ' शब्द हैं । इसमें जो ' रण ' शब्द है उसका वास्तविक अर्थ रमणीयता शोभा इत्यादि होता है । यह अर्थ पूर्व स्थानमें दिया ही है । परंतु कईयोंके मतसे यहांके रण शब्दका अर्थ युद्ध है । इसलिये ' महत् रण ' शब्द का अर्थ ' बडा युद्ध ' है । यह अर्थ लेनेसे प्रथम मंत्रके इस भाग का अर्थ निम्नलिखित होता है ।

महते रणाय जङ्गिडं वयं बिभृमः ॥ (मं १)

' बडे युद्धके लिए हम जङ्गिड मणिका धारण करते हैं ।' अर्थात् बडे युद्धमें हमारा विजय हो इसलिये हम जङ्गिड मणिका धारण करते हैं । जङ्गिड मणिके धारण से हमारे शरीरमें ऐसा बल बढेगा, कि जिससे हम उस बडे युद्धमें विजयी बनेंगे । यह युद्ध कौनसा है ? यह युद्ध अपना जीवनका ही है । मनुष्यका जीवन एक बडा भारी युद्ध है ।

शताब्दीतक चलनेवाला यह युद्ध है। सौ वर्ष इस युद्धमें व्यतीत होंगे। इसलिये यह साधारण युद्ध नहीं है। शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विघ्न डालते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है। अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होना है। जङ्गिड मणिसे रोगनिवृत्तिद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतुसे यह मणि इस बडे युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कहा है वह योग्यही है।

बलवर्धन।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं। 'अ-रिष्यन्तः। दक्षमाणाः' इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ 'अहिंसित होते हुए,बलिष्ठ होनेवाले' यह है। रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न हों अर्थात् हम क्षीण दुःखी त्रस्त अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है। परंतु थोडासा विचार करने पर पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीण न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही जगत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना अशक्य है। विजय प्राप्त करने के लिये यह निषेधात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा। इस कार्य के लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिए। यह गुण (दक्षमाणाः) बलवान् इस शब्दद्वारा बताया है। इसका अर्थ बलवान होना है। पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि-

बल और विजय।

इस गुणकी बडी आवश्यकता है। रोग नहीं हुए, अशक्त न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तो भी कार्य नहीं चलेगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढानेका यत्न होना आवश्यक है। जितना बल बढेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है। पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्त्व पूर्ण संबंध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी गंभीरता अनुभव करें।

दूषण।

इस सूक्तमें 'दूषण, दूषि' इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है। देखिये-

विष्कन्ध दूषण -विष्कन्धको बिगाडनेवाला

कृत्या दूषि -कृत्याको दोष लगानेवाला

अराति दूषि -अराति को दोष लगानेवाला

पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो उनको इस शब्द प्रयोगमें यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि 'शत्रुमें दोष उत्पन्न करना' यहां सूचित किया है। कई कहते हैं कि शत्रुको मारो काटो या शत्रुका नाश करो। वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईवार किया है। परंतु यहां दूसरी बातका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है। शत्रुमें दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना। जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होना है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढानेसे शत्रुका बल घटता जाता है और अपना बल बढता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे थोडेसे प्रयत्नसे शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तिमें दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शत्रुओंकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढता जाता है।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखेंगे तो उनको राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बडे सिद्धांत का ज्ञान हो सकता है।

अत्रि ।

वेद मंत्रोंमें ' अत्रि ' शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थानपर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है । इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह होना संभव है, इसलिये इस विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है ।

' अद् ' (खाना) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ ' भक्षक ' है । दूसरा ' अत् ' (भ्रमण करना) इस धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है । पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है । यहां यह अत्रि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग अथवा भस्म रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है । दूसरा अत्रि शब्द ' भ्रमण करनेवाला ' यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है । मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड जानेसे पागल होजाता है, कारण के विना भी वह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह शब्द होसकता है । इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिडमणि मस्तिष्क बिगड जानेके रोगमें भी हितकारी होगा । परंतु पाठक यहां स्मरण रखें कि यह केवल व्युत्पत्तिकी बात है, इसलिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं होसकता, जबतक कि अनुभवसे जंगिड मणिका यह उपयोग सिद्ध न हो । तथापि यह अर्थ जंगिडमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इसलिये यहां दिया है। वचाके गुण-धर्मोंमें स्मृतिवर्धिनी और उन्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके साधक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है ।

इस प्रकार यह सूक्त महत्त्व पूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है । पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है ।
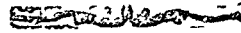
क्षत्रिय का धर्म ।

(५)

(ऋषिः - भृगुः आथर्वणः । देवता - इन्द्रः)

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥
इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥
इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥
आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वह) आगे बढ ! (हरिभ्यां आ याहि) घोडोंके साथ तू यहां आ । (चकानः) तृप्त होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिए (इह) यहां (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मधोः चारुः) निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस (पिब) पिओ ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नव्यः न) प्रशंसनीयके समान और (स्वः न) स्वर्गीय आनंद के समान (मधोः जठरं पृणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर दो । [अस्य सुतस्य] इस निचोडे रसकी (स्वः न) स्वर्गके आनंदके समान खुशी और (सुवाचः मदाः) उत्तम भाषणोंके साथ आनंद (त्वा उप अगुः) तेरे पास पहुंचते हैं ॥ २ ॥

(यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (यः तुराषाट् मित्रः इन्द्रः) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने [वृत्रं जघान] घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा [भृगुः न] भूननेवालेके समान जिसने [बलं बिभेद] शत्रुके बलका भेद किया था और (सोमस्य मदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रून् ससहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥३॥

हे [शक्र इन्द्र इन्द्र] शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः त्वा आ विशन्तु) निचोडे हुए ये रस तुझमें प्रविष्ट हों । (कुक्षी पृणस्व) दोनों कुक्षियोंको तू भर और [विड्ढि] शासन कर [धिया नः आ—इहि] अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ । हमारी (हवं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुषस्व) मेरा भाषण स्वीकार कर । और [इह] यहां [महे रणाय) बडे युद्ध के लिए (स्वयुग्भिः) अपनी योजनाओंके साथ (आ मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ । अपने उत्तम घोडोंसे युक्त रथमें बैठकर इधर उधर जा । और सदा संतुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढानेके लिये बुद्धि वर्धक मधुर रसका पान कर ॥ १ ॥

हे शूरवीर ! प्रशंसा के योग्य और हर्ष बढानेवाले मधुर रससे अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशंसाकी वाणी ही तेरे पास सब ओरसे पहुंचेगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे ॥ २ ॥

पुरुषार्थी, उद्यमी पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रवेगके साथ शत्रु पर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है । जिस प्रकार भूननेवाला मनुष्य धान्योंको भूनता है, उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रुकी सेनाको भून देता है और सोमरस का पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुका पराजय करता है ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ-(इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवोचं) इन्द्रके पराक्रम मैं अच्छी प्रकार वर्णन करता हूं। (यानि प्रथमानि) जो पहिले श्रेणीके पराक्रम [वज्री चकार] वज्रधारी इन्द्रने किए थे। उसने [अहिं अहन्] कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया, और [अपः अनुततर्द] प्रवाहोंको खुला किया और [पर्वतानां] पर्वतोंके (वक्षणाः प्र अभिनत्)भाग तोड भी दिए ॥५॥

(पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको (अहन्) वध किया। [अस्मै] इसके लिए (त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष) कारीगरने तेज शस्त्र बना दिया था। (वाश्राः धेनवः इव) रंभाती हुई गौवोंके समान (स्यन्दमानाः आपः) वेगसे बहनेवाले जलप्रवाह (अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः) सीधे समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥

(वृषायमाणः) बलवान् वीर [सोमं अवृणीत] सोम रसको प्राप्त हुआ। (सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्) रसका तीन उच्च स्थानोंमें पान किया। (मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त) इन्द्रने बाण रूप वज्र लिया और (अहीनां प्रथमजां एनं अहन्) शत्रुओंके पहिले इस वीरको मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे शक्तिमान् शूरवीर ! यह मधुर रस तुम्हें प्राप्त हों और उससे तू अपना अपना पेट भर दे। उस समय तू अपने मनसे सब जनता की भलाईका विचार कर और उन की पुकार श्रवण कर तथा बडे जीवनकलह में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी योग्य शक्तियोंके साथ आनंदसे तैयार रह ॥ ४ ॥

शूर पुरुषके पराक्रमों का मैं वर्णन करता हूं, जो कि उन्होंने किये थे। बढनेवाले शत्रुका उसने नाश किया और जलके प्रवाह सबके लिये खुले कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंको तोडकर जंगल भी साफ किया ॥ ५ ॥

पर्वतके भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उन्होंने वध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरों ने विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर दिये थे। जिस प्रकार गौवें रंभाती हुई अपने बछडेके पास जाती हैं उसी प्रकार उस वीरने खुले किये हुए जलके प्रवाह समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥

अपना बल बढानेवाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है। धनी शूरवीर अपने शस्त्र सदा तैयार रखता है और बढने वाले शत्रुके अग्रगामी वीरका शीघ्र नाश करता है [और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है।] ॥ ७ ॥

क्षात्रधर्म ।

प्रायः इन्द्र सूक्तोंमें क्षत्रियधर्म बताया होता है। इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका द्योतक है और उसका वर्णन शूरवीरके क्षात्रधर्मका प्रकाशक होता है। इस सूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं। इस सूक्तमें जिन शब्दों द्वारा शूरवीर का वर्णन होकर क्षात्र धर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये-

क्षत्रियके गुण ।

१ इन्द्रः (इन्-द्र) = शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु सैन्यका नाश करनेवाला। (मं. १)
२ शूरः = शूरवीर। (मं. १)
३ मन्दानः = तृप्त, संतुष्ट, तेजस्वी, प्रकाशमान। शत्रुका प्रतिकार करनेमें समर्थ। (मं० १)

४ मित्रः = जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । सूर्यवत्प्रकाशमान । (मं. ३)
५ यतीः = प्रयत्नशील, पुरुषार्थी । (मं. ३)
६ भृगुः = भूननेवाला, शत्रुको भूननेवाला । (मं. ३)
७ तुराषाट् = त्वरासे शत्रुपर हमला चढानेवाला । (मं. ३)
८ शक्रः = समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)
९ वज्री = वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । (मं. ५)
१० वृधासमाणः = अपना बल प्रतिदिन बढानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढानेवाला । (मं. ७)
११ मघवा (मघ-वान्) = धनवान् (मं. ७)

ये ग्यारह शब्द इस सूक्तमें शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं। इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है। क्षत्रियके पास शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण जैसे चाहियें उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगसे शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये। शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये, और इस सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये, इत्यादि क्षात्रधर्मका उपदेश हमें यहां प्राप्त होता है। पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करें। अब वाक्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये—

क्षत्रियके कर्तव्य।

१ शूर ! हरिभ्यां आयाहि = हे वीर ! घोडोंपर सवारी कर। घोडोंकी सवारी करनेका अभ्यास क्षत्रियको करना चाहिये। (मं. १)
२ प्र वह = आगे बढ। क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह शीघ्रतासे आगे बढ सके। चढाई में ढिलाई न रहे। (मं. २)
३ वृत्रं जघान = घेरनेवाले अथवा व्यूह बांधकर चढाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो। (मं. ३)
४ वलं बिभेद = शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे। (मं. ३)
५ शत्रून् ससहे—शत्रुका पराजय करे। शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं. ३)
६ विड्ढि (आ विड्ढि) = उत्तम राज्य शासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं० ४)
७ महते रणाय स्वयुग्भिः मत्स्व = बडे युद्धके लिए अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा आनंदसे तैयार रहे। शत्रु झगडा करता है, तो उसको अपनी योजना और युक्तियोंसे दूर करे। (मं० ४)
८ अहिं अहन् = शत्रुका नाश करे। (मं० ५)
९ पर्वतानां नक्षणाः अभिनत् = पर्वतों के उपरके घने जंगल तोड कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहांसे बढनेवाले नदी प्रवाह खुले करे। (मं० ५)
१० अपः अनु ततर्द = जलके प्रवाह शत्रुके अधिकार में हों तो उनको सबके लिए खुले करे। [मं० ५]
११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् = पहाडियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करे। [मं० ६]
१२ अस्मै त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष = इसके लिए लुहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे। अथवा राजा अपने कारीगरोंको शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार करके लें। [मं० ६]
१३ सायकं वज्रं आ अदत्त = बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे। [मं० ७]
१४ अहीनां प्रथमजां एनं अहन् = बढनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। [मं० ७]

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं। इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और थोडेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंको देखिए-

राज्य शासन ।

१ मित्रः-प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे। कभी शत्रु बनकर राज्य न करे। [मं० ३]

२ हवं श्रुधि, गिरः जुषस्व—पुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज श्रवण कर। प्रजाकी इच्छाका आदर कर। [मं० ४]

३ अपः अव्जः समुद्रं अवजग्मुः—समुद्रतक बहने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे। [मं० ६]

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिए जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिए—

प्रजासे सन्मान ।

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगुः—तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उस-की उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है। कृतज्ञतासे संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है। [मं० २]

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकता है। अन्यथा त्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्रोह करती रहेगी। इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है। यहां ऊपर जो वाक्य उद्धृत किए हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिए शब्दोंके अर्थोंका पुरुषव्यत्यय करके थोडासा परिवर्तन जानबूझ कर किया है। यह बात संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं जान सकते हैं। इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आव-श्यकही होता है। इसलिए इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्ति गत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिए इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं-

भोग ।

१ सुतस्य मधोः मदाय पिब--सोमादि वनस्पतिसे निचोडे मधुर रसका पान हर्षके लिए कर। [मं० १]

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यही मधुपर्क प्राशन है। वनस्पतिमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियों का ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें सोम का नाम है और वही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं-

२ सुतस्य मधोः जठरं पृणस्व। (मं० २)

३ सुतासः त्वा कुक्षीः आविशन्तु। [मं० ४]

४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रुकेषु अपिबत्। (मं० ७)

इन मंत्र भागोंका भी वही भाव है। [२] सोम रससे पेट भर दे। [३] सोम रस से दोनों कुक्षियां भर दे, [४] निचोडा सोम रस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन वार पिओ। यह सोम रस मधुर रुचिवाला, हर्ष और उन्माद वर्धक, थकावटको दूर करनेवाला, दीर्घ आयुष्य देनेवाला, बुद्धि बढानेवाला, और रोग बीजोंको शरीरसे हटाने वाला है!

सोम और मद्य

वेद प्रणालीके अनभिज्ञ लोग सोम को शराब मानते हैं, वे इतनी भूल करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता। सोम, सुरा, वारुणी, आसव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं है। मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक हो गये हैं और सुरा शब्द भी उनमें संमिलित हुआ है, यह बात हमें पता है। इसलिये हम कहते, हैं कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें-

१ सोम = सोम वल्लीका रस, जो दूध, मधु (शहद), मिश्री, भूने धान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओंको भी पिलाया जाता है। यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है। इसके गुण ऊपर दिए हैं।

२ सुरा = किसी रसकी भांप बना कर फिर उसको शीतता देकर रस बनाया जाय, तो उसका यह नाम है। (Distilled water) पानीकी भांप बनाकर फिर उस भांप का पानी बन जानेसे भी उस जलका वह नाम होता है, वृष्टिजल का भी यही नाम उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलकी भाप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है। किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है। यह शुद्धिकी रीति है। आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामयिक है॥ वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्तविधि से बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है।

३ वारुणी, अमरवारुणी = ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं। इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है। परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिए ये सब नाम बुरे अर्थोंमें आजकल प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन समयमें भी क्वचित् बुरे और क्वचित् अच्छे अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है।

४—५ आसव और अरिष्ट = ये नाम औषधि पेयोंके होते हैं। इनमें कुछ सडावट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होना अपरिहार्य है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति शतक दो भागके करीब होती है। इसलिए शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

अंग्रेज सरकारने इनकी जांच करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है। इसीलिए देशी वैद्य ये आसव तथा अरिष्ट तैयार कर सकते हैं, अन्यथा सरकारी प्रतिबंध उनके पीछे लग जाता।

६—७ मद्य और शराब मादक होनेसे निःसंदेह बुरे हानिकारक पेय हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन वार रस निचोडा जाता है और उसी समय आहुतियां देकर पीया जाता है। सवेरे, दोपहरको और सायंकालको, रस निचोडना और पीना होता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आचुका है। इसलिए जो लोक सोमरस को सुरा मानते हैं वे ही उक्त मत मद्यकी धुंदमें कहते हैं, ऐसा यदि किसीने कहा तो वह अशुद्ध न होगा।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कहा है, जो शाकाहारकी पुष्टि करनेवाली है।

जीवन संग्राम।

वेदमें " महते रणाय " ये शब्द वारंवार आते हैं। " बडा युद्ध " चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें बहनेवाले मनुष्य मात्रको मार्गदर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खडा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें संमिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पडता है, फिर वह भागकर कहां जाय? इस लिए उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिए और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसा वृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसकी उन्नति नहीं है। यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय की तो पूछना ही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है उसको युद्ध तो अनिवार्य है।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र धर्मका उपदेश करता है। पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम काण्डके २, १५, १९, २१, २८, २९, इन सूक्तोंको भी ध्यानमें रखें।

(यहां प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

ब्राह्मण धर्मका आदेश।

(६)

(ऋषिः-शौनकः सम्पत्कामः। देवता-अग्निः)

(२) समा॑स्त्वाग्न ऋ॒तवो॑ वर्धयन्तु संवत्स॒रा ऋष॑यो॒ यानि॑ स॒त्या।
सं दि॒व्येन॑ दीदिहि रोच॒नेन॒ विश्वा॒ आ भा॑हि प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ १ ॥
सं चे॒ध्यस्वा॑ग्ने॒ प्र च॑ वर्धये॒ममु॒च्च॑ तिष्ठ मह॒ते सौभ॑गाय।
मा ते॑ रिषन्नुपस॒त्तारो॑ अग्ने ब्र॒ह्माण॑स्ते य॒शसः॑ सन्तु॒ मान्ये ॥ २ ॥
त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः।
स॒प॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद्भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृ॒ह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष, (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (त्वा वर्धयन्तु) तुझे बढावें। (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (संदीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और [विश्वाः चतस्रः प्रदिशः] सब चारों दिशाओं में [आ भाहि] प्रकाशित हो ॥ १ ॥

हे अग्ने! (सं इध्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो [च इमं प्र वर्धय] और इसको बहुत बढाओ। (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह। हे अग्ने! (ते उपसत्तारः) तेरे उपासक [मा रिषन्] नष्ट न हों। और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों [मा अन्ये] दूसरे नहीं ॥ २ ॥

हे अग्ने! [इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते] ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं। हे अग्ने! (नः संवरणे शिवः भव) हमारे स्वीकारमें तू शुभ हो। हे अग्ने! [सपत्नहा अभिमातिजित भव] वैरियोंका नाश करनेवाला तथा अभिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा [अ—प्रयुच्छन्] भूल न करता हुआ (स्वे गये जागृहि) अपने घरमें जागता रह ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी ब्रह्म कुमार! महिने ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बढावें, इस प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तू सब दिशाओंमें अपना प्रकाश फैला दे ॥ १ ॥

तेजस्वी होकर तू इस सबको वृद्धिंगत कर और बडा सौभाग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी तैयारी करके उठकर खडा हो और तेरे कारण तेरे साथी दुर्दशाको कभी प्राप्त न हों, इतनाही नहीं परंतु तेरे सम्बन्धमें आनेवाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कभी न हो कि तेरे साथी तो दुर्दशामें जाय और तेरी गलतीसे दूसरे लोग उन्नति प्राप्त करें ॥ २ ॥

ये ज्ञानी लोग तेरा सन्मानसे स्वीकार करते हैं, इसलिये तू शुभ विचारवाला हो। तेरे जो भी वैरी हों और जो तेरे साथ स्पर्धा करनेवाले हों, उनको जीत कर तू आगे बढ और कभी भूल न करते हुए अपने स्थानमें जागता रह ॥ ३ ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥
अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (सं रभस्व) उत्तम प्रकारसे उत्साहित हो । हे अग्ने ! (मित्रेण मित्रधा यतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर । हे अग्ने ! (सजातानां मध्यमे-स्थाः) सजातीयोंकी मंडलीमें मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर [राज्ञां वि--हव्यः] क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर [इह दीदिहि] यहां प्रकाशित हो ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! [निहः अति] मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, [सृधः अति] हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ—चित्तीः अति) पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विषः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर । हे अग्ने ! (विश्वा दुरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर । (अथ त्वं) और तू [अस्मभ्यं] हम सबके लिए [सहवीरं रयिं दाः] वीर पुरुषोंके साथ रहनेवाला धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ-अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान सीधा व्यवहार कर, अपनी जातीमें प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पूछनेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्यता बढा और यहां तेजस्वी बन ॥ ४ ॥

मारपीट अथवा घातपातके भाव दूर कर, नाशक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापवासनाओं को अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावों-को समीप न कर, तात्पर्य सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ, और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा वीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

अग्निका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें 'अग्नि कौन है' इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहां अवश्य देखें। उस प्रकरणसे अग्निका स्वरूप स्पष्ट होगा तत्पश्चात् अग्निका वर्णन करते हुए इस सूक्तने जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये-

हे अग्ने ! त्वं सजातानां मध्यमेष्ठाः राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि ॥ (मं० ४)

'हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहां प्रकाशित हो ।'

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल आग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है। 'स्वजातिकी सभामें प्रमुख स्थान में बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्ठाः) ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके '(राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य ' ये शब्द उसका क्षत्रियजातिसे भिन्न जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे भिन्न, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियाँ हैं। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहां इसका संभव दीखता है, कि यहां जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा । अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है । यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्त के इस वाक्य द्वारा होगई है । इस प्रकार यहांका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि 'ब्राह्मण कुमार' का वाचक है । ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है । वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके

सूक्तोंद्वारा क्षत्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई वार देखी है, इसलिये अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है । अब अग्नि शब्दका यह भाव ध्यानमें धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये-

दीर्घ आयु ।

१ हे अग्ने! त्वां समाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु–हे ब्राह्मण कुमार ! हे बालक! महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करें अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यसे युक्त हो । योगादि साधनोंमे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पिछे दिन, मास के पीछे मास, ऋतु के पीछे ऋतु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढती रहे । (मं० १)

ज्ञान प्राप्ति ।

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु –ऋषिलोग विद्याके उपदेशसे तुझे बढावें । अर्थात् ऋषि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन । [मं. १]

सत्यनिष्ठा ।

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु–जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावें । अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो । सत्यपालनमें ही आत्मिक बल बढता है । (मं० १)

अपने तेजका वर्धन ।

दिव्येन रोचनेन संदीदिहि–दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो । पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और निरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञान का बल और (३) सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है । इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं० १)

तेजका प्रकार ।

५ विश्वाः चतस्रः प्रदिशः आभाहि– सब चारों दिशाएं प्रकाशित करो । उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको उक्त तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उक्त तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें । स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी सिद्धिके मार्ग दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढाओ । (मं० १)

३ स इध्यस्व, इम प्रवर्धय च—स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ । पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो। (मं० २)

ऐश्वर्य प्राप्ति ।

७ महते सौभगाय उत्तिष्ठ—बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह, अर्थात् बडा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिए आवश्यक पुरुषार्थ प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखो । [मं० २]

स्वपक्षीयोंकी उन्नति ।

८ ते उपसत्तारः मा रिषन्—तेरा आश्रय करनेवाले बुरी अवस्थामें न गिरें । तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो । तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गतिको न प्राप्त हों । [मं० २]

९ ते ब्रह्माणः यशसः सन्तु, अन्ये मा—तेरे साथ रहनेवाले ज्ञानी जन यशस्वी हों, अन्य न हों । अर्थात् तेरे साथ रहनेवाले लोग यशके भागी बनें, परंतु ऐसा कभी न हो कि तेरे साथ वाले लोग तेरी त्रुटीके कारण आपत्तिमें पडें, और तेरी

गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी ही सुख भोगे । तेरी गलतीका लाभ शत्रु न उठावें; अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपक्षियोंका यश बढाओ। [मं० ३]

१० इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते । नः संवरणे शिवः भव — ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिए कल्याणकारी हो । तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विश्वास पूर्वक तेरा ही स्वीकार करें । जनताका हितकारी होकर जनताका विश्वास संपादन कर। [मं० ३]

११ सपत्नहा अभिमातिजित् भव — प्रतिपक्षीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दो । [मं० ३]

अपने घरमें जागना ।

१२ अप्रयुच्छन् स्वे गये जागृहि — गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह । अपना घर " शरीर, घर, समाज, जाती, राष्ट्र " इतनी मर्यादा तक विस्तृत है । हर एक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है । घरका स्वामी जाग्रत न रहा तो शत्रु घरमें घुसेंगे और स्वामी को ही घरसे निकाल देंगे । इसलिए अपने घरकी रक्षा करने के उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा जागते रहना चाहिए । [मं० ३]

उत्साहसे पुरुषार्थ ।

१३ स्वेन क्षत्रेण संरभस्व — अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर । शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपनेमें बढाकर उस बलसे अपने पुरुषार्थका आरंभ कर । [मं० ४]

मित्रभाव ।

१४ मित्रेण मित्रधा वर्तस्व — मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर। मित्रके साथ कपट न कर । [मं० ४]

१५ सजातानां मध्यमेष्ठाः भव — स्वजातीयों के मध्यमें — अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर । अर्थात् स्वजातीमें तेरी योग्यता हीन समझी जावे । स्वजातीके लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें । [मं० ४]

१६ राज्ञां वि-हव्यः दीदिहि — क्षत्रियों अथवा राजाओंकी सभामें विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो। अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय भी तुझे आदरसे बुलावे, इतनी योग्यता प्राप्त कर। [मं० ४]

चित्तवृत्तियोंका सुधार ।

१७ निदः स्रुधः अचित्तीः द्विषः अति तर — झगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर । अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख । [मं० ५]

१८ विश्वा दुरिता तर —— सब पाप भावोंको दूर कर । पाप विचारोंसे अपने आपको दूर रख । [मं० ५]

१९ त्वं सहवीरं रयिं अस्मभ्यं दाः — तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे । अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर । हरएक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढावे, अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पास नहीं रहेगा ।

इस सूक्तमें उन्नीस वाक्य हैं। हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है । प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक थोडासा मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल ध्यानमें आजायगा । इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है ।

अन्योक्ति अलंकार ।

अग्निका वर्णन या अग्निकी प्रार्थना करनेके मिषसे ब्राह्मण कुमारकी उन्नतिके आदेश किस अपूर्व ढंगसे दिए हैं, यह वेदकी आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहां पाठक ध्यानसे देखें । यहां अन्योक्ति अलंकार है । अग्निके उद्देश्यसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिका उपदेश किया है ।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें। यदि इस सूक्तके अग्नि पदका अन्योक्ति द्वारा बोध होनेवाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता। और जो केवल आग के जलनेका भावही यहां समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

अरणियोंसे अग्नि।

दो अरणियों--लकडियों--के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं। अलंकारसे [अधर अरणि] नीचे वाली लकडी स्त्रीरूप और [उत्तर अरणि] ऊपरवाली लकडी पुरुषरूप मानी जाती है और उक्त अरणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है। इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है।
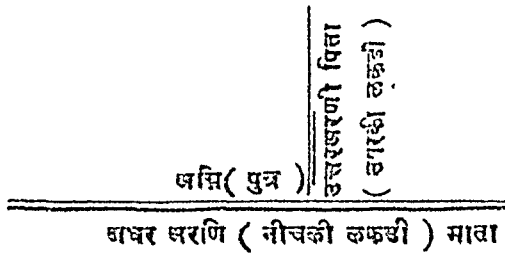
यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप माना जाय और उन सबको इस सूक्तने उन्नतिका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है। परंतु विशेष कर यहां का उपदेश ब्राह्मण कुमारके लिये है, इसके कारण पहिले बताये ही हैं। इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वें सूक्तका भी मनन कीजिये।

[सूचना-यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पांचों मंत्र १-३, ५,६ इस क्रमसे आगये हैं। कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेष भिन्नता नहीं है, इस लिए उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।]

---o---

शाप को लौटा देना ।

(७)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः)

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

अर्थ-(अघ-द्विष्टा) पाप का द्वेष करनेवाली, (देव-जाता) देवोंके द्वारा उत्पन्न हुई (शपथ-योपनी वीरुत्) शाप को दूर करनेवाली औषधि (सर्वान् शपथान्) सब शापोंको (मत्) मुझसे (अधि-प्र अनैक्षीत्) धो डालती है [आपः मलं इव] जल जैसा मलको धो डालता है ॥ १ ॥

[यः च सापत्नः शपथः] जो सपत्नोंका शाप, (यः च जाम्याः शपथः) और जो स्त्री का दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात्) और जो महाज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (तत् सर्वं नः अधस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥ २ ॥

[दिवः मूलं अवततं] द्युलोकसे मूल नीचे आया है और (पृथिव्याः अधि उत्ततं) पृथिवीसे ऊपर को फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) उस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥ ३ ॥

(मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, [मे प्रजां परि] मेरे संतानोंकी रक्षा कर, (नः यत् धनं परि पाहि) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । (अ-रातीः नः मा तारीत्) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढे और (अभिमातयः नः मा तारिषुः) दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रखें ॥ ४ ॥

भावार्थ-यह वनस्पति पापवृत्तिको हटाने वाली, दिव्य भावोंको बढानेवाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करनेवाली है, यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है ॥ १ ॥

सापत्न भाईयोंसे, बहिनोंसे, स्त्रीपुरुषोंसे अथवा विद्वान् मनुष्योंके क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥ २ ॥

इस वनस्पति का मूल तो द्युलोकसे यहां आया है जो पृथ्वीके ऊपर उगा है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥

मेरा, मेरी संतान का, तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो । हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढें और हम उनके पीछे न रहें ॥ ४ ॥

शुप्तार॑मेतु शुपथो यः सुहार्द॒स्तेन॑ नः सुह ।
चक्षु॑र्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि॑ शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(शपथः शप्तारं एतु) शाप शाप देनेवाले के पास ही वापस चलाजावे। (यः सुहार्द तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो। (चक्षुः-मंत्रस्य दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी (पृष्टीः अपि शृणीमसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- शाप देनेवाले के पास ही उसका शाप वापस चला जावे। जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो। जो आंखों से बुरे इशारे करके फिसाद मचानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शापका स्वरूप। शापको सब जानते ही हैं। गाली देना, आक्रोश करते हुये दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं। जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरुष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्वानान् मनुष्य भी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही है। यह सब क्रोधकी लीला है। यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आगया तो शाप देनेकी वृत्ति हट जायगी। इसलिये इस सूक्तमें 'सहस्र काण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय।

दूर्वाका उपयोग। सहस्रकाण्ड वनस्पति का प्रसिद्ध नाम 'दूर्वा' है। जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है। हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है। पित्तरोग, मूर्च्छारोग, मस्तिष्ककी अशांति, मस्तष्ककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है। इसके सेवनसे क्रोधकी उछल शांत होती है। इसका रस जीरा और मिश्रीके साथ पीया जाता है, चाहे गायके ताजे दूध के साथ पिया जाय। सिर संतप्त होनेके समय इसको पीसकर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें '(अघ-द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली' यह शब्द स्पष्ट बता रहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं। मन ही शांत हो जानेसे अन्य इंद्रिया भी उन्मत्त नहीं होती, यह तात्पर्य यहां लेना है। काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें। मन और इंद्रियोंके मलीन वृत्तिको यह दूर करती है। इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तैल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस अंदर पिया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है। इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रोंका यही आशय है। शाप देना, गाली देना, आदि जो वाचाकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो। यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शाप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे; यह आशय है पावके नीचे दोषोंके दबजानेका।

तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है, वह पूर्वोक्त प्रकार मनकी शांतिकी स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपनेसे आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना चाहिये।

मनोविकारोंसे हानि। काम क्रोधादि उच्छृंखल होनेवाली मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्त न हुईं तो वह असंख्य आपत्तियां लाती है और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती हैं। एक ही काम के कारण कितने परिवार उध्वस्त हो गये हैं, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं। तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने मनुष्योंका नाश हो चुका है, इस का पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी असंयमित वृत्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती

है। यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है। और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है। परंतु जो मनुष्य अशांत चञ्चल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियोंवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता हैं और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादियोंको मर्यादासे अधिक बहने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियोंको पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है। चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और खूब विचार करें।

शापको वापस करना। पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और येही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। संपूर्ण सूक्त में यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है। देखिये-

शपथः शप्तारं एतु ॥ (मं० ५)

'शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे!' गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे!! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है। मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत है मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं। 'ये कम्प जहां पहुंचने के लिए भेजे जाते हैं, वहां पहुचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उसी वेगसे भेजनेवाले के पास वापस आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं।' यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए। इसका विचार ऐसा है—

१ एक 'अ' मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव 'क' का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे 'क' मनुष्यके पास भेज दिये,

२ यदि 'क' भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर 'अ' को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर जाने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु-

३ यदि 'क' उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो 'अ' से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपोंको अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता; इसलिए आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले 'अ' के पास जाते हैं। और उसका मन उसी जातिका होनेके कारण वे वहां स्थान पाते हैं।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि,प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले'अ'का दुगणा नाश हो जाता है। पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है। एकही प्रकारके कुविचार दोबार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुगणा नाश हो जाता है। परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ,बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है। इसलिए इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपनी उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुगणी अवनति किस कारण होती है। इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको 'शाप वापस करनेकी विद्या' अवश्य जानना चाहिए। अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है। पाठक इसका खूब विचार करें और शाप वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाप गाली

अथवा बुरे विचार न भेजें। क्योंकि यदि वे कुविचार वापस आगये तो प्रतिपक्षीकी अपेक्षा ने अपना ही अधिक अहित करेंगे। पाठको! मनःशक्तिका यह नियम ठीक तरह ध्यानमें रखिये। यह नियम इस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित हो गया है। जो इसको ठीक तरह समझेंगे, वेही अपने कल्याणका साधन कर सकेंगे।

योग्य मित्र। मित्रता किससे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये—

'यः सुहार्त् तेन नः सह। (मं० ५)'

'जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो,' उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदय वालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत गंभीर और प्रसन्न रहता है और पूर्वोक्त प्रकार शाप वापस भेजने की शक्ति भी सत्संगतिसे ही प्राप्त होती है। इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो।

दुष्ट हृदय। जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत हानिया होती हैं। दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय बुरे शब्द बोलते है, शाप देते हैं, गालिया गलोज देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते है, हाथसे अथवा अंगविक्षेपसे बुरे भावके इशारे करते है, तथा (चक्षुः मंत्रः) आखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश्य बहुत बुरा होता है। ये आंखके इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते है, कि उनसे बडे भयानक परिणाम भी होजाते हैं। इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है। शापके वापस होनेसे जो परिणाम, होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दें। किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसकी सहायता न करें और हरएक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें। आखोंके इशारे भी बुरे भावसे कभी न करें। जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहें अच्छी संगतिमें ही रहें। इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये—

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि। (मं० ५)

" आंखसे बुरे इशारे करनेवालेकी पीठ तोड देते हैं। " अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसका पीछा करके उसको दूर भगा देना चाहिये,अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये,ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिए। यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें। बुरी संगतिमे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है। इस कारण कभी बुरी संगतिमें न फंसे परंतु भली संगतिमें ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार बुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे। ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गसे ऊपर ही जाता रहेगा।

सूक्तके दो विभाग। इस सूक्तके दो विभाग हैं। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षोभ रहित करनेकी सूचना दी है, यह बाह्य साधन है। दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है। जिसमें कुसंगतिमें न फंसने और सुसंगति धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए बुरे विचारोंको उसी क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। साराशसे इस उपदेशका स्वरूप यह है। यदि इस सूक्तके उपदेश मनन पूर्वक पाठक अपनायेंगे तो उनकी मनः शक्तिका सुधार होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है, पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके १०, ३१ और ३४ ये तीन सूक्त देखें।

क्षेत्रिय रोग दूर करना।

(८)

[ऋषिः-भृगुः आंगिरसः । देवता-यक्ष्मनाशनम्]

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥
अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः । वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः । वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः ।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ—(भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज बढानेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदगातां) उगी हैं । वे दोनों (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं च पाशं) वंशसे चले आनेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चताम्) खोल देवें ॥ १ ॥

(इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा [क्षेत्रियनाशनी वीरुत्] वंशसे चले आनेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी [क्षेत्रियं अप उच्छतु] आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २ ॥

(बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी [पलाल्या] रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमञ्जरीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥३॥

(ते लांगलेभ्यः नमः) तेरे हलोंके लिए सत्कार है, (ईषायुगेभ्यः नमः) हलकी लकडीके लिये सत्कार है ॥ ४ ॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चलाने वाले अक्षका सत्कार, (सन्देश्येभ्यः नमः) संदेश देनेवाले का सत्कार, (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो । (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे॥ ५ ॥

भावार्थ—दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां कान्तिको बढानेवाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं । वे चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥

रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥

भूरे और श्वेत रंगवाले जौ के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देती है॥३॥

हल और उसकी लकडियां जिससे भूमि ठीक की जाती है, उसके पूर्वोक्त वनस्पतियां तैयार होती है, इस लिए उनकी प्रशंसा करना योग्य है ॥ ४ ॥

जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जल देता है, अथवा जिस यंत्रसे पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका यह संदेश जानता तक पहुंचाता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है । यह वनस्पति आनुवंशिक रोगसे मनुष्यको बचावे ॥ ५ ॥

क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुसाध्य नहीं होता; इसलिए रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्तिका कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक ही होना चाहिए। जो नीरोग होंगे उनको ही संतानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगों की चिकित्सा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इसलिए यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

दो औषधियां ।

' भगवती और तारका ' ये दो औषधियां हैं जो शरीरकी कान्ति बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिए---

१ भगवती---इसको वैष्णवी, लघु शतावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुकान्ता कहा जाता है, तथा-

२ तारका---इस औषधिको देवताडवृक्ष, और इन्द्रवारुणी, कहा जाता है। इसका अर्थ यवक्षार और मोती भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी सिद्धि नहीं हो सकती और कोशों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्वका विषय है और ये किस वनस्पतिके वाचक नाम यहां हैं, इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्योंको करना चाहिए और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। " भगवती और तारके " ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहां द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि, इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती हैं और शरीरकी कान्ति उत्तम तेजस्वी करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जडसे उखाड देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। (मं० १)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रात्री जाने और दिन शुरू होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जडसे उखड जाता है॥ (मं० २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग दिनोंमें करने योग्य पथ्य भोजन का उपदेश किया है। जिस जौंके काण्ड भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौका पेय बनाना और उसमें तिलोंकी मंजरीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकार के जौका पेय उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रसंग मे विहित है। इस पथ्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है॥ (मंत्र ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पथ्य अन्नको उत्पन्न करनेवाले, किसान, इस खेतको योग्य समयमें पानी देनेवाले, इस खेतीके लिये हल चलानेवाले, हल के समान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पथ्यका संदेशा क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुचाने वालोंका सत्कार किया है। यदि इस पथ्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सचमुच दूर होते हों, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषही आदर करने योग्य हैं। (मं. ४-५)

ज्ञानी वैद्य इन औषधियोंका और इस पथ्यका निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अतएव असाध्य समझे हुए बीमारोंको रोग मुक्त करें।

सन्धिवातको दूर करना।

(९)

[ऋषिः-भृगुः अङ्गिराः । देवता-वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम् ।]

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥
आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् । अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥
अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् । शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥
देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः । चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (दश—वृक्ष) दस वृक्ष ! (रक्षसः ग्राह्याः) राक्षसी जकडनेवाली गठियारोग की पीडासे (इमं मुञ्च) इसे छुडादे, (या एनं पर्वसु जग्राह) जिस रोगने इसको जोडोंमें पकड रखा है । हे (वनस्पते) औषधि ! (एनं जीवानां लोकं उन्नय) इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर उठा ॥ १ ॥

(अयं) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित लोगों के समूहमें (अगात्, आगात्, उद्गात्) आया, आपहुंचा, उठकर आया है । अब यह (पुत्राणां पिता) पुत्रोंका पिता और (नृणां भगवत्तमः) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् (अभूत् उ) बना है ॥ २ ॥

(अयं) इसने (अधीतिः अध्यगात्) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किए हैं । और (जीवपुराः अधि अगन्) जीवोंकी संपूर्ण आवश्यकतायें भी प्राप्त की हैं । [हि] क्योंकि (अस्य शतं भिषजः) इसके सैकडों वैद्य हैं और (उत सहस्रं वीरुधः) हजारों औषध हैं ॥ ३ ॥

[देवाः ब्रह्माणः उत वीरुधः] देव ब्राह्मण और वनस्पतियां [ते चीतिं अविदन्] तेरे आदान संदान आदिको जानती हैं; [विश्वे देवाः] सब देव (भूम्यां अधि) पृथिवीके ऊपर (ते चीतिं अविदन्) तेरे आदान संदान को जानते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—दशवृक्ष नामक वनस्पति गठिया रोगको दूर करती है । यह गठिया रोग संधियोंको जकड रखता है जिससे मनुष्य चलफिर नहीं सकता । इसकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाय तो वह रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥ १ ॥

वह आरोग्य प्राप्त करके लोकसभाओंमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥ २ ॥

वह नीरोग बनकर सब प्राप्तव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, जीवोंकी जो जो आवश्यकताएं होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है । यह रोग कोई असाध्य नहीं है क्योंकि इसके चिकित्सक सैंकडों हैं और हजारों औषधियां भी हैं ॥ ३ ॥

इसकी अनेक औषधियां तो पृथ्वीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैसा करना यह सब दिव्यगुणधर्मोंसे युक्त ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण वैद्य जानते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

अर्थ- [यः चकार स निष्करत्] जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही (सु-भिषक्-तमः) सब से उत्तम वैद्य होता है। (स एव शुचिः) वही शुद्ध वैद्य (भिषजा) अन्य वैद्यसे विचारणा करके [ते भिषजानि कृणवत्] तेरे लिए औषधोंको करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ- जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इसको प्रवीणतासे निभा सकता है। वारंवार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणसा वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ धन्वन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ धन्वन्तरी अन्य वैद्योंकी सम्मतिसे रोगीकी चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥ ५ ॥

संधिवात।

वेदमें संधिवात रोगका नाम " ग्राही " है क्योंकि यह (पर्वसु जग्राह) पर्वोंमें किंवा संधिस्थानोंमें जकड कर रखता है, हिलने डुलने नहीं देता। संधियोंकी हलचल बंद होजाती है। " रक्षस् " अथवा पिशाच ये भी इसके नाम हैं। ये नाम रक्तके साथ इस रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रुधिरप्रिय अर्थात् जिनको रक्तके साथ प्रेम है, ऐसोंके वाचक हैं। इसलिये ' रक्षः ग्राही ' का अर्थ रक्तका बिगाड होनेवाला संधिवात है।

दशवृक्ष।

उक्त संधिवातकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। ' दशमूल ' नामसे वैद्य ग्रंथोंमें दश औषधियां प्रसिद्ध हैं। वातरोग नाशक होनेके विषयमें उनकी बडी प्रसिद्धि है। संभव है कि ये ही दशवृक्ष यहां अपेक्षित हों। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोगको दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ' मुञ्च ' क्रिया है, इस ' मुञ्च ' धातुसे एक ' मोच ' शब्द बनता है जो ' सोहिञ्जना ' या मुङ्गेका झाड अर्थात् शोभाञ्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्षभी वात दोष दूर करनेवाला है। इस वृक्षको लंबी सेंग आती है जो साग आदिमें उपयोगी होती है। इस सोहिञ्जना वृक्षकी अंतरत्वचा यदि जकडे हुए संधिपर बांधी जाय तो दोचार घंटोंके अंदर जकडे हुए संधि खुल जाते हैं, यह अनुभवकी बात है। अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनोंतक दूर नहीं होता वह इस अंतरत्वचासे कई घंटोंमें दूर होता है। रोगीको घण्टा दोघण्टे या चार घण्टेतक कष्ट सहन करने पडते हैं, क्योंकि यह अन्तरत्वचा जोडोंपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बडी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोचार घण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यहां मंत्रमें " मुञ्च " शब्द है और वृक्षका नाम संस्कृतमें ' मोच ' है, इसलिये यह बात यहां कही है। जो पाठक स्वयं वैद्य हों वे इस बातका अधिक विचार करें। हमने केवल दूसरोंपर अनुभवही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञात नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि ' इस वनस्पतिसे सन्धिवातसे जकडा हुआ रोगी नीरोगी लोगोंके समूहोंमें आता है और नीरोग लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है। (मं १)

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिसे मनुष्य नीरोग होकर लोक सभामें जाता है और घरके कार्य भी कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवी कर्तव्य करनेमें योग्य होता है। इन मंत्रोंकी भाषा देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है। जो अभी बिस्तरेपर जकडकर पडा है वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्यसमाजोंमें जाकर कार्य करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सूक्ष्म रीतिसे विचार करने पर ऐसा आशय प्रकट होता है, इस शीघ्रताके दर्शक शब्द प्रयोग द्वितीय मंत्रमें पाठक अवश्य देखें—

अयं जीवानां व्रातं अप्यगात् ।
आगात्, उदगात् ॥ (मं० २)

" यह जीवोंके समूहोंमें गया, पहुंचा, उठकर खडा होकर गया !! ' अपने पांवसे गया अर्थात् जो वहां बिस्तरेपर अकडा पडा था वही इतनी शीघ्रतासे मनुष्य समूहोंमें घूम रहा है !!! यह आश्चर्य व्यक्त करनेके लिये एकही आशयकी तीन क्रियाएं (आगात्, अप्यगात्, उदगात्) प्रयुक्त की हैं। इससे यह चिकित्सा शीघ्रगुणकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है।

इस चिकित्साकी औषधियें सहस्रों हैं और इसके चिकित्सक भी सैंकडों हैं (मं० ३) यह तृतीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुसाध्य चिकित्सा है। असाध्य नहीं है। ऊपर जो ' मोच ' वृक्षसे चिकित्सा बतायी है वह प्रायः यहांके ग्रामीण भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ घण्टोंमें आरोग्य होता है।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको लाना और उनका प्रयोग करना (विश्वेदेवाः देवाः ब्राह्मणाः) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं। अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं। इस में ' चीति ' शब्द (आदान संधान) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किंवा (आदान--संवरण) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुष्परिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं। (मं. ४)

उत्तम वैद्य।

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है वह बहुत मनन करने योग्य है।—

यः चकार, सः निष्करत्, स एव सुभिषक्तमः ॥ (मं० ५)

' जो करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है ॥ '

जो कार्य करता रहता है वही आगे जाकर उत्तम प्रवीण बनता है। इस प्रकार अनुभव लेनेवाला ही आगे उत्तमोत्तम वैद्य बन जाता है।

प्रवीणताकी प्राप्ति।

प्रवीणता की प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है। किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका उपाय यही है कि—

यः चकार, सः निष्करत्। (मं० ५)

' जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है। ' हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवइय्या बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दत्तचित्त होकर परिश्रम करते हैं वे कुशल चित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कारीगरोंमें प्रवीण बननेकी बात है। एकलव्य नामक एक भील जातिका कुमार था उसकी इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, कौरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन अविश्रांत रीतिसे अभ्यास करके स्वयंही अपने दृढ निश्चय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की। यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्धि हुई है। यह कथा महाभारतमें आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकते हैं। यहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है। बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्यही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अल्प अनुभवी वैद्य उतना श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें ' ब्राह्मणाः ' पद है। यह ब्राह्मणोंका वाचक है। इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यव-साय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है। वेदमें अन्यत्र ' विप्रः स उच्यते भिषक् (वा० यजु० अ० १२।८०) ' कहा है, इसमें भी ' वह विप्र वैद्य कहलाता है, ' यह भाव है। यहांके ' विप्र ' शब्दके साथ इस मंत्रके ' ब्राह्मणः ' शब्दकी संगति लगा-नेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यक्रिया संमिलित है। आंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध ही हैं। इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता।

यह सूक्त ' तक्म-नाशन-गण ' का सूक्त है। इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें।

दुर्गतिसे बचनेका उपाय।

(१०)

(ऋषिः - भृगुः अङ्गिराः। देवता-निर्ऋतिः, द्यावापृथिवी, नानादेवताः)

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥
शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चा०।० ॥ २ ॥
शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। एवाहं०।० ॥ ३ ॥
इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे। एवाहं०।० ॥ ४ ॥
तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः। एवाहं०।० ॥ ५ ॥

अर्थ— (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे, (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे, (जामि—शंसात्) संबंधियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे, (द्रुहः) द्रोहसे, (वरुणस्य पाशात् मुंचामि) वरुणके पाशसे छुडाता हूं। [त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि] तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूं, (उभे द्यावा—पृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

(ते अद्भिः सह अग्निः शं अस्तु) तेरे लिए सब जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी हो। तथा (ओषधीभिः सह सोमः शं) औषधियोंके साथ सोम तेरे लिए सुखदायी हो, (एव अहं त्वा क्षेत्रियात्...मुञ्चामि) इस प्रकार ही मैं तुझको क्षेत्रिय रोगसे........छुडाता हूं। ० ॥ २ ॥

(अंतरिक्षे वातः) अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वयः शं धात्) तेरेलिए बलयुक्त कल्याण देवे। तथा [चतस्रः प्रदिशः ते शं भवन्तु] चारों दिशायें तेरे लिए कल्याणकारी हों। (एव अहं०......) इस प्रकार मैं तुझको बचाता हूं। ० ॥ ३ ॥

(इमाः या देवीः चतस्रः प्रदिशः) ये दिव्य चारों उपदिशाएं जो (वात-पत्नीः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (सूर्यः अभिविचष्टे) जो सूर्य चारों ओर देखता है वह तुझको कल्याणकारी होवे (एव अहं ०......) इस रीतिसे मैं........बचाता हूं। ० ॥ ४ ॥

(तासु त्वा) उनमें तुझको (जरसि अन्तः आदधामि) मैं वृद्धावस्थाके अंदर धारण करता हूं। तेरे पास से (यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु) क्षयरोग तथा सब कष्ट नीचे मुह करके दूर चले जांय (एव अहं...) इस प्रकार मैं ......तुम्हें बचाता हूं। ० ॥ ५ ॥

भावार्थ— आनुवंशिक रोग, आपत्ति, कष्ट, फैलनेवाले रोग, द्रोहसे होनेवाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोडनेसे होनेवाले बंधन आदि सब दुर्गतियोंसे निर्दोष होकर पवित्र बननेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है ॥ १ ॥

इस ज्ञान से ही द्युलोक, अंतरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत संपूर्ण पदार्थ अर्थात् जल, अग्नि, औषधियां, सोम, वायु, सब दिशाओंमें रहने वाले सब पदार्थ, सूर्य आदि सब देव हितकारक और सुखवर्धक होते हैं, आरोग्य बढाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं ॥ २-४ ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः। एवाहं०।०॥ ६ ॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके। एवाहं०।० ॥ ७ ॥
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ-(यक्ष्मात्) क्षय रोगसे, (दुरितात्) पापसे, (अवद्यात्) निंदनीय कर्मसे, (द्रुहः पाशात्) द्रोहके बंधनसे (ग्राह्याः) जकडने वाले संधिरोगसे तू (अमुक्थाः) मुक्त हुआ है, (उद् अमुक्थाः) तू छूट चुका है। [एव अहं...] ऐसे ही मैं ......तुम्हें छुडाता हूं। ० ६ ॥

[अ-रातिं अहाः] कृपणताको तूने छोडा है, [स्योनं अविदः] सुखको तूने पाया है। (अपि सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः) और भी पुण्यकारक आनंददायी लोकमें तू आया है। [एव अहं.........] ऐसे ही मैं.........तुम्हें बचाता हूं। ० ॥ ७ ॥

(देवाः) देवोंने [तमसः ग्राह्याः] अंधकारकी पकडसे तथा [एनसः अधि मुञ्चन्तः] पापसे मुक्त करते हुए (ऋतं सूर्यं निः असृजन्) सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, (एव अहं...) इसी प्रकार मैं.........तुम्हें बचाता हूं ० ॥ ८ ॥

भावार्थ- इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें वृद्धावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाता हूं। इसी ज्ञानसे तेरे पाससे सब रोग दूर भाग जायगे ॥ ५ ॥

क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहके पाश, संधिवात आदि सब आपत्तियोंसे तू इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुडाता हूं ॥ ६ ॥

इस ज्ञानसे ही तू अपने अंदरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर। मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपत्तिसे बचाता हूं ॥ ७ ॥

जिस प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं अपना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घन अंधकारकी पकडको दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपने पाश दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना उद्धार करें क्योंकि यही एक उन्नतिका सबसे मुख्य साधन है ॥ ८ ॥

दुर्गतिका स्वरूप।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षेपसे परंतु विशेष जोर देकर कहा है। अनेक आपत्तियोंसे अपना बचाव करने और अपना अभ्युदय करनेका निश्चित उपाय थोडे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बडा महत्त्व पूर्ण सूक्त है। और यह हर एक को विशेष मनन करने योग्य है। इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये—

१ क्षेत्रिय.—मातापितासे प्राप्त होनेवाले रोग, अशक्तता, अवयवोंकी कमजोरी आदि आपत्तियाँ। ये जन्मसे ही खूनके साथ ही शरीरमें आती हैं। (मं ० १)

२ निर्ऋतिः—रुकावट, विनाश, अधोगति, आपसकी फूट, सत्यनियमोंका पालन न होना, दुरवस्था, विरुद्ध परिस्थिति, शाप, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति। (मं० १)

३ जामिशंसः—इसमें दो शब्द हैं, जामि×शंस। इनके अर्थ ये हैं ' जामि ' = वंश, नाता, संबंध। जल। अंगुली। सन्मान्य स्त्री। पुत्री, बहिन, बहु। ये जामि शब्दके अर्थ कोशोंमें दिए हैं। अब ' शंस ' शब्दके अर्थ देखिए प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सदिच्छा, शाप, कष्ट, आपत्ति, कलंक, लांछन, अपकीर्ति, इन दोनों अर्थोंका मेल करनेसे 'जामिशंस'का अर्थ निम्न लिखित

प्रकार बन सकता है 'नातेके कारण आनेवाली आपत्ति या दुष्कीर्ति, स्त्री विषयसे होनेवाला लांछन या कलंक' इत्यादि। इसी प्रकार अन्यान्य अर्थ भी पाठक विचार करके देख सकते हैं परंतु अर्थोंमें आपत्ति या कष्ट का संबंध अवश्य चाहिए, क्योंकि निर्ऋति द्रोह आदिके गणमें यह 'जामिशंस' शब्द आया है, इसलिए इसका आपत्ति दर्शक अर्थही यहां अपेक्षित है। (मं० १)

४ द्रुहः = द्रोह, घात पात, विश्वास देकर घात करना। (मं० १)

५ वरुणस्य पाशः = वरुण नाम श्रेष्ठ परमेश्वरका है। सबसे जो 'वर' है उसको वरुण कहते हैं। उस जगदीशके पाश सब जगत्में फैले हैं और उनसे कुकर्मी पुरुष बांधे जाते हैं। जगत्में उस परमात्माकी ऐसी व्यवस्था है, कि बुरे कर्म स्वयं पाश रूप होकर दुराचारीको बांध देते हैं और उनसे बंधा हुआ वह मनुष्य आपत्तिमें पडता है। (मं. १)

६ यक्ष्मः = क्षय रोग, क्षीण करनेवाला रोग। (मं० ५)

७ दुरितं = (दुः+इत) जो दुष्टता अंदर घुसी होती है। मन बुद्धि इंद्रिय और शरीरमें जो विजातीय दुष्ट भाव या पदार्थ घुसे होते हैं जिनसे उक्त स्थानोंमें बिगाड होकर कष्ट होते हैं उन का नाम दुरित है। यही पाप है (मं ६)

८ अवद्यं = निंदा करने योग्य। जिनसे अधोगति होती हैं आपत्ति आती है, और कष्ट होते हैं उनका यह नाम है। (मं० ६)

९ ग्राही = जो जकड कर रखता है, छोडता नहीं, जिससे मुक्त होना कठीन है। शरीरमें संधिवात आदि रोग जो जोडों को जकड रखते हैं। मनमें विषयवासना आदि और बुद्धिमें आत्मिक निर्बलता आदि हैं। (मं० ६)

१० अराति = (अ+रातिः) अनुदारता, कृपणता, कंजूसी। (मं० ७)

११ तमः = अज्ञान, अंधकार, आलस्य। (मं० ८)

ये शब्द मनुष्यकी दुर्गतिका स्वरूप बता रहे हैं। इन शब्दोंका शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक अवनतिके साथ संबंध यदि पाठक विचार पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस दुर्गतिका कितना बडा कार्य इस मानव समाजमें हो रहा है और इस अधोगतिसे बचनेके लिये कितनी दृढताके साथ कमर कसके तथा दक्षतासे कार्य करना चाहिये। मनुष्योंके मन बुद्धि चित्त अहंकार इंद्रियगण तथा शारीरिक व्यवहारमें इस दुर्गतिके नाना रूपोंका संचार देखकर विचारी मनुष्यका मन चक्करमें आता है और वह अपने कर्तव्यके विषयमें मोहित सा हो जाता है, उसको इस दुर्गतिके साम्राज्यसे बचनेका उपाय नहीं सूझता, ऐसी अवस्थामें यह सूक्त उस मूढ बने मनुष्यसे कहता है कि 'हे मनुष्य! क्यों मूढ बना है, मैं इस मार्गसे तुम्हें बचाता हूं और तुम्हें निर्दोष अर्थात् पवित्र भी बनाता हूं।' (मं० १)

एकमात्र उपाय।

आपत्तियां अनंत हैं। यद्यपि पूर्वोक्त ग्यारह शब्दों द्वारा इस सूक्तमें आपत्तियोंका वर्णन किया गया है तथापि ग्यारह शब्दों द्वारा, मानो, अनन्त आपत्तियोंका वर्णन होचुका है। इन अनन्त क्लेशोंसे बचनेका एकमात्र उपाय है और वह इस सूक्त के हर एक मंत्रने 'ब्रह्म' शब्दसे बताया है। प्रत्येक मंत्रमें—

मुञ्चामि त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि।

'... तुम्हें छुडाता हूं ...... और तुम्हें ज्ञानसे निर्दोष करता हूं।' यह वाक्य पुनः पुनः कहा है। वारंवार कहनेके कारण इस बातपर विशेष बल दिया है यह स्वयं स्पष्ट है। दुर्गतिसे मनुष्यका बचाव करनेवाला एक मात्र उपाय 'ब्रह्म' अर्थात् 'सत्यज्ञान' ही है। ज्ञानसे ही मनुष्य बच सकता है और अज्ञानसे गिरता जाता है। जो उन्नति, जो प्रगति, जो बंधनसे मुक्ति होती है वह ज्ञानसे ही होती है। परम पुरुषार्थ द्वारा अपना उत्कर्ष साधन करना भी ज्ञानसे ही साध्य हो सकता है। ज्ञानहीन मनुष्य किसी भी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता।

ज्ञानका फल।

ज्ञानसे क्या क्या हो सकता है इसका वर्णन करना कठिन है, क्योंकि ज्ञानसे ही सब कुछ उन्नति होती है। कोई उच्च ध्येय ऐसा नहीं है कि जो विना ज्ञानके सिद्ध हो सकता है। तथापि इस सूक्तमें ज्ञानसे जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है उसका

संक्षेपसे वर्णन किया है। अब इसी बातका विचार करेंगे । सत्यज्ञानका पहिला फल यह है-

(१) उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्ताम् । (मं० १)

'द्युलोक और पृथ्वी लोक ये तेरे लिये कल्याणकारी शुभ हों' अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सब पदार्थ शुभकारी होंगे। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी बनानेकी विद्या अकेले ज्ञानी मनुष्यको ही साध्य होती है । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह बडी भारी प्रबलशक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती है। तृणसे लेकर सूर्य पर्यंतके सब पदार्थ उसके वशवर्ती होकर उसका हित करने में तत्पर रहते हैं । यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीही प्राप्त करता है ।

(२) अद्भिः सह अग्निः शम् ॥ (मं० २)

'जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी होता है' ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्नि से--दोनोंके संयोगसे या वियोगसे-अपना लाभ कर सकता है, जनताका भला कर सकता है ।

(३) ओषधीभिः सह सोमः शम् । (मं० २)

'औषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है ।' सोम एक बडी भारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है। सोम और औषधियों से प्राणिमात्र का हित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्र में कहा है । नानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है । इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त कष्टोंमें जो रोगविषयक कष्ट होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं। जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसी में संमिलित है ।

(३) अन्तरिक्षे वातः वयः शं धात् । (मं० ३)

'अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है।' विद्यासे ही वायु लाभकारी हो सकता है। योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका द्योतक है । प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं । आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञानमें संमिलित हैं । वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इस में आता है। रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक हैं ।

(४) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपत्नीः ते शम् । (मं० ३,४)

'दिव्य चारों दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तेरे लिये सुखकारक होंगे ।' चार दिशाएं और चार उपदिशाएं अर्थात् उनके अंदर रहनेवाले सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं । इसका भाव पूर्ववत् ही समझना योग्य है ।

(५) सूर्यः अभिविचष्टे । (मं० ४)

'सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है' वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है। सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अनंत लाभ होते हैं । इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना लाभ कर सकते हैं।

(६) त्वा जरसि अन्तः आदधामि । (मं० ५)

'तुझे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूं' अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है । ज्ञानसे जीवनके सुनियम ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है ।

(७) यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः एतु । (मं० ५).

'यक्ष्मा आदि रोग तथा अन्यान्य आपत्तियां ज्ञानसे दूर होंगी ।' ज्ञानसे आरोग्य संपादन के सत्य नियम ज्ञात होते हैं और उनके पालन से मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है ।

(८) यक्ष्मात्, दुरितात्, अवद्यात्, द्रुहः, पाशात्, ग्राह्याः च अमुञ्चथाः, उदमुञ्चथाः । (मं ६)

'ज्ञानसे यक्ष्म, रोग, पाप, निंद्य कर्म, द्रोह, बंधन, जकडना आदिसे मुक्ति होती है ।' अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं। यह बात पाठकोंके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी ।

(९) स्योनं अविदः (मं० ७)

'सुख प्राप्त होगा' ज्ञानसे ही उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानसे वशवर्ती होते हैं और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है। इसीको कहते हैं-

(१०) सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः । (मं० ७)

'सुकृतके कल्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा।' ज्ञान से ही सुकृत किये जायगे और उन सुकृतोंके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यही भूलोक स्वर्गधाम बन जायगा। सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इसलिये हरएक वैदिकधर्मी आर्यको सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये दस फल इस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है। इसके विना अन्य साधन रहे तो भी उनसे कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये पाठक ज्ञानको उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिका मार्ग बताया है वह यहां देखिये-

उन्नतिका मार्ग।

अष्टम मंत्रमें 'एक विलक्षण अपूर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिका मार्ग दर्शाया है वह भी यहां अब देखना चाहिये-

तमसो ग्राह्या अधिमुञ्चतः देवाः ऋतं सूर्यं
एनसः असृजन् ॥ (मं० ८)

' जिस प्रकार अंधकारकी पकडसे छुडाते हुए सब देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अधोअवस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं। '

अलंकार की भाषा।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है। सूर्य और अन्य देवोंका अन्योक्ति अलंकार से रूपक बनाकर यहां वर्णन किया है। वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्त्व का रूपक है। यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये—

' चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नाम्नी माता करती है और सूर्य रूपी बालक का पालन दिनप्रभा नाम्नी माता करती है। प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्र भी गाढ अंधकार में दबा रहता है। मानो इसको मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, द्युपिता, वायु, आदि संपूर्ण देवताएं करती हैं। सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका यत्न करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदय को प्राप्त होता है, प्रतिक्षण अधिकाधिक चमकने लगता है और मध्यान्हमें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अप्रतिम तेजको कोई सहन कर नहीं सकता। इसी प्रकार चन्द्र भी अपनी क्षयी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्णिमामें अपना पूर्ण विकास करता है। '

अपने प्रयत्नसे उन्नति करनेवाले की इस ढंगसे उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपक का प्रयोजन है। जो स्वयं यत्न नहीं करेंगे उनकी उन्नति होना कठिन है। दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रयत्न उसमें संमिलित नहीं होता। यह उन्नतिका मूल मंत्र है।

स्वकीय प्रयत्न।

इस मंत्रमें ' ऋतं सूर्यं देवाः तमसः मुञ्चतः ' अर्थात् ' स्वय चलनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुडा सकते हैं ' ऐसा कहा है। यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसको अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते। इसी प्रकार मनुष्य भी जो स्वयं अपने उद्धारका यत्न रातदिन करता रहता है, उसीको अन्य गुरुजन सहाय्यकारी होते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लग सकता है कि इस मंत्रमें ' ऋत ' शब्द बहुत महत्त्वका भाव बता रहा है, देखिये इसका आशय। ऋत= "योग्य, ठीक, सत्य, हलचल करनेवाला, गतिमान्, प्रयत्नशील, यज्ञ, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, मुक्ति, बंधननिवृत्ति, कर्मफल, अटल विश्वास, दिव्य सत्यनियम। '

जो (ऋतं) सत्य नियम पालन करता है, वही अंधकारके परे जा सकता है और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसीको दूसरे सहायता कर सकते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाशमान है, उदय होना चाहता है, नियम पूर्वक प्रयत्नशील है, इसलिये उदयको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि सब अन्य तेज उसके सामने फीके हो जाते हैं। जो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैसा-ही प्रभावशाली बनेगा।

वायु जल नक्षत्र आदि जगत्के देव, विद्वान शूर आदि मानवोंके अंदरके देव, तथा इंद्रियगण ये शरीरस्थानीय देव उसी पुरुष की सहायता करते हैं कि जो स्वयं सत्यनियम पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करता रहता है। पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतंत्र्यके बंधसे मुक्त होकर स्वयं शासित होना, रोगमुक्त होकर नीरोग होना, अपमृत्युके बंधनसे छूटकर दीर्घायु होना आदि सबके लिये स्वयं 'ऋत-गामी' होना अत्यंत आवश्यक है। यही ऊपरके मंत्रमें 'ऋतं' शब्द द्वारा बताया है। जो ऋत-गामी होता है वही बंधनोंको निवृत्त कर सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है। इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्व पूर्ण उपदेश दे रहा है, इसलिये इस दृष्टिसे पाठक इसका अधिक विचार करें।

प्रार्थना का बल।

वेदमें 'ब्रह्म' शब्दका दूसरा अर्थ 'स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना' भी है। जो प्रार्थना वाचक वैदिक सूक्त हैं उनके पुरुष व्यत्ययसे दूसरे भी अर्थ होते हैं, परन्तु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थना-रूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता। 'ईश प्रार्थना' से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकास करना, प्रार्थनासे आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रधान अंग है। इसीलिये प्रारंभ से अंत तक वेदके सूक्तोंमें सहस्रों सूक्त प्रार्थना के हैं। जो लोग एकान्तमें जाकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वेही प्रार्थना का महत्त्व समझ सकते हैं, अन्य लोग उसकी शक्ति नहीं जान सकते। इस लिये यहां कहना इतना ही है कि रोगादि आपत्तियोंकी निवृत्तिके लिये जितना उपयोग औषधादि प्रयोगों का हो सकता है, उससे कई गुणा अधिक लाभ 'ईश प्रार्थना' से हो सकता है। यह मानो एक 'प्रार्थना-योग' ही है। 'औषधि योग' से 'प्रार्थना योग' अधिक बलवान है। दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि, लोग प्रार्थना का महत्त्व नहीं समझते और उस से होने वाले लाभसे वंचित ही रहते हैं! यह बडी भारी हानि है।

इस सूक्तमें 'ब्रह्म' शब्द विशेष कर स्तोत्र वाचक ही है। ईश गुणवर्णन, ईश गुणगान करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोंमें तल्लीन हो जाता है वह संपूर्ण आपत्तियोंसे दूर हो जाता है, क्योंकि वह उस समय अद्भुत अमृत रस का आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है। पाठक इस दृष्टिसे इस बातका विचार करें और अनुभव भी लें।

मनको धीरज देना।

वेदमें 'मैं छुडाता हूं' इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं 'वे वाक्य मानस चिकित्सा' या 'वाचिक चिकित्सा' के सूचक हैं। अपने अंदरके आरोग्य पूर्ण विचार अपनी मानस शक्तिकी प्रेरणासे अपने शब्दों द्वारा रोगीके निर्बल मनमें प्रविष्ट करनेसे यह चिकित्सा साध्य होती है। इसमें रोगीके निर्बल मनको धीरज देना होता है। इस समय—

१ त्वा क्षेत्रियात्...मुंचामि। (मं० १)
२ त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि। (मं० १)
३ त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं० ५)
४ यक्ष्मात् अमुक्थाः (मं० ६)
५ ग्राह्याः उदमुक्थाः। (मं० ६)

ऐसे वाक्य बोलके रोगीको धीरज देना होता है जैसा '—(१) तुझको क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता हूं। (२) तुझे ईश प्रार्थना द्वारा निर्दोष करता हूं। (३) तुझको अति दीर्घ आयुवाला करता हूं। (४) तू अब यक्ष्म रोगसे मुक्त हुआ है। (५) जकडनेवाले रोगसे तू अब पार हो गया है'। इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगीको धीरज देकर उसके मनका आत्मिक बल बढाकर और उसमें दृढ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है। यह बडा भारी गहन विषय है। जो पाठक ईश प्रार्थना का बल जानते हैं, वेही इस बातको समझ सकते हैं।

परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करने में जिनको प्रेम आता है, उनके पास बीमारिया कम आती हैं। पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परमेश्वर के विश्वासी प्रायः आनंद में मस्त रहते हैं और अविश्वासी ही रोगी होते हैं।

पाठक यह विश्वास का बल अपने में बढावें और अपना अत्यधिक लाभ करें।

यह सूक्त भी तक्मनाशन गण का है और वह इस गणके अन्य सूक्तों के साथ पढने योग्य है।

—:०:—

आत्माके गुण

(११)

(ऋषिः-शुक्रः। देवता-कृत्यादूषणम्)

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥१॥
स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि। आप्नुहि० ॥ २ ॥
प्रति तमभि चर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। आप्नुहि० ॥ ३ ॥
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। आप्नुहि० ॥ ४ ॥
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ—(दूष्याः दूषिः असि) दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन हटानेवाला तू है। (हेत्याः हेतिः असि) हथियारका हथियार तू है। (मेन्याः मेनिः असि) वज्रका वज्र तू है। इसलिये (श्रेयांसं आप्नुहि) परम कल्याणको प्राप्तकर और (समं अतिक्राम) अपने समानसे अधिक आगे बढ ॥ १ ॥

(स्रक्त्यः असि) तु गतिशील है, (प्रतिसरः असि) तू आगे बढनेवाला है, (प्रत्यभिचरणः असि) तू दुष्टतापर हमला करनेवाला है। ० ॥ २ ॥

(तं प्रति अभिचर) उसपर चढाईकर कि (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है तथा (यं वयं द्विष्मः) जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं। ० ॥ ३ ॥

(सूरिः असि) तू ज्ञानी है, (वर्चोधाः असि) तू तेजका धारण करनेवाला है तथा (तनू पानः असि) शरीरका रक्षक तूही है। ० ॥ ४ ॥

(शुक्रः असि) तू वीर्यवान् अथवा शुद्ध है, (भ्राजः असि) तू तेजस्वी है, (स्वः असि) तू आत्मिक शक्ति से युक्त है, (ज्योतिः असि) तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू श्रेय प्राप्त कर और समानोंके आगे बढ ॥ ५ ॥

भावार्थ-आत्मा दोषोंका दोष हटानेवाला है, वही शस्त्रोंका महाशस्त्र और अस्त्रोंका महा अस्त्र है० ॥ १ ॥

आत्मा प्रगति करनेवाला है, आगे बढनेका उसका स्वभाव है, और दुष्टताका दूर करनेवाला है० ॥ २ ॥

जो अकेला दुष्ट सब सज्जनोंको सताता है, और जिस अकेले दुष्टका सब सज्जन विरोध करते हैं। उसको हटा दे० ॥३॥

तू ज्ञानी है, तेजका धारक है, शरीरका सच्चा रक्षक तूही है० ॥ ४ ॥

तूही बलवान् है, तूही तेज है तथा आत्मिक बलसे युक्त है, तू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये तू समान लोगोंके आगे बढ और निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर ॥ ५ ॥

शरीरमें आत्माका कार्य।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है। ये गुण अब देखिये-

(१) **दूष्याः दूषिः असि**-दोषमय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवाला है। देखिये; अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव लीजिये। अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है। सडनेवाले शरीरको न सडानेवाला, मरनेवाले शरीरको जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनंदधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है। (मं० १)

(२) **हेत्याः हेतिः, मेन्याः मेनिः असि** = शस्त्रोंका शस्त्र और वज्रका वज्र यह आत्मा है। शत्रुका नाश शस्त्र करता है परंतु शस्त्रको चलानेवाला अर्थात् शस्त्रका भी शस्त्ररूप यह आत्मा शस्त्रके पीछे न होगा, तो शस्त्र कैसे शत्रुका नाश करेगा? इससे आत्माकी प्रेरक शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है। (मं० १)

(३) **सक्त्यः असि** = आत्मा गतिमान है। 'अत-सातत्यगमने' (सतत गति करना) इस धातुसे यह आत्मा शब्द बनता है। सतत प्रयत्नशीलताका वह द्योतक है। वही भाव इस शब्दमें है। छोटे बालकमें क्या अथवा बडे मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्न शीलता है। कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उद्योगसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है। (मं० २)

(४) **प्रतिसरः असि** = आगे बढनेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है। आत्मा 'इन्द्र' है और वह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है। (मं० २)

(५) **प्रत्यभिचरणः असि** = दुष्ट शत्रुको पराभूत करनेवाला। (यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाववाला ही है।) (मं० २)

यहांतक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है। अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पंचम मंत्रके द्वारा करते हैं-

(६) **सूरिः असि** = तू ज्ञानी है। आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अत एव उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। (मं० ४)

(७) **वर्चो-धाः असि** = तेज बल ओज आदिका धारण करनेवाला है। शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल ओज आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं। (मं० ४)

(८) **तनू-पानः असि** = शरीरका रक्षक है। जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तबतक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है। जब यह आत्मा इस शरीरसे चले जाता है तब शरीर सडने लगता है। इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका सच्चा रक्षक यह आत्मा है। (मं० ४)

(९) **शुक्रः असि** = वीर्यवान्, बलवान् तथा शुद्ध है। आत्माको ही 'शुक्रं' (यजु० ४०।८ में) कहा है। इसलिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है। (मं० ५)

(१०) **भ्राजः असि** = तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है। आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मध्यमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है। (मं० ५)

(११) **स्वः असि** = आत्मिक बलसे युक्त है (स्व+र्) अपने निज बलसे युक्त है। अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है। (मं० ५)

(१२) **ज्योतिः असि** = स्वयं ज्योति है। प्रकाश स्वरूप है। (मं० ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं। मनुष्य स्वयं अपने आपको अत्यंत निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावलंबी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है। इस सूक्तने आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं। जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है। इसमें भी वैसेही प्रभावशाली गुणधर्म हैं कि जैसे परमात्मामें हैं। यह आत्मा ज्ञानी, पुरुषार्थी, प्रयत्नशील, स्वयंज्योति, प्रभावशाली, बलवान्, तथा शरीर रक्षक है। इसलिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं। यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकास की मर्यादा बहुत ही बडी है।

जिस समय अपने अंदर निर्बलताकी लहर आती है, उस समय यदि पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे और इन शब्दोंके भावोंको अपने आत्मामें प्रत्यक्ष देखेंगे, तो उनके मनकी कमजोरी दूर हो जायगी और वे इस सूक्तके बलसे निःसंदेह ही अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त करने योग्य बलवान् बन जायगे। आत्मशक्तिका वर्णन करनेवाले जो अनेक सूक्त हैं उनमें यह विशेष महत्त्वका सूक्त है। यह अत्यंत सरल और बडा भावपूर्ण होनेसे बहुत मनन करने योग्य है। यह सूक्त निर्बलोंको भी बलवान् बना सकता है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि 'उस शत्रुको दूर कर, जो अनेकों को सताता है।' इस मंत्रमें यह बात विचार करने योग्य है, कि शत्रुता करनेवाला एक है, सतानेवाला एक है और सताये जानेवाले अनेक हैं। अल्प संख्यावालों के द्वारा बहु संख्यावालों को कष्ट होनेकी कल्पना इसमें है। ऐसे प्रसंगमें शत्रुको दूर करना ही योग्य है। जो दुर्जन अनेक सज्जनों को सताता है वह निःसंदेह दण्डनीय है।

श्रेयः प्राप्ति।

इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रका द्वितीय चरण एकसा ही है। वह यह है-

आ रुहि श्रेयांसं समं अतिक्राम ॥ [मं. १-५]

'समान लोगोंके आगे बढ और परम कल्याण प्राप्त कर' यह इस वाक्य का सार है। 'श्रेय प्राप्त कर' यह तो वैदिक धर्म का ध्येय है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस आदि शब्द एक ही भाव बता रहे हैं। वैदिक धर्मने यही ध्येय सबके सामने रखा है। इस ध्येय की सिद्धि प्राप्त करनेके लिए ही इस सूक्तने आत्माके गुण उपासकोंको निवेदन किए हैं। इन गुणोंका मनन करता हुआ आत्मा उन्नतिके पथसे आगे बढता हुआ निःश्रेयस तक पहुंच जाय। इसका मार्ग यह है—

उन्नतिका मार्ग

इसकी उन्नतिका मार्ग एक ही वाक्यसे बताया है वह चिरस्मरणीय वाक्य यह है-

समं अतिक्राम। [मं १—५]

'अपने समान योग्यता वाले लोगोंके आगे बढ।' यह मार्ग है। जब यह प्रथम श्रेणीमें पढता हो तो यह विचार मनमें रखे कि प्रथम श्रेणीमें रहनेवालोंके आगे बढूँ, जब द्वितीय श्रेणीमें पहुंचे तब यही विचार मनमें धारण करे कि मैं द्वितीय श्रेणीवालोंके आगे बढूँ। इस प्रकार अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढता हुआ यह अपनी उन्नतिका साधन करे।

अपनी उन्नतिका तो साधन हर एक को करना ही है, परंतु उस उन्नतिके साधन के लिये अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढनेका ध्येय सामने रखना ही उचित है। प्रथम श्रेणीमें पढनेवाला प्रथम श्रेणीवालोंसे आगे बढनेकी महत्त्वाकांक्षा मन में रखे, परंतु उस समय दशम श्रेणीसे आगे बढनेके विचार से अपना प्रथम श्रेणीके कर्तव्य न भूले। प्रायः लोक असंभव ध्येय सामने रखकर अपने कर्तव्यसे वंचित रहते हैं। ऐसा कोई न करें, इस उद्देश्यसे यह मंत्र कह रहा है, कि अंतिम साध्य जो भी हो; उसका विचार न करते हुए, इस समय तुम जिस श्रेणीमें हो उस श्रेणीमें प्रथम स्थानमें स्थित रहकर, उस समय के अपने कर्तव्य परम दक्षतासे करो। इस प्रकार करते रहनेसे सबकी यथायोग्य उन्नति होती रहेगी और यथा समय सबभी उन्नतिके परम सोपानपर पहुंच जायंगे।

परंतु अपनी श्रेणीसे भिन्न श्रेणीवालोंसे स्पर्धा करते रहनेसे मनुष्यको सिद्धि मिलना कठिन होगा इतनाही नहीं परंतु अवनति होना ही अधिक संभव है। यदि छोटासा कुमार अपनी आयुवाले अन्य कुमारोंसे मल्लयुद्ध न करता हुआ यदि बडे पहिलवानोंसे मल्ल युद्ध करनेका साहस करेगा, तो न तो उसमें उसको सिद्धि मिल सकती है और नाही उसकी उन्नति हो सकती है। परंतु क्रमपूर्वक अपनी श्रेणीवालोंसे कुश्ती करता हुआ वह स्वयं आगे जाकर बडा मल्ल हो सकता है; इसी प्रकार अन्यान्य अभ्युदयोंके विषयमें समझना चाहिए। मुक्तिके पथके विषयमें भी यही मार्ग अधिक सुरक्षित है।

पाठक इसका अधिक विचार करें। हमारे विचार में यह उन्नतिके मार्गका उपदेश सबके लिये सर्वदा मनन करने योग्य है। अपनी अधोगति न होते हुए क्रमसे निःसंदेह उन्नतिकी प्राप्ति होना इसी मार्गसे साध्य है।

मनका बल बढाना ।

(१२)

(ऋषिः-भरद्वाजः । देवता-द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम् ।)

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥
इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥
इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥
अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अर्थ—[द्यावापृथिवी] द्युलोक, और पृथिवी लोक, [उरु अंतरिक्षं] विस्तीर्ण आकाश,(क्षेत्रस्य पत्नी) क्षेत्रका पालन करनेवाली सृष्टि [अद्भुतः उरुगायः] अद्भुतः और बहुत प्रशंसनीय सूर्य [उत] और [वातगोपं उरु अन्तरिक्षं] वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब [मयि तप्यमाने]में नष्ट होने पर [इह ते तप्यन्तां] यहां वे सब सन्तप्त होवें ॥१॥

हे [देवाः] देवो ! (ये यज्ञियाः स्थ) जो तुम सत्कार करने योग्य हो, वे सब [इदं शृणुत] यह सुनो, कि [भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति] बल बढाने वाला मुझको उत्तम उपदेश देता है । परंतु [यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारे इस मनको बिगाडता है, [सः दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्] वह पापके पाशमें बंधा जाकर नियममें रखा जावे ॥ २ ॥

हे [सोम-प इन्द्र] सोमपान करनेवाले इन्द्र ! [शृणुहि] सुन कि [यत् शोचता हृदा जोहवीमि] जो शोकपूर्ण हृदयसे मैं पुकारता हूं। [यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारा यह मन बिगाडता है, [तं] उसको [वृक्षं कुलिशेन इव] वृक्षको कुठारीसे काटनेके समान [वृश्चामि] काट डालूं ॥ ३ ॥

[तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः] तीन छंदोंसे अस्सी मंत्रोंद्वारा सामगान करनेवालोंके साथ तथा [आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः] आदित्य वसु और अङ्गिरोंके साथ [पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु] पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारी रक्षा करे । मैं [दैव्येन हरसा अमुं आददे] दिव्य क्रोध या बलसे इस को पकडता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ- - द्युलोक, पृथ्वीलोक, अंतरिक्ष लोक तथा इस अवकाश में रहनेवाले सब लोक लोकान्तर मेरे अनुकूल हों अर्थात् मेरे संतप्त होनेसे वे संतप्त हों और मेरे शांत होने पर वे भी शात हों ॥ १ ॥

हे सत्कार करने योग्य देवो ! सुनो । नियम यह है कि बल बढानेवाला ही दूसरों को उत्तम उपदेश करता है, परन्तु बल घटानेवाला बुरे विचारों की प्रेरणासे मनको दूषित करता है, उस पापीको पकड कर बंधनमें रखना उचित है ।। २ ॥

हे इन्द्र ! सुन कि जो मनको बिगाडता है उसका नाश करना योग्य है यह बात मैं हृदयके जोशके साथ कहता हूं ॥३॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥
आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ- [द्यावापृथिवी मा अनुआदीधीथां] द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों। हे [विश्वे-देवासः] सब देवो! [मा अनु आ रभध्वं] मेरे अनुकूल होकर कार्यारंभ करो । हे [अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः] अंगिरस सोम्य पितरो ! [अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु] अनिष्ट कार्यका करनेवाला पापको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हे [मरुतः] मरुतो ! [यः अतीव मन्यते] जो अपने आपको ही बहुत भारी समझता रहे, [यः वा नः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत] अथवा जो हमारे किये जानेवाले ज्ञान की निंदा करे । [वृजिनानि तस्मै तपूंषि सन्तु] सब कार्य उसके लिये तापदायक हो । तथा [द्यौः ब्रह्मद्विषं संतपाति] द्युलोक उस ज्ञानविरोधीको बहुत ताप देवे ॥ ६ ॥

[ते तान् सप्त प्राणान्] तेरे उन सात प्राणों को और [अष्टौ मन्यः] आठ मज्जाग्रंथियों को मैं [ब्रह्मणा वृश्चामि] ज्ञानके शस्त्रसे छेदता हूं या खोलता हूं । तू [अग्निदूतः अरंकृतः यमस्य सादनं अयाः] अग्निका दूत बनकर सिद्ध होकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥

[समिद्धे जातवेदसि] प्रदीप्त अग्निमें [ते पदं आदधामि] तेरा स्थान रखता हूं। [अग्निः शरीरं वेवेष्टु] यह अग्नि शरीर में प्रवेश करे [वाक् अपि असुं गच्छतु] वाणी भी प्राण को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ- जिसमें तीन छन्दों के अस्सी मंत्रों द्वारा सामगान करते हैं, उस यज्ञमें वसु रुद्र आदित्यों के साथ पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ यागादि शुभ कर्म हमारा रक्षक होवे। उस सत्कर्मसे हमारा मन शुद्ध रहे। जो पापी हमारा मन निर्बल करनेका यत्न करता है उसको मैं दिव्य बलके साथ पकडता हूं ॥ ४ ॥

द्युलोक और भूलोक के अंतर्गत सब वस्तुमात्र मेरे अनुकूल हों, सब अग्न्यादि देव मेरे अनुकूल कार्य करें। हे पितरो ! अनिष्ट कार्य करनेवाला पापी बनकर पतित होवे ॥ ५ ॥

हे मरुतो ! जो घमंडी मनुष्य अपने आपको ही सबसे बडा समझता है, इतना ही नहीं परंतु हम जो ज्ञान संग्रह करते हैं उसकी भी जो निंदा करता है, उसको सब कर्म कष्टप्रद हो, क्योंकि जो सत्यज्ञानका विरोध करता है उसको द्युलोक बहुत ताप देगा ॥ ६ ॥

तेरे सातों प्राणोंको और आठों मज्जास्थानों को मैं ज्ञानसे खोलता हूं, तू अग्निदूत बनकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥

इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निमें मैं तेरा स्थान रखता हूं। यह अग्नि तेरे अंदर प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राण को प्राप्त होवे॥८॥

मानस शक्तिका विकास ।

मनकी शक्तिसे मनुष्य की योग्यता निश्चित होती है। जिसका मन शुद्ध और पवित्र वह महात्मा होता है और जिसका मन अशुद्ध और मलीन विचारोंवाला वह दुष्ट कहलाता है। इसके पूर्व सूक्तमें आत्माके गुण वर्णन करने द्वारा आत्मिक बल बढाने

का उपाय कहा, उसी की पूर्ति करने के लिये इस सूक्तमें मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है। मन मलिन रहा तो आत्मिक बल बढ ही नहीं सकता।

मानस शक्ति विकासके साधन।

त्यागभाव।

मानसिक बल बढानेवालेका नाम इस सूक्तमें 'भरद्वाज,' अर्थात् '(भरत् + वाजः ' = वाजः + भरत्) बल भरनेवाला कहा है। 'वाजः' का अर्थ घी, अन्न, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द' यह है। इसमें घी, अन्न, जल ये पदार्थ शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु येही शुद्ध सात्विक सेवन किये जांय तो मनको भी सात्विक बनाते हैं। जल प्राणों के बलके साथ संबंधित है। धन आर्थिक बलका द्योतक है। अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रधान अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढाते हैं। युद्ध क्षात्र बल बढाता है। परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है। वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है। यहां बल बढाने वाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ। पाठक यदि इस बातका विचार करेंगे, तो उनको इससे अपना बल बढानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं। यह बल जो भर देता है, उसका नाम 'भरद् - वाजः' होता है। यह भरद्वाज आत्मिक बल बढाने का साधन इस प्रकार सब को कथन करता है-

शुभवचन।

भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति ॥ (मं० २)

'बल बढानेवाला मुझे सूक्त कहता है' अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणगानके स्तोत्र कहता है। ये शुभवचन कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करने से ही मनकी शक्ति बढ सकती है। परमेश्वर भक्ति, उपासना, सद्भावनाका मनन यही सूक्तशंसन है। इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है।

ज्ञान।

इस 'ज्ञानाग्नि' को ही 'जात—वेद अग्नि' कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही अग्नि जातवेद है। जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है वही यह अग्नि है। इसीको ज्ञानाग्नि, ब्रह्माग्नि, आत्माग्नि, जातवेद, आदि अनेक नाम हैं। मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसको इच्छा है, उसको इस अग्निकी शरण लेना योग्य है। इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

> आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
> अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ (मं० ८)

" इस प्रदीप्त जातवेद नामक ज्ञानाग्निमें तेरा पांव मैं रखता हूं। यह ज्ञानाग्नि तेरे शरीरके रोम रोम में प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राणाग्नि के पास जावे।" जो मनुष्य अपना आत्मिक बल तथा मानसिक बल बढानेका इच्छुक है उसको अपने आपको ज्ञानसे संयुक्त होना चाहिये। जिस प्रकार लोहा अग्निमें पडनेसे वह थोडे समयमें अग्निरूप होजाता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्निमें पडा हुआ यह मनुष्य थोडे ही समयमें अपने आपको ज्ञानाग्निसे—जातवेद अग्निसे—प्रदीप्त हुआ देखता है। यह ज्ञानावस्था है।

जीवित वाणि।-इस समय इसके वाणीमें एक प्रकारकी प्राणशक्ति प्रकाशित होती है, मानो इसकी वाणी जीवित सी हो जाती है। (वाक् असुं गच्छति) वाणी प्राणको प्राप्त करती है। सामान्य मनुष्योंकी वाणी मुर्दा होती है, परंतु इस ज्ञानीकी वाणी जीवित होती है। वह सिद्ध पुरुष जो कहता है वह बन जाता है यह जीवित वाणीका साक्षात्कार है।

शाखा छेदन।—टेढी मेढी शाखाएं काट कर वृक्षको सुंदर बनाया जाता है। वृक्षपर बल्लियोंका भार बढ गया, तो वृक्षको बढनेके लिए उस भार से मुक्त करना आवश्यक होता है। अर्थात् उद्यानके वृक्षोंको जैसे चाहिये वैसे बढने देना उचित नहीं है। इसीप्रकार इस अश्वत्थ वृक्षके विषयमें जानना चाहिये। इस विषयमें श्री भगवद्गीतामें कहा है—

॥

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥ गीता अ० १५

' ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार फैला है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष है । ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली हैं । इन शाखाओंको असंग शस्त्रसे छेद करके यहां इसको ठीक करना चाहिए ' तत्पश्चात् उन्नतिका मार्ग विदित हो सकता है । इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है, वह अब देखिये—

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ (मं० ७)

' सात प्राणोंको और आठ ग्रंथियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूं या छेदता हूं अथवा खोलता हूं । तू इस अग्निका सिद्ध दूत बनकर यम के घरको जा । ' इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मज्जाग्रंथियोंको (वृश्चामि) काटनेका उल्लेख है । और यहां काटनेका शस्त्र ' ब्रह्म ' अर्थात् ' ज्ञान, भक्ति, प्रार्थना, उपासना, स्तोत्र ' इत्यादि प्रकार का है। ब्रह्म शब्दका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है । पाठक यहां विचार करें कि क्या कभी ' ज्ञान अथवा ईश उपासना ' (ब्रह्मणा वृश्चामि) शस्त्र बनकर किसी को काट सकते हैं ? यदि ये शस्त्र बन कर किसीको काटते होंगे तो किसको काटते हैं ? यह विचार करना चाहिए ।

असंगास्त्र और ब्रह्मास्त्र।—गीतामें ' असंगशस्त्र ' से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहां नाना वासनाओंको असंग शस्त्रसे काटनेका भाव है। वासनाएं भी भोग की इच्छासे ही फैलती हैं और भोग भी इंद्रियोंके विषयों के ही होते हैं। अर्थात् असंग शस्त्रसे जिन शाखाओंको काटना है, वे शाखाएं इंद्रियभोग की वृत्तिरूप ही हैं । भगवद्गीताका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्र-के सप्त प्राणोंको ब्रह्मास्त्रसे काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाका अर्थ एक ही है–

अश्वत्थं......असंगशस्त्रेण छित्वा ॥ (भ० गीता १५ । ३)
सप्त प्राणान् ......ब्रह्मणा वृश्चामि ॥ [अथर्व० २ । १२ । ७]

' वृश्चामि ' का अर्थ भी ' छेदन ' ही है । दोनों स्थानोंके शस्त्र भी अभौतिक हैं । (असंग) वैराग्य, और (ब्रह्म) ज्ञान उपासना; यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एकही बातमें साथ होनेवाले हैं, आत्मसाक्षात्कारमें ये दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं। वैराग्य के विना आत्मज्ञान होना कठिन है या असंभव है । इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस शाखाविस्तार को भगवद्गीता काटना चाहती है उसी शाखाविस्तारको यह वेद मंत्र काटना चाहता है । इसकी सिद्धता करनेके लिये हमें ' सप्त प्राण ' कौन हैं इसकी खोज करना आवश्यक है—

सप्त प्राण—

१ प्राणा इंद्रियाणि ॥ ताण्ड्यब्रा० २। १४।२; २२ । ४ । ३
२ सप्त शिरसि प्राणाः ॥ ताण्ड्य ब्रा० २।१४।२; २२।४ । ३
३ सप्त शीर्षन् प्राणाः । शत० ब्रा० ९।५।२।८
४ सप्त वै शीर्षन् प्राणाः । ऐ. ब्रा. १ । १७; तै. ब्रा० १। २ ।३।३

' (१) प्राण ये इन्द्रियाँ ही हैं । (२–४) सिरमें सात प्राण अर्थात् इंद्रियाँ हैं ।' इस प्रकार यह स्पष्टीकरण सप्तप्राणोंका वैदिक सारस्वतमें किया गया है । इससे सप्त प्राण ये सात इंद्रिय हैं इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता । कईयोंके मतसे ये इंद्रिय दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख मिलकर सात हैं और कईयोंके मत से कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नाक,

श्रित और मुख है, इन सातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भाषण ये सात भोग हैं। इनके कारण उत्तम मध्यम अथवा निकृष्ट गति इस मनुष्यकी होती है। दोनों मतोंका तात्पर्य इतनाही है, कि जिन इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य वासनाओंके जालमें फंसता है और भोग भोगनेकी इच्छासे रोगके क्षयमें ग्रस्त होता है, वे सात इंद्रियोंकी शाखाएं ज्ञानके शस्त्रसे काटना चाहिये। जिस प्रकार माली अपने उद्यान के वृक्षोंको तेढा मेढा बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीर के क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवात्मा रूपी माली है, उसको अपने उद्यान के इन सप्त वृक्षोंको तेढे मेढे बढने देना उचित नहीं है, वैसे बढने लगे तो ज्ञानकी कैंचीसे मर्यादासे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्यादामें ही रखना उचित है।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि बुरे व्यवहार करने लगे तो उनको अनङ्गके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णरीतिसे दमन करना चाहिये। इन्द्रिय दमन से ही आध्यात्मिक शक्ति विकसित हो सकती है। शाखा छेदन का तात्पर्य यही है।

आठ ग्रंथी— इस सप्तम मन्त्रमें (अष्टौ मन्यः) आठ ग्रंथि, या धमनियां हैं, उनको भी छेदन करने का विधान किया है। ये आठ मज्जा ग्रंथियां हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं। गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मज्जा ग्रंथियां हैं और इनसे जो जीवन रस आता है उससे उक्त स्थानमें जीवन प्राप्त होता है। इससे प्राप्त होने वाला जीवन रस तो आवश्यकही है, परंतु यदि इसीसे हीन प्रवृत्ति होने लगी तो उस हीन वासना का नाश करना चाहिये। देखिये गुदाके पास की मज्जा ग्रंथीसे वीर्यके साथ जीवन रस प्राप्त होता है। इसीसे स्त्रीपुरुष विषयक काम होता है और इसके अतिरेकसे मनुष्य गिरता भी है; तथापि धर्ममर्यादाके अंदर काम रहा और शेष ब्रह्मचर्य पालन हुआ तो यहां की ही दिव्य शक्ति ईशभक्ति में परिणत होती है। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये। इससे पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाला इंद्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन ग्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है। योगमें इसको 'ग्रंथिभेद, चक्रभेद' आदि संज्ञाएं हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पांवका हिलना या न हिलना होता है; उसी रीतिसे इन अष्ट ग्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो। इंद्रियोंको और इन केन्द्रोंको पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम यहां शाखा छेदन है। यह श्रेष्ठ संयम है। और यही शाखाछेदन (ब्रह्मणा वृश्चामि) ज्ञान रूपी शस्त्रसे होना संभव है। अब यहां मंत्रोंकी संगति देखिये—

संयमका मार्ग— १ समिद्धे जातवेदसि पदं = जिसने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है (मं० ८)। २ अग्निः शरीरं वेवेष्टु = जिस के शरीरके रोमरोममें यह ज्ञानाग्नि भडक उठा है (मं० ८)। ३ वाग् अपि असुं गच्छतु = जिसकी वाणी भी प्राणमयताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है। (मं० ८) । ४ सप्त प्राणान् वृश्चामि= सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेदन जिसने किया है अर्थात् इंद्रियों को वशमें किया है (मंत्र ७)। ५ अष्टौ मन्यान्वृश्चामि = आठ मज्जा केन्द्रोंका भी छेदन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनको वशवर्ती किया है।

मरनेकी विद्या— वही आत्मिक बल से बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अथवा निडर होकर यमके घर जायगा। सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निडर होकर मरना और बात है और डर डर के मरना और बात है। सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युका डर हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है। देखिये मंत्र के शब्द—

अरंकृतः अग्निदूतः यमस्य सादनं अयाः (मं० ७)

'(अरंकृत) अलंकृत (अग्नि-) ज्ञानाग्निका (दूतः) सेवक बनकर यमके घर जा।' क्योंकि अब तुम्हें यमका वह डर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था। यह मृत्युका डर हटानेकी विद्या है। मानो यह मरनेकी विद्या है। जीवित दशामें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये। जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, जिसने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध प्रशस्ततम कर्ममय हुआ है, और जो सत्यज्ञानके प्रचारके लिये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवनही ज्ञानाग्नि में समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है? वह तो निडर होकर ही मृत्युके पास पहुंचेगा। इसी प्रकार देखिये—

निर्भय ऋषिकुमार — कठोपनिषद्में कथा है कि, नचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था। वह तीन रात्री यमके घर रहा, उसको देखकर यमको भी भय मालूम हुआ। उसको प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये। ये तीन वर मानो तीन प्रचण्ड शक्तियां थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंसे अपने भोग नहीं बढाये; परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियों का व्यय उसने किया। यमने नाना भोग उसके सन्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानास्त्रसे वासना रूपी शाखाओंका छेदन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रुची नहीं की, भोगोंको छोडकर ज्ञान प्राप्तिकी ही उसने इच्छा की और इस त्यागवृत्तिसे अन्त में उसने ज्ञान प्राप्त किया। यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषि कुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ वहांसे वापस आया। ऐसा क्यों हुआ? पाठको! विचार तो कीजिये। नचिकेता ऋषिकुमार अग्निका दूत बनकर, ज्ञानका सेवक बन कर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था; इसलिये वह निडर था। जो लोग भोगेच्छासे यम के पास जायगे वे डरते हुए जांयगे, इसलिये पकडे जांयगे। यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें। यही वेदकी मृत्युविद्या है।

आत्मवद्भाव। एकके दुःखसे दूसरा दुःखी।

यहां तक जो आत्मोन्नतिका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीकी उच्चावस्थाकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। उस ज्ञानीके मनमें 'आत्मवद्भाव' इस समय जीवित और जाग्रत होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमान भावसे देखने लगता है। जो जैसा सुख दुःख इसको होता है, वैसा ही सुख दुःख दूसरोंको होता है ऐसा इसका भाव इस समय बन गया है। वह अपनेमें और दूसरोंमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखों से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने तक उसकी उच्च मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है। इसलिए जिस समय वह सचमुच सन्तप्त होता है, उस समय सब अन्य प्राणीमात्र सन्तप्त हो जाते हैं। जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी मनुष्य अपनेपर लेने लगता है, और सब जगत् के दुःखका भार आनंदसे स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है। यह नियम ही है। यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है। जिस प्रकार एक स्वरमें मिलायी हुई तन्तुवाद्यकी तारें एक बजाई जानेपर अन्य सब स्वयं बजने लगती हैं, इसी प्रकार यह ज्ञानीके 'सर्वात्मभाव के जीवन' से सब जगत्के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है। यह 'आत्मवद्भाव' की परम उच्च अवस्था है। यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताई है—

मयि तप्यमाने ते इह तप्यन्तां [मं १]

'मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यहां संतप्त हों।' पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, बीचका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य आदि जितना भी कुछ स्थान है और उस संपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र हैं उनके क्लेशोंको मैं अपने ऊपर लेता हूं, जगत् को सुखी करनेके लिये मैं अपने आपको समर्पित करता हूं, मैं जगत् को दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी हो और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार की भावना जिस के रोम रोम में भरी है, जिसके दैनिक जीवन में ढाली गई है; वह अपने आपको जगत् के साथ एकरूप देखता है, जगत् को अपने आत्माके समान समझता है, या यों कहो कि वह जगत् के दुःखसे दुःखी होता है। ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी सन्तप्त हो जाते हैं। यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वारा बतायी है।

यह मनुष्य की उन्नतिकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें पहुंचा हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुखी होता है और इसके दुःखमें भी सब दूसरे दुखी होते हैं। इस पूर्ण अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होती है। मनका बल बढते बढते और आत्माकी शक्ति बढते बढते मनुष्य यहां तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विरोधी होते हैं उनकी भी क्या अवस्था होती है, वह देखना है—

ज्ञानके विरोधी। जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रहते हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सूक्तके मंत्रोंके शब्दोंसे ही देखिये—

१ यः अतीव मन्यते = जो अपने आपको ही घमंडसे ऊंचा समझता है, अपने से और अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है ऐसा जो मानता है, (मं० ६)

२ क्रियमाणं न. ब्रह्म यः निन्दिषत् = किया जानेवाला हमारा ज्ञानसंग्रह जो निंदता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है, (मं ६)

३ वृजिनानि तस्मै वपूंषि सन्तु = सब कर्म उसके लिए तापदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट होंगे, किसीभी कर्मसे उसको कभी शांति नहीं मिलेगी, (मं० ७)

४ द्यौः ब्रह्मद्विषं अभि सं तपाति = प्रकाशमान द्युलोक ज्ञानके विद्वेषीको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीको किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती (मं० ७)

ज्ञान के विरोधी (ब्रह्मद्विष्) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही द्योतक है, और यह अत्यंत घातक है। यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहे हैं उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये। परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलीन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको सताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है। इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसेही करता है, इस कारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है। यह बात इस छठे मंत्रने बताई है। अब इस बुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बीचके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिए—

१ अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु। (मं० ५)
२ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति स दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्। (मं० २)
३ अमुं दैव्येन हरसा आददे [मं० ४]
४ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति तं कुलिशेन वृश्चामि। (मं० ३)

"(१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे। [२] जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे। (३) उसको दिव्य क्रोध या बलसे पकड रखता हूं। [४] जो हमारे इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूं।"

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दण्ड बता रहे हैं। पहिले वाक्य ने कहा है कि उसको पाप लगे। दूसरे वाक्य ने कहा है कि उसको बांध कर नियममें रखा जावे यहां नियममें रखनेका आशय कारागृहमें रखनेका है। तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोप उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रसे उसका सिर काटने की बात कही है। यह एकसे एक कडी सजा किसको दी जाय इस विषयका थोडासा विचार यहां करना चाहिए। मनको बिगाडनेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक बार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संघद्वारा दूसरी जातिका मन बिगाडनेका प्रयत्न करता है, या जातिकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बढ कर होता है। इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनाधिकता समझनी योग्य है, और अपराधके अनुकूल दण्ड देना उचित है। यह दण्ड भी व्यक्तिने देना नहीं होता प्रत्युत राजसभा द्वारा देना होता है।

दूसरे की ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडाभारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वैसी स्वयं अपनी भी अधोगति होती है। इसलिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे।

आनुवंशिक संस्कार- सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है। जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके वंशमें सत्पुरुष हुए हैं, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं; अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है वह अज्ञानमें फंस जानेका संभव कम है, इस विषयमें मंत्र कहता है—

दिदृभिः अरातिभिः सामगेभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः आदित्येभिः
पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु॥ (मं० ८)

'वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे।' परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है। मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है। येही आनुवंशिक शुभसंस्कार हैं। हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अधम मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं। इसलिये परिवारों के मुख्य पुरुषों को उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके पारिवारिक जनोंपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आवश्यक कर्तव्य है।

ईश प्रार्थना।

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि उन कर्मोंको करनेवाले दूसरे होते हैं। इसलिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे बुरे संस्कार हुए तो भी कोई डरनेकी बात नहीं है। स्वयं अपनी शुद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह सिद्धि मिलेगी। इस दिशासे आत्मशुद्धिके प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलनेसे ही होनी चाहिये इस विषयमें, इस सूक्तके शब्द बडे मनन करने योग्य हैं–

हे सोमप इन्द्र! शृणुहि। यत्त्वा शोचता हृदा जोहवीमि ॥ (मं० ३)

'हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु! सुनो, जो मैं जलते हुए हृदय से तुमसे कह रहा हूं।' हृदयके अंदरसे आवाज आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उष्णतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये। ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है। तथा–

ये यज्ञियाः स्थ ते देवा इदं शृणुत। (मं० २)

'जिनका यजन किया जाता है वे देव मेरी प्रार्थना सुनें!' इस प्रकार देवोंके विषयमें श्रद्धाभक्तिके साथ दिलसे शब्द निकलेंगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा–

द्यावापृथिवी मा अनु दीधीथाम्। विश्वेदेवासो मा अन्वारभध्वम् ॥ (मं० ५)

'द्यावापृथिवी मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव मुझे अनुकूल होकर कार्यारंभ करें।' अर्थात् देवोंकी कृपासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवोंकी अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे। कोई भी ऐसा कार्य मुझसे न होवे, कि जो देवताओंके प्रतिकूल या विरोधी हो। मेरे अंतःकरणमें देवताओं की कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझसे उत्तम कर्म होते रहें। देवोंके साथ अपने आपको एकरूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने आपको देवतामय अनुभव करना चाहिये।

अपने शरीरको देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वहां अशुभ विचार नहीं आवेंगे और सदा वहां दैवी शुभ विचार ही कार्य करेंगे। इस प्रकार देवोंका जाग्रत निवास अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोन्नति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपासक को अवश्य प्राप्त होंगे।

प्रथम वस्त्र-परिधान ।

[१३]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-अग्निः, नानादेवताः ।)

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥
परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥
परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

अर्थ-हे [अग्ने अग्ने] तेजस्वी अग्ने ! तू [आयुः-दा] जीवनका दाता, [जरसं वृणानः] स्तुतिका स्वीकार करनेवाला, [घृत-प्रतीकः] घृतके समान तेजस्वी और [घृत-पृष्ठः] घीका सेवन करनेवाला है । अतः [मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा] मीठा सुंदर गाय का घी पीकर [पिता पुत्रान् इव] पिता पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू [इमं अभिरक्षतात्] इसकी सब ओरसे रक्षा कर ॥ १ ॥

[नः इमं] हमारे इस पुरुषको [परिधत्त] चारों ओरसे धारण कराओ, [वर्चसा धत्त] तेजसे युक्त करो, इसका [दीर्घं आयुः जरामृत्युं कृणुत] दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु करो । [बृहस्पतिः एतत् वासः] बृहस्पतिने यह कपडा [सोमाय राज्ञे परिधत्तवै] सोम राजाको पहननेके लिये [उ प्रायच्छत] निश्चयसे दिया है ॥ २ ॥

[इदं वासः स्वस्तये परि अधिथाः] यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, [गृष्टीनां अभिशस्तिपाः उ अभूः] तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे हुआ है । इस प्रकार [पुरूचीः शरदः शतं च जीव] परिपूर्ण सौ वर्षतक जीओ । और [रायः पोषं च उप सं व्ययस्व] धन और पोषणका कपडा बुनो ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे तेजस्वी देव ! तू जीवन देनेवाला, स्तुतिको सुननेवाला, तेजस्वी और हवनादिसे घी का सेवन करनेवाला है; अतः मधुर सुंदर गायका घी पीकर इस बालक की ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसी पिता अपने पुत्रोंकी उत्तम रक्षा करता है ॥ १ ॥

इस बालक की चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढाओ, और इसकी आयु अतिदीर्घ करो, अर्थात् अति-वृद्धावस्थाके पश्चात् ही इसका मृत्यु हो । यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलगुरु बृहस्पतिने सोम राजाके पहननेके लिये बनाया था, जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥ २ ॥

यह वस्त्र अपने कल्याणकी वृद्धि करनेके लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेका यही उत्तम साधन है । इसी प्रकार सौ वर्षका दीर्घ आयुष्य प्राप्त करो और धनका ताना और पोषणका बाना रूप यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे बुनो ॥ ३ ॥

एह्यश्मा॑न॒मा ति॑ष्ठा॒श्मा भ॑वतु ते त॒नूः ।
कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ४ ॥
यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं१ हरा॑म॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः ।
तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जायन्तां ब॒हवः॑ सु॒जात॑म् ॥ ५ ॥

अर्थ-[एहि, अश्मानं आतिष्ठ] आ, शिला पर चढ, [ते तनूः अश्मा भवतु] तेरा शरीर पत्थर जैसा दृढ बने। [विश्वे देवाः] सब देव [ते आयुः शरदः शतं कृण्वन्तु] तेरी आयु सौ वर्षकी करें॥ ४ ॥

[यस्य ते प्रथमवास्यं वासः हरामः] जिस तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य ऐसा यह वस्त्र हम लाते हैं [तं त्वा विश्वे देवाः अवन्तु] उस तेरी सब देव उत्तम रक्षा करें ; [तं त्वा सुजातं] उस तुझ उत्तम जन्मे हुए और [वर्धमानं] बढते हुए बालकके [बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनु जायन्तां] पीछेसे बहुतसे उत्तम बढनेवाले भाई उत्पन्न हों ॥ ५ ॥

भावार्थ— यहां आ, इस शिलापर खडा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी बनावें ॥४॥

हे बालक ! तेरे लिये यह पहिले पहिनने के लिये वस्त्र हमने लाया है, सब देव तेरी पूर्ण रक्षा करें, तू इस उत्तम कुलमें जन्मा है और यहां तू उत्तम प्रकार से बढ रहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे हृष्टपुष्ट और बलवान् भाई उत्पन्न हों, और तेरे कुलकी वृद्धि हो ॥ ५ ॥

प्रथम वस्त्र परिधान ।

बालक के शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारंभ इस सूक्तद्वारा बताया है । इस सूक्तका प्रथम मंत्र घृतका हवन अग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् हवनके पूर्वका सब विधान इससे पूर्व होचुका है, ऐसा समझना उचित है । अग्निके अंदर परमात्माकी शक्ति है, इस अग्निको घी आदिसे प्रदीप्त किया जाता है, और उसकी साक्षीमें वस्त्र परिधान आदि विधि किया जाता है । सभी संस्कार अग्निमें हवन करनेके साथ होते हैं । परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, अभययाचनादि पूर्वक हवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभु की प्रार्थना की गई है कि वह परम पिता हम सब पुत्रोंकी रक्षा करें। इस प्रकार वस्त्र परिधानकी पूर्व तैयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

पुत्रके लिये वस्त्र ।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र मूल्य देकर दुकानसे लाया नहीं रहता । परंतु अपने पुत्रके लिये माताही कपडा बुनती है, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है वह यहां देखिये—

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा
पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ ऋग्वेद ५।४७।६

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं । देखिये इनका अर्थ—

(१) मातरः पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति = माताएं अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती हैं । और-

(२) अस्मै धियः अपांसि वितन्वते = इस बच्चेके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं ।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बता रहा है । माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा बुनती हैं इसमें प्रत्येक धागेके साथ कितना प्रेम उस कपडेके तन्तुओंमें बुना जाता है इसका विचार पाठक अवश्य करें । यह कपडा केवल कपडा नहीं है परंतु इसी सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है, कि—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व । (मं० ३)

" यहां कपडेका ताना ऐश्वर्य है और बाना पुष्टि है । इस प्रकार यह कपडा बुना जाता है । " सचमुच ऐसाही होगा, जहा माता अपने पुत्रप्रेमसे अपने छोटे बालकके लिये कपडा बुनती होगी । धन्य है वह माता और वह बालक जो इस

प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूषणभूत होते हैं । इस प्रकार का कपडा उस छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समय का मंत्र यह है—

परिधत्त, धत्त, वो वर्चसा इमम् ।
जरामृत्युं कृणुत, दीर्घमायुः ॥ (मं० २)

" पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बालकको यह वस्त्र, तेजके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इसकी वृद्धावस्थाके पश्चात् ही मृत्यु हो अर्थात् अकाल मृत्युसे यह कदापि न मरे । " जब माता अपने पुत्रके लिये प्रेमसे कपडे बुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेममयी माताके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं ।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि " देवोंके कुलगुरु बृहस्पतिने सोमराजाको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था । " अर्थात् यह प्रथा सनातन है । कुलका पुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनावे और सब उपस्थित सज्जन बालक का शुभ चिंतन करें । यह इस वैदिक रीतिका सारांशसे स्वरूप है। पाठक इसका विचार करके यह शुभ संस्कार अपने घरमें कर सकते हैं।

वस्त्र घरमें बुननेका प्रयोजन

वस्त्र घरमें क्यों बुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे, इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस घरेलु व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है ।

१ स्वस्ति ।

इदं वासः स्वस्तये अधि थाः । (मं० ३)

" यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो । " स्वस्ति का अर्थ है ' सु+अस्ति ' अर्थात् उत्तम अस्तित्व, उत्तम हस्ति । अपनी स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना बुना हुआ कपडा पहनना चाहिए । दूसरेका बुना हुआ कपडा पहननेसे अपनी स्थिति बुरी होती है, बिगड जाती है । अपना बुना कपडा पहननेसे अपना ' स्वस्ति ' अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना बुना हुआ कपडा ही पहनना चाहिये ।

२ विनाशसे बचाव ।

गृष्टीनां अभिशस्ति-पा उ अभूः । (मं० ३)

' मनुष्य मात्रका नाशसे बचाव करनेवाला है । ' अपना कपडा स्वयं बनाकर पहनना केवल अपनाही लाभ नहीं करता है परंतु संपूर्ण मनुष्योंका विनाशसे बचाव करता है । इससे हरएक उद्यमी होनेके कारण उस उद्यमसे ही उन सब मनुष्योंका बचाव हो जाता है । दुःस्थिति, हीन अवस्था, नाश आदिसे बचानेवाला यह वस्त्र बुननेका व्यवसाय है ।

३ धन और पुष्टि ।

यह घरका बुना कपडा केवल कपडा नहीं है, इसका ताना और बाना मानो केवल सूतका बना नहीं होता है, प्रत्युत—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व । (मं० ३)

" उसमें तानेके धागे ऐश्वर्य के सूचक और बानेके धागे पोषणके सूचक हैं । " ऐसा मानकर ही तुम कपडा बुनो। अपना कपडा स्वयं बुननेसे ऐश्वर्य और पोषण स्वयं हो जाता है और जिस कुटुंबमें और जिस परिवार में माता अपने बच्चोंके लिये कपडा बुनती है वहां तो उस परिवारका ऐश्वर्य और पोषण होनेमें कोई शंकाही नहीं है । जहां इस प्रकार सुख और शांति रहेगी वहां ही—

४ दीर्घ आयु ।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः (मं० ३)

" सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त होगी " यह बात सहज ही से ध्यानमें आ सकती है । यह तृतीय मंत्र वास्तव में बाल

के लिये आशीर्वाद परक है, तथापि उसमें अपने बुने कपडेका महत्त्व इस प्रकार सूक्ष्म रीतिसे दर्शाया है । पाठक इसका विचार करें और इससे बोध प्राप्त करें, तथा अपने घरमें इस महत्व पूर्ण बातका प्रचार करें । विशेषतः जो वैदिक धर्मी हैं उनको इसका आचरण अवश्य करना चाहिये ।

सुदृढ शरीर ।

हाथसे काते हुए सूतका कपडा पहननेसे शरीरमें कोमलता नहीं आती, जैसे अन्य नरम कपडे पहननेसे आती है । यह कोमलता बहुत बुरी है, इससे सौ वर्षकी दीर्घआयु प्राप्त नहीं होती । अतः अपना शरीर सुदृढ बनानेकी बहुत आवश्यकता है, बालकपनमें ही यह उपदेश इस सूक्त द्वारा सुनाया है, इस " प्रथमवस्त्र परिधारण " के समय ही एक विधि बनाया जाता है जिसमें वस्त्र पहनते ही उस बालकको पत्थरपर रखा जाता है और यह मंत्र बोला जाता है–

एहि, अश्मानं आतिष्ठ, ते तनूः अश्मा भवतु ।
ते शरदः शतं आयुः विश्वे देवाः कृण्वन्तु ॥ (मं० ४)

" यहां आ, इस पत्थरपर चढ, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ हो, तेरी सौ वर्षकी आयु सब देव करें । "

बालक सुदृढांग हो इस विषयका उत्तम उपदेश इस मंत्रमें है । छोटेपनमें मातापिता अपने बालक और बालिकाओंको सुदृढांग बनानेका यत्न करें और कभी ऐसा प्रयत्न न करें कि जिससे बालक नरम शरीरवाले हों । बडी आयु में कुमार और कुमारिका भी अपना शरीर सुदृढांग बनानेके प्रयत्नमें दत्तचित्त हों । इस प्रकार किया जाय तो जाती वज्रदेही बन जायगी । योगसाधन द्वारा भी वज्रकाया बनायी जाती है, इस विषयके प्रयोग योगसाधनमें पाठक देखें । शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेके अभ्याससे भी मनुष्यका देह सुदृढ हो जाता है ।

आगे पंचम मन्त्रके पूर्वार्धमें कहा है कि " हे बालक ! तेरे लिये जो हम यह प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र (प्रथम-वास्यं वासः) लाते हैं, उस तुझको सब देव सहायकारी हों । " इस मंत्रमें " प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र " का उल्लेख है । इससे बालककी आयुका अनुमान हो सकता है । जन्मसे कुछ मास तक विशेष वस्त्र पहिनाया ही नहीं जाता । चतुर्थ मंत्रमें " पत्थर पर खडा करने " का उल्लेख है । अपने पांवसे न भी खडा हो सके तो भी दूसरेकी सहायतासे खडा होने योग्य बालक चाहिये । इस मंत्रसे इतनी बात निश्चित है कि यह बालक कमसे कम दो तीन वर्षकी आयुवाला हो, जिस समय यह " प्रथम वस्त्रपरिधारण " किया जाता है । इसी आयुमें बालक क्षणभर दूसरेकी सहायतासे क्यों न सही पत्थर पर खडा हो सकता है । कमसे कम हम इतना कह सकते हैं, कि इससे कम आयु इस कार्यके लिये योग्य नहीं है । 'अश्मानं आतिष्ठ' ये शब्द प्रयोग अपने पांवसे पत्थर पर चढनेका भाव बताते हैं । इसलिये तीन वर्षकी आयु कमसे कम मानना अनुचित नहीं है । चार या पांच वर्षकी आयु मानना भी कदाचित् योग्य होगा । इस आयुमें यह वस्त्र धारण समारंभ किया जाता है । इस समय जो अंतिम आशीर्वाद दिया जाता है वह भी देखिये, वह बडा बोधप्रद है–

तं त्वा सुजातं वर्धमानम्
बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनुजायन्ताम् ॥ (मं० ५)

" उत्तम जन्मे और उत्तम प्रकार बढने वाले तुझ बालक के पीछे बहुतसे बढनेवाले भाई तुम्हारी माताजीको उत्पन्न हों "

कई माता पिता प्रतिवर्ष सन्तान उत्पन्न करते हैं यह उचित है या नहीं इसका विचार इस आशीर्वाद वचनसे किया जा सकता है । तीन चार वर्ष की बालक की आयुमें यह " प्रथम-वस्त्र-धारण-विधि " किया जाता है, इस विषयमें इससे पूर्व बताया ही है । इसी समय यह आशीर्वाद दिया जाता है, कि " जैसा यह बालक हृष्टपुष्ट और तेजस्वी बनता हुआ बढ रहा है, वैसे और भी बच्चे इसके पीछे उत्पन्न हों । " मानलें कि यह आशीर्वाद प्रथम बालककी चतुर्थवर्षकी आयुके समय मिला है तो पंचम वर्षमें द्वितीय बालक के जन्मका समय आजाता है । इस प्रकार प्रत्येक दो बालकोंके जन्मोंके बीचमें पांच वर्षोंका अंतर होता है । देखिये—

(१) प्रथम बालकका जन्म । (२) उसके चतुर्थ वर्षमें यह " प्रथम वस्त्र धारण विधि " करना है, (३) इसीमें बालक को पत्थर पर चढाकर खडा करना है और पत्थर जैसा सुदृढांग बन जानेका उपदेश सुनाना है । (४) इसी समय आशीर्वाद देना है कि तुम्हें हृष्ट पुष्ट भाई भी पीछेसे हों ।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक हो गया तो पहिले के पांचवें वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना संभव है। अर्थात् पहिले बालकको माताका दूध अच्छीतरह मिलेगा जिससे पुत्रकी पुष्टि भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा। जहां प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है, वहां दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है। इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करें और यदि यह प्रथा अपने परिवारमें लाने योग्य प्रतीत हो, तो लानेका यत्न करें ।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्रति पांच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्तिका कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं। पहिले की अपेक्षा दूसरेकी और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेकी शारीरिक निरोगता हमने अधिक देखी है। यह विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहां किया है। पाठक इसे अश्लील न समझें क्योंकि इसके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार संबंधित है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका योग्य विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे।

—:०:—

विपत्तियोंको हटानेका उपाय ।

(१४)

[ऋषिः-चातनः । देवता-शालाग्निर्दैवत्यं ।]

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्। सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः॥१॥
निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्। निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥२॥
असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः। तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

अर्थ-[निःसालां] घरदार न होना, [धृष्णुं] भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको डराना, [एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं] निश्चयपूर्ण एक भाषण करनेवाली निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाली, तथा [चण्डस्य सर्वाः नप्त्यः] क्रोधकी सब की सब सन्तानें और [स—दान्वाः] दानवोंकी राक्षस वृत्तियोंका हम [नाशयामः] नाश करते हैं॥ १ ॥

[वः गोष्ठात् निः अजामसि] तुमको हमारी गोशालासे हम निकाल देते हैं, [अक्षात् निः] हमारी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, [उपानसात् निः] अन्नपानके गड्डेके स्थानसे तुमको हटाते हैं, [मगुन्द्याः वः निः] मनके मोह से तुमको हटाते हैं। हे [दुहितरः] दूर रहने योग्य ! तुम्हें [गृहेभ्यः चातयामहे] घरोंसे हटाते हैं ॥ २ ॥

[असौ यः अधरात् गृहः] यह जो नीच घराना है [तत्र अराय्यः सन्तु] वहां विपत्तियां रहें [तत्र सेदिः] वहां ही क्लेश [नि उच्यतु] निवास करे [सर्वाः यातुधान्यः] सब दुष्ट वहां ही जाय ॥ ३ ॥

भावार्थ— आसुरी भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियां हैं उनमें कुछ ये हैं—

(१) घरदार कुछ भी न होना,

(२) सदा औरोंका भय प्रतीत होना या दूसरोंको घबराना,

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥४॥
यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः। यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः॥५॥
परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् । अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६॥

अर्थ-[भूतपतिः इन्द्रः] प्रजापालक राजा [सदान्वाः इतः निरजतु] राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे । [गृहस्य बुध्न आसीनाः] घरकी जडमें निवास करनेवाली दुष्टताएं [इन्द्रः वज्रेण अधितिष्ठतु] इन्द्र अपने वज्रसे हटादेवे ॥ ४ ॥

हे [स-दान्वाः] आसुरी वृत्तिसे होनेवाली पीडाओ ! [यदि क्षेत्रियाणां स्थ] यदि तुम वंश संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, [यदि वा पुरुषेषिताः] यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो [यदि दस्युभ्यः जाताः] यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब [इतः नश्यत] यहांसे हट जाओ ॥ ५ ॥

[आशुः गाष्ठां इव] जैसे घोडा अपने स्थान को पहुंचता है उसी प्रकार [आसा धामानि परि सरन्] इन विपत्तियोंके मूल कारणको ढूंढ कर निकाल दो । [वः सर्वान् आजीन् अजैषं] तुम्हारे सब संग्रामों को जीत लिया है जिसने हे [स-दान्वाः] पीडाओ ! [इतः नश्यत] यहां से हट जाओ ॥ ६ ॥

---

(३) निश्चयात्मक एक बुद्धि कभी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना,

(४) मन सदा क्रोधवृत्तिसे युक्त होना, ये सब विपत्तिया हैं, इनको पुरुषार्थसे हटाना चाहिये ॥ १ ॥

जिसप्रकार पुत्रियोंको विवाहादि करके घरसे दूर करते हैं उसी प्रकार इन विपत्तियोंको भी अपने पाससे दूर हटाना चाहिये । गोशालासे, घरोंसे, अपनी दृष्टिसे, अन्नपान या गाडी रथ आदिके स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको हटानेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २ ॥

जो नीच वृत्तिवालोंके घर हैं वहीं विपत्ति, नाश तथा दुष्ट दुराचारीभी रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासनद्वारा दूर करे । किसी भी घरके अंदर दुष्टभाव आश्रय लेने न पावे ॥ ४ ॥

इन पीडाओंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होने वाली पीडाएं होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसप्रकार घोडा अपना पांव उठा कर प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है उसीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे हटाना चाहिये । सब जीवनकलहोंमें अपना विजय निःसन्देह हो जावे, ऐसी अपनी तैयारी करने से और हरएक जीवनयुद्धमें जाग्रत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही ये सब पीडाएं हट सकती हैं॥ ६ ॥

विपत्तियोंका स्वरूप।

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है वह क्रमशः देखिये—

१ निः साला = शाला अर्थात् घर दार न होना, निवास स्थान न होना, विश्रामके लिये कोई स्थान न होना। (मं० १)

२ धृष्णु = सदा भयभीत रहना, दूसरेसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मात्माओंसे डरना, ऐसे कुछ कुकर्म करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकडे । इसका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ दूसरोंको डराना भी है। दूसरोंको भय दिखाना, घबराना, दूसरोंको भयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना इ० (मं० १)

३ एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं = एक निश्चय करनेवाली बुद्धिका नाश करनेवाला घात पातका स्वभाव। बुद्धिसे कार्याकार्यका निश्चय होता है, इस निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव । जिसको निश्चयात्मक बुद्धिही नहीं होती, सदा संदेहमें जो रहता है । (मं १)

४ चण्डस्य सर्वां नप्त्यः = क्रोधकी सब संतान। अर्थात् क्रोधसे जो जो आपत्तियां आना संभव है वे सब आपत्तियां। (मं० १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः) = असुरोंका नाम दानव है। दानवका अर्थ है घात पात करनेवाले; गीतामें आसुरी संपत्तिका वर्णन विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घात पात करते हैं उनका यह नाम है। दानव भावसे युक्त होना यह भी बडी भारी आपत्ति ही है। (मं० १)

६ अ-राय्यः = कंजूसीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव। (मं० ३)

७ सेदिः = क्लेश, महाक्लेश। शारीरिक कृशता, दुर्बलता। कुछ भी कार्य करनेकी सामर्थ्य न होना। (मं० ३)

८ यातुधान्यः = धन्यता न होना। चोर डकैति करनेवाले लोग और उनके वैसे घृणित भाव। (मं० ३)

ये सब आपत्तियां हैं। इनका विशेष विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अंशतः सब इनके क्लेशोंसे परिचित हैं। इसलिये सभी चाहते होंगे कि ये सब क्लेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं-

तीन भेद।

१ क्षेत्रियाः = अर्थात् कई आपत्तियां ऐसी होती हैं कि जो मनुष्य के स्वभावमें क्षेत्रसे आयीं होती हैं, वंशपरंपरासे प्राप्त होती हैं, जन्म स्वभावसे होती हैं। (मं० ५)

२ पुरुषेषिता = दूसरी आपत्तियां ऐसी होती है कि जो (पुरुष-इषिताः) अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणओंके कारण होती हैं। (मं० ५)

३ दस्युभ्यः जाताः = तीसरी आपत्तियां ऐसी हैं कि जो दस्यु चोर डाकु आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होतीं हैं। (मं० ५)

आपत्तियोंके तीन भेद हैं (१) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, (२) दूसरे पुरुषोंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और (३) दुष्टोंके कारण होनेवाली। इन सब आपत्तियोंको अवश्य दूर करना चाहिये।

कई आपत्तियां खानपान आदिके स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं जैसे रोगादि आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये उनके उद्गम स्थानमें ही प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये-

आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि।

१ गोष्ठात् निः अजामसि— गोशालासे हटाता हूं अर्थात् गोशाला के कुप्रबंध में जिन रोगादि आपत्तियोंकी उत्पत्ति हो सकती है उसको दूर करना हूं। गोशालाकी पवित्रता करनेसे इन आपत्तियोंका नाश हो सकता है। (मं० २)

२ उपानसात् निः अजामसि — अन्नपानके गड्डे, अथवा वाहन आदिके स्थानमें जो कुछ दोष होनेसे आपत्तियां आसकती हैं उनकी शुद्धतासे इन आपत्तियोंको मैं हटाता हूं। (मं० २)

३ अक्षात् निः अजामसि-- अपनी दृष्टिके दोषसे जो जो बुरे भाव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करने द्वारा मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूं। इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके शुद्धिकरण द्वारा बहुतसी आपत्तियोंको दूर किया जा सकता है। आत्मशुद्धि की सूचना यहां मिलती है। (मं० २)

४ मगुन्द्याः निः अजामसि = (म-गुन्द्याः = मन ×गुन्द्रयाः) मनको मोहित करनेवाली वृत्तिसे तुमको हटाता हूं। मनकी मोहनिद्रा दूर करता हूं। यह मनकी शुद्धि है। (मं० २)

इस द्वितीय मंत्रमें अपने नेत्र आदि इंद्रियोंकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, गोशालाकी शुद्धि, घरकी शुद्धि, गाडी आदि वाहन जहां रखे जाते हैं उन स्थानोंकी शुद्धि करने द्वारा आपत्तियोंका दूर करनेका उपदेश है। इस मंत्रके अंदर जिन बातोंका उल्लेख है उनसे जो जो शुद्धि स्थान अवशिष्ट रहे होंगे; उन सबका ग्रहण यहां करना उचित है। इसका तात्पर्य यही है कि जहासे आपत्तियां उठती हैं और मनुष्योंको सताती है, उन स्थानोंकी शुद्धता करना चाहिये। पवित्रता करनेसे ही सब स्थानोंसे आपत्तियां हट जाती हैं। मलीनता आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाली और पवित्रता आपत्तियोंको दूर करनेवाली है। यह नियम पाठक प्रायः सर्वत्र लगा सकते और आपत्तियोंको हटा सकते हैं, तथा सम्पत्तियां प्राप्त भी कर सकते हैं।

नीचतामें विपत्तिका उगम ।

विपत्तियोंका उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय मंत्रका उपदेश है । इसमें कहा है कि- 'जो यह (अधरात् गृह.) नीच घराना है वहा ही सब कंजूसियाँ, विपत्तियाँ, नाश, क्लेश, क्रूरता और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं । ' नीच घरमें इनकी उत्पत्ति है । ' अधर ' शब्द यहा नीचताका द्योतक है । जो ऊपरवाला नहीं वह नीचेवाला है। जहा हीनता होगी वहीं आपत्तियोंका उगम होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

राजाका कर्तव्य ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' (भूतपतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता राजा अपने वज्रसे (सदान्वाः) सब डाकुओं-को और (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरके अंदर छिपे हुए सब दुष्टोंको हटा देवे । ' अर्थात् राजा अपने सुव्यवस्थित राजप्रबंधसे दुष्टोंको दूर करे और अपना राज्य सज्जनोंका घर जैसा बनावे । इस प्रकार उत्तम राजशासन द्वारा दुष्टोंको प्रतिबंध होनेसे सज्जनोंका मार्ग खुल जाता है । सुराज्य होना भी एक बडा साधन है कि जिससे आपत्तिया कम होती हैं, या दूर जाती हैं ।

जीवनका युद्ध ।

आपत्तियोंके साथ झगडा करना, विपत्तियोंसे लडना और उनका पराभव करके अपना विजय संपादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तिया दूर हो सकती हैं । पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हरएक स्थानपर करना पडता है । शरीरमें व्याधियोंसे झगडना है, समाजमें डाकु तथा दुष्टोंसे लडना होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अतिवृष्टि अनावृष्टि अकाल आदिसे युद्ध करना पडता है। इस छोटे मोठे कार्यक्षेत्रोंमें छोटे मोठे युद्ध करने ही होते हैं । इन युद्धोंको किये विना और वहां अपना विजय प्राप्त किये विना सुखमय जीवन होना असंभव है । यही बात इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कही है—

वः सर्वान् आजीन् अजैषम् । (मं० ६)

' सब युद्धोंमें मैं विजय पाता हूं । ' इस प्रकार सब युद्धोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है । प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने योग्य शक्ति अपने अंदर वढानी चाहिए । अन्यथा विजय होना अशक्य है। शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति वडी रही तभी विजय हो सकता है अन्यथा पराजय होगा । पराजय होनेसे विपत्तियां बढेंगी । इस लिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा अपनी शक्ति बढानी चाहिये। और अपना विजय संपादन करना चाहिये। विपत्तियों को दूर करनेका यह मुख्य उपाय है, इसका विचार पाठक करें और अपनी विपत्तियां हटानेके प्रयत्नमें कृतकार्य हों ।

पहिले जितनी भी आपत्तियां गिनी हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक मात्र उपाय है। इससे पहिले कई उपाय बताये हैं । राज शासन सुप्रबंध, आत्मशुद्धि, बाह्य शुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धि के उपाय की विशेषता है, यह बात भूलना नहीं चाहिये ।

जिस प्रकार घोडा चलकर अपने प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक शुभ स्थानपर पहुंचता है । इसलिये मनुष्य प्रयत्न करके ही पुरुषार्थसे सिद्धिको प्राप्त करे । प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको पुरुषार्थसे ही प्राप्त हो सकता है । पुरुषार्थ प्रयत्नके विना विपत्तियां दूर होना असंभव है ।

विपत्तियोंको हटानेके विषयमें यह सूक्त बडे महत्त्व पूर्ण आदेश दे रहा है । पाठक यदि इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तिया हटानेका और संपत्तिया प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा । आशा है कि पाठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे ।

—:o:—

निर्भय जीवन ।

(१५)

[ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ २ ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ३ ॥
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ४ ॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यत । एवा० ॥ ५ ॥
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

अर्थ-(यथा द्यौः च पृथिवी च) जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी (न बिभीतः) नहीं डरते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं नष्ट होते, (एवा) ऐसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण ! (मा बिभेः) तू मत डर ॥ १ ॥

जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्री नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते० ॥ २ ॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र० ॥ ३ ॥

ब्रह्म और क्षत्र ॥ ४ ॥०

सत्य और अनृत ० ॥ ५ ॥ ०

भूत और भविष्य नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ- द्युलोक पृथ्वी, दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र, ब्रह्म क्षत्र, ज्ञानी शूर, सत्य अनृत, भूत भविष्य आदि सब किसीसे भी कभी डरते नहीं, इसीलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते । इस से बोध मिलता है, कि निर्भय वृत्ति से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है, अतः हे प्राण ! तू इस शरीरमें निर्भय वृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भय को दूर कर ॥ १-६ ॥

निर्भयतासे अमरपन ।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि ' जो नहीं डरते जो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते । ' उदाहरणके लिये द्यौः पृथ्वी, दिन रात, सूर्यचन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिखा है। दिन रात या सूर्यचन्द्र किसीका भय न करते हुए निःपक्षपातसे अपना कार्य करते हैं । समय होते ही उदय होना या अस्तको जाना आदि इनके सब कार्य यथाक्रम चलते रहते हैं । किसीकी पर्वा नहीं करते, किसीकी सिफारस नहीं सुनते, किसीपर दया नहीं करते अथवा किसीपर क्रोध भी नहीं करते । अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं इसलिये ये किसीसे डरते नहीं; अतः ये विनाशको भी प्राप्त नहीं होते । इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाश को प्राप्त नहीं होगा । (मं० १-३)

ब्रह्म-क्षत्र ।

आगे चतुर्थ मंत्रमें 'ब्रह्म और क्षत्र' का उल्लेख है । इनका अर्थ 'ज्ञान और शौर्य' है किंवा ज्ञानी और शूर अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी है । सूर्यचन्द्रादिकोंका उदाहरण सन्मुख रखकर ब्राह्मण और क्षत्रियोंको चाहिये कि वे किसी मनुष्यसे न डरते

हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जाय। जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे निडर भावसे अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने यश से इस समय तक जीवित रहे हैं। और आगेभी वे मार्गदर्शक बनेंगे। ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और आदर्श क्षत्रियोंका उदाहरण सन्मुख रखकर अन्य लोग भी भय छोडकर अभयवृत्तिसे अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे।

सत्य और अनृत।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं करते। जो सत्य होता है वही सत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है। कई प्रसंगोंमें सत्ताधारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्य सत्य कर देते हैं; परंतु वह बात थोडे समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके साथ खुल जाती है। इस लिये क्षण मात्र किसीके दबानेसे कुछ न कुछ बन जाय वह बात अलग है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असलीरूपमें प्रकट होने बिना नहीं रहते। इसलिये सदा सत्य पक्षका ही अवलंब करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर शाश्वत पदका अधिकारी होता है।

भूत और भविष्य।

षष्ठ मंत्रमे भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है कि, ये किसीसे डरते नहीं। यह बिलकुल सत्य है। सबका डर वर्तमान कालमें ही होता है। जो डरानेवाले बादशाह थे, जिन्होंने अपनी तलवारके डरावेसे लोगोंको सताया, वे अब भूत-कालमें होगये हैं। उनका डर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सन्मुख खडे होगये हैं!! साधारणसे साधा-रण इतिहास तत्वका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषी ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते। क्योंकि वे भूत कालमें दब गये हैं। इसलिये बडे प्रतापी राजा भी भूत कालमें दब जानेके पश्चात् एक साधारण मनुष्य के सदृश असहाय हो जाते हैं। इतना भूतकालका प्रभाव है। पाठक इस कालके प्रभाव को देखें। समर्थसे समर्थ भी इस भूत-कालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता। परंतु जो धर्मात्मा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी शक्ति इसी भूतकालसे बढती जाती है। रावणका पशुबल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रजीका आत्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इतनाही नहीं प्रत्युत आज भी अनंत लोगोंको मार्गदर्शक होरहा है!! यह भूत कालका महिमा देखिये। भूतकाल निडर है किसीकी पर्वाह नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने कर देता है।

भविष्य काल भी इसी प्रकार है। अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पक्षका विजय होनेकी आशा रहती है। अधर्मके शासनके अंदर दबे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही जीवित रहते हैं। क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नहीं रहता जैसा भूत कालका डर आज नहीं रहा है।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, भूत और भविष्य इन दो कालोंके निडर होनेका तात्पर्य क्या है। इस बातको देखकर मनुष्य मात्र यह बात समझें कि सत्यका ही जय होना है, इसलिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करें और निडर होकर अपना कर्तव्य पालन करें।

अभय वृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है।

विश्वंभर की भक्ति ।

(१६)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥
सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥
अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥
विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ-हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः मा पातं) मृत्युसे मुझे बचाओ (स्वा-हा) मैं आत्म समर्पण करता हूं ॥ १ ॥

हे द्युलोक और पृथ्वी लोक ! (उपश्रुत्या मा पातं) श्रवण शक्तिसे मेरी रक्षा करो० ॥ २ ॥

हे सूर्य ! (चक्षुषा मा पाहि) दर्शन शक्तिसे मेरी रक्षा कर० ॥ ३ ॥

हे वैश्वानर अग्ने ! (विश्वैः देवैः मा पाहि) संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर० ॥ ४ ॥

हे विश्वंभर ! (विश्वेन भरसा मा पाहि) संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा कर, (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ-प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिसे मेरा बचाव करें ॥ २-३ ॥

विश्वव्यापक पुरुष सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करें। मैं अपने आपको उसीकी रक्षामें समर्पित करता हूं ॥ ४-५ ॥

विश्वंभर देव ।

इस सूक्तके अंतिम पंचम मंत्रमें ' विश्वं-भर ' शब्द है, विश्वका भरण और पोषण करनेवाला देव यह इसका अर्थ है। सम्पूर्ण जगत्का भरण पोषण करनेवाला एक देव यहां ' विश्वंभर ' शब्दसे कहा है। यह विश्वंभर शब्द परमात्मविषयक होनेमें शंकाही नहीं है। और इस शब्द द्वारा यहां जगत् के एक देव की उत्तम कल्पना व्यक्त की गई है। मं० ५

इस जगत् के भरण पोषण करनेवाले इस देवके पास (विश्वेन भरसा) विश्वव्यापक पोषक रस है जिससे यह देव सब जगत् का पोषण करता है।

वैश्वानर ।

चतुर्थ मंत्रमें इसीका नाम 'वैश्वा-नर' है इसका अर्थ है विश्वका नेता, विश्वका चालक, संपूर्ण जगत् का नर, सब जगत् मुख्य, सब जगत् में मुख्य पुरुष। यही विश्वंभर नामसे आगे वर्णन किया गया है। जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्यापता है इसी प्रक

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥
(इति तृतीयोऽनुवाकः ।)

अर्थ- तू (चक्षुः) दर्शन शक्ति है मुझे दर्शन शक्ति दे ॥ ६ ॥

तू (परिपाणं असि) सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे। (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, श्रवण, दर्शन और परिपालन इन शक्तियों से युक्त है, इसलिये मुझे इन शक्तियोंका प्रदान कर ॥ (१—७)

(१८)

(ऋषिः-चातनः । देवता-अग्निः)

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥
सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥
अराय-क्षयणमस्यराय-चातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥
पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥
सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ-तू (भ्रातृव्य-चातनं) वैरियोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है मुझे वह बल दे ॥ १ ॥

तू सपत्नोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ २ ॥

तू (अ-राय-क्षयणं) निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ३ ॥

तू (पिशाच-क्षयणं) मांस चूसनेवालोंका नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ४ ॥

तू (स-दान्वाक्षयणं) आसुरी वृत्तियों को दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं (स्वा हा) आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ-वैरी, शत्रु, कंजूस, खूनचूस और आसुरीवृत्तिवाले इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है,यह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आप को तेरे लिये अर्पण करता हूं ॥ १-५ ॥

बलकी गणना।

इन दो सूक्तोंमें आत्म संरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, वह बल ये हैं—

१ ओजः-स्थूल शरीरकी शक्ति, पुट्ठोंका बल,

२ सहः—शीत उष्ण अथवा अन्यान्य द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति। अपना कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करनेकी आवश्यकता हो, वे कष्ट आनन्दसे सहन करनेकी सदा तैयारी रखनेका नाम सह है। शत्रुका हमला आगया तो उससे न डरना तथा अपना स्थान न छोडना, अर्थात् शत्रुका हमला आगया तो भी अपने स्थानमें ठहरना। यह भी एक सहन शक्ति ही है। सहज ही में शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं परंतु शत्रुसे कभी पराजित ही न होना। शत्रुके हमले सहन करके स्वस्थानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना।

३ बलं-सब प्रकारके बल। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विषयक आदि जितने भी बल मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक होते हैं वे सब बल।

४ आयुः—दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु ।

५ श्रोत्रं—कान आदि इंद्रियोंकी शक्तियां । श्रवणसे प्राप्त होनेवाली अप्रत्यक्ष शब्दविद्या ।

६ चक्षुः—चक्षु आदि इंद्रियोंकी शक्तियां । प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान ।

७ परिपाणं—परित्राण की शक्ति । अपनी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति । (परि) सब प्रकारसे अपना (पाणं) संरक्षण करनेकी शक्ति ।

८ भ्रातृव्य—क्षयणं-भ्रातृव्य शब्दका अर्थ यहां विशेष मननसे देखना चाहिये । दो भाईयोंके पुत्र आपसमें भ्रातृव्य कहलाते हैं । यह घरमें भ्रातृव्यपन है । इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें " भ्रातृव्य " कहलाती है । इनमें वारंवार युद्ध प्रसंग होते हैं । ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें शत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अपनेमें बढानी चाहिए तभी विजय होगा । अन्यथा पराभव होगा । राष्ट्रीय चतुरंग बलकी सिद्धता करनेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है । यह राष्ट्रके बाहरके शत्रुसे युद्ध है ।

९ सपत्नक्षयणं—एक राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं । इन पक्ष भेदों का नाम " सपत्न " है क्योंकि ये एकही पतिके अंदर हुआ करते हैं । इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा होना स्वाभाविक है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करने या अन्य सपत्नोंको हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है । यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है ।

१० अरायक्षयणं—राय शब्द धनका वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है । यह निर्धनता सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है । वैश्यों और कारीगरोंके उत्कर्षसे यह बात साध्य हो सकती है ।

११ पिशाचक्षयणं—रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम पिशाच है । (पिशिताच्- पिशाच) रक्त पीनेवाले रोग भी हैं जिनमें रक्त की क्षीणता होती है । मनुष्योंमें वे लोग कि जो रक्त मांस भोजी होते हैं । इनमें भी कच्चा मांस खानेवाले विशेषकर पिशाच कहलाते हैं । समाज से इनको दूर रखना योग्य है ।

१२ स-दान्वाक्षयणं—(स—दानव—क्षयणं) असुर राक्षसोंका नाश करना, या उनको दूर करना । यह पुराणोंमें " देवासुर युद्ध " नामसे प्रसिद्ध है । आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवासुरोंके झगडे चलही रहे हैं और उनमें असुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है यह सब बात स्पष्ट होनेके कारण इसका अधिक विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

स्वाहा विधि ।

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये । इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी विभिन्न हो सकती है । पाठक प्रत्येक बलक और उसके प्रयोग क्षेत्रका अच्छी प्रकार मनन करेंगे तो उनको इस बातका पता लग सकता है । दूसरोंका घातपात करनेके कार्य में अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बलों का उपयोग " स्वाहा " विधिसे करनेको कहा है । " स्वाहा " विधिका तात्पर्य ' आत्मसर्वस्वका समर्पण ' करना है । पूर्णकी भलाईके लिये अंशका यज्ञ करना स्वाहाका तात्पर्य है ।

इस स्वाहा यज्ञ द्वारा उक्त शक्तियां अपने अंदर बढजांय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तोंमें विशेष महत्त्व रखता है ।

स्व = अपना
हा = त्याग　} — **आत्म—सर्वस्व—समर्पण ।**

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा नाम है । यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी ब्राह्मपद्धति बता रहा है । क्षात्रादि पद्धतिमें तो दूसरोंका विनाश मुख्य बात है और ब्राह्मपद्धतिमें स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है । सब शत्रुनाश, या शत्रुसुधार इसी विधिसे कैसा करना यह एक बडी समस्या है । परंतु पाठक इसका बहुत विचार करेंगे तो इस समस्याका हल स्वयं हो सकता है । क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है ।

दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति मांगी है, उसके साथ "स्वाहा" का उल्लेख हुआ है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि यह एक प्रचंड शक्ति है। यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित हो गई और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढता गया तो कितनी हानी की संभावना है। एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिए। कोई बडा मल्ल है, बडा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है। परंतु यदि वह मल्ल अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके कर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा। तो कितना लाभ हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए। आत्म समर्पणसेही शक्तिका सच्चा उपयोग हो सकता है। और सच्चा हित भी हो सकता है।

इस लिए इन दो सूक्तोंमें बारह वार "स्वाहा" का उच्चार करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश किया है। जो जो शक्ति अपनेमें बढेगी, उस उस शक्तिका उपयोग में आत्मसमर्पण की विधिसे ही करूंगा ऐसा निश्चय मनुष्य को करना चाहिए तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है।

शुद्धि की विधि।

(१९-२३)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता १९ अग्निः, २० वायुः, २१ सूर्यः २२ चन्द्र, २३ आपः)

(१९) अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि० ॥ २ ॥
अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२०) वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२१) सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥

सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२२) चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२३) आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो० ॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो० ॥ ३ ॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो० ॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५ ॥

अर्थ-हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, और आप् देवता ! आपके अंदर जो (तपः) तपानेकी शक्ति है उससे (तं प्रति तप) उसको तप्त करो (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (हरः) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (प्रतिहर) दोष हरण करो जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं २ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (अर्चिः) दीपन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्च) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (शोचिः) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (प्रति शोच) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं॥ ४ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (तेजः) तेज है उससे उसको (अतेजसं) अतेजस्वी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ-हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् देवो ! आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियां हैं, इसलिये कृपा करके हमारे द्वेषोंको इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो; अर्थात् उनको तपाकर, उनके दोषोंको हटाकर, उन में आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनको आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्धि करो। जिस से वे कभी किसीका द्वेष न करेंगे और मिलजुल कर आनंदसे रहेंगे ॥

पांच देव

इन पांच सूक्तोंमे पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्य में उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है । वे पांच देवताएं ये हैं—

" अग्नि, वायु, सूर्य , चन्द्र, आपः "

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें हिलानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता, और आप (जल) में पूर्ण शांति है। अर्थात् ये देवताएँ इस व्यवस्थासे एकके पश्चात दूसरी आगई हैं कि पहिले तपानेसे प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति मिल जावे। अंतिम दो देव चंद्र और आप् पूर्ण शांति देनेवाले हैं। अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्राणगति या जीवन गतिका दाता है। यदि पाठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनको दुष्टोंका सुधार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञात होगी।

पंचायतन ।
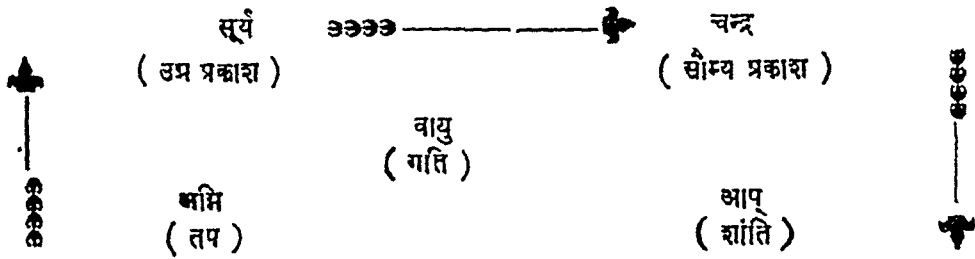
पहिले अग्नि तपाता है, वायु उसमें गति करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें उसे रख देते हैं। उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तत्त्वकी पूर्ण शान्ति या शांतिमय जीवन उसे प्राप्त होता है । शुद्ध होनेका यह मार्ग है। यह क्रम विशेष महत्त्व पूर्ण है। और इसी लिए इन पांचों सूक्तोंका विचार यहां इकठ्ठा किया है।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियां इन सूक्तोंमें वर्णन की हैं। उनके नाम ये हैं।

" तपः, हरः, अर्चिः, शोचिः, तेजः " ये पांच शक्तियां हैं । ये पांचों शक्तियां प्रत्येक देवके पास हैं। इससे पाठक जान सकते हैं कि हरएक की ये शक्तियां भिन्न हैं। अग्निका तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किसीको भी शंका नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियां हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही है। जैसा 'हरः' नामक शक्तिके विषयमें देखिये। हरः का अर्थ है " हरण करना " हरलेना। यहां इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव किस प्रकार करते हैं, देखिये—

१ अग्नि—शीतताका हरण करता है, तपाता है।

२ वायु—आर्द्रता का हरण करता है, सुखाता है।

३ सूर्य—समय का हरण करता है, आयु घटाता है।

४ चन्द्र—मनस्तापका हरण करता है, मनकी प्रसन्नता देता है।

५ जल—शारीरिक मलका हरण करता है, शुद्धता करता है।

प्रत्येक देव हरण करता है, परंतु उसके हरण करनेके पदार्थ भिन्न हैं, इसी प्रकार " तपन, हरण, अर्चन, शोचन और तेजन"के द्वारा इन देवोंसे मनुष्यका सुधार होता है। प्रत्येक देवताके ये पांच गुण हैं और पांच देवता हैं, इसलिए सुधार होनेके

लिए पचीस छाननियोंसे छाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेमें सहज हीमें जान जायंगे।

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिए हमें यहां इन पांच गुण शक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः तपाना, तपना। इसका महत्त्व बडा भारी है। सुवर्णादि धातु अग्निमें तपने से ही शुद्ध होते हैं। कायिक वाचिक मानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है। तपना अनेक प्रकारसे होता है। तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है।

२ हरः— हरण करना, हरलेना। दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना। सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपानेसे दोष दूर होते हैं और उनकी शुद्धता होती है। इसी प्रकार अन्यान्य तप करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है।

३ अर्चिः–अर्च् धातुका अर्थ 'पूजा और प्रकाश' है। पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासना का प्रकाश उस मनुष्यके अंदर डाला जाता है। दोष दूर होनेके पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं।

४ शोचिः---शुच् धातुका अर्थ शोधन करना है। शुद्धता करना। तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् शोधन हुआ करता है। शोधन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना। हरण और शोधन में जो भेद है वह पाठक अवश्य देखें। स्थूल दोषोंका हरण होता है और सूक्ष्म दोषोंका शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात्—

५ तेजः—तेजन करना है। तिज् धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है। शस्त्र की धारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहां अभीष्ट हैं। तीखा करना, तेज करना, बुद्धिकी तीव्रता संपादन करना।

उदाहरण के लिये लोहा लीजिये। पहिले (तपः) तपाकर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला (अर्चिः) जाता हैं, नंतर (शोचिः) पानीमें बुझाकर जल पिलाया जाता है और तत्पश्चात् (तेजः) उस शस्त्रको तेज किया जाता है। यह एक चक्कू छुरी आदि बनानेकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनाधिक प्रमाणसे इन विधियोंकी उपयोगिता होती है। फिर मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीवकी शुद्धताके लिये इनकी उपयोगिता अन्यान्य रीतियोंसे होगी इसमें कहनेकी क्या आवश्यकता है! तात्पर्य " तपन, हरण, अर्चन, शोधन, और तेजन " यह पांच प्रकारका शुद्धिका विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। दुष्ट मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है। पाठक इसका बहुत मनन करें।

मनुष्यकी शुद्धि।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इसका विचार करना चाहिए। इस कार्य के लिए पूर्वोक्त देव मनुष्यमें कहां और किस रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिए। इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धीकरण विधिका पता स्वयं लग सकता है। इस लिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर कहां और किस रूपमें विराजमान हैं यह देखिये—

देवतापंचायतन।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप् ये पाच देवताएं निम्नलिखित रूपसे रहती हैं—

१ अग्निः [अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्] = अग्नि वाणीका रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है। अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्निका रूप वाक् है।

२ वायुः (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत) = वायु प्राण का रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है। और यह प्राण एकादश विध होकर सब शरीरमें व्यापता है।

३ सूर्यः (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) = सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) = चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ वसा है।

५ आपः (आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्) = जल रेत बन कर शिश्नके स्थानपर वसा है।

ये पांच देव इन पाच रूपोंमें अपने आपको ढाल कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं । यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहांही पाठक देखें । यहा जो वाक्य ऊपर लिए हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ऐ० उ०-१।२) मेंसेही लिए हैं । इन वाक्योंके मननसे पता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहां है । अब ये अर्थ लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंसे अर्थ देखिए-

सूक्त १९ = [अग्नि-वाणी] = हे वाणी ! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमारा द्वेष करता है । तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर शोधक गुण है उससे उसकी शुद्धी कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीको तेजस्वी बना ॥ १—५ ॥

सूक्त २० = [वायु = प्राण] = हे प्राण ! जो तेरे अंदर तप, दोष--हरण--शक्ति, दीपन शक्ति, शोधन शक्ति और तेजनशक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबका द्वेष करता है ॥ १—५ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है । प्रत्येक की पाच शक्तियां हैं और उनसे जो शुद्धता होती है,उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट हो चुका है । जो बाह्य देवताएं हैं उनके अंश हमारे अंदर विद्यमान हैं; उन अंशोंकी अनुकूलता प्रतिकूलतासे ही मनुष्यका सुधार या असुधार होता है । यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुधारका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है ।

शुद्धिकी रीति ।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्धि होनी चाहिए तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । इसका संक्षेपसे वर्णन देखिए—

१ वाणीका तप—सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिए । जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उसको सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये । सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है । वाणीके अंदर जो दोष होंगे उनको भी दूर करना चाहिये । वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिए, जो बोलना है वह सावधानीसे परिशुद्ध विचारों से युक्त ही बोलना चाहिए । इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उसके शब्द सुननेके लिए उत्सुक हो जाता है । (सू० १९)

२ प्राणका तप—प्राणायामसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धोंकनीसे वायु देनेसे अग्नीका दीपन होता है उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरके नसनाडीयोंकी शुद्धता होकर तेज बढ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढता है, शोधन होता है और तेजस्विता भी बढजाती है । इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है । (सू० २०)

३ आंखका तप—आंख द्वारा दुष्ट भावसे किसी ओर न देखना और मंगलभावनासे ही अपनी दृष्टिका उपयोग करना नेत्रका तप है । पाठक यहां विचार करें कि अपने आंखसे किस प्रकार पाप होते रहते हैं और किस प्रकार पतन होता है । इससे बचनेका यत्न हरएक को करना चाहिए । इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंका संयम करना भी तप है जो मनुष्यकी शुद्धता कर सकता है । अपने इंद्रियोंको बुरेपथसे हटाना और अच्छे पथ पर चलाना बडा महत्त्व पूर्ण तप है । इसीसे दोष हटते हैं, शोधन होता है और तेज भी बढता है । (सू० २१)

४ मनका तप—सत्य पालन करना मनका तप है । बुरे विचारोंको मनसे हटाना भी तप है । इस प्रकारके मनके तप करनेसे मनके दोष दूर हो जाते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है । (सू० २२)

५ वीर्यका तप—(ब्रह्मचर्य) शिश्न इंद्रियका, वीर्यका अथवा कामका तप ब्रह्मचर्य नामसे प्रसिद्ध है । ब्रह्मचर्यसे सब अपमृत्यु दूर होते हैं और अनन्त प्रकारके लाभ होते हैं रोगादि भय दूर होते हैं और निसर्गका आरोग्य मिलता है। ब्रह्मचर्यके विषयमें सबलोग जानते ही हैं इस लिए इसके संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । ब्रह्मचर्य सब प्रकारसे मनुष्यमात्र के उद्धार का हेतु है । (सू० २३)

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण), सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इन देवोंके आश्रयसे मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है । प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष हटजाते और उसमें गुण बढते जाते हैं । इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है ।

द्वेष करना ।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिए । दूसरोंका द्वेष करना इतना बुरा है ? इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है । यह सबसे बडा भारी पतन का साधन है ।

आज कल अखबारों और मासिकोंमें देखिए दूसरों का द्वेष अधिक लिखा जाता है और उन्नतिका सच्चा मार्ग कम लिखा जाता है । दो चार मित्र इकट्ठे बैठें या मिलें तो उनकी जो बातचीत, शुरू होती है, वह भी किसी आत्मोन्नतिके विषयपर नहीं होती, परंतु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है । पाठक अपने अनुभव का भी विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्य जितना कुछ बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरेकी निन्दा या दूसरेका द्वेष होता है । मनुष्योंके अवनतिका यह प्रधान कारण है । यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोड दे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है । परंतु दूसरेका द्वेष करना बडा प्रिय और रोचक लगता है, इसलिए मनुष्य द्वेषही करता जाता है और गिरता जाता है ।

इसलिये इन पांच सूक्तों के प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि " जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिये । " क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंका द्वेष करनेवाला ही है । यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है ।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है । यह मनका धर्म है । पाठक इसका स्मरण करें । जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणों की संख्या बढती रहती है, किसी कारण भी वह कम नहीं होती । पाठक विचार करें कि मनही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है । जैसा मन वैसा मानव यह नियम अटल है । अब देखिए, जो मनुष्य दूसरेके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है । अतः निन्दक मनुष्य दिन ब दिन गिरता जाता है ।

इसी लिए द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिए । और अपनी शुद्धि करना चाहिए । तथा आगेके लिए निन्दावृत्ति छोडना भी चाहिए । अन्यथा धोये हुए कपडोंको फिर कीचडमें फेंकनेके समान दुरवस्थाका सुधार हो ही नहीं सकता ।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपनी परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आक्रमण करें । जो धर्ममें नव प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सचमुच शुद्धि करनेका अनुष्ठान भी इन सूक्तोंके मननसे ज्ञान हो सकता है । नव प्रविष्टोंकी इस प्रकार अनुष्ठान द्वारा सच्ची शुद्धि करनेका मार्ग उनके लिए खुला होनेसेही उनकी सच्ची उन्नति हो सकती है और वैदिक धर्मकी विशेषता भी उनके मनमें स्थिर हो सकती है । पाठक इन सब बातोंका विशेष विचार करें और इन वैदिक आदेशोंसे लाभ उठावें ।

डाकुओंकी असफलता।

(२४)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-आयुष्यम्)

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥
शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ २ ॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु०।० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

अर्थ-हे (शेरभक शेरभ) वध करनेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय। (यस्य स्थ) जिसके साथी तू हो (तं अत्त) उसको खाओ। (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपनाही मांस खाओ ॥ १ ॥

हे (शेवृधक शेवृध) घातपात करनेवाले०।० ॥ २ ॥

(हे म्रोक अनुम्रोक) हे चोर और चोरोंके साथी ! ०।० ॥ ३ ॥

हे (सर्प अनुसर्प) हे सांपके समान छिपके हमला करनेवाले ! ०।० ॥ ४ ॥

हे (जूर्णि) विनाशक ! ०।० ॥ ५ ॥

हे (उपब्दे चिल्लानेवाले ! ०।० ॥ ६ ॥

हे (अर्जुनि) दुष्ट मनवाले ! ०।० ॥ ७ ॥

हे (भरूजि) नीच वृत्तिवाले ! तुम सबके (यातवः , अनुयायी और (हेतिः) शस्त्र तथा (किमीदिनीः) लूट करनेवाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (पुनः यन्तु) वापस चले जांय। जिसके अनुयायी तुम हो (तं अत्त) उसीको खाओ जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, अथवा अपना ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ (परंतु किसी दूसरेको कष्ट न दो ।)

भावार्थ-जो दुष्ट मनुष्य अथवा घातपात करनेवाले मनुष्य होते है वे शस्त्रास्त्रोंसे सज्ज होकर अपने अनुयायियोंके साथ दूसरोंपर हमला करके लूटमार करते हैं और सज्जनोंको सताते हैं। राजाकी सुव्यवस्थासे ऐसा प्रबंध किया जावे कि इन

दुष्टोंमेंसे कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको लूट न सके। इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जाय, इनके शस्त्र व्यर्थ हो, ये डाकूसंघ भूखे मरने लगें। ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त न कर सकें। विफल मनोरथ होते हुए ये डाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खाकर स्वयं ही नष्ट हो जाय ॥ १-८ ॥

दुष्ट लोग।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें डाकू चोर लुटेरे रहते हैं। ये डाकू रात्रीके या दिन के समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं। इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वाह करते हैं।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें। सर्वदा इनका हमला निष्फल होवे। प्रतिसमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये लोग भूखे मरने लगेंगे। पश्चात् आपसमें लडेंगे और आपसमें लड कर मर जायंगे। इनके शस्त्रास्त्र जो दूसरोंके लिये थे वेही इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते थे वेही अपने मांस खायेंगे, क्योंकि दूसरोंके मांस इनको मिलेंगे नहीं और दूसरोंकी संपत्तियां इनको लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होगी।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर लूटेरे भूखसे मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है। ऐसा सुप्रबंध होनेसे डाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनको डाकूके व्यवहार से हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है। पाठक विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंको सुधारनेका मार्ग है और जो विचार पूर्वक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभकारी होगा।
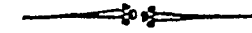
पृश्निपर्णी।

[२५]

(ऋषिः चातनः। देवता-वनस्पतिः)

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्य॑शं॒ निर्ऋ॑त्या अकः। उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वताम्॥१॥
सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत। त॒याहं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृ॒श्चामि॑ श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

अर्थ-[देवी पृश्निपर्णी नः शं] देवी पृश्निपर्णी औषधी हमारे लिये सुख और [निर्ऋत्यै अ-शं] व्याधियोंके लिये दुःख [अकः] करती है। [हि उग्रा कण्व-जम्भनी] क्योंकि वह प्रचंड रोग बीज-नाशक है। [सहस्वतीं तां अभक्षि] बलवती उस औषधिका मैं सेवन करता हूं ॥ १ ॥

[इयं प्रथमा सहमाना पृश्निपर्णी अजायत] यह पहली विजयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है। [तया दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि] उस वनस्पतिसे बुरे नामवाले रोगोंका सिर मैं कुचलता हूं [शकुनेः इव] जिस प्रकार छोटे पक्षीका सिर तोडते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ-पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंको सुख देती है और रोगोंको ही सताती है; यह रोगबीजोंको दूर करती है, रोगोंको भगाती है, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥ १ ॥

इस कार्यके लिये यही मुख्य औषधी है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका सिरही टूट जाता है ॥ २ ॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति । गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३॥
गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान् । तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥४॥
पराच एनान्प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान् । तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥५॥

अर्थ- हे पृश्निपर्णि ! [अ-रायं] शोभा हटानेवाले, [असृक्-पावानं] रक्त पीनेवाले [यः च स्फातिं जिहीर्षति] जो पुष्टिको रोकता है, उसको तथा [गर्भ-अदं] गर्भ खानेवाले, [कण्वं नाशय] रोगबीजका नाश कर और [सहस्व] उसको जीत लो ॥३॥

हे [देवि पृश्निपर्णि] देवी पृश्निपर्णी औषधी ! तू [एनान् जीवितयोपनान्] इन जीवित का नाश करनेवाले [कण्वान्] रोगबीजोंको [गिरिं आवेशय] पहाडपर ले जाओ और [त्वं तान् अग्निः इव अनुदहन्] तू उनको अग्निके समान जलाती हुई [इहि] प्राप्त हो ॥ ४ ॥

[एनान् जीवित-योपनान्] इन जीवितका नाश करने वाले [कण्वान् पराचः प्रणुद] रोगबीजोंको अधोमुखसे ढकेल दे । [यत्र तमांसि गच्छन्ति] जहां अंधकार होता है [तत्] वहां [क्रव्यादः अजीगमं] मास भक्षक रोगोंको प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो रोग शरीरकी शोभा हटाते हैं, खून कम करते हैं, पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको सुखाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥ ३ ॥

जिनको ये रोगबीज सताते हैं उनको पहाडपर बसाओ और पृश्निपर्णी का सेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उसके रोग बीजोंको जला देगी ॥ ४ ॥

प्राण नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो । जहां अंधेरा रहता है वहां ही रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी ।

इस पृश्निपर्णी को चित्रपर्णी कहते हैं । भाषामें इसको ' पीठवन, पीतवन, पठौनी ' कहते हैं । इसके गुण ये हैं-

त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा ।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातिसारतृड्वमीः ॥　　भाव. पू. १ भाग. गुडू० वर्ग.

'यह पीठवन औषधी त्रिदोषनाशक बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृष्णा और वमन दूर होता है।' इस वनस्पतिका वर्णन इस सूक्तने किया है । इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करने के लिये इस औषधी का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये-

रक्त दोष

इस सूक्तमें यद्यपि अनेक रोगमूलोंका वर्णन किया है तथापि प्रायः सभी रोगोंका मूल कारण रक्त दोष प्रतीत होता है। इस विषयमें देखिए—

१ असृक्-पावानं— (असृक्) रक्तको (पावानं) जो पीते हैं । अर्थात् जो रक्तको खाजाते हैं । जो रोग रक्तको शरीरमें कम करते हैं, रक्तकी शुद्धता हटाते हैं और रक्तका प्रमाण कम करते हैं (Animia) पांडुरोग जैसे रोग, जिनमें रक्तकी मात्रा कम होती है । (मं० ३)

२ अ-रायं—(राय, रै) का अर्थ श्री, शोभा, कांति, ऐश्वर्य हैं । शरीरकी शोभा, शरीरका सौंदर्य यहां राय शब्दसे अभीष्ट है । वह इस रोगसे हटता है । शरीरका खून कम और अशुद्ध होनेसे इस पांडु रोग आदिमें शरीरकी शोभा हटजाती है और शरीर मरियलसा होजाता है । (मं० ३)

३ स्फातिं जिहीर्षति—पुष्टि हटाता है । शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है । शरीर कृश होता जाता है। शरीर का सुडौलपन कम होता है। अर्थात् शरीर क्षीण होता है। (मं० ३)

४ गर्भादं (गर्भ—अदं) = गर्भको खानेवाला रोग । माताके गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अशक्त करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग । (मं० ३)

५ कण्वः—जिस रोगमें रोगी अशक्तताका (कणति) शब्द करते हैं, आहें मारते हैं, हाय हाय करते हैं अथवा किसी प्रकार अपनी अशक्तता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं । यह नाम रोग बीजका है जिससे पूर्वोक्त रोग ज्ञात होते हैं। (मं० १,३—५)

६ निर्ऋतिः— (ऋति) सरल व्यवहार, योग्य सत्य रक्षाका मार्ग । (निः-ऋतिः) टेढा चाल चलन, अयोग्य असत्य क्षयका मार्ग । इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं। (मं० १)

७ दुर्णामा—(दुः-नामा) दुष्ट यशवाली रोग। अर्थात् जो रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होते हैं। (मं० २)

ये सात शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम (६ निर्ऋति, ७ दुर्णामा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं । अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन न करने आदि तथा दुष्ट दुराचारके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पाण्डु रोग, क्षय रोग आदि होते हैं। ये दो कारण बता कर इस सूक्तने पाठकोंको सावध किया है कि वे इन घातक रोगोंसे अपना बचाव करें। अर्थात् जो लोग ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करेंगे और धर्माचार से रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं।

रोगका परिणाम ।

इन रोगोंका परिणाम कितना भयानक होता है यह बात यहां बतायी है देखिए—

जीवित-योपनः ॥ (मं. ४-५)

" जिवित का नाश करनेवाला यह रोग है । " खून बिगडकर पाण्डुरोग क्षयरोग रक्तपित्त आदि रोग हुए तो उनो जीवित नष्ट होने की ही संभावना रहती है । ये रोग बडे कष्ट साध्य होते हैं। इसलिए अपने आपको बचाना ही योग्य है।

उत्पत्तिस्थान ।

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तने स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है, देखिए-

तमांसि यत्र गच्छन्ति
तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥ (मं. ५)

" जहां अंधकार रहता है, ऐसे स्थानोंमें रक्त मांस खाने वाले ये रोग बीज प्राप्त होते हैं । " जहां सदा अंधेरा रहत है। जहां वायु नहीं पहुंचता, जहां सूर्य प्रकाश नहीं जा सकता, ऐसे अंधेरे स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें ये रोग बीज होते हैं। अर्थात् जो लोग सदा अंधेरे कमरोंमें निवास करते हैं, स्वछ वायु वाले कमरोंमें नहीं रहते सूर्य प्रकाश न पहुंचनेवाले कमरोंमें रहते हैं। अथवा जिनके निवास गृह ऐसे हैं उनको ये रोग होते हैं । परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले स्थानमें तथा सूर्य प्रकाश प्रतिदिन आनेवाले स्थानोंमें निवास करते हैं उनको ये रोग कष्ट नहीं पहुंचा सकते इसलिए पाण्डुरोग क्षय आदि खून तथा मांस कम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिए सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु जहा परिपूर्ण हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिए।

बचावका उपाय ?

रोग होने के पश्चात् बचावका उपाय इस सूक्तने कहा है वह अब देखिए—

जीवितयोपनान् एतान् काण्वान् ।
गिरिं आवेशय ॥ (मं० ४)

" जीवितका नाश करनेवाले ये रोगबीज जिनके अंदर प्रविष्ट हुए हों अर्थात् जिन को ये रोग हो गये हैं, उनको पहाड पर लेजाओ । " पहिली बात यह है कि ऐसे रोगियों को उत्तम वायुवाले पर्वतके उत्तम स्थानपर ले जाओ । यह सबसे उत्तम उपाय है । इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, जन समूहोंमें मत रखो, परंतु पहाडपर ले जाओ । क्योंकि रोगबीज अंधेरे शुद्धवायुहीन और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन रोगबीजोंका नाश भी ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश शुद्धवायु और अंधेरा न हो । नगरोंमें मकान पास पास होनेके कारण वहांका वायु योग्य नहीं होता, अतः रोगीको पहाडपर ले जानाही योग्य है । इस मंत्र में प्राणनाशक रोगबीज (जीवितयोपन कण्व) को पहाड पर लेजाने को कहा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंको पहाडपर ले जाना है । क्योंकि आगे इसी मंत्रमें रोगीके लिए औषधि प्रयोग भी लिखा है, देखिए—

> **देवि पृश्निपर्णि ! त्वं तान् अग्निः इव**
> **अनुदहन् इहि ॥ (मं० ४)**

" यह दिव्य औषधि पिठवन उन रोगबीजोंको अग्निके समान जलाती हुई प्राप्त होगी । " अर्थात् पहाडपर गये उक्त रोगियोंको इस औषधिका सेवन करानेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए सब रोगबीज जल जायंगे और रोगबीज दूर होनेसे रोगी आरोग्य पूर्ण होगा । क्योंकि—

> **इयं प्रथमा पृश्निपर्णी सहमाना अजायत । (मं० २)**

" यह पहली पिठवन विजयी होती है । " किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिए यह सबसे (प्रथमा) मुख्य औषधि है । इसके सेवनसे निःसंदेह विजय प्राप्त होगा और रोगबीज दूर होंगे ।

> **कण्वजम्भनी उग्रा हि**
> **तां सहस्वतीं अभक्षि ॥ (मं० १)**

यह रक्त सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अत्यंत प्रचण्ड औषधि है । इसका सेवन (सहस्वती) वीर्यवती या बलवती होनेकी अवस्थामें ही करना चाहिए । " इस कारण भी रोगीका पर्वत पर होना आवश्यक है, क्योंकि योग्य समयमें ताजी वनस्पति पर्वत परसे ही निकालकर तत्काल उसका सेवन कराया जा सकता है । वहांसे वनस्पति उखाडकर नगरमें आनेतक वह रसहीन होना संभव है ।

> **देवी पृश्निपर्णी नः शं**
> **निर्ऋत्या अ—शं अकः ॥ (मं० १)**

" यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको सुख देती है और रोगोंको ही दुःख देती है । " अर्थात् रोगोंको जडसे हटाती है तथा—

> **तया अहं दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि । (मं० २)**

" इस औषधिसे मैं इन दुष्ट रोगोंका नाश करता हूं । " मानो इनका सिर ही तोड देता हूं, ताकि ये रोग अपना सिर फिर ऊपर न उठा सकें ।

> जीवित—योपनान् कण्वान्
> एनान् पराचः प्रणुद ॥ (मं० ५)

" जीवित का नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके द्वारसे ढकेल दो । " नीचे मुख करके दूर करनेका अर्थ शौच शुद्धि द्वारा दूर करनेका है । पिठवनमें मल शुद्धि करनेका गुण है । उक्त रोग बीज नष्ट करके उनको मलद्वारसे दूर कर देती है । यह इस वनस्पतिका गुण है ।

पृश्निपर्णीके सेवनसे रक्त दोष दूर होगा, शरीरमें रक्त बढने लगेगा, शरीर पुष्ट होने लगेगा, शरीर पर तेज आवेगा, गर्भकी कृशता दूर होकर गर्भ बढने लगेगा, और अन्यान्य लाभ भी बहुतसे होंगे । इसके सेवनका विधि ज्ञानी वैद्योंको निश्चित करना चाहिए ।

वेदमें जहांतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (singledrug systym) ही लिखा है। अर्थात् एकही औषधिका सेवन करना। साथ साथ अनेक औषधियां मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है। सेवन के लिए पानीमें घोलना या कदाचित् साथ मिश्रीमें मिलाना यह बात और है, परंतु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिए देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निसर्ग देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है। इसलिए जो पाठक उक्त रोगोंमें इस पीठवनका उपयोग करके लाभ उठाना चाहते हैं वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें।

गो-रस ।

(२६)

[ऋषिः-सविता । देवता-पशवः ।]

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान्गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥
इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥
सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

अर्थ- [पशवः इह आयन्तु] पशु यहां आजावें। [ये परा-इयुः] जो परे गये हैं। [येषां सहचारं वायुः जुजोष] जिनका साहचर्य वायु करता है। [येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद] जिनके रूप त्वष्टा जानता है। [अस्मिन् गोष्ठे तान् सविता नि यच्छतु] इस गोशालामें उनको सविता बांधकर रखे ॥ १ ॥

[पशवः इमं गोष्ठं संस्रवन्तु]पशु इस गोशालामें मिलकर आ जांय। [बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु] बृहस्पति जानता हुआ उनको ले आवे। [सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु] सिनीवाली इनके अग्रभागको ले जावे। हे [अनुमते] अनुमते ! [आ जग्मुषः नियच्छ] आनेवालोंको नियममें रख ॥ २ ॥

[पशवः अश्वाः उ पूरुषाः सं सं सं स्रवन्तु] पशु, घोडे और मनुष्यभी मिल जुलकर चलें। [या धान्यस्य स्फातिः सं] जो धान्य की बढती है वह भी मिलकर बढे। मैं [सं स्राव्येण हविषा जुहोमि] मिलानेवाले हविसे हवन करता हूं॥ ३ ॥

भावार्थ- जो पशु शुद्ध जलवायुमें भ्रमणके लिये गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालामें आजांय। इनके चिन्होंको त्वष्टा जानता है। सविता उनको गोशालामें बांधकर रखे ॥ १ ॥

सब पशु मिलकर गोशालामें आजांय, जाननेवाला बृहस्पति उनको ले आवे। सिनीवाली अग्रभागको ले चले और अनुमति शेष आनेवालों को नियममें रखें ॥ २ ॥

घोडे आदि सब पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर चलें और रहें। धान्यभी मिलकर बढे। सबको मिलानेवाले हवनसे मैं यज्ञ करता हूं ॥ ३ ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥
आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं १ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

(इति चतुर्थोऽनुवाकः ।)

अर्थ- [गवां क्षीरं सं सिञ्चामि] गौओंका दूध सींचता हूं । [बलं रसं आज्येन सं] बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूं। [अस्माकं वीरा: संसिक्ताः] हमारे वीर सींचे गये हैं। [मयि गोपतौ गावः ध्रुवाः] मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर हों॥४॥

[गवां क्षीरं आ हरामि] गौओंका दूध मैं लाता हूं। [धान्यं रसं आहार्षं]धान्य और रस मैं लाता हूं। [अस्माकं वीरा आहृताः] हमारे वीर लाये गये हैं। और [पत्नीः इदं अस्तकं आ] पत्नियां भी इस घरमें लायीं गई हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— मैं गौओंसे दूध लेता हूं तथा बलवर्धक रसके साथ घी को मिलाकर सेवन करता हूं। हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है। इस कार्यके लिये हमारे घरमें गौवें स्थिर रहें ॥ ४ ॥

मैं गौओंसे दूध लेता हूं, और वनस्पतियोंसे रस तथा धान्य लेता हूं। हमारे वीरों और बालोंको इकठ्ठा करता हूं, घरमें पत्नियां भी लाई जाती हैं और सब मिलकर उक्त पौष्टिक रसका सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

पशुपालना ।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गौवें, घोडे, बैल आदि बहुत पाले जांय । यह एक प्रकारका धन ही है । आज कल रुपयोंको ही धन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाय आदि पशु ही सच्चा धन है । इनकी पालना योग्य रीतिसे करने के विषय में बहुतसे आदेश इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें दिये हैं । आजकल प्रायः घरमें गौ आदि पशुओंकी पालना नहीं होती है, क्वचित् किसीके घरमें एक दो गौएं होंगी तो बहुत हुआ, नहीं तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालते ही नहीं। नगरके लोग प्रायः दूध आदि मोल ही लेते हैं । इतना रिवाज बदल जानेके कारण इस सूक्तके आदेश व्यर्थ से प्रतीत होंगे । परंतु पाठक-जरा अपनी दृष्टि वैदिक कालमें ले जांय और यह देखें कि ऋषिकालमें ऋषिलोगोंके पास हजारहां गौवें होती थीं और. उसी प्रमाणसे अन्यान्य पशुभी बहुतसे होते थे । ऐसे घरोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते हैं ।

भ्रमण और वापस आना ।

गाय आदि पशुओंको शुद्ध वायुमें भ्रमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके विना तथा सूर्य प्रकाशमें उनका भ्रमण होनेके विना न तो उनका स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। और न उनका दूध गुणकारी हो सकता है। इसलिये-

येषां सहचारं वायुः जुजोष । (मं० १)

" जिनका साहचर्य वायु करता है " यह प्रथममंत्रका वाक्य गौओंके आरोग्यके लिए उनका शुद्ध वायुमें भ्रमण अत्यंत आवश्यक है यह बात ब । रहा है तथा-

ये पशवः परा ईयुः ते इह आयन्तु ॥ (मं १)

" जो पशु भ्रमणके लिए बाहर गये हैं वे मिलकर वापस आजावें " इस मंत्रभागमें भी वही बात स्पष्टतासे है। पशु अपने स्थानसे मिलकर बाहर जांय और मिलकर वापस आजांय। आगे पीछे रहनेसे उनको पुनः ढूंढना होगा। इस कष्टसे बचा- नेके लिए सब पशु क्रमपूर्वक जांय और सब इकट्ठे वापस आजांय ऐसा जो इस मंत्रमें कहा है वह बहुत उपयोगी आदेश हैं।

जहां हजारों पशु होंगे वहां एक गोपालसे काम नहीं चल सकता । इस कार्य के लिए अपने अपने कार्यमें प्रवीण बहुतसे गोपाल होने चाहिये । उनका वर्णन सविता आदि नामोंसे इस सूक्तमें किया है—

१ त्वष्टा येषां रूपाणि वेद। (मं० १)
२ सविता अस्मिन् गोष्ठे तान् नियच्छतु। (मं० १)
३ बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु ॥ (मं० २)
४ सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु। (मं० २)
५ अनुमते ! आजरमुषः नियच्छ। (मं० २)

इन मंत्रोंमें देवताओंके नाम प्रत्येक कार्यके लिए आगये हैं। इन शब्दोंके देवता वाचक अर्थ प्रसिद्ध ही हैं, परंतु इनके मूल धात्वर्थ भी यहां देखिए-

१ त्वष्टा– सूक्ष्म करनेवाला, कुशल कारीगर। (त्वक्ष–तनूकरणे)
२ सविता—प्रेरक। (सु–प्रेरणे)। चलानेवाला।
३ बृहस्पतिः–ज्ञानवान्, (बृहस्) बडेका (पति) स्वामी। पुरोहित, निरीक्षक।
४ सिनीवाली–(सिनी) अन्नके (वाली) बलसे युक्त। अन्नवाली स्त्री।
५ अनु–मतिः–अनुकूल मति रखनेवाली स्त्री।

इन पाच देवता वाचक शब्दोंके ये मूल शब्दार्थ हैं और इन अर्थोंके साथ ही ये शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं। ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागोंका अर्थ देखिए-

' कुशल कारीगर गाय आदि पशुओंके आकारोंको जानता है। २ प्रेरक उनको गोशाला में क्रमपूर्वक नियममें रखे। ३ उनको जाननेवाला पशुओंको लावे। ४ अन्नवाली स्त्री पशुओंके आगे चले। और ५ अनुकूल कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओंके साथ चले।

यहां पशु पालनेके आदेश मिलते हैं। इनका विचार यह है- "(१) पशुओंके पालन कर्ममें एक ऐसा अधिकारी होवे, कि जो पशुओंके सब लक्षण जानता हो, (२) दूसरा कार्यकर्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थानपर आगये हैं वा नहीं, तथा उनका अन्य खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, (३) तीसरा निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुस्वास्थ्य विद्याको अच्छी प्रकार जाननेवाला हो, यही पशुओंको लाने लेजानेका प्रबंध देखे, (४) जब पशु घरमें आजाय तो उनको खान पान देनेवाली स्त्री हो जो सबसे आगे जावे, उनके साथ पशुओंको देने योग्य अन्न हो, (५) तथा उसके पीछे चलनेवाली पशुओंके अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले।" इस रीतिसे सब पशुओंका योग्य प्रबंध किया जावे। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां प्रेम पूर्वक उत्तम प्रबंध करती हैं इस लिए अंतिम दो कार्योंमें स्त्रियोंको नियुक्त करनेकी सूचना वेदने दी है वह योग्य ही है।

जहां सैंकडों और हजारों गौवें पाली जाती हों ऐसे स्थानोंमें ऐसा सुयोग्य प्रबंध अत्यंत आवश्यक ही है। आजकल जहां गौवोंका अभाव सा हो गया है वहां ऐसे बडे प्रबंध की आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है। यह आजकलकी प्रगति है जो हमें पुष्टिसे दूर रखती है, इसका पाठक अवश्य विचार करें। जिस घरमें दश पांच गौवें कमसे कम हों उस घरके मनुष्य गोरस खा पीकर कैसे हृष्ट पुष्ट होते हैं और जिस घरमें गौवें नहीं होतीं, उस घरके मनुष्य कैसे मरियलसे होते हैं इसका विचार करनेसे गो पालनेके साथ तन्दुरुस्ती का संबंध कितना घनिष्ठ है इसका पता लग सकता है। यहां तक पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ। तृतीय मंत्रमें सबके मिलजुलकर रहनेसे लाभ होगा यह बात कही है। पशु क्या और मनुष्य क्या सब मिलजुलकर परस्पर उपयोगी होकर अपनी वृद्धि करें, सब मिलकर धान्य प्राप्त करें अर्थात् खेती करके धान्य की उत्पत्ति करें। इस प्रकार धान्य, वनस्पतिरस और गोरस विपुल प्रमाण में प्राप्त करके उस के द्वारा अपनी पुष्टिको बढाते हुए अपनी उन्नति करें। (मं० ३)

दूध और पोषक रस।

दूध, दही मक्खन, घी, छाछ आदि सब प्रकारके गोरस तथा अन्यान्य पोषक रस विपुल प्रमाणमें प्राप्त करने चाहियें, और उनका सेवन भी पर्याप्त प्रमाणमें करना चाहिये, इस विषयमें मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दोंद्वारा आदेश दे रहे हैं। इन मंत्रोंमें

'वीराः' शब्द है, इस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ शूरवीर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ, 'पुत्र, बालबच्चे संतान' भी है। यहां इन मंत्रोंमें 'पत्नी' के साहचर्यके कारण यही अर्थ विशेषतः अभीष्ट है।

'मैं गौओंसे दूध लाता हूं, वनस्पतियोंका बलवर्धक रस और धान्य लाता हूं, घी भी लाता हूं। घरमें धर्मपत्नियां हैं और बालबच्चे भी इकठ्ठे हुए हैं अथवा इष्ट मित्र वीर पुरुष भी जमा हुए हैं, इन सबको इच्छाके अनुसार यह सब सायपेय दिया जाता है। (मं० ४—५)

इन दो मंत्रोंका यह आशय है। ' संसिक्ता अस्माकं वीराः ' हमारे वीर या बालबच्चोंके ऊपर यह रस सींचा गया, जिस प्रकार वृष्टिमें जानेसे सब भींग जाता है उस प्रकार बालबच्चोंपर दूध घी आदि सब रसोंकी वृष्टि की गई है। 'संसिच्' धातुका अर्थ उत्तम प्रकारसे सिंचन करना, भिगोना है। बालबच्चे दूध दही मक्खन घी, रस आदिसे पूरे पूरे भींग जाय इतना गोरस घरमें चाहिये। हृष्टपुष्टता तो तब आ सकती है। वैदिक धर्म वैदिक धर्मीयोंको यह उपदेश दे रहा है कि अपनी गृह व्यवस्था ऐसी करो कि जिससे घरमें इतना विपुल गोरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक हृष्टपुष्ट हों। आजकल नाना प्रकारकी बीमारियां बढनेका कारण ही यह है कि गोरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम होगई है। पाठक इसका विचार करें और इस विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढावें। सब अन्य आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होंगे। गोरक्षण, गोवर्धन तथा गोसंशोधन करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे भी इस विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें।

वैदिक आदेश व्यवहारमें लानेका विचार जो लोग कर रहे हैं-उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना योग्य है, क्योंकि यह आदेश ऐसा है कि इसके व्यवहारमें लाते ही लाभ होने का प्रत्यक्ष अनुभव आवेगा।

विजय-प्राप्ति।

(२७)

(ऋषिः-कपिञ्जलः। देवता-१-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रः, ७ इन्द्रः।)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं० ॥ २ ॥

अर्थ-[शत्रुः प्राशं न इत् जयाति] प्रतिपक्षी मेरे प्रश्नपर नहीं निश्चयसे विजय प्राप्त कर सकता। क्योंकि तू [सहमाना अभिभूः असि] जयशील और प्रभावशाली है। [प्राशं प्रतिप्राशः जहि] प्रत्येक प्रश्नपर प्रतिवादीको जीत लो। [ओषधे। अरसान् कृणु] हे औषधे! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर ॥ १ ॥

[सुपर्णः त्वा अनु अविन्दत] गरुडने तुझे प्राप्त किया है और [सूकरः त्वा नसा अखनत] सूअरने तुझे नाकसे खोदा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मेरे प्रश्नसे प्रतिपक्षी का पराजय होगा। क्योंकि मेरी यह शक्ति जय शालिनी और प्रभावयुक्त है। इसीलिये प्रत्येक प्रश्नसे प्रतिपक्षीका पराभव होगा। औषधि भी प्रतिपक्षियोंको शुष्क बनावे ॥ १ ॥

इस वनस्पतिको गरुडपक्षी प्राप्त करता है और सूअर खोदता है ॥ २ ॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं० ॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो व्या॑श्नादसु॑रेभ्य स्तरीतवे। प्राशं ॥ ४ ॥
तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव। प्राशं० ॥ ५ ॥
रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ६ ॥
तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

अर्थ— [इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतवे त्वा बाहौ ह चक्रे] इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझे बाहूपर धारण किया था ॥ ३ ॥

[असुरेभ्यः स्तरीतवे] असुरों से बचाव करनेके लिये [इन्द्रः पाटां व्याश्नात्] इन्द्रने इस पाटा वनस्पतिको खाया था। ० ॥ ४ ॥

[अहं तया शत्रून् साक्षे] मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूं [इन्द्रः सालावृकान् इव] जैसे इन्द्र भेड आदियोंको दूर करता है ॥ ५ ॥

हे [जलाष-भेषज] जलसे चिकित्सा करनेवाले [नील-शिखण्ड] नील शिखावाले [कर्मकृत् रुद्र] पुरुषार्थी रुद्र ! [प्राशं प्रतिप्राशः] प्रत्येक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको [जहि] जीत लो। [ओषधे अरसान् कृणु] हे औषधे ! तूं प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! [यः नः अभिदासति] जो हमें दास बनाना चाहता है [तस्य प्राशं त्वं जहि] उसके प्रश्नको तूं जीत लो [शक्तिभिः नः अधिब्रूहि] शक्तियों के साथ हमें कह और [प्राशि मां उत्तरं कृधि] प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तम कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥

तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥ ४ ॥

उसीसे शत्रुओंको भगा देता हूं ॥ ५ ॥

हे जल चिकित्सक नील शिखाधारी उत्तम पुरुषार्थी रुद्रदेव ! प्रति प्रश्नसे प्रतिवादीको परास्त कर और हे औषधे ! तू प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रश्न में जीत लो, प्रतिप्रश्नमें मेरा विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें कथन कर ॥ ७ ॥

विजय के क्षेत्र।

एक विजय वाद विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है। इन दोनों वीजयोंकी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियों की आवश्यकता रहती है।

वादी और प्रतिवादी।

प्रश्न करनेवाला 'प्राश' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको 'प्रतिपाश्' कहते हैं। 'वादी और प्रतिवादी' इन दो शब्दोंके समानही ये 'प्राश और प्रतिपाश' शब्द हैं। पाठक इनमें समानता देखें। पहिला मंत्र तथा आगेभी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्नकर्ता यों समझिये कि उत्तर दाता भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखे, और इस प्रकार कुशलतासे प्रश्न करे कि एक दो या

थोडेसे प्रश्नोंसे ही प्रतिपक्षीका मुख फीका पडजाय। कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शांतिसे एक दो प्रश्न ऐसे ढंगसे पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं। अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना कि जिससे सहज ही में वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके। इस सूक्तके मंत्र भागोंमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई वार दी है। वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेका आत्म विश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो। यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ।

युद्धमें विजय।

अब दूसरा विजय युद्धमें शत्रुओंपर प्राप्त करनेका है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है। जिस तैयारी से अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी।

पाटा औषधी।

इस सूक्तमें उक्त विजयके लिये एक औषधि प्रयोग लिखा है। इस औषधिका नाम 'पाटा या पाठा' (मं० ४) है इस औषधिके गुण ये हैं-

> तिक्ता गुरुरुष्णा वातपित्तज्वरघ्नी।
> भग्नसंधानकरी पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च। राज नि० व. ६
> श्रेयसी मुखवाचिका। कफकण्ठरुजावहा। भावप्र०।

'यह पाटा या पाठा वनस्पति तिक्त, गुरु, उष्ण है, वात पित्त ज्वर नाशक, टूटेहुएको जोडनेवाली, पित्त दाह अतिसार का नाश करनेवाली है। यह श्रेयकारिणी, मुखमें वाणीके दोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटानेवाली है।' भाषामें इस पाठा वनस्पतिको ' चक्रपाठा, आकनाभी, निमुखा' कहते हैं।

वादविवाद के समय यह वल्ली मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बांधनेसे बोलनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और वक्तृत्वसे होनेवाले कष्ट नहीं होते। यह बात भावप्रकाशादि ग्रंथोंमें भी कही है। कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके जो कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते। इसलिये इस औषधिसे वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इसके अतिरिक्त यह और उत्तेजक होनेसे थकावटभी नहीं होती। इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिए उपयोगी है कि इससे टूटे हुए अवयव जोडे जाते हैं, घाव शीघ्र भर जाते हैं। महाभारतमें भी देखते हैं कि वहांके वीर युद्धसमाप्तिके नंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे। जिससे रात्री व्यतीत होते ही वीर पुनः युद्ध करनेके लिए सिद्ध हो जाते थे। नहीं तो पहिले दिनके युद्धमें घायल हुए वीर दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस शंकाका उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है। महाभारतमें कहीं औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जडी बूटी सेवन की जाती थी इतनाही लिखा है। इस सूक्तने " पाठा " नाम दिया है। ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करें कि यह वनस्पति कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था।

यह औषधि अपने पास रखना, बाहुपर या गलेमें लटकाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये—

> १ इन्द्रः बाह्वौ चक्रे। (मं० ३)
> २ इन्द्रः पाटां व्याश्नात्। (मं० ४)

इन मंत्र भागोंमें शरीरपर धारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है। यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी योग्य खोज करेंगे, और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बडे उपकार हो सकते हैं। भारतीय युद्धके समय वीर लोग इसका उपयोग,

करते थे और लाभ उठाते थे। बाणोंसे रक्त पूरित हुए वीर तथा घोडे सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध करनेमें समर्थ हो जाते थे। यदि यह केवल कविकल्पना न होगी और यदि इस मंत्रमें भी वही बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषण होना योग्य है।

शक्तिके साथ वक्तृत्व।

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिए—

शक्तिभिः अधिब्रूहि। (मं० ७)

" अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो। " अपने पास शक्तियां न रहते हुए बोलना और बडा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिए अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नाही अपना बल बढा सकता है। इसलिए वेदकी यह महत्त्व पूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें। तथा-

यः नः अभिदासति तं जहि। (मं० ७)

" जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो। " यह उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बडा लाभकारी हो सकता है। अपना बल बढाना, उतना ही बोलना कि जितना करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अपने को दास बनानेवालेका पराभव करना। यह अपनी शक्ति बढाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है।

अभिदासन का निषेध।

वेद में हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तीव्र निषेध स्थान स्थानपर किया है। यहां तक यह निषेध है कि " अभिदास " का अर्थ " विनाश " ही माना है। पूर्ण नाश होना और दास बनाना यह वेदकी दृष्टिसे एकही बात है। किसी भी अवस्थामें वेद दास गुलाम- बनना पसंद नहीं करता। पाठक इस बातका यहां मनन करें और धर्ममयी वीरवृत्ति अपने अंदर बढानेका यत्न करें।

जलचिकित्सक।

षष्ठ मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखावाले, पुरुषार्थी रुद्रका वर्णन है। "जलाष-भेषज" शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है। जलाष का अर्थ जलही है। नील शिखण्डीका अर्थ नील शिखावाले हैं, यह तरुण जवान आरोग्य पूर्ण मनुष्य का बोध करता है। वृद्धकी शिखा श्वेत होती है, तरुणकी ही नीली या काली होती है। " कर्म—कृत् " शब्द पुरुषार्थीका वाचक है। अपने चिकित्सा कर्म में कुशल। " रुद्र " शब्द का अर्थही (रुद्×द्र) रुलानेवाले रोगोंको हटानेवाला है। ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं। यह चिकित्सक का नाम यहां इसलिये आया है कि यहां युद्धमें व्रणितांग वीरोंको आरोग्य प्राप्त करानेका संबंध है। तथा पाठा औषधिका प्रयोग भी करना है। इसलिए सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है।

यह सूक्त जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इसीलिए ज्ञानी वैद्योंको ही इसकी प्रत्यक्षता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेगी।

—— o ——

दीर्घायुष्य प्राप्ति ।

(२८)

[ऋषिः-शम्भुः । देवता-जरिमा, आयुः]

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः ॥ १ ॥
मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥
त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (जरिमन्) वृद्धावस्था ! (तुभ्यं एव अयं वर्धताम्) तेरे लिये ही यह मनुष्य बढे । (इम ये अन्ये शतं मृत्यवः) इसको जो ये सौ अपमृत्यु हैं (मा हिंसिषुः) मत हिंसित करें । (प्र-मनाः माता पुत्रं उपस्थ इव) प्रसन्नमन वाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार (मित्रः मित्रियात् एनसः एनं पातु) मित्र मित्रसंबंधी पापसे इसको बचावे ॥ १ ॥

(मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण (संविदानौ एन जरामृत्युं कृणुतां) दोनों मिलकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । (होता वयुनानि विद्वान् अग्निः) दाता और सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला अग्नि (तत् विश्वा देवाना जनिमा विवक्ति) उसको सब देवोंके जन्मों को कहता है ॥ २ ॥

(ये जाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले हैं उन (पार्थिवानां पशूनां त्वं ईशिषे) पृथ्वी के ऊपर के प्राणियोंका तू स्वामी है । (इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्) इसको प्राण और अपान न छोडदें । तथा (मित्राः इमं मा वधिषुः) मित्र इसे न मारें और (मा अमित्राः) शत्रु भी न मारें ॥ ३ ॥

भावार्थ- मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे । बीचमें सैकडों अपमृत्यु प्रयत्न करनेपर भी इसे न मार सकें । जिस प्रकार अपने प्रियपुत्र को माता गोदमें लेकर प्रेमके साथ पालती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥ १ ॥

शत्रुनाशक मित्र और वरुण ये मिलकर इसको अतिदीर्घ आयुवाला करें । सब चारित्र्य जाननेवाला तेजस्वी देव इसके सब देवताओंके जीवन चरित्र कहे ॥ २ ॥

हे ईश्वर ! तू पृथ्वीपर के संपूर्ण जन्मे हुए और जन्मनेवाले सब प्राणियोंका स्वामी है, तेरी कृपासे प्राण और अपान इसे बीचमें ही न छोडें तथा मित्रोंसे या शत्रुओंसे इसका वध न होवे ॥ ३ ॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥
इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

अर्थ- (द्यौः पिता पृथिवी माता संविदाने) द्यौष्पिता और पृथ्वी माता मिलकर (त्वा जरामृत्युं कृणुतां) तुझको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । (यथा अदितेः उपस्थे) जिससे मातृभूमिकी गोदमें (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (शतं हिमाः जीवाः) सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे (अग्ने मित्र वरुण राजन्) अग्ने और मित्र तथा वरुण राजा ! (प्रियं रेतः) प्रिय भोग और वीर्य का बल देकर (इमं आयुषे वर्चसे नय) इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राप्तिके लिये ले जा । हे (अदिते) आदिशक्ति ! तू (माता इव अस्मै शर्म यच्छ) माता के समान इसे सुख दे । हे विश्वे देवो! (यथा जरदष्टिः असत्) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— द्युपिता सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानोंसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे अग्ने वरुण मित्र राजन् ! इसको प्रिय भोग और वीर्यका बल देकर दीर्घआयुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ । आदिशक्ति माता के समान इसे सुख देवे । और अन्यान्य सब देव इसको ऐसी सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

" शतायु " शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है । इस सूक्तके (मं० ४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) " सौ वर्षतक जीवो " कहा है इससे सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है । छोटी आयुके बालक को यह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा—

ये अन्ये शतं मृत्यवः ते इमं मा हिंसिषुः । (मं० १)

" जो सैकडों अपमृत्यु हैं वे इसको बीचमें ही न मार सकें । " अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अपमृत्यु इसका नाश न कर सके । बीचमें किसी किसी समय कोई अपमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास सफल मनोरथ न हो सके, यह यहां कहना है । लोग अपनी दीर्घ आयु करनेके लिए ऐसे दृढव्रती हों, और खान पान भोग व्यवहारादिके नियम ऐसे दक्षतासे पालन करें कि वे बीच हीमें मृत्युके वशमें कभी न चले जांय ।

साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थ मंत्रमें संक्षेप से कहा है, देखिए—

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः । (मं० ४)

" प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सौ वर्ष जीओ । " इस मंत्र भागमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है । यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः यह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा । प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिए । अर्थात् प्राणका और अपान का बल अपनेमें बढाना चाहिए । नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है । ये ही शरीरमें मित्र और वरुण हैं । इनका उल्लेख इसी सूक्तमें अन्यत्र (मं० २, ५ में) पाठक देख सकते हैं । इसी एक साधनासे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है ।

इनका कार्य क्षेत्र।

श्वास और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्राणायामसे इस प्राणका बल बढता है और इसकी सब क्रियाएं भी ठीक प्रकार चल सकती हैं। साधारण भस्रा और उज्जायी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिए पर्याप्त हैं। भस्रा प्राणायाम धोंकनीकी गतिके समान वेगसे श्वास उच्छ्वास करनेसे होता है। यह थोडे समय तक ही होता है। अधिक होनेवाला सुगम प्राणायाम उज्जायी है। जो स्वरयुक्त और शांत वेगसे श्वासोच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है। श्वासका भी शब्द हो और उच्छ्वास का भी हो। इच्छानुसार कुंभक किया जावे या न किया जावे। यह अतिसुगम और सुसाध्य प्राणायाम है और विना आयास जिस समय चाहे हो सकता है। यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिए अति उपयोगी है।

इस प्रकार प्राणका बल बढानेका अनुष्ठान होनेसे इसी का परिणाम अपान क्षेत्र पर भी होता है। और अपानके कार्य भी उत्तम रीतिसे होने लग जाते हैं। अपानके कार्य मलमूत्रोत्सर्ग और कोष्ठगत वायुका नीचे भागसे गमन आदि हैं, वे इससे होते हैं। अन्यान्य योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे जाने जा सकते हैं।

इस योजनासे प्राण और अपानका बल बढानेसे दीर्घआयु प्राप्त करनेका हेतु सिद्ध हो सकता है। हित मित पथ्य भोजन, संयमवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्ममार्गके साधन हैं, वे हरएक अवस्थामें आवश्यक हैं वे सर्व साधारण होनेसे उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्राण अपानके बलसे अपने आपको सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहां इस कार्यके लिए इस सूक्तने बताया है और वह योग्य ही है।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शौचशुद्धिके संबंधमें कोई क्लेश नहीं होंगे, भूख उत्तम लगेगी, छातीमें भी कोई कफादिकी बाधा नहीं होगी। इस प्रकार शरीरके सब व्यवहार विना कष्ट होने लगेंगे, तो समझना कि दीर्घायुकी प्राप्ति के मार्ग पर अपना पग है। परंतु यदि इनके कष्ट होने लगे तो समझना योग्य है, कि अपना पग दूसरे मार्गपर पडा है। यही तृतीय मंत्रमें कहा है।

इमं प्राणः मा हासीत्, मा अपानः [मं० ३]

" प्राण अथवा अपना इसे बीचमें ही न छोड दें। " अर्थात् यह मनुष्य सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक उत्तम प्रकार जीवित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अपान अपना अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहें। जो पाठक अपने स्वास्थ्यके संबंधमें विचार करते हैं उनको अपने अंदरके प्राण और अपानके कार्यका विचार करना चाहिए, क्योंकि ये कार्य ठीक चलते रहे तो ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

स्वास्थ्य की तथा दीर्घ आयु प्राप्त होने की यह कुंजी है। (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपान द्वारा जो सुरक्षित होता है, वह निश्चयसे सौ वर्ष जीवित रहेगा। इसलिए दीर्घायुष्य के इच्छुक लोग अपने शरीरके अंदर इन दोनों बलोंको बढावें।

वध।

प्राण अपान भी बलवान् हुए और शरीर स्वास्थ्य भी उत्तम रहा तो भी वध, कतल, अपघात आदि आपत्तियां हैं जिन से मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है। धर्मयुद्धादि प्रसंग छोड दिए जांय, क्योंकि वहां जाकर मरना तो धर्म ही होता है, अन्य वधभी कम नहीं है। परंतु इनको हटाना मनुष्य के स्वाधीन नहीं होता है। कई प्रसंगोंमें अपने अंदर अहिंसा भाव बढाने और सार्वत्रिक प्रेमदृष्टिकी वृद्धि करनेसे घातक लोगों के मन का भी सुधार होता है, परंतु यह सिद्धि योगानुष्ठानसे और दीर्घ आत्मसंयमसे साध्य है। इसलिए सबको यह प्राप्त होना कठिन है। अतः सर्वसाधारणके लाभार्थ ईशप्रार्थना ही एक सुगम साधन है, इसलिए मंत्र ३ में कहा है कि—

ईशप्रार्थना।

इमं मित्राः मा वधिषुः मा अमित्राः (मं० ३)

" हे ईश्वर ! तेरी कृपासे मित्र इसका वध न करें और अमित्र भी न करें। " तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकही है, " भूत भविष्य कालके सब प्राणियों का एक ईश्वर है, सबका पालन वही करता है, उसी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इसका स्वास्थ्य भी उत्तम रहे। " यह तृतीय मंत्रका भाव ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है। सब चराचर जगत् का पालनहारा परमात्मा है, उसकी भक्ति करनेसे जो श्रद्धाका बल बढता है, वह अपूर्व है। श्रद्धावान् लोग ही उस बलका अनुभव करते हैं। और प्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा भक्तिसे परमात्म भक्ति करनेवाले उपासक उत्तम स्वास्थ्यसे संपन्न होते हैं। इस लिये इस दीर्घायुष्य प्राप्तिके सूक्तमें (त्वं ईशिषे) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश भक्तिका पाठ दिया है वह दीर्घआयु प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। पाठक इस बलसे वंचित न रहें। इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते, हैं परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पास हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते। पाठक इसका विचार करके ईशभक्तिका बल अपने अंदर बढावें जिससे सब विघ्न दूर हो सकते हैं।

देवचरित्र श्रवण।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिए श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिए। देवों अर्थात् देवताके समान सत्पुरुषोंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिए, उन्ही ग्रंथोंका पठन करना चाहिए और उनके चरित्रोंकाही मनन करना चाहिए।

आज कल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे घृणित कथा कलापोंसे युक्त प्रकाशित हो रही हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढने वालोंमें रागद्वेष बढते हैं, वीर्य भ्रष्ट होता है, ब्रह्मचर्य टूट जाता है, और नाना प्रकारकी आपत्तियां बढ जाती हैं। परंतु वे पुस्तक आज कल बढ रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या हीन दर्जे के लोग लेखन व्यवसाय में आनेके कारण हीन सारस्वत प्रचलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानि ही हानि हो रही है, इस से बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तने सावधानी की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिए—

वयुनानि विद्वान् होता अग्निः

तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ (मं० २)

" सब कर्मोको यथावत् जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उसे सुनावे। " यह मंत्र कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। इस में सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवाला होवे, अपने सर्वस्वका (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी हो और (वयुनानि विद्वान्) कर्तव्याकर्तव्य को यथावत् जाननेवाला हो। इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगोंका मार्गदर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करें और लोगोंको (देवानां जनिमानि देवताओंके जीवनचरित्र सुनावे। देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये हैं, रीतिसे परोपकार किया, जनताका उद्धार कैसा किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे। राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढने नहीं चाहिए अपितु देवोंके दिव्य चरित्र ही अपने सामने रखने चाहिए। आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है। राक्षस और पिशाचों, धूर्तों और डाकुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है। यही उच्च जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिए रखेंगे तो उनके जीवनोंका भी सुधार होगा और उनकी आयु भी बढेगी। आयु बढानेके लिए भी यह एक उत्तम साधन है कि लोग श्रीरामचंद्रका जीवन अपने आदर्शके लिए ले और रावणका जीवन न लें। आजकल की उपन्यासादि पुस्तकें जो मानवी अंतःकरण का ही बिगाड कर रही हैं, उनसे बचने की सूचना यहां वेदने दी है। इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा।

आज कल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विकार बढानेवाले मिलते हैं। संयम शीलता बढानेवाले चरित्र कम हैं। इस लिए सद्ग्रंथ पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है। तथापि ऋषियोंकी कृपासे रामायण महाभारत ग्रंथ तथा

अन्यान्य ऋषिप्रणीत चरित्र हैं, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उन को उचित है कि वे ऐसे सच्चरित्र अथवा श्रेष्ठ ग्रंथ निर्माण करें और करावें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सके। अस्तु। इस मंत्र भागने " दिव्यचरित्रोंका श्रवण और मनन " यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिए कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इसलिए जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंकाही मनन करें।

पापसे बचाव। दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिए पापसे अपना बचाव करनेकी आवश्यकता है। पापसे पतन होता है। और रोगादि बढ जानेके कारण आयुष्य क्षीण ही होती है, इसलिए इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिए—

मित्र एनं मित्रियात् अंहसः पातु। (मं० १)

" मित्र इस मनुष्यको मित्रसंबंधी पापसे बचावे। " शत्रु संबंधसे होनेवाले पापसे तो बचना ही चाहिए। कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिए मित्रके हित साधनके लिए, कुछ भी बुराभला किया जाय तो वह हानिकारक नहीं है। परंतु पाप जो है वह हमेशा ही पाप होता है वह किसीके लिए किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा। इसलिए जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचाना चाहिए। मित्र अपने मित्रको पापकर्म करनेसे रोके और उसको सीधे धर्म मार्गपर चलाने की सलाह देवे। मनुष्य स्वयं भी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिए हरएक मनुष्य अपना मित्र बने और अपने आपको बुरे मार्गसे बचावे। मनुष्य स्वयंही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इस लिए कभी ऐसा कार्य न करें कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय तात्पर्य यह है कि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिए। पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है।

भोग और पराक्रम।

मनुष्यको भोग भी चाहिए और पराक्रम भी करना चाहिए। परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढते हैं और वीर्य-का संयम करनेसे ही आरोग्य पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। मनुष्यको भोग प्रिय लगते हैं। और भोगोंमें अपने वीर्यका नाश करना साधारण मनुष्यके लिए एक सहज ही सी बात है, इसलिए इसका योग्य प्रमाण होना चाहिए यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिए-

इमं प्रियं रेतः आयुषे वर्चसे नय। (मं० ५)

" इस मनुष्यको प्रिय भोग देकर, तथा वीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिए ले चलो। " अर्थात् यह मनुष्य अपने लिए प्रिय भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और वीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयुष्य और तेज बढता जाय। परंतु भोग भोगने और वीर्यके कार्यमें प्रमाणका अतिरेक कभी न हो, जिससे बीच हीमें अकाल मृत्यु इसके प्राणोंको ले चले। अपना समय भोग और पराक्रमके कार्योंके लिए ऐसा बांटना चाहिए कि भोग भी प्राप्त हों और वीर्यके सब कार्य भी बन जांय, और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सकें। अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहिए। रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पत्ति भी होती है, बल भी बढता है, परंतु उसके अतिरेक से ब्रह्मचर्य नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भोग की बातोंके विषयमें समझना योग्य है। इस आशय को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोगभी प्राप्त होंगे और दीर्घ आयु भी मिलेगा।

देवोंकी सहायता।

१ मित्रः रिशादसो वरुणः संविदानौ जरामृत्युं कृणुतां। (मं० २)

२ द्यौष्पिता पृथिवी माता संविदाने त्वा जरामृत्युं कृणुतां॥ (मं० ४)

३ अदिते! माता इव शर्म यच्छ। (मं० ५)

४ विश्वे देवाः । जरदष्टिः यथा असत् ॥ [मं० ५]

" मित्र और शत्रुनाशक वरुण ये दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें ॥ द्युलोक और मातृभूमि मिलकर इसकी दीर्घायु करें ॥ हे अविनाशी आदि शक्ति ! तूं माता के समान सुख दे ॥ हे सब देवों ! इसको पूर्ण आयुवाला अतिवृद्ध करो ॥ "

यहां मित्र, वरुण, सूर्य, पृथिवी, अदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इस से स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहने वाले मनुष्य को इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिए। यदि इनकी अनुकूलतासे आयुष्यकी वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट ही हुआ। सूर्य देव अपने प्रकाशसे सर्वत्र शुद्धता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाशसे वंचित नहीं रहना चाहिए, अन्यथा वह हमें सहायता कैसी पहुंचायेगा ? वरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके जीवन सागर हैं। यदि मनुष्य इन जलोंसे अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीतिसे लाभ उठावे तब ही जलदेव वरुणसे लाभ प्राप्त हो सकता है। मातृभूमि की योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घजीवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे लाभ प्राप्त करके दीर्घजीवी बनें।

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

(२९)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-नाना देवताः ।)

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद्बृहस्पतिः ॥ १ ॥
आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

अर्थ-हे (देवाः) देवो ! अग्नि सूर्य और बृहस्पति (अस्मै) इस मनुष्य के लिये (पार्थिवस्य तन्वः भगस्य) पार्थिव शरीरके ऐश्वर्य संबंधी (रसे बले) रस और बलके अंदरसे प्राप्त होनेवाला (आयुष्यं वर्चः) दीर्घ आयुष्य और तेज (आ धात्) देवे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञान देनेवाले देव ! (अस्मै आयुः धेहि) इसके लिये दीर्घ आयु दे । हे (त्वष्टः) रचना करनेवाले देव ! (अस्मै प्रजां अधि निधेहि) इसके लिये प्रजा दे । हे (सवितः) प्रेरक देव ! (अस्मै रायः पोषं आ सुव) इसके लिये धन और पुष्टि दे । (तव अयं शतं शरदः जीवाति) तेरा यह बनकर सौ वर्ष जीवित रहे॥ २ ॥

भावार्थ— हे देवो ! इस मनुष्यको अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि जिसके साथमें पार्थिव ऐश्वर्य युक्त अन्न रस बल तेज और नीरोग जीवन होते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! इसको उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य युक्त उत्तम, पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य दो ॥ २ ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥
इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥
ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥
शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥
इन्द्र एतां संसृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

अर्थ-(नः आशीः)हमारे लिये आशीर्वाद मिले तथा हे (सचेतसौ)उत्तम मनवालो!(ऊर्जं उत सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दक्षं द्रविणं) दक्षता और धन हमें (धत्तं) दो । हे इन्द्र ! (अयं सहसा) यह अपने बलसे (क्षेत्राणि जयं) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृण्वानः) करता हुआ (अन्यान् सपत्नान् अधरान्) अन्य शत्रुओंको नीचे दबाता है ॥ ३ ॥

यह (इन्द्रेण दत्तः) प्रभुने दिया है, (वरुणेन शिष्टः) शासकके द्वारा शासित हुआ है, (मरुद्भिः प्रहितः) उत्साही वीरों द्वारा प्रेरित हुआ है और इस कारण (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है । हे (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवी ! (वां उपस्थे) आपके पास रहने वाला (एषः) यह (मा क्षुधत्, मा तृषत्) क्षुधा और तृषासे पीडित न हो ॥ ४ ॥

हे (ऊर्जस्वती) हे अन्नवाली ! (अस्मै ऊर्जं धत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः धत्तं) हे दूध वाली ! इसके लिये दूध दो द्युलोक और पृथ्वीलोक (अस्मै ऊर्जं अधत्तां) इसके लिये बल देते हैं । तथा (विश्वे देवाः मरुतः आपः) सब देव, मरुत्, आप ये सब इसके लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

(शिवाभिः ते हृदयं तर्पयामि) कल्याणमयी विद्याओंद्वारा तेरे हृदयको मैं तृप्त करता हूं । तू (अनमीवः) निरोग और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिषीष्ठाः) आनन्दित हो । (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले तुम दोनों (अश्विनोः रूपं) अश्विदेवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कर्म शक्तिको प्राप्त होकर (एतं मन्थं पिबतां) इस रसका पान करो ॥ ६ ॥

(विद्धः इन्द्रः) भक्ति किया हुआ प्रभु (एतां अजरां ऊर्जां स्वधां अग्रे ससृजे) इस अक्षीण अन्नयुक्त सुधा को उत्पन्न करता है, देता है । (सा एषा ते) वह यह सब तेरे लियेही है । (तया त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा तू उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह। (ते मा आसुस्रोत्) तेरे लिये ऐश्वर्य न घटे (ते भिषजः अक्रन्) तेरे लिये वैद्योंने उत्तम रसयोग बनाये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे देव ! हमें आशीर्वाद दे, हमें बल, सुप्रजा, दक्षता और धन प्राप्त हो। मनुष्य अपने निजबलसे विविध कार्य-क्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करें, और शत्रुओंको नीचे मुख किए हुए भगा देवे ॥ ३ ॥

यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनाया, गुरुके द्वारा शिक्षित बना, वीरों द्वारा उत्साहित हुआ है, इसलिए यह शूरवीर बनकर हमारे अन्दर आया है, और कार्य करता है । मातृभूमि की उपासना करनेवाला यह वीर भूख और प्याससे कभी कष्ट को प्राप्त न हो ॥ ४ ॥

सूर्य पिता और भूमि माता इसको अन्न, रस, बल और ओज देवें। जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥

शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदय को तृप्त करता हूं। तू नीरोग और तेजस्वी बनकर सदा आनंदित हो जाओ । मिलकर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मकी शक्ति बढाकर इस रसको पीओ ॥ ६ ॥

प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतरस प्रारंभमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयु की समाप्तितक जीवित रह। तेरी आयु में ऐश्वर्य की न्यूनता कभी न हो। और तेरे लिए वैद्य लोग उत्तम योग तैयार करें, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उन्नतिको प्राप्त हो ॥ ७ ॥

रस और बल ।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना है। पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले विविध रसोंके सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और उक्त रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है। अर्थात् शरीर का बल बढाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है। शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्य और तेज इस रससेवनपर निर्भर है।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संवर्धनमें यह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इससे बिलकुल नहीं है ऐसा नहीं सिद्ध हो सकता; क्योंकि अग्निकी उष्णता; सूर्य किरणोंका रसायनगुण और जलका रस इन सबका संमिश्रण होकर ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है। इन सम्पूर्ण देवताओंके अंश इस रसमें होनेसे ही वह रस मानो देवतांशोंका ही रस है। इसलिए उसके सेवनसे देवताओंके सत्वांश का ही सेवन होता है। जिस प्रकार गौ घास खाकर दूध रूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके धान्य, फल, शाक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि यद्यपि यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका घनिष्ठ संबंध है। यदि कोई वनस्पति सूर्य प्रकाशसे वंचित रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहां सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह दुर्बल हो जाती है। यह बात देखनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि पृथ्वीसे रस उत्पन्न होनेमें सूर्यादि देवोंका भी भारी संबंध है। पाठक यहां अनुभव करें कि, ये सब देव मनुष्य मात्रके लिए अन्नादि भोग तैयार करनेमें कैसे दत्तचित्त होकर कार्य कर रहे हैं!! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणीमात्रका पालन कर रही है।

" अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रससे और शारीरिक बलसे उक्त आयुष्य और तेज देते हैं।" यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है। इसलिए दीर्घायु आरोग्य और बलयुक्त तेज चाहनेवाले लोग सूर्यादि देवोंसे मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अन्नादि रस लेकर अपना बल बढावें। यह प्रथम मंत्रका बोध है। (मं० १)

शतायु बनो ।

द्वितीय मन्त्र कहता है कि " जातवेदसे आयु, त्वष्टासे सुप्रजा, सवितासे पुष्टि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहता है। " (मं० २) इस मन्त्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है। जातवेद, त्वष्टा और सविता ये तीन देव हैं कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होती है। इसलिए इनका विशेष विचार करना आवश्यक है-

१ जातवेदः- (जात-वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञान का प्रवाह चला है। जिसके पास ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान चारों ओर फैलता है। (जातं वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थ मात्रके गुणधर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी। (जातस्य वेदः) उत्पन्न हुए वस्तु मात्र का ज्ञान। इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक है। किसीभी प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है, मंत्रमें कहा है कि यह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि " ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढाई जा सकती है।" यदि आयु बढाना अभीष्ट हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिए और उस विद्यासे अन्नरसादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढानी चाहिए।

२ त्वष्टा-बारीक करना, बारिकाईसे कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवालेका त्वष्टा नाम है। परमेश्वर सब जगत् का बडा भारी कारीगर है, इसलिए उसको त्वष्टा कहते है। अन्य कारीगर भी छोटे त्वष्टा हैं। " त्वष्टा इस मनुष्यके लिए प्रजा देवे " यह इस मन्त्रभागका कथन है। योग्य सन्तति बनाना इसीके आधीन है, परमात्माकी कृपासे इसको योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो। जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका ज्ञान अन्योंसे अधिक होता है, इसलिए ऐसे मनुष्यको अन्योंकी अपेक्षा अधिक सुडौल सन्तान होना सम्भव है। मातापिताके अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुडौलपन सन्ततिमें आना सम्भव है। त्वष्टासे प्रजा का सम्बन्ध यह है।

३ सविता—प्रेरणा करनेवाला और रसका प्रदान करनेवाला। सूर्य सबको जगाता है और वनस्पतियोंमें रसका संचार करता है इसलिए उसका नाम सविता होता है। यह भूमिके ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंकी (पोषं) पुष्टि करता है और उनकी (रायः) शोभा या ऐश्वर्य भी बढाता है।

इस रीतिसे ये देव मनुष्यकी सहायता करते हैं और इसको दीर्घजीवन देते हैं। मनुष्योंको चाहिए कि वह इनसे यह लाभ प्राप्त करें।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय।

आगे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकाङ्क्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है। ' हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जांय। ' यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वाभाविक है। अन्नसे शरीर की भूख शान्त होती है, उससे बल बढता है; धन हर एक व्यवहार का साधक होनेसे सब चाहते ही हैं, इसके पश्चात् वंशविस्तार के लिए सुसन्तानकी अभिलाषा मनुष्य करता है। इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है। यह प्रायः हरएक मनुष्यकी इच्छा है, परन्तु यह सिद्ध कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है। उनसे यह सब प्राप्त हो सकता है। इसके साथ साथ ध्यान रखने योग्य विशेष महत्त्वकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसको बतानेवाला मन्त्रभाग यह है-

अयं सहसा जयं कृण्वानः क्षेत्राणि। (मं० ३)

' यह अपने बलसे विजय करता हुआ क्षेत्रोंको प्राप्त करे। ' इस मंत्र भागमें (सहः) अपने अंदर के बलका उल्लेख है। ' सहः ' नाम है ' निजबल ' का। जिस बलसे शत्रु का हमला सहाजाता है, जिस बलसे शत्रु का हमला आने पर भी अपना नुकसान कुछ भी नहीं होता है, उसका नाम सह है। मनुष्यको यह ' सह ' संज्ञक बल अपने अंदर बढाना चाहिए। यह बल जितना बढेगा उतना ही विजय प्राप्त होगा और विविध कार्य क्षेत्रोंमें उन्नति हो सकेगी। और इसीके प्रभावसे शत्रु परास्त होंगे। इसके न होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोपसाधन कितने भी पास हुए तो उनका कोई प्रभाव नहीं होगा। इसलिए इस मंत्र भागने जो " सह " संज्ञक बल अपने अंदर बढानेकी सूचना दी है, उसको ध्यानमें धारण करके, वह बल अपने अंदर बढावें और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय कमावें।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य द्यावापृथिवी के अंदर जो आया है वह ' इन्द्रने आज्ञा दिया हुआ, वरुण द्वारा शासित बना हुआ, और मरुतों द्वारा चलाया हुआ आया है, इसलिए यह यहां आकर भूख और प्याससे दुखी न बने। ' (मं०-४) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको इन देवों द्वारा प्रेरित हुआ समझे। अपने पीछे इतने देव प्रेरणा करने और रक्षा करनेवाले हैं, यह बात मनमें लानेसे मनकी शक्ति बडी प्रभावशाली बन जाती है। मेरे सहायकारी इतने देव हैं यह विश्वास बडा बल बढाने वाला है। जिस मनुष्य की उन्नति करने के लिए इतने देव कार्य करते हैं, भूमि आप अग्नि सूर्य आदि देव इसके लिए अन्न तैयार करते हैं, बृहस्पति इसे ज्ञान देता है, जातवेदा इसको विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अन्यान्यदेव इसकी अन्यप्रकार की सहायता करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिसे चारों ओर विजय प्राप्त करके अपने शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता? कर सकता है, परंतु इसको कटिबद्ध होकर अपने पांवपर खडा होना चाहिए।

" अन्नवाली भूमि इसे अन्न अर्पण करती है, दूधवाली गौवें इसके लिए दूध देती हैं, द्यावा पृथिवी इसके लिए बल बढाती हैं और आप देवता इसे वीर्य प्रदान करती है। (मं० ५)

पाठक इसका अनुभव करें। इतनी देवताएं मनुष्यकी सहायता कर रही हैं, कुछ न मांगती हुई सहायता देती हैं। इतनी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है। इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढावे और विजय न संपादन करे; तो फिर दोष किसका हो सकता है? कृपया सब पाठक इसका उत्तर दें और अपना उत्तरदातृत्व जानकर अपना पुरुषार्थ करनेके लिए कटिबद्ध हों। मनुष्य अपनी उन्नतिके लिए कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और उसकी अखण्ड उन्नति हो सकती है।

हृदयकी तृप्ति।

अन्न प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढा, संतति भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती। जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती, तबतक शान्ति भी नहीं मिल सकती। इसलिए पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर षष्ठ मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है। हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है-

ते हृदयं शिवाभिः तर्पयामि। (मं० ६)

" तेरा हृदय मंगल वृत्तियोंसे तृप्त करता हूं। " शिवा शब्द शुभता का वाचक है। जो मंगलमय है वह शिव है, फिर वह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और विद्या भी हो सकती है। कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टि होती है, किसी अन्य बातसे नहीं। पाठक यहां अनुभव करलें कि जब कभी बुरा विचार उनके मनमें आता है, तब मन कैसा अशांत होता है और जब कभी शुभ भावना आती है तब मन कैसा प्रसन्न हो आता है। शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार ही मनुष्यके हृदयका संतोष कर सकता है। इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त शांत और मंगलमय हो जाता है। इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, वर्चस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शांतिपूर्ण मनुष्यको ही सुसंतान होती है। पाठक यहां देखें कि हृदयकी शांतिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशांतिसे हानि कितनी है। यही बात आगेके मंत्र भागमें कही है—

अनमीवाः सुवर्चाः मोदिषीष्ठाः (मं० ६)

" नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो " अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे हृदयकी शान्ति स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो सकता है, इसलिए मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणको शान्त और मङ्गलमय बनावे और अशान्तिसे दूर रहे। इतनाही नहीं परन्तु अशान्त अवस्था चारों ओर खडी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे। यह तो अंतःकरण के निश्चलत्व के विषयमें उपदेश हुआ। बाहरका व्यवहार कैसा करना चाहिए इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्ध देखिए-

सवासिनौ मायां परिधाय मन्थं पिबतम्। (मं० ६)

" सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए कौशल्यको धारण करके रस का पान करो " इसमें निम्नलिखित उपदेशबोधक शब्द महत्व पूर्ण हैं—

१ स-वासिनौ—एकत्र निवास करनेवाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले। उच्चनीच भेदको न बढाते हुए समान विचारसे इकठ्ठे रहने वाले। एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले।

यह शब्द एकताका बल अपने समाज में बढानेका उपदेश दे रहा है। परस्पर विद्वेष न बडे, परन्तु एकताका बल बढे; यह भाव यहां स्मरण रखने योग्य है।

२ मायां परिधाय—माया का अर्थ कुशलता, हुनर, कर्म करनेकी प्रवीणता, कौशल आदि प्रकार का है। यह शब्द बुद्धि शक्ति और कर्मशक्तिको समानतया प्रयुक्त होता है। कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण करने की सूचना इस

शब्दद्वारा मिलती है। जगत् का व्यवहार करनेके लिए यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है। कुशलताके विना कार्य करनेवाल यशका भागी नहीं हो सकता।

एकता के साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करनेवाले लोग ही भोगरूपी रस पान कर आनंद प्राप्त कर सकते हैं। पाठक इस आशय को मनमें रखकर इस मंत्रका विचार करें और बोध प्राप्त करें।

स्वधा।

मंत्र ७ में ' स्वधा अजर और बलवती है, यह इन्द्रकी बनाई है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर सौ वर्ष जीओ यह उपदेश है। यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिए—

' स्व+धा ' अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है। जिस शक्तिसे अपने शरीरके विविध अणु इकट्ठे रहते हैं उसन स्वधा शक्ति कहते हैं। यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है। शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती। जबतक यह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तबतक ही मनुष्य जीवित रह सकता बढ सकता और विजय पासकता है। यह स्वधा शक्तिका महत्त्व है। इसके विना मृत्यु निश्चित है। इसीलिए सप्तम मन्त्र कहा है कि " यह स्वधाशक्ति अजर है " अर्थात् यह जरा वाली नहीं है, इससे (जरा) बुढापा जलदी नहीं आता, वृ आयुमें भी जवानी रहती है। यह स्वधा (ऊर्जा) बल बढानेवाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य (सुवर्चाः) उत्त कान्तिवाला तेजस्वी और प्रभावशाली होता है और (शतं जीव) सौ वर्षकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त क सकता है।

इसलिए ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके तथा आयुष्यगणके सूक्तोंमें कहे उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनु अपनी स्वधाशक्तिको बढावे और मनुष्यको प्राप्त होनेवाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजय कमावे तथा इस सूक्तके षष्ठ मन्त्रमें उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और गंभीर बनावे और इह पर लोकमें कृतकृत्य बने। यही—

" नः आशीः "

" हमार लिए आशीर्वाद मिले " और सर्वत्र निर्वैरता और शान्तिका बडा साम्राज्य हो।

पति और पत्नीका मेल ।

(३०)

(ऋषिः-प्रजापतिः । देवता-अश्विनौ)

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥
सं चेन्नयांथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥
यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥
यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम् । कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

अर्थ—(यथा वातः) जैसा वायु (भूम्याः अधि) भूमिपर (इदं तृणं मथायति) यह घास हिलाता है, (एव ते मनः मथ्नामि) वैसा ही तरा मन मैं हिलाता हू जिससे तू (मां कामिनी असः) मेरी इच्छा करनेवाली होवे और यथा मत् अप-गाः न असः) मुझसे दूर जानेवाली न होवे ॥ १ ॥

(हे कामिनौ अश्विनौ) परस्पर कामना करनेवाले दो बलवानो! (च इत् सं नयाथः) मिलकर चलो, (च सं वक्षथः) और मिलकर आगे बढो । (वां भगासः सं अग्मत) तुम दोनों को ऐश्वर्य इकठ्ठे प्राप्त हों, (चित्तानि सं) तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिलें और (व्रतानि सं) तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिल जुल कर हों ॥ २ ॥

(यत्) जहां (विवक्षवः सुपर्णाः) बोलनेवाले सुंदर पंखवाले पक्षी जाते हैं और (विवक्षवः अनमीवाः) बोलनेवाले नीरोग मनुष्य जाते हैं, (तत्र) वहां (मे हवं गच्छतात्) मरी प्रेरणानुसार जाओ, (यथा शल्यः कुल्मलं इव) जैसा बाण की नोक निशानेपर जाती है ॥ ३ ॥

(यत् अन्तरं तत् बाह्यं) जो अंदर है वही बाहर है और (यत् बाह्यं तत् अन्तरं) जो बाहर है वही अंदर है। हे औषधे ! (विश्वरूपाणां कन्यानां) विविध रूपवाली कन्याओंका (मनः गृभाय) मन ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ-जिस रीतिसे वायु घास हिलाता है उस रीतिसे मैं तेरा मन हिलाता हूं, जिससे तू मेरे ऊपर प्रीति करनेवाली होकर सदा मेरे साथ रहनेवाली तथा मेरेसे दूर न होनेवाली हो ॥ १ ॥

हे परस्पर प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों मिलकर चलो, मिलकर आगे बढो, मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करो, तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले रहें और तुम्हारे कर्म भी मिल जुल कर होते रहें ॥ २ ॥

जहां सुन्दर पङ्खवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहां नीरोग मनुष्य भ्रमण करने जाते हैं ऐसे सुंदर स्थानपर तू मेरी प्रेरणासे चल ॥ ३ ॥

जो हमारे अंदर है वही बाहर है। और जो बाहर है वही अंदर है। मैं निष्कपट भावसे वर्ताव करता हूं और इस निष्कपट आचरणसे मैं विविध रूपवाली कन्याओंका मन आकर्षित करता हूं ॥ ४ ॥

एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(इयं पति-कामा आ अगन्) यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आयी है और (जनि-कामः अहं आ अगमं) स्त्री की इच्छा करनेवाला मैं आया हूं। (अहं भगेन सह आ अगमं) मैं धनके साथ आया हूं, (यथा कनिक्रदत् अश्वः) जैसा हिनहिनाता हुआ घोडा आता है ॥ ५ ॥

भावार्थ- पतिकी इच्छा करनेवाली यह स्त्री प्राप्त हुई है और स्त्री की इच्छा करनेवाला घोडेके समान हिनहिनाता हुआ मैं धनके साथ आया हूं। हम दोनोंका इस रीतिसे मेल अर्थात् विवाह हुआ है ॥ ५ ॥

अश्विनौ देव।

यह सूक्त विवाह के विषयमें बडे महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है। इस सूक्त की देवता 'अश्विनौ' है। ये देव सदा युग्ममें रहते हैं, कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते। विवाहमें भी स्त्रीपुरुष एकवार विवाह हो जानेपर कभी पृथक् न हों, आमरण विवाह बंधन से बंधे रहें, इस उद्देश्यसे इस सूक्तकी यह देवता रखी है। जिस प्रकार अश्विनौ देव सदा इकट्ठे रहते हैं कभी वियुक्त नहीं होते, उसी प्रकार विवाहित स्त्रीपुरुष गृहस्थाश्रम में इकट्ठे रहें और परस्परसे वियुक्त न हों अर्थात् विवाह बंधन तोडकर स्वैर वर्तन कभी करनेवाले कभी न बनें।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " कहा है, अर्थात् परस्पर की कामना करनेवाले अश्विनौ देव जिस प्रकार एक कार्यमें इकट्ठे रहते हैं; उसी प्रकार विवाहित स्त्री पुरुष गृहस्थाश्रममें मिल जुलकर रहें और एक दूसरे से विभक्त न हों। यहां " अश्विनौ " शब्द ' अश्वशक्तिसे युक्त ' होनेका भाव बता रहा है। पुरुष गर्भाधान करनेमें समर्थ होनेके लिये वैद्य शास्त्रमें " वाजीकरण " के प्रयोग लिखे हैं। वाजीकरण, अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक ही हैं। स्त्रीपुरुष अश्विनौ हों, इसका अर्थ वाजीकरणसे प्राप्त होनेवाली शक्ति से युक्त हों, अर्थात् गर्भाधान करनेकी शक्तिसे युक्त पुरुष हो, और गर्भधारण करनेकी शक्तिसे युक्त स्त्री हो। " अश्वि " शब्दका यह श्लेषार्थ यहां पाठक अवश्य देखें। स्त्री पुरुष परस्पर " कामिनौ " अर्थात् परस्परकी इच्छा करनेवाले हों, स्त्री पुरुष की प्राप्तिकी इच्छा करे और पुरुष स्त्रीकी प्राप्तिकी इच्छा करे। इस शब्दसे विवाहका समय भी निश्चित हो सकता है। देखिए--

विवाह का समय।

मंत्र पांचमें निम्नलिखित मंत्र भाग आता है, उससे विवाहका काल निश्चित हो सकता है--

इयं पतिकामा आ अगन् ॥
अहं जनिकामः आ अगमम् (मं० ५)

" यह स्त्री पतिकी इच्छा करती हुई आगई है और मैं स्त्रीकी इच्छा करता हुआ आया हूं। " यह समय है जो विवाहके लिए योग्य है। स्त्रीके अंदर पतिकी प्राप्तिकी इच्छा और पतिके अंदर स्त्री की प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होनी चाहिए। इस समय विवाह करना चाहिए। परंतु यहां यह भी संभव माना जा सकता है कि यह गर्भाधानका समय हो। शिर सजावट करनेके पूर्व विवाह करनेकी बात प्रथम काण्ड सूक्त १४ में लिखी है। यदि विवाह पहिले हुआ तो यह समय गर्भाधान का मानना पडेगा। तथापि निश्चय यही प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य समाप्तिके पश्चात् प्रौढ और गृहस्थाश्रम योग्य स्त्री पुरुष होनेके पश्चात् ही विवाह करना चाहिये। इस विषयमें इसी मंत्रमें आगे देखिए-

यथा कनिक्रदत् अश्वः।
अहं भगेन सह आगमम् ॥ (मं० ५)

' जैसा हिनहिनाता हुआ घोडा आता है वैसा मैं धनके साथ आया हूं। ' यहां उत्तम तारुण्य और गर्भाधान की अत्युत्तम शक्ति जिसके शरीरमें है ऐसे तरुणका वर्णन है; यही विवाह के लिए योग्य है। विवाह के लिए न केवल तारुण्य और

वीर्य की आवश्यकता है, प्रत्युत (भगं) धनकी भी आवश्यकता है। कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिए आवश्यक धन कमानेकी योग्यता पुरुष प्राप्त करे, धन कमाने लगे और तत्पश्चात् विवाह करे; यह बोध यहां मिलता है। पहले ब्रह्मचर्य पालन करे, तरुण बने, वीर्यवान और बलवान् हो, धन कमाने लगे और पश्चात् सुयोग्य स्त्रीसे विवाह करे। यह पंचम मंत्रका आशय सतत ध्यानमें धारण करने योग्य है।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " शब्द हैं, इनका आशय इससे पूर्व बतायाही है। ' कामिनौ ' शब्दका विशेष स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके पूर्वार्धने किया है और ' अश्विनौ ' का स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है। यह बात पाठक मनन पूर्वक देखेंगे, तो ' अश्विनौ ' शब्द यहां उत्तम तारुण्यसे युक्त पतिपत्नीका वाचक है और ' अश्व ' शब्द वाजीकरण सिद्ध वीर्यवान् पुरुष का विशेषतया वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी।

पंचम मंत्रमें धन कमानेके पश्चात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है। ' धीः, श्रीः, स्त्रीः ' यह वैदिक क्रम प्रसिद्ध है।

निष्कपट बर्ताव।

स्त्री पुरुषोंका परस्पर बर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय की एकता से ही होना चाहिए। तभी गृहस्थाश्रमी पुरुषों को सुख प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उपदेश विशेष महत्वपूर्ण है--

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्। (मं० ४)

' जो अदर है वही बाहर, जो बाहर है वही अंदर है। ' यह निष्कपट व्यवहारका परम उच्च आदर्श है। पति पत्नीके विषयमें तथा पत्नी पतिके विषयमें अंतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करें, अंदर एक भाव रखते हुए बाहर दूसरा भाव न रखें। गृहस्थियोंके लिए व्यवहारका आदर्श यहां वेदने सुबोध शब्दोंद्वारा बताया है। वैदिक धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थी इसका अवश्य आचरण करें और अपना गृहस्थपनका सुख बढावें।

विश्वरूपाणां कन्यानां मनः गृभाय॥ (मं० ४)

' विविध रूपवाली कन्याओंका मन इसी प्रकार आकर्षित किया जावे। ' कोई तरुण किसी कन्याके साथ बातचीत करने तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका बर्ताव सीधा और कपट रहित रखे। कपट भावसे कन्याको धोखा देकर उसको फंसानेका यत्न कोई न करे। सरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बननेके लिए किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय। कभी कोई छल या कपट न किया जाय। स्त्री पुरुष व्यवहारके विषयमें इस मंत्रका यह उपदेश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए पाठक इस मंत्रका वारंवार मनन करें।

आदर्श पतिपत्नी।

चतुर्थ मंत्रमें परस्पर निष्कपट व्यवहार करनेका उपदेश दिया है, उस उपदेशके पालन करनेसे आदर्श कुटुंब बन सकता है इसमें कोई संदेहही नहीं है, इसका थोडासा नमूना द्वितीय मंत्रमें बताया है, इसमें पांच उपदेश हैं, देखिए—

१ संनयथः—सन्मार्गसे चलो और चलाओ। एक मत से चलो। एक मतसे संसार चलाओ। स्त्री और पुरुष एक दिलसे चलें और परिवारको चलावें।

२ संवक्षथः——मिलकर आगे बढो। स्त्री और पुरुष एक विचारसे आगे बढने तथा उन्नति संपादन करनेका प्रयत्न करें।

३ भगासः सं अग्मत—सब मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें। मिलकर ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे विपुल धन प्राप्त हो जावे।

४ चित्तानि सं—आपके चित्त मिले हुए हों।

५ व्रतानि सं—आपके कार्य भी मिलजुल कर किए जांय।

अर्थात् पतिपत्नीमें वैर भाव, द्वेष भाव या कठोर भाव न हो। यहांतक एकता का भाव हो कि ये दोनों मिलकर एकही शरीरके अवयव हैं ऐसा माना जावे। यद्यपि ये शब्द यद्यपि सामान्यतः पतिपत्नीके कर्तव्य बतानेके लिए प्रयुक्त हुए हैं, तथापि सामान्यतः ऐक्य प्रतिपादन परक भी इस मंत्रका भाव लिया जा सकता है और इस दृष्टिसे यह मंत्र सामाजिक ऐक्य भावका उत्तम उपदेश दे रहा है। पाठक इस दृष्टिसे भी इस मंत्रका विचार करें और आदर्श पतिपत्नीके विषयमें इसका उज्वल उपदेश स्मरण रखें।

भ्रमण का स्थान।

पतिपत्नीको मिलकर भ्रमण के लिए जाना हो, तो किस प्रकारके स्थानमें जांय, इस बातका उपदेश तृतीय मंत्रमें किया गया है उसको भी यहां देखिये—

यत् सुपर्णा विवक्षवः ॥
अनमीवा विवक्षवः ॥
तत्र मे हवं गच्छतात् ॥ (मं० ३)

"जहां सुंदर पंखवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहां नीरोग पुरुष वार्तालाप करते हुए जाते हैं, वहां प्रेरणानुसार जांय।" ऐसे स्थानमें पतिपत्नी परस्परकी इच्छानुसार अथवा प्रेरणानुसार, परस्परकी रुचीके अनुकूल भ्रमण के लिये जांय। जहां सुंदर सुंदर पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहां नीरोग मनुष्य जानेके इच्छुक होते हैं वहां जांय। यह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है? पाठक ही इसका अनुभव अपने मनमें कर लें। उत्तम भाग्यसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान स्त्री पुरुषोंको भ्रमण के लिए प्राप्त हो सकते हैं। यहां वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिए बताया है, यदि ऐसा स्थान हर एक परिवारके लिए न मिला, तो इसी प्रकारका कोई अन्य स्थान भ्रमण के लिए पसंद करें और निष्कपट भावसे उत्तम वार्तालाप करते हुए गमन करें।

स्त्रीके साथ बर्ताव।

पुरुष स्त्रीके साथ कैसा बर्ताव करे और स्त्री भी पुरुषके साथ कैसा बर्ताव करे, इस विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें ली है और इस विषयका उपदेश किया है। 'जिस प्रकार वायुसे घास हिलाया जाता है उस प्रकार स्त्रीका मन हिलाता हूं।' (मं० १) यह कथन बडा बोधप्रद है। वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति है, वायु वेगसे चलने लगा, तो बडे बडे वृक्ष भी टूट जाते हैं; परंतु वही वायु कोमल घासको नहीं तोडता, परंतु केवल हिलाता है। इसी प्रकार वीर पुरुषका कोप प्रबल शत्रुको छिन्न-भिन्न कर सकता है, परंतु वही वीर पुरुष स्त्रियोंसे वैसा क्रूरताका बर्ताव न करे। जिस प्रकार वृक्षोंको तोडनेवाला वायु घासको केवल हिलाता है, उसी प्रकार शत्रुको नष्टभ्रष्ट करनेवाला पुरुष भी स्त्रियोंसे कोमल रीतिसे ही बर्ताव करे। कठोर व्यवहार कभी न करे।

स्त्रियां भी अपने अंदर घासके समान कोमलता धारण करें और प्रचण्ड वायु चलने पर भी जैसा घास टूटता नहीं, उसी प्रकार अपने कुटुंबके स्थानसे कभी विचलित न हों।

यहां इस उपमासे दोनोंके उत्तम कर्तव्य बताये हैं। इस उपमाका विचार जितना अधिक किया जाय उतना अधिक बोध मिल सकता है। यह पूर्ण उपमा है, इतनी योग्य उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती। पाठक इसका विचार करें और बोध लें और वह बोध अपने परिवारमें ढाल दें।

यह सूक्त पतिपत्नीके गृहस्थधर्मका आदर्श बता रहा है; यदि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे, तो उनको बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है। विवाह विषयक अन्यान्य सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें।

रोगोत्पादक क्रिमि।

(३१)

(ऋषिः-काण्वः । देवता-मही)

इन्द्रस्य या मही दृषत्क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँ इव ॥ १ ॥
दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥
अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥
अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ—[इन्द्रस्य या मही दृषत्] इन्द्रकी जो बडी शिला है जो [विश्वस्य क्रिमेः तर्हणी] सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली है [तया क्रिमीन् सं पिनष्मि] उससे मैं क्रिमियोंको पीस डालूं [दृषदा खल्वान् इव] जैसे पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ १ ॥

[दृष्टं अदृष्टं अतृहम्] दीखने वाले और न दिखाई देनेवाले इन दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं। [अथो कुरूरुं अतृहम्] और भूमिपर रेंगनेवाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूं। [सर्वान् अल्गण्डून्] सब बिस्तरे आदि में रहनेवाले तथा [शलुनान्] वेगसे इधर उधर चलनेवाले सब [क्रिमीन्] क्रिमियोंको [वचसा जम्भयामसि] वचाके द्वारा हटाता हूं ॥ २ ॥

[अल्गण्डून् महता वधेन हन्मि] विविध स्थानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बडे आघातसे मैं मारता हूं। [दूनाः अदूनाः अरसाः अभूवन्] चलनेवाले और न चलनेवाले सब क्रिमी रसहीन होगये। [शिष्टान् अशिष्टान् वाचा नि तिरामि] बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंको वचासे मैं नाश करता हूं। [यथा क्रिमीणां नकिः उच्छिषातै] जिससे क्रिमियोंमेंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥

[अन्वान्त्र्यं] आंतोंमें होनेवाले, [शीर्षण्यं] सिरमें होनेवाले [अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्] और पसलियोंमें होनेवाले क्रिमियोंको तथा [अवस्कवं] रेंगनेवाले और [व्यध्वरं] बुरे मार्गपर होनेवाले सब क्रिमियोंको मैं [वचसा जम्भयामसि] वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात् आत्माकी दृढ शक्ति है उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥

आंखसे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रेंगनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ २ ॥

वचा औषधिसे मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूं जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥

आंतोंमें, सिरमें, पसलीमें जो क्रमि कुमार्ग के आचरणसे होते हैं उन सबको मैं वचा से हटाता हूं ॥ ४ ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जानिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

(इति पञ्चमोऽनुवाक ।)

अर्थ--[ये पर्वतेषु क्रिमयः] जो पहाडियोंपर क्रिमि होते हैं, (वनेषु, ओषधीषु, पशुषु, अप्सु अन्तः) वन, औषधि, पशु, जल आदिमें होते हैं, और (ये अस्माकं तन्वं आविविशुः) जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं [तत् क्रिमीणां सर्वं जनिम हन्मि] वह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ-जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा जलोंमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोंमें घुसते हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं ॥ ५ ॥

क्रिमियोंकी उत्पत्ति ।

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति 'पर्वत, वन, औषधि, पशु, और जल इनके बीच में होती है' (मं० ५) तथा ये क्रिमि-

अस्माकं तन्वं आविविशुः । (मं० ५)

'हमारे शरीरमें घुसते हैं' और पीडा करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंको हटाकर आरोग्य साधन करना चाहिये । यह पंचम मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है। जलमें सडावट होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीर में अनेक जंतु होते हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनों में जहां दलदलके स्थान रहते हैं वहां भी विविध जाति के क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरमें ये कहां जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है-

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् । (मं० ४)

"आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहां बढते हैं।" इस कारण वहां नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये आरोग्य चाहनेवालों को इनको दूर करना चाहिये । इनकी उत्पत्ति के विषयमें मंत्र ४ में दो शब्द बडे महत्व के हैं ।-

" अवस्कवं, व्यध्वरं" (मं० ४)

१ अवस्कव-(अव+स्कव) नीचे गमन । नीच स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है । यहां आचरणकी नीचता समझना योग्य है।

२ व्यध्वर—(वि-अध्व-र) विरुद्ध मार्ग पर रमना । धर्म विरुद्ध व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनेसे रोगके बीज उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मचर्यादि नियमोंका न पालन करना आदि बहुतसे धर्म विरुद्ध व्यवहार हैं जो रोगउत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं। इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बडे महत्त्वके हैं।

दूर करनेका उपाय।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है—

१ वचा-वचा नामक वनस्पतिका उपयोग करना । भाषामें इसको वच कहते हैं । क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्व सबसे अधिक है। इसका चूर्ण शरीरपर लगानेसे क्रिमि बाधा नहीं होती, वचाका मणि गलेमें या शरीरपर धारण करनेसे भी क्रिमिपीडा दूर होती है और जलमें घोलकर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमिदोष दूर हो जाते हैं। औषधि अन्य उपायोंमें यह सुलभ और निश्चित उपाय है।

२ इन्द्रस्य मही दृषत्-इन्द्रका बडा पत्थर । इस नामका कोई पदार्थ है या यह आध्यात्मिक शक्तिका नाम है, इस विषय में अभीतक कोई निश्चय नहीं हो सका। इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, उसका बडा पत्थर अर्थात जिसपर टक्कर खाकर ये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उसकी प्रबल जीवन शक्ति है। आत्म शक्तिके मुकाबलेमें इन रोगक्रिमियोंकी क्षुद्रक शक्ति ठहर नहीं सकती । यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक खोज होनेकी आवश्यकता है । ये क्रिमि इतने सूक्ष्म होते हैं, कि आंखसे दिखाई नहीं देते ।

(अदृष्ट), दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आंखसे दिखाई देते हैं। कई शरीर पर होते हैं, कपडोंपर चिपकते हैं बिस्तरोंमें होते हैं, इस प्रकार विविध स्थानोंमें इनकी उत्पत्ति होती है। इनका नाश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होती है और आरोग्य मिलता है।

क्रिमि-नाशन।

[३२]

(ऋषिः-काण्वः । देवता-आदित्यः)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः । ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥१॥
विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् । शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२॥
अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रमीन् ॥३॥
हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः । हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४॥

अर्थ-[उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु] उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियोंका नाश करे। [निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु] अस्तको जाता हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे। [ये क्रिमयः गवि अन्तः] जो क्रिमि भूमीपर हैं ॥१॥

[विश्वरूपं] अनेक रूपवाले [चतुरक्षं] चार आंखवाले, [सारंगं अर्जुनं क्रिमिं] रींगनेवाले श्वेतरंगके क्रिमि होते हैं। [अस्य पृष्टीः शृणामि] इनकी हड्डियोंको मैं तोडता हूं। [अपि यत् शिरः वृश्चामि] इनका जो सिर है वह भी तोडता हूं ॥ २ ॥

हे [क्रिमयः] क्रिमियो ! [अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्] अत्रि, कण्व और जमदग्नि के समान [वः हन्मि] तुमको मार डालता हूं। [अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा] मैं अगस्तिकी विद्यासे [क्रिमीन् सं पिनष्मि] क्रिमीयोंको पीस डालता हूं ॥ ३ ॥

[क्रिमीणां राजा हतः] क्रिमियोंका राजा मारा गया। [उत एषां स्थपतिः हतः] और इनका स्थानपति भी मारा गया। [हत-माता, हतभ्राता, हत-स्वसा क्रिमिः हतः] क्रिमीकी माता, भाई, बहीन तथा वह क्रिमि भी मारा गया है॥४॥

भावार्थ—सूर्य उदय होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है। ये क्रिमि भूमिपर रहते हैं ॥ १ ॥

ये क्रिमि बहुत प्रकारके विविध रंगरूपवाले होते हैं, कई श्वेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं। इनमेंसे कईयोंको चार अथवा अनेक आंख होते हैं ॥ २ ॥

अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग बीजोंका नाश हो जाता है॥ ३ ॥

इन उपायोंसे-इन क्रिमियोंके मूल बीज ही नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥
प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि । भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥६॥

अर्थ- [अस्य वेशसः हतासः] इसके परिचारक मार गये । [परिवेशसः हतासः] इसके सेवक पीसे गये । [अथो ये क्षुल्लकाः इव] अब जो क्षुल्लक क्रिमी हैं [ते सर्वे क्रिमयः हताः] वे सब क्रिमी मारे गये ॥ ५ ॥

[ते शृङ्गे प्र शृणामि] तेरे दोनों सींग तोड डालता हूं [याभ्यां वितुदायसि] जिनसे तू काटता है । [ते कुषुम्भं भिनद्मि] तेरे विषके आशयको मैं तोडता हूं [यः ते विषधानः] जो तेरा विषका स्थान है ॥ ६ ॥

भावार्थ—इनके सब परिवार पूर्णतासे दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इनमें जो विषका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपायोंसे ही नाश हो जाता है ॥ ६ ॥

सूर्यकिरण का प्रभाव ।

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगबीज दूर होते हैं । इसलिए जिस स्थानपर रोग जन्तुओंके बढनेसे रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं। जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण विपुल प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ट करानेसे वहांके रोग दूर हो जाते हैं । क्योंकि रोगबीजों को हटानेवाला सूर्यके समान प्रभावशाली दूसरा कोई भी नहीं है ।

क्रिमियोंके लक्षण ।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें इन क्रिमियोंके कुछ लक्षण कहे हैं, देखिए (मं०२)—

१ अर्जुनः—श्वेत रंगवाला,

२ सारंगः—विविध रंगवाला, चित्रविचित्र वर्ण वाला, धब्बे जिसके शरीरपर हैं ।

३ चतुरक्षः—चार नेत्र वाला, चारों तर्फ जिसके शरीरमें नेत्र हैं ।

४ विश्वरूपः—विविध रंगरूप वाला ।

इन लक्षणोंसे ये क्रिमि पहचाने जा सकते हैं ।

रोग बीजोंके नाशकी विद्या ।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मंत्रमें कही है । इस मंत्रमें इस विद्याके चार नाम आगये हैं, देखिए—

(१) अत्रि, (२) कण्व, (३) जमदग्नि और (४) अगस्त्य के (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे अर्थात् इनकी विद्यासे मैं रोग बीजभूत क्रिमियोंका नाश करता हूं । रोगबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं । प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इन विद्याओंकी खोज करें । इस समय तक हमने जो खोज की उससे कुछभी परिणाम नहीं निकला है ।

विषस्थान ।

इन क्रिमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि जहां विष रहता है, (मं० ६) यह विष ही मनुष्य के शरीरमें पहुंचता है और वहां विविध रोग उत्पन्न करता है । इसलिए इनसे बचने के उपाय की शक्ति ऐसी चाहिए कि जिससे यह विष दूर हो जाय और मनुष्य के शरीर पर यह विष अनिष्ट परिणाम न कर सके ।

यक्ष्म नाशन।

(३३)

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यम्।)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥
अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

अर्थ-(ते अक्षीभ्यां नासिकाभ्यां) तेरे आंखोंसे और दोनों नथुनोंसे (कर्णाभ्यां छुबुकात् अधि) कानोंसे, और ठोडीमेंसे, (ते मस्तिष्कात् जिह्वाया) तेरे मस्तकसे तथा जिह्वासे (शीर्षण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) सिर संबंधी रोग को हटाता हूं ॥ १ ॥

(ते ग्रीवाभ्यः उष्णिहाभ्यः) तेरे गले से और गुद्दी की नाडीसे (कीकसाभ्यः अनूक्यात्) हंसली की हड्डियोंसे और रीढसे और (ते अंसाभ्यां, ते बाहुभ्यां) तेरे कंधोंसे और भुजाओंसे (दोषण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) भुजाके रोगको हटाता हूं ॥ २ ॥

(ते हृदयात्, क्लोम्नः, हलीक्ष्णात्) तेरे हृदयसे फेफडेसे और पित्ताशयसे, (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कोखोंसे (ते मतस्नाभ्यां) तेरे गुर्दोंसे (प्लीह्नः यक्नः) तिल्ली और जिगरसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को हटाता हूं ॥ ३ ॥

(ते आन्त्रेभ्य. गुदाभ्यः) तेरी आंतोंसे और गुदासे (वनिष्ठोः उदरात् अधि) मलस्थानसे और उदरसे (ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः) तेरी कोखोंसे अंदर की थैलीसे और नाभिसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग हटाता हूं ॥ ४ ॥

(ते ऊरुभ्यां अष्ठीवद्भ्यां) तेरी जंघाओंसे और घुटनोंसे (पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्यां) एडियोंसे और पैरोंसे, (ते श्रोणिभ्यां) तेरे कूल्होंसे (भंससः भसद्यं भासदं) गुह्यस्थानसे कटिके संबधके गुह्य (यक्ष्मं विवृहामि) रोगको मैं हटाता हूं ॥ ५ ॥

(ते अस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे (स्नावभ्यः धमनिभ्यः) पुट्ठोंसे और नाडियोंसे (ते पाणिभ्यां अंगुलिभ्यः नखेभ्यः) तेरे हाथ, अंगुलि और नाखूनोंसे (यक्ष्मं विवृहामि) रोग को हटाता हूं ॥ ६ ॥

अङ्गा॑दङ्गा॒ल्लोम्नो॑लोम्नो जा॒तं पर्व॑णिपर्वणि ।
यक्ष्मं॑ त्वच॒स्यं॑ ते व॒यं क॒श्यप॑स्य वीब॒र्हेण॒ विष्व॑ञ्चं॒ वि वृ॑हामसि ॥ ७ ॥

अर्थ- (सः ते) जो तेरे (अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम और प्रत्येक गांठमें (ते त्वचस्यं विष्वञ्चं यक्ष्मं) तेरी त्वचा संबंधी फैलनेवाले क्षय रोगको (कश्यपस्य विबर्हेण) कश्यपके उपायसे (वयं विवृहामसि) हम हटा देते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ-आंख नाक कान बाहु आदि स्थूल शरीरके मोटे अवयवोंसे, हृदय प्लीहा यकृत आदि आंतरिक अवयवोंसे, अस्थि मज्जा आदि धातुओंसे अथवा जहां कहां रोग हो वहांसे कश्यप की विद्यासे हम रोगको हटा देते हैं १-७ ॥

कश्यप-विबर्हण ।

पूर्व सूक्तमें अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य नामकी रोगदूरीकरण की विद्या आगई है । उसी प्रकारकी कश्यप विबर्हण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आगया है। खोज करनेवालोंको उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खोज करनी चाहिये। इस समय तो यह विद्या अज्ञात ही है ।

[यह सूक्त कुछ पाठ भेदसे ऋ० १०।१६३ में आया है]

मुक्ति का सीधा मार्ग ।

(३४)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-पशुपतिः ।)

य ईशे॑ पशु॒पतिः॑ पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् ।
निष्क्री॑त॒ः स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं सचन्ताम् ॥ १ ॥
प्र॒मु॒ञ्चन्तो॒ भुव॑नस्य॒ रेतो॑ गा॒तुं ध॑त्त॒ यज॑मानाय देवाः ।
उ॒पाकृ॑तं शशमा॒नं यदस्था॑त्प्रि॒यं दे॒वाना॒मप्ये॑तु॒ पाथः॑ ॥ २ ॥

अर्थ-[यः पशुपतिः] जो पशुपति [यः द्विपदां उत चतुष्पदां ईशे] द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है [सः निष्क्रीतः] वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ [यज्ञियं भागं एतु] यजनीय विभागको प्राप्त होवे । [रायः पोषाः यजमानं सचन्ताम्] धन और पुष्टियां यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे [देवाः] देवो ! [भुवनस्य रेतः प्र मुञ्चन्तः] भुवन के वीर्यका दान करते हुए [यजमानाय गातुं धत्त] यज्ञ करनेवाले के लिये सन्मार्ग प्रदान करो । [यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्थात्] जो सोमरूप सुसंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें [एतु] प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो द्विपाद और चतुष्पात् आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह निःशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूजा के स्थानमें पूजित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियां उपासक को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

सब देव इस उपासक को संसारका वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्ग बताते हैं और वनस्पति संबंधी सुसंस्कृत देवोंके लिए प्रिय ऐसा जो अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥

ये बध्यमा॑नमनु॒ दीध्या॑ना अ॒न्वैक्ष॑न्त॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा च ।
अ॒ग्निष्टान॑ग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वो वि॒श्वक॑र्मा प्र॒जया॑ संररा॒णः ॥ ३ ॥
ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒ विरू॑पाः॒ सन्तो॑ बहु॒धैक॑रूपाः ।
वा॒युष्टान॑ग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वः प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ संररा॒णः ॥ ४ ॥
प्र॒जा॒नन्तः॒ प्रति॑ गृह्णन्तु॒ पूर्वे॑ प्रा॒णमङ्गे॑भ्यः॒ पर्या॒चर॑न्तम् ।
दि॒वं ग॑च्छ॒ प्रति॑ तिष्ठा॒ शरी॑रैः स्व॒र्गं या॑हि प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ-[ये दीध्यानाः] जो प्रकाशमान [बध्यमानं अनु] बंधे हुए को अनुकूलता के साथ [मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्त] मनसे और आंखसे देखते हैं, [विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः अग्निः] विश्वकर्ता प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव [तान् अग्रे प्रमुमोक्तु] उनको सबसे पहले मुक्त करे।

[ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः] जो ग्रामीण विविधरंग रूपवाले पशु [बहुधा विरूपाः संतः एकरूपाः] बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपर भी एक रूप होनेके समान ही हैं (प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः) प्रजाके साथ रमने वाला प्रजापालक प्राण देव [तान् अग्रे प्रमुमोक्तु] उनको पहले मुक्त करे ॥ ४ ॥

[पूर्वे प्रजानन्तः] पहले विशेष जाननेवाले ज्ञानी [परिआचरन्तं प्राणं] चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको [अंगेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु] सब अंगोंसे ग्रहण करें। [शरीरैः प्रतितिष्ठ] सब शरीरांगोंसे प्रतिष्ठित रह, पश्चात् [देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छ] देवोंके जाने योग्य मार्गोंसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ- जो तेजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आंखसे बद्ध स्थितिमें रहे हुए प्राणीको अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं, उनको- ही विश्वका निर्माण करनेवाला और प्रजाओं में रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥ ३ ॥

ग्राम्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहिले मुक्त करता है ॥ ४ ॥

जो ज्ञानी लोग सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणकी सब अंगों और अवयवोंसे इकठ्ठा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे सुदृढ होते हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वर्गको जाते हैं और प्रकाश का स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

प्राणका आयाम।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है। वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिए जाते हैं। ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहांसे स्वेच्छासे निवृत्त होता है। यदि इस प्राणपर मनुष्यकी इच्छाका स्वामित्व होगा अर्थात् मनुष्यकी इच्छाके अनुसार प्राणका अंगों और अवयवोंमें गमन होगा, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की सिद्धि भी प्राप्त होगी। यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर ही निर्भर है। इसी लिए पञ्चम मंत्रमें कहा है--

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु। (मं० ५)

" जाननेवाले बडे लोग संचार करनेवाले प्राणको सब अंगोंसे इकट्ठा करके अपने स्वाधीन कर लेवें।" इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कौन हैं यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वाधीन करनेका भी उपदेश दिया है; इसका अनुसंधान देखिए—

१ प्र—जानन्तः पूर्वे = (प्र—जानन्तः) विशेष जाननेवाले अर्थात् शरीर शास्त्र और योगशास्त्रके विशेष ज्ञाता। प्राणायामके शास्त्रको उत्तम प्रकारसे जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन सीखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवी हैं। वे लोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करें।

२ पर्याचरन्तं प्राणं—(परि+आचरन्) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें। प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावें। प्राणका संचार जहां योग्य रीतिसे नहीं होता है वहां रोग होते हैं; इसलिए प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होगई तो सब शरीर नीरोगी रखना और दीर्घ आयु प्राप्त करना भी संभवनीय है।

३ अङ्गेभ्यः प्राणं प्रतिगृह्णन्तु—शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहां सूचित किया है।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है। इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका अनुष्ठान करके अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अपने शरीरके सब अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसको भेजना यह सब क्रिया अपने आधीन होनी चाहिए, इससे कौनसी सिद्धि हो सकती है इसका वर्णन इसी मंत्रमें देखिए—

शरीरैः प्रतितिष्ठ। (मं० ५)

"अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो" यह पहिली सिद्धि है। स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार सात शरीर भी गिने जा सकते हैं, अंगों और अवयवोंकी गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पडेगा, इसलिये वह विचार हम छोड देते हैं। इन शरीरोंके साथ मनुष्य सुदृढ और सुप्रतिष्ठित हो सकता है। जो पूर्वोक्त साधन करेगा और प्राणको अपने आधीन बनायेगा, वह शरीरसे नीरोग, सुदृढ तथा दीर्घायु हो सकता है। यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अप्रत्यक्ष भी बहुत से लाभ होते हैं। इस अप्रत्यक्ष लाभ के विषयमें यही मंत्र इस प्रकार कहता है—

दिवं गच्छ। देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि। (मं० ५)

"प्रकाशमय स्थान प्राप्त कर। देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा" यह है अन्तिम सिद्धि, जो इस प्रकाशके मार्गसे और प्राणके वशीकरणसे प्राप्त हो सकती है। योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म ग्रंथोंमें वर्णित हो चुकी है।

पशुपति रुद्र।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राण का वर्णन किया है, उसके वशीकरणसे लाभ बताये और उसकी विधि भी कही है। इसी प्राणको वेदमें "रुद्र,पशुपति" आदि नाम आये हैं। प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हो, दोनों अवस्थामें ये शब्द उसके वाचक होते हैं। यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें ये रुद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रुद्र है, यह बात शतपथादि ब्राह्मणोंमें अनेकबार कही जा चुकी है। इसलिये पशुपति शब्द रुद्र और प्राण एकही अर्थमें प्रयुक्त होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता।

शरीरमें "पशुभाव" हैं,स्थूलशरीरमें पाशवी बल रहता है, इंद्रियोंमें भोगेच्छा,काम क्रोध आदि पशुभाव हैं, मनमें कुवासना आदि पशुभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतसे पशु विद्यमान हैं, उनको वशमें रखनेवाला, उनका स्वामी यह प्राणही है। प्राणके वशमें होनेसे ये सब पशु वशमें हो जाते हैं और कोई, कष्ट नहीं देते। पशुपति होना यह भी एक बडा भारी सिद्धि है, जो प्राणको वश करनेसे प्राप्त हो सकती है। प्राणका वर्णन अन्यत्र इसी प्रकार हुआ है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्। अथर्व. ११। (६)।४।१

"प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है।" यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये— "द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंका जो पशुपति स्वामी है वह अपना बननेके पश्चात् वह पूज्य स्थानमें जाता है और धन तथा पुष्टियां उपासकको मिलती हैं॥" (मं० १)

द्विपाद और चतुष्पादोंके शरीरोंका चलानेवाला प्राणही है, इसके होनेसे सब इंद्रिय कार्य करते हैं और इसके चले जानेसे यह शरीर मुर्दा हो जाता है,इसलिए द्विपाद चतुष्पादोंका स्वामी प्राण है। यह प्राण(निः-क्रीतः)पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय,तभी वह आधीन हो जाता है । कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने स्वामीत्व में आ जाता है । यह प्राण किस रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिए ।

द्रव्य देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसा यह प्राण धनसे खरीदा नहीं जा सकता । इसको योगानुष्ठानरूपी तपके द्वारा खरीदनेकी आवश्यकता है । वैराग्य और अभ्यास द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् यह पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन होनेके पश्चात् " यह (यज्ञियं भागं) पूजाके स्थानमें प्राप्त होता है, " यज्ञ स्थलमें यह प्राप्त होता है, योगी जन इसकी प्राणायाम द्वारा उपसना करते हैं, जिससे—

रायस्पोषाः यजमानं सचन्ताम् ।(मं० १)

" शोभा और पुष्टियां यजमानको मिलती हैं । " मंत्रमें ' राय ' शब्द है जो ' धन, शोभा ' आदिका वाचक है । योगमार्गसे प्राणकी उपासना करनेसे यह प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है । इसके साथ " शरीर—प्रतिष्ठा " अर्थात् शरीर स्वास्थ्य रूप फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी यहां देखने योग्य है, क्योंकि " शरीरकी प्रतिष्ठा " भी शरीरकी शोभा और पुष्टि होनेसे ही हो सकती है ।

बीजशक्ति ।

इस प्राणके अनुष्ठानसे और एक महत्त्व पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है—

भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः देवाः गातुं धत्त । (मं० २)

" त्रिभुवनका बीज फैलानेवाले देव इसको योग्य मार्ग देते हैं । " त्रिभुवनके अंदर अनंत पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके अनंत सूक्ष्म बीज हैं, यही त्रिभुवनका ' रेत ' अथवा वीर्य है । यह वीर्य सूर्यादि देवोंके पास है। यह बीज शक्ति इन देवोंसे इस पुरुषको प्राप्त होती है जो प्राणको पूर्वोक्त प्रकार वश करता है । ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठासे जो वीर्य लाभ होनेका वर्णन योगसूत्रोंमें है वह वीर्य यही है । पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह बडी भारी शक्ति है, उसका विस्तार अपरिमित हो सकता है । यह बीजशक्ति यदि अपने अंदर आगई, बढी या वृद्धिंगत हुई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बढ सकती है । योगीके अंदर जो विलक्षण शक्ति आती है उसका कारण यही है कि, वह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है ।

योगीका अन्न ।

द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें योगीके सेवन करने योग्य सात्विक अन्नका वर्णन हुआ है—

यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्यात्
तत् अपि एतु ॥ (मं० २)

" जो वनस्पति संबंधी उत्तम संस्कार किया हुआ देवोंको प्रिय अन्न होता है यह अन्न हमें प्राप्त हो । " इसमें दिव्य अन्नका थोडासा वर्णन है । अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाडनेवाला न हो । "शशमान" शब्द चन्द्र या सोम औषधिका वाचक है । यह देवोंका अन्न है। सोम वनस्पतिका रस ही है । इस रसमें गौका ताजा दूध मिलाया जाता है और सत्तू भी मिला होता है । यह रस पुष्टि कान्ति और बल बढानेवाला है । अन्न (देवानां प्रियं) देवताओंके लिए प्रिय हो, देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है । यह अर्थ लेनेसे अन्न ऐसा हो कि जो इंद्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिए हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिलता है । कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंको निर्बल करनेवाला हो । इस मंत्रका " पाथः " शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है। यह सब वनस्पतिजन्य रसरूप बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है । दूध के साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस आदि सेवन करना योग्य है । सोमरस पानकी विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है ।

मुक्तिका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें मुक्तिका सीधा मार्ग बताया है, जो हरएक को मनमें धारण करना चाहिए—

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च वध्यमानं अनु अन्वैक्षन्त । (मं० ३)

" जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए को मनसे और आखसे अनुकम्पाकी दृष्टिसे देखते हैं, " वे मुक्तिके अधिकारी हैं। वेही बंधनसे छूट सकते हैं और कैवल्य धाम में पहुंच कर विराजमान हो सकते हैं ।

स्वयं (दीध्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त तपोनुष्ठानसे अपना तेज जिन महात्माओंने बढाया है, उनको चाहिए, कि वे अपने (मनसा) मनसे, अपने अन्तःकरण के गहरे भावसे तथा अपने (चक्षुषा) आखसे बंधनमें फंसे, गुलामीमें सडनेवाले, परतंत्र जीवोंपर दयाकी दृष्टीसे देखें अर्थात् यहां केवल आंखसेही देखना नहीं है अपितु अंतःकरणसे उनकी हीन अवस्थाको सोचना है, उस अवस्थाका दिलसे मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिए अपनी ओरसे जहां तक हो सकता है वहां तक यत्न भी करना है । उनकी सहायताके लिए आत्मसमर्पण करना है । जो महात्मा दीनोंके उद्धारके लिए आत्म समर्पण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं । परमात्माको दीनोंके अंतःकरणमें अनुभव करके उनकी सेवा करना, अथवा दीनोंके उद्धारके प्रयत्नसे परमात्माकी उपासना करना, आदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं। इनकी सद्गति कैसे होती है यह भी देखिये-

प्रजया संरराणः विश्वकर्मा अग्निः देवः

अग्रे तान् प्रमुमोक्तु । [मं ३]

"प्रजाके साथ रहनेवाला विश्वका कर्ता तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे ।" इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके-साथ रहता है, अर्थात् प्रजाजनोंके अन्तःकरण में रहता है । दीन प्रजाओंमें उसको जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट दीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजाकी सेवा करना ही परमात्माकी भक्ति करना है। इसीलिये इस मंत्रके पूर्वार्धमें कहा है कि "बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे मनसे और आखसे देखनेवाले सबसे पहले मुक्त होते हैं ।" पाठक यहां परमात्मोपासना का सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें ।

विश्वरूपमें एकरूपता ।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न, यह भेदकी प्रतीति इस जगत्‌में सर्वत्र है । विचार होता है कि क्या यह भेद सदा रहना है अथवा इसका अभेद होनेकी कोई युक्ति है । चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अभ्यास करो, जैसा—

विश्वरूपा विरूपाः सन्तः बहुधा एकरूपाः । (मं० ४)

'विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होनेपर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही है ।'उदाहरण प्रथम्य पशुही लीजिये- गौवें रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं; यह भेद दृष्टि है। इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है। अब यह दृष्टि छोड दें और " गौ-पन " (गोत्व) की सामान्य दृष्टिसे सब गौओंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौवें एक गोजातिमें मिल जाती हैं। जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति दृष्टिसे भिन्नता का इस प्रकार अनुभव आता है । अब ग्रामीण पशुओं में गौ, बैल, घोडी,. घोडा, बकरी, मेंडी, गधा, गधी आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इसमें किसी को भी शंका नहीं हो सकती । परंतु यह सब जाति भेदकी भिन्नता 'पशुत्व' सामान्य में अर्थात् ये सब 'पशु' हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे लुप्त हो जाती है और पशुभाव में सब एक दिखाई देते हैं । पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु 'प्राणी' होनेके कारण दोनोंकी एकता 'प्राणी' भावमें होती है । इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नता का विचार करना उचित है और किस दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किस दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये । चतुर्थ मंत्र कहता है कि 'विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकार से एक रूपता है' और इस एकरूपताका ही विचार करना चाहिए । अपने शरीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानोंमें विभक्त होनेके कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं,परंतु वह दस प्रकारका नहीं है,विभिन्न दस कार्य करने पर भी वह सब मिलकर एकही है ।

विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यको देखना ही शास्त्रकी दृष्टि है। इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रकी (आत्माकी) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना शास्त्रकी दृष्टिसे देखना होता है। इंद्रियोंकी भिन्नता बच्चा भी जान सकता है, परंतु उनमें एक आत्माकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अभ्यास से ही साध्य हो सकता है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न तैंतीस देवताओंमें एक अभिन्न आत्माकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह ओतप्रोत हुई है, इस दृष्टिसे जगत् की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है,इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महात्मा मुक्तिके अधिकारी हैं। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उत्तरार्ध देखिये-

प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः
तान् अग्रे प्रमुमोक्तु ॥ (मं० ४)

"प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजाका पालक प्राण देव उन महात्माओंको पहले मुक्त करे" जो विविध प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारीका यह भी एक लक्षण है। इस रीतिसे इस सूक्तने मनुष्यकी आत्मिक उन्नतिका मार्ग क्रमशः बताया है। यदि पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको बडा बोध प्राप्त हो सकता है। सुबोधताके लिये यहां संक्षेपसे फिर सारांश कह देते हैं-

१ ज्ञानी योगी अपने सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंसे इकट्ठा करके अपने आधीन करे। इससे शरीरकी दृढता होगी और प्रकाशके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्ति भी होगी। (मं० ५)

२ प्राण सब द्विपाद चतुष्पादोंका संचालक है, वह स्वाधीन होनेपर पुष्टी और शोभा बढाता है। (मं० १)

३ प्राणको वशमें करनेसे विश्वचालक सूर्यादि देवोंसे बडी वीर्यकी शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य सुसंस्कार किया हुआ भोजन करना योग्य है। (मं० २)

४ जो अपने मनसे और आंखसे दीनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके उद्धार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले मुक्त करता है (मं० ३)

५ जगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं० ४)

यह सारांश इस सूक्तका तात्पर्य है। पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं।

पशु।

पशु वाचक शब्दके प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बडाही महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। यहां पशु शब्दसे गाय घोडे आदि पशु ऐसा अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है। जब तक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नहीं होता है तब तक यह पशुही रहता है। जितने प्रमाण से इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व का विकास होगा। मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रियां पशुरूप ही हैं। इस शरीररूपी रथको ये इतने पशु जोते हैं। इन पशुओंके उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है। इसलिये इन पशुओंको स्वाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनके अंदर भी काम क्रोधादि पशुभाव हैं। इन सब पशुओंको सुशिक्षासे वश करना चाहिये और मनुष्यत्व (मननशीलत्व) का विकास करना चाहिये। मनुष्य बननेका प्रारंभ होनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है। इत्यादि विचार पाठक करें और इस सूक्तसे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी पराकाष्ठा करें।

यज्ञमें आत्मसमर्पण।

(३५)

(ऋषिः-अंगिराः। देवता-विश्वकर्मा)

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा ॥ १ ॥
यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥

अर्थ-(ये भक्षयन्तः) जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) अच्छी बातोंकी वृद्धि नहीं करते, तथा (यान् धिष्ण्याः अग्नयः) जिनके संबंधमें बुद्धिके अग्नि (अन्वतप्यन्त) पश्चात्ताप करते हैं, (तेषां या अवया दुरिष्टिः) उनकी जो अवनतिकारक सदोष इष्टिकी पद्धति है, (विश्वकर्मा तां नः सु+इष्टिं कृणवत्) विश्वका रचयिता देव उसको हमारे लिये उत्तम इष्टि बनावे ॥ १ ॥

(प्रजाः अनुतप्यमानं) प्रजाओंके संबंधमें अनुताप करनेवाले (यज्ञपतिं ऋषयः एनसा निर्भक्तं आहुः) यज्ञके पति को ऋषि पापसे पृथक् कहते हैं। (यान् मथव्यान् स्तोकान् अप रराध) जिन मथने योग्य रसभागोंको समर्पित करता रहा (विश्वकर्मा तेभिः नः सं सृजतु) विश्व की रचना करनेवाला उनके साथ हमें संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो अन्न खाते हुए भी श्रेष्ठ कर्तव्योंको नहीं करते, जिसके कारण उनकी बुद्धियोंके अंदर रहनेवाले अग्नि भी बडा पश्चात्ताप करते हैं, उनसे जो दोष होते हैं वे सुधर जांय और विश्वकर्ताकी कृपासे वे हमारे सत्कर्ममें संमिलित हों ॥ १ ॥

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥
घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥ ४ ॥
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ- (सोमपाने अदान्यान् मन्यमानः) सोमपान-यज्ञ करनेवालोंको दान देने अयोग्य समझनेवाला (न यज्ञस्य विद्वान्) न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और (न समये धीरः) न समयपर धैर्य धरनेवाला होता है । (एषः बद्धः यत् एनः चकृवान्) यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे (विश्वकर्मन्) विश्वके रचयिता ! (तं स्वस्तये प्रमुञ्च) उसको कल्याणके लिये खुला कर दो ॥ ३ ॥

(ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बडे तेजस्वी होते हैं, (एभ्यः नमः अस्तु) इनके लिये नमस्कार होवे । (यत् एषां चक्षुः मनः च सत्यं) क्योंकि इनका आंख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है । हे (महिष विश्वकर्मन्) विश्वके बलवान् रचयिता ! (बृहस्पतये द्युमत् नमः) ज्ञान पतिके लिये व्यक्त नमस्कार हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर, (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥

(यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिः मुखं च) जो यज्ञका आंख, भरणकर्ता और मुखके समान है उसको (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूं । (सुमनस्यमानाः देवाः) उत्तम मनवाले देव (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आयन्तु) विश्वके कर्ताद्वारा फैलाये हुए इस यज्ञके प्रति आजांय ॥ ५ ॥

भावार्थ- दुखी प्रजाजनों के संबंध में हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको निष्पाप समझते हैं, जो सोम का मन्थन करके याग करता है उनके साथ विश्वकर्माकी कृपासे हमारा संबंध जुड जाय ॥ २ ॥

जो यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंको दान देनेके लिए अयोग्य समझता है, न उसको यज्ञका तत्त्व समझा होता है और न वह समयपर धैर्य दिखानेमें समर्थ होता है । यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पाप करता है, उससे विश्वकर्ता ही उसे छुडावे और उसका कल्याण करे ॥ ३ ॥

ऋषि बडे तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उनके मनमें और आंखमें सत्य चमकता रहता है । उस ज्ञानी के लिए हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्तिमान विश्वके कर्ता ! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिए हम नमन करते हैं ॥ ४ ॥

मैं अपनी वाणी कान और मनसे यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आत्मार्पण करता हूं क्योंकि विश्वकर्ताने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सब देव आकर कार्य करते हैं ॥ ५ ॥

अयाजकोंकी निन्दा।

प्रथम और तृतीय मंत्रमें अयाजकोंकी निंदा की है । कहा है कि—" जो अन्न खाते हुए भी यज्ञ जैसे सत्कर्मोंको करनेकी रुची नहीं रखते, अन्य सत्कर्म भी नहीं करते, सद्भावना भी नहीं फैलाते " (मं० १) उनकी सद्गति कैसी होगी ? मनुष्यकी बुद्धिमें कई प्रकारके अग्नि हैं, वे सत्कर्म, सद्भावना और सद्विचारके अभाव के कारण, इसकी बुद्धिमें बसनेके कारण पश्चात्ताप करते हैं । क्योंकि दुष्ट मार्गमें यह मनुष्य सदा रत होनेके कारण उन बुद्धि शक्तियोंका विकास नहीं होता । " धिषणा " शब्द बुद्धिका वाचक है उसमें रहनेवाला " धिष्ण्यः अग्निः " है । हरएक मनुष्यकी बुद्धिमें यह रहता ही है । ऐसा मनुष्य जो दुष्कर्म करता है, उससे उसको परमात्मा ही बचावे और यह सुधरकर प्रशस्ततम यज्ञकर्ममें रत हो जावे (मं० १)। यज्ञ करनेवाले

ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। परंतु " जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिए पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तत्त्व और न उसको समय का महत्व समझा होता है। यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमें जो वह कुछ कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पापसे बचावे और सन्मार्गपर चलावे। (मंत्र० ३) "

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दा की है।

याजकोंकी प्रशंसा।

द्वितीय मंत्रमे याजकोंकी प्रशंसा की है। " जो दीन और दुखी प्रजाकी ओर अनुतापकी भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्पाप है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होवे।" (मं० २) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिए आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है।

ऋषियोंकी प्रशंसा।

चतुर्थ मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है— " ऋषि बडे तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आंखमें सत्य रहता है, इन ऋषियोंके लिए नमस्कार है। " (मं० ४)

इस वर्णनमें (घोरा ऋषयः) ऋषियोंके लिए " घोर " यह विशेषण आया है। इसका अर्थ " उच्च " श्रेष्ठ उन्नत ऐसा होता है। ऋषि उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह दिया है कि " उनके मनमें और आंखमें सदा सत्य रहता है। " वे असत्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्वल हुई होती है। यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई। परंतु यहां हमें बोध मिलता है कि जिसके मनमें और आंखमें ओतप्रोत सत्य बसेगा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उच्च बनेगा, उच्च होनेका यह उपाय है। सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उच्च होता है।

विश्वकर्ता की पूजा।

इस सूक्तकी देवता 'विश्वकर्मा' है। विश्वका कर्ता एक प्रभु है, उसकी उपासना करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। "इसी प्रभुने यज्ञरूपी प्रशस्ततम सत्कर्मका प्रारंभ किया है।" (मं० ५) इस प्रभुने, आत्मसमर्पण करके संपूर्ण जीवोंकी भलाईके लिए विश्वरूपी महान् यज्ञकी रचना सबसे प्रथम की है, इसको देखकर अन्यान्य महात्माओंने भी विविध यत्न करना प्रारंभ किया। इस लिए ऐसे " विश्वकर्ताको हम नमन करते हैं, वह हम सबकी रक्षा करे। ' (मं० ४) इस रीतिसे उस प्रभुकी उपासना और पूजा करना मनुष्य मात्रके लिए योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेका उपदेश दे रहा है। यह सूक्त प्रत्येक मनुष्यको कहता है कि—

वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि। (मं० ५)

" वाणी, कान और मनसे अर्पण करता हूं। " यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेकी तैयारी हरएक मनुष्य करे, समर्पण करनेके समय पीछे न हटे। क्योंकि इस प्रकारके समर्पणसे ही उच्च अवस्था प्राप्त होती है।

विवाहका मंगल कार्य।

(३६)

(ऋषिः-पतिवेदनः । देवता-अग्नीषोमौ)

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न ।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥१॥
सोम॑जुष्टं ब्र॒ह्मजु॑ष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म्। धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृ॒णोमि॑ पति॒वेद॑नम्॥२॥
इ॒यम॑ग्ने॒ नारी॒ पतिं॑ विदेष्ट॒ सोमो॒ हि राजा॑ सु॒भगां॑ कृ॒णोति॑ ।
सुवा॑ना पु॒त्रान्महि॑षी भवाति ग॒त्वा पतिं॑ सु॒भगा॒ वि रा॑जतु ॥३॥
यथा॑ख॒रो म॑घव॒ञ्चारु॑रे॒ष प्रि॒यो मृ॒गाणां॑ सु॒षदा॑ ब॒भूव॑ ।
ए॒वा भग॑स्य जु॒ष्टेयम॑स्तु॒ नारी॒ संप्रि॑या॒ पत्या॒विरा॑धयन्ती ॥४॥

अर्थ— हे अग्ने ! (भगेन सह) धनके साथ (सं-भलः) उत्तम वक्ता पति (इमां नः नः सुमतिं कुमारीं) इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको (आ गमेत्) प्राप्त होवे। (अस्यै पत्या सौभगं अस्तु) इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे। क्योंकि यह कन्या (वरेषु जुष्टा, समनेषु वल्गु) श्रेष्ठोंमें प्रिय और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ॥ १ ॥

(सोमजुष्टं) सोम द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा सेवित, (अर्यम्णा संभृतं भगं) श्रेष्ठ मनवालोंसे इकठ्ठा किया हुआ धन (धातुः देवस्य सत्येन) धारक देवके सत्य नियमसे (पति-वेदनं कृणोमि) पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता हूं ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (इयं नारी पतिं विदेष्ट) यह स्त्री पतिको प्राप्त करे। (हि सोमः राजा सुभगां कृणोति) क्योंकि सोम राजा इसको सौभाग्यवती करता है। यह (पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति) पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी होवे। यह (सुभगा पतिं गत्वा विराजतु) सौभाग्यवती पतिको प्राप्त करके शोभित हो ॥ ३ ॥

हे (मघवन्) इन्द्र ! (यथा एष आखरः) जैसा यह गुहाका स्थान (मृगाणां प्रियः सुषदाः बभूव) पशुओंके लिये प्रिय और बैठने योग्य स्थान होता है (एवा) ऐसे ही (पत्या अविराधयन्ती) पतिसे विरोध न करती हुई और (भगस्य जुष्टा इयं नारी) ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये (सं प्रिया) उत्तम प्रिय (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ–जिसने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति इस हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त होवे। यह हमारी कन्या श्रेष्ठोंको प्रिय और उत्तम मनवालोंमें सुंदर है, इस लिए इस कन्याको इस पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥१॥

सौम्यता, ज्ञान और श्रेष्ठ मन द्वारा संगृहित और सत्यमार्गसे प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥२॥

यह स्त्री पतिको प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे; यह स्त्री घरमें रानीके समान बनकर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥ ३ ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् । तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥५॥
आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु। सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः॥६॥
इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥
आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः। त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

(इति द्वितीयं काण्डम् ।)

अर्थ- हे स्त्री ! (पूर्णां अनुपदस्वतीं) पूर्ण और अटूट (भगस्य नावं आरोह) ऐश्वर्य की इस नौकापर चढ और (तया उपप्रतारय) उससे उसके पास तैरकर जा कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥५॥

हे धनपते ! (वरं आक्रन्दय) अपने वर को बुला और (आ मनसं कृणु) अपने मनके अनुकूल वार्तालाप कर। (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब उसके दहिनी ओर कर कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥६॥

(इदं गुल्गुलु हिरण्यं) यह उत्तम सुवर्ण है, (अयं औक्षः) यह बैल है और (अथो भगः) यह धन है। (एते त्वां पतिकामाय वेत्तवे) ये तुझे पतिकी कामना के लिये और तेरे लाभ के लिये (पतिभ्यः अदुः) पतिको देते हैं ॥ ७ ॥

(सविता ते आ नयतु) सविता तुझे चलावे। (यः प्रतिकाम्यः पतिः) जो कामना करने योग्य पति है वह (नयतु) तुझे ले जावे। हे औषधे ! (त्वं अस्यै धेहि) तू इसके लिये धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह स्त्री पतिसे कभी विरोध न करे और ऐश्वर्यसे शोभित होती हुई सबको प्रिय होवे ॥ ४ ॥

स्त्री इस गृहस्थाश्रम रूपी पूर्ण और सुदृढ नौका पर चढे और अपने प्रिय पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥ ५ ॥

जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरको बुलाकर उसके साथ अपने मनके अनुकूल वार्तालाप करके उसके साथ सन्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥ ६ ॥

यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह धन है। यह सब पतिको देते हैं इसलिये कि तुझे पति प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

सविता तुझे मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुझे उत्तम मार्गसे ले चले। औषधियोंसे तुझको पुष्टि प्राप्त हो ॥ ८ ॥

वरकी योग्यता।

विवाहका कार्य अत्यंत मंगलमय है, इसलिये उसके संबंधके जो जो कर्तव्य हैं, वे भी मंगल भावना से करना उचित हैं। विवाहके मंगल कार्यमें वर और वधु का सबसे प्रधान स्थान होता है। इसलिये इनके विषयमें इस सूक्तके आदेश प्रथम देखेंगे। वरके विषय में इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कहीं हैं-

१ संभलः = (सं+भलः) उत्तम प्रकार व्याख्यान करनेवाला। (मं० १) जो किसी विषयका उत्तम प्रतिपादन करता है। विशेष विद्वान् ।

यह शब्द वरकी विद्वत्ता बता रहा है। वर विद्वान् हो, शास्त्रका ज्ञाता हो, चतुर और सन्मान्य विद्वान हो, केवल विद्वत्ता होनेसे पर्याप्त नहीं है, *कुटुंब पोषणके लिये आवश्यक धन कमानेवाला भी चाहिये*, इस विषयमें कहा है-

२ भगेन सह कुमारीं आगमेत्-धनके साथ आकर कन्याको प्राप्त करे (मं० १)। अर्थात् पहले धन कमावे और पश्चात्

कन्याको प्राप्त करे, विवाह करे। धन प्राप्त न होने की अवस्था में विवाह न करे, क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् कुटुंबका परिवार बढेगा, इसलिये उसके पोषण करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये।

३ पतिः नयतु— पति अपनी धर्मपत्नीको सन्मार्गसे चलावे। धर्मनीतिके मार्गसे चलावे, परंतु साथ साथ वह (प्रति-काम्यः) पत्नीकी मन कामनाके अनुकूल भी चले। इसका तात्पर्य यह है कि पति अपनी धर्मपत्नीके साथ अल्प कारणसे कभी झगडा न करे, धर्मपत्नीपर प्रेम करे, परंतु उसको सच्चे धर्म मार्गपर चलानेका यत्न करे। (मं० ८)

इस सूक्तमें इतने आदेश पतिके लिये दिये हैं। इसमे पूर्व विवाह विषयक कई सूक्त आचुके हैं, उनमें पतिके गुण धर्म और कर्म बताये हैं; उनके साथ इस सूक्तके आदेशोंका विचार करना चाहिये।

वधूकी योग्यता।

वधूके विषयमें बहुतसे उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं जो पारिवारिक जगत्में रहनेवालोंको अवश्य मनन करना योग्य है। देखिये—

१ कुमारी— कुमार और कुमारी ये शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्ण ब्रह्मचर्य स्थिर होनेका भाव सूचित करनेवाले ये शब्द हैं। तरुण स्त्री पुरुषोंमें जो विकारी भाव मनके अंदर उत्पन्न होता है, वह जिनके मनमें उत्पन्न नहीं हुआ, उनको " कुमार " कहते हैं। यह शब्द अखंड स्थिर ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले का द्योतक है। जब तक मनमें कुमार भाव रहता है, तबतक वीर्यदोष उत्पन्न होता ही नहीं। इस प्रथम मंत्रमें " कुमारी " शब्द आया है, जो कन्याका बोध कराता है। कन्या ऐसी हो कि जो कुमारी हो अर्थात् पुरुष विषयक काम विकार संबंधी चंचलभाव जिसके मनमें किंचित् भी उत्पन्न न हुए हों। यहां विवाह के लिये योग्य कुमारी का वर्णन किया है। जिसमे तारुण्यके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष जिस कन्यामें उत्पन्न न हुए हों उसका बोध होता है। इससे छोटी आयुमें विवाह करने की पद्धति बताई जाती है ऐसा मानना अयुक्त है, क्योंकि इससे पूर्व बताया ही है कि " पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्रीका विवाह है। " [देखो कां० २ सू० ३०] इसलिये इस सूक्तमें छोटी आयुमें विवाह करने की संभावना नहीं है। इस कारण यहाका " कुमारी " शब्द ऐसी कन्याका बोध करता है कि जो प्रौढ तो हो, पतिकी इच्छा तो करती हो, परंतु मनके चंचल विकारोंसे पूर्णतया अलिप्त हो। पाठक इससे समझेंगे कि वेदकी दृष्टिसे कन्याओंकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये और विवाहके पूर्व उनके मन कैसे पवित्र रहने चाहिये। (मं० १)

२ सुमतिः— कन्या उत्तम मतिवाली हो, उत्तम बुद्धिवाली हो। जिसके मनपर सुसंस्कार हुए हैं ऐसी पवित्र मति धारण करनेवाली कन्या हो। (मं० १)

३ सुमनेषु वरेषु जुष्टा वल्गु—उत्तम मनवाले श्रेष्ठ पुरुषोंमें सेवा करने योग्य और सुंदर कन्या हो। समताके विचार मनमें रखनेवाले, विषम भावना मनमें न रखनेवाले जो श्रेष्ठ लोग होते हैं' उनमें जाकर विद्याका मनन करनेवाली और अपने स्त्रीत्वके कारण मनोहर ऐसी परिशुद्ध विचारवाली कन्या हो। ' श्रेष्ठोंमें जाने योग्य ' (वरेषु जुष्टा) इतना कहने मात्रसे कन्याका धार्मिक दृष्टिसे पावित्र्य बोधित होता है। कन्या ऐसी हो कि जिसका आचरण काया वाचा मनसे कभी बुरा नहीं हुआ है। शुद्ध आचारसे संपन्न हो और साथ साथ मनोरम तथा दर्शनीय भी हो। कन्याएं ऐसी बनें, इस प्रकारकी शिक्षा उनको मिलनी चाहिये। (मं० १)

इस रीतिसे कन्याके शुद्धाचारके विषयमें वेदका आदेश है। यह हरएक वैदिक धर्मीको सदा मनमें धारण करने योग्य है। कुमार और कुमारिकाओंकी पवित्रता रखकर उनको विवाह संबंधसे जोडना वेदको अभीष्ट है। इसलिये विवाह के पूर्व कुमार और कुमारिकाओंका इस प्रकारका मेल वेदको अभीष्ट नहीं है कि जो अनीतिके मार्गमें उनको ले जानेकी संभावना रख सकता हो। पाठक इससे सब कुछ समझ लें।

विवाहके पश्चात्।

विवाह होनेके पश्चात् स्त्रीपुरुषोंका परस्पर बर्ताव कैसा हो इस विषयमें इस सूक्तने अत्यंत उत्तम उपदेश दिये हैं—

भगस्य जुष्टा इयं नारी, पत्या अविराधयन्ती,
सप्रिया अस्तु ॥ (मं० ४)

" ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पतिसे विरोध न करती हुई, पतिको अत्यंत प्रिय हो " विवाह होनेके पश्चात् स्त्री अधिक ऐश्वर्य में जाती है, इसलिये यह मंत्र सूचित करता है, कि विशेष भाग्य और ऐश्वर्य मे पहुंचने के कारण यह स्त्री उन्मत्त न हो, परतु पतिके साथ प्रेमसे रहे और पतिसे कभी विरोध न करे। घमंडमें आकर पतिका अपमान कभी न करे, परंतु ऐसा आचरण करे कि जिससे दोनोंका प्रेम दिन प्रतिदिन बढजाय। तथा—

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः। (मं० ६)

" जो करना है वह पतिको प्रदक्षिणा करके कर जो वर तेरी कामना रूप है। " प्रदक्षिण करनेका आशय है सन्मान करना आदर प्रदर्शित करना, सत्कार करना। पतिका सत्कार करते हुए जो करना है करना चाहिये। पत्नी का " प्रति-काम " पति ही होता है। अपने मनके अंदर जो (काम) इच्छा होती है उसका जो बाह्य स्वरूप होता है उसको " प्रति काम " कहते हैं। अपना रूप होता है और शीशेमें जो दिखाई देता है उसको " प्रतिरूप " कहते हैं, लेखकी दूसरी प्रति करने का नाम " प्रति लेख " है। इसी प्रकार स्त्रीके मनके अंदर के कामका ' प्रति काम ' पति है। पत्नी अपने पतिको अपना " प्रतिकाम " समझे और उसका सत्कार करके हरएक कर्तव्य करे। तथा—

पत्या अस्यै सौभाग्यं अस्तु। (मं० ३)

" पतिसे इसको शोभा प्राप्त हो। " स्त्री की शोभा पति ही है। पतिविरहित स्त्री शोभा रहित होती है। यह भाव मनमें रखकर धर्मपत्नी मनमें समझे कि अपनी संपूर्ण शोभा पतिके कारण ही है और उस कारण मनसे पतिका सदा सत्कार करे। तथा—

पतिं गत्वा सुभगा विराजतु॥
पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति। (मं० ३)

" यह स्त्री पतिको प्राप्त करके ऐश्वर्यसे विराजती रहे और उत्तम पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी बने। " यहां पतिको प्राप्त करके पतिके साथ रहना, पतिके ऐश्वर्यसे अपने आपको ऐश्वर्यवती समझना, पुत्रोंको उत्पन्न करना और घरकी स्वामिनी बनना स्त्रीका कर्तव्य बताया है। कई शिक्षित स्त्रियां संतान उत्पन्न करनेके अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख होती हैं। यह योग्य नहीं है। स्त्रीकी शरीर रचना ही इस कर्तव्यकी सूचना देती है और वही बात इस मंत्र द्वारा बताई है। सुसंतति, सुदृढ संतान उत्पन्न करना विवाहित स्त्रीका कर्तव्य ही है। यह बात ध्यानमें रखकर उत्तम सतति निर्माण करने योग्य अपना शरीरस्वास्थ्य रखनेमें स्त्रिया प्रथमसे ही दत्तचित्त हों। जो स्त्रियां पहलेसे अपने स्वास्थ्यका विचार नहीं करती, वे आग. संतानोत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। इसलिये स्त्रियोंके स्वास्थ्यका विचार प्रारंभसे ही करना योग्य है।

ऐश्वर्य की नौका।

पञ्चम मन्त्रमें गृहस्थाश्रमको ऐश्वर्यकी नौका की उपमा दी है। यह उपमा बडी बोधप्रद है। देखिये

पूर्णां अनुप-दस्वतीं भगस्य नावं आरोह।
यः प्रतिकाम्यः वरः, तया उप प्रतारय॥ (मं ५)

" सब प्रकारसे परिपूर्ण और कभी न टूटनेवाली ऐश्वर्यकी नौका यह है, उसपर चढ और जो तेरा पति है उसको इस नौका के आश्रयसे परतीर पर ले जा। " यह गृहस्थाश्रम रूपी नौका है, जिसपर पति पत्नी वस्तुतः इकट्ठी ही सवार होती हैं; परंतु स्त्री घरकी सम्राज्ञी होनेके कारण इस स्त्री को ही नौका चलानेवाली इस मंत्रने कहा है। यह स्त्रीका बडा भारी सन्मान वेदने किया है और साथ साथ स्त्रीके हाथमें बडा भारी अधिकार भी दिया है। वास्तविक घर गृहिणी ही है, ईंटोंका घर घर नहीं है। इसी प्रकार स्त्रीके होनेसे ही गृहस्थाश्रम होता है और स्त्रीके न होनेसे गृहस्थाश्रम नहीं रहता। इसलिए गृहस्थाश्रममें स्त्रीका महत्त्व विशेष ही है। इस हेतुसे इस मंत्रमें स्त्रीके उद्देश्यसे कहा है कि इस गृहस्थाश्रम रूपी नौकापर स्त्री चढे और इस नौका को ऐसे ढंगसे चलावे कि यह सब नौका अपने पहुंचनेके स्थानपर सीधी पहुंचे और मार्गमें कोई कष्ट न हो। इसी प्रकार स्त्रीके अधिकार के विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखने योग्य है—

धनपते ! वरं आक्रन्दय। आमनसं कृणु। (मं० ६)

" हे गृहस्थाश्रमके संपूर्ण धनके स्वामिनि ! अपने पतिको बुलाकर उसको अपने मनके अनुकूल कर । " यह अधिकार है गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट स्त्रीका। यह स्त्री गृहस्थाश्रम के संपूर्ण ऐश्वर्य की स्वामिनी है और यदि पति हीन मार्गपर चलने लगे, तो उसको सन्मार्गपर लानेका उसका अधिकार ही है। स्त्रियोंको यह अपना अधिकार जानना चाहिए और इस अधिकारके चलाने-की योग्यता अपने अंदर लानेका प्रयत्न भी उनको करना चाहिए।

पुरुषका स्थान।

जब स्त्रीको गृहस्थाश्रम में इतना अधिकार प्राप्त हुआ है, तब पुरुषका स्थान गृहस्थाश्रममें कहां है, इसका भी विचार करना यहां प्राप्त है, देखिए यह स्थान—

यः प्रतिकाम्यः पतिः नयतु। (मं ८)

" कामनाके अनुकूल पति है वह चलावे " अर्थात् गृहस्थाश्रम का रथ चलावे। स्त्रीको सन्मार्गपर चलावे, गृहस्थाश्रममें यदि कुछ त्रुटियां रहीं, तो उनको ठीक करे, गृहव्यवस्थाको दोषयुक्त रहने न दें। यह पुरुष गृहस्थाश्रममें रहता हुआ-

सविता त्वा नयतु (मं० ८)

" यह पति सूर्यके समान स्त्रीको ले आवे । " यह पति घर में सूर्यके समान है। जिस प्रकार सूर्य अपनी ग्रह मालाका संचालक है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रमका सूर्यपति संपूर्ण गृहस्थाश्रमका चालक है। यह पत्नीको साथ लेकर संपूर्ण गृहस्थाश्रम को चलावे। यहां पाठक स्मरण रखें कि गृहस्थाश्रम का चलाना तो केवल पतिसे नहीं हो सकता और ना ही केवल स्त्रीसे हो सकता है, दोनोंके द्वारा वस्तुतः यह गृहस्थाश्रम चलाया जाना है। इसीलिए इस सूक्तमें स्त्रीको भी कहा है कि वह गृहस्थाश्रम चलावे और पुरुषको भी वैसाही कहा है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, दोनों मिलकर परस्परों के विचार से गृहस्थाश्रम चलावें। दोनोंका समान अधिकार होनेसे दोनोंको समान आज्ञा द्वारा कहा है। यह देखकर गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुष अपने सम अधिकारों को जानकर मिलजुलकर समानतया अपना कार्यका बोझ उठावें और आनंदसे इस संसार यात्रा को पूर्ण करें। तथा—

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति। (मं० ३)

" सोम राजा इस स्त्री को ऐश्वर्य युक्त करता है। " यह पति घरमें राजाके समान है। पत्नीको महारानी इससे पूर्व कहा ही है। जब पत्नी रानी है, तब पति राजा होनेमें कोई शंका नहीं है। यह राजा रानी एक मतसे इस गृहस्थाश्रमका राज्य चलावें। परस्पर में विरोध न होने दें। एक दूसरेके सहायक बनकर उन्नति करते जांय।

इस ढंगसे वेदने पतिका स्थान गृहस्थाश्रममें निश्चित किया है। दोनोंको उचित स्थान दिया गया है। इसका विचार करके दोनों अपने स्थानके योग्य व्यवहार करके आदर्श गृहस्थी बनें।

पतिके लिए धन।

पत्नीकी ओरसे अथवा वधूके घरसे कुछ धन वरको दिया जाता है। दहेजके रूपमें यह धन वधूके घरसे वरके पास आता है, इस विषयमें सप्तम मंत्र बडा स्पष्ट है-

इदं गुल्गुलु हिरण्यं, अयं औक्षः, अथो भगः,
एते त्वा पतिभ्यः अदुः ॥ (मं० ७)

" यह सुंदर सुवर्ण है, ये गौवें और बैल हैं, यह धन है,यह सब पतिको दिया है। " यहां सन्मान के लिए पति शब्दका बहुवचन हुआ है। विवाहके मंगल कार्यमें पतिका ही विशेष सन्मान होना उचित है। यहां स्मरण रहे कि यद्यपि यह दहेज स्त्रीके घरसे पतिके घर आती है, तथापि यह धन कुमार्गसे कमाया नहीं होना चाहिए। इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिए—–

सोमजुष्टं, ब्रह्मजुष्टं, अर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन पतिवेदनं कृणोमि ॥ (मं० २)

" सौम्यवृत्तिसे, ज्ञानसे और श्रेष्ठ मनोवृत्तिसे प्राप्त और इकठ्ठा किया हुआ धन विधाता ईश्वरकी सत्यनिष्ठासे पतिको प्राप्त होने योग्य करता हूं। "

" सोम, ब्रह्म और अर्यमा " ये तीन शब्द क्रमशः ' सौम्य वृत्ति, विद्या—ज्ञान और श्रेष्ठ मन ' के बोधक हैं। 'अर्य-मन ' का अर्यमन् बना है, जो श्रेष्ठ मनवालेका द्योतक है। जिसका उच्च मन है वह अर्यमा कहलाता है। ब्रह्म शब्द ज्ञान और विद्याका वाचक प्रसिद्ध है, सोम शब्द सौम्यता का केन्द्र होनेमें शंका नहीं है। ये तीन शब्द शांत और श्रेष्ठ विद्यासे सुसंस्कृत मनोवृत्तिके वाचक हैं। इस मनोवृत्तिसे कमाया हुआ, संगृहित किया हुआ और बढाया हुआ धन परमेश्वर विषयक सत्यनिष्ठाके साथ पतिको समर्पित किया जाना चाहिए। अथवा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ धन पतिको समर्पित करना चाहिए। हीन वृत्तिसे इकठ्ठा किया हुआ धन पतिको नहीं देना चाहिए। यहां कन्या विचार करे कि जो धन पतिको दहेजके रूपमें दिया जाता है, वह किस रीतिसे कमाया हुआ है। हीन वृत्तिसे कमाया धन पतिके घरमें हीनता उत्पन्न करेगा। इसलिए सावधानीसे और विचारसे दहेजका धन पतिको देना चाहिए। जो दिया जाय वह पवित्र विचारसे कमाया हुआ हो और पवित्र विचार के साथ दिया जाय।

इस प्रकार इस विवाहके मङ्गल कार्यका विचार इस सूक्तमें दर्शाया है। इस सूक्तका विचार विवाह विषयक अन्य सूक्तोंके साथ पाठक करेंगे, तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है और ऐसे तुलनात्मक विचारसे वैदिक विवाहकी पद्धति भी ज्ञात हो सकती है।

यहां षष्ठ अनुवाक और
द्वितीय काण्ड समाप्त ।

अथर्ववेद द्वितीय काण्ड का ।

थोडासा मनन ।

गणविभाग ।

अथर्ववेदके इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त, ६ अनुवाक और २०७ मंत्र हैं। प्रथम काण्डमें ३५ सूक्त, ६ अनुवाक और १५३ मंत्र थे। अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इस द्वितीय काण्डमें ५४ मंत्र अधिक हैं। इसमें गणोंके विचारसे सूक्तोंके ऐसे विभाग होते हैं—

१ शांतिगण— इस द्वितीय काण्डमें शान्तिगणके निम्न लिखित सूक्त हैं,- २, ५-७, ११, १४, ये छः सूक्त शांति गणके हैं। इनमें ७ वाँ सूक्त भार्गवी शांति, ११ वाँ सूक्त बार्हस्पत्या महाशांति और १४ वाँ सूक्त बृहच्छान्ति के प्रकरण बता रहे हैं। अन्य सूक्त सामान्यतया " महाशान्ति " का विषय बताते हैं।

२ यक्ष्मनाशन गण— सूक्त ८—१० ये तीन सूक्त इस गणके हैं।

३ आयुष्यगण— सूक्त १५, १७, २८, ३३ ये सूक्त आयुष्य गणके हैं। इनमें ३३ वाँ सूक्त आयुष्यगणका होते हुए भी " पुरुषमेध " प्रकरणमें समाविष्ट है। पाठक यहां इस सूक्तका विषय देखकर पुरुषमेधके वास्तविक स्वरूपका भी विचार कर सकते हैं। ३३ वाँ सूक्त " यक्ष्म नाशन " अर्थात् रोगको दूर करनेका विषय बताता है। मनुष्यके संपूर्ण शरीरके अवयवों से सब प्रकारके रोग दूर करनेका विषय इस सूक्तमें है और इस कारण यह सूक्त " पुरुषमेध " प्रकरण के अन्दर आगया है। जो लोग समझते हैं कि पुरुषमेध, नरमेध, आदि मेधोंमें मनुष्यादि प्राणियोंका वध होता है, वे इस सूक्तके विचारसे जान सकते हैं कि मेधमें मनुष्यादि प्राणियोंके वधकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत पुरुषमेध प्रकरणमें मनुष्य के संपूर्ण रोग दूर करके उसको उत्तम आरोग्य देनेका विचार प्रमुख स्थान रखता है। यदि पाठक यह बात इस सूक्तके विचार से जानेंगे तो उनको न केवल पुरुषमेध प्रकरण प्रत्युत गोमेध आदि प्रकरण भी इसी प्रकार गौ आदिकोंके स्वास्थ्य साधनके प्रकरण होनेके विषयमें सन्देह नहीं रहेगा। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें।

४ अपराजित गण— २७ वाँ सूक्त अपराजित गणका है।

पाठक इन गणोंके इन सूक्तोंका विचार प्रथम काण्डके इन गणोंके सूक्तोंके साथ करें और एक विषयके सूक्तोंका साथ साथ विचार करके अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करें।

विषय—विभाग ।

द्वितीय काण्डमें प्रथम काण्डके समान ही बडे महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इनके विभाग निम्न लिखित प्रकार हैं—

१ अध्यात्मविद्या— इस द्वितीय काण्डमें अध्यात्मविद्याके साथ संबंध रखनेवाले आठ सूक्त हैं। प्रथम सूक्त में " गुह्य अध्यात्मविद्या " का अत्यंत उत्तम वर्णन है। द्वितीय काण्डके प्रारंभमें ही यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त आया है। पढते पढते मन अध्यात्मरसमें मग्न होता है और इसके मननसे जो आनंद होता है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। यदि पाठक इसको कंठ करके प्रतिदिन ईश्वर उपासनाके समय इस का मननपूर्वक पाठ करेंगे, तो पाठक भी इससे वैसाही आनंद प्राप्त कर सकते हैं। द्वितीय सूक्तमें " एक पुजनीय ईश्वर " का गुणगान है। यह विषय भी आत्माके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाला है। १६ वें सूक्तमें " विश्वम्भरकी भक्ति " करनेकी सूचना है। इस भक्तिसे ही आध्यात्मिक उन्नति होती है। इसके अतिरिक्त क्रमशः निम्नलिखित सूक्त इस अध्यात्मप्रकरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

सूक्त		विषय
११ वाँ सूक्त	...	आत्माके गुण,
१२ ,,	...	मन का बल बढाना,
१७, १८ ,,	...	आत्मसंरक्षण का बल,
३४ ,,	....	मुक्तिका सीधा मार्ग,
१५ ,,	...	निर्भय जीवन,
३५ ,,	...	यज्ञमें आत्मसमर्पण।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त अध्यात्म विषयक इस द्वितीय काण्ड में आगये हैं। प्रथम काण्डकी अपेक्षा यह विषय इस काण्डमें मुख्यतया विशेष प्रतिपादन किया है। पाठक इसलिये इन दस सूक्तोंका साथ साथ मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। अथर्ववेदका यही मुख्य विषय है, इसलिये पाठक इस विषयकी ओर उदासीनतासे न देखें।

सू० १२ " मानसिक बल बढाना," और सू० १५ " निर्भय जीवन " ये दो सूक्त अध्यात्म विषयके अतिरिक्त स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अध्यात्मविषयके साथ होनेसे ये यहां दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य— द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त " आरोग्य " विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ—

सूक्त	४	...	जङ्गिड मणि से आरोग्य,
,,	८	...	क्षेत्रियरोग दूर करना,
,,	९	...	सन्धिवात ,, ,,
,,	२५	...	पृश्निपर्णीसे आरोग्य,
,,	३३	...	यक्ष्म नाशन,
,,	३१, ३२	...	रोगोत्पादक क्रिमियोंका दूर करना।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इकट्ठा विचार करेंगे, तो उनको आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी भैषज्य विद्या का भी पता लग सकता है। चतुर्थ सूक्तमें " जङ्गिड मणि " धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उपाय कहा है। यह अथर्व वेदकी विशेष विद्या है। जो वैद्य इस विषयकी खोज करना चाहें वे अथर्ववेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई लोग " मणि " शब्दका अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अन्य अर्थ करना चाहते हैं! यह प्रयत्न उनके अज्ञानका प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विपर्यास करना किसीको भी उचित नहीं है। " मणि धारण विधि " यह शास्त्रीय उपाय है इसलिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करें। विशेष कर सुविज्ञ वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो चिकित्साका एक नया मार्ग निकाल सकते हैं।

३ दीर्घायुष्य प्राप्ति— पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्साका अथवा वैद्यशास्त्रका नाम "आयुर्वेद" है। इससे भी वैद्य शास्त्र का संबंध " दीर्घ आयुष्य " के साथ कितना है यह बात पाठक जान सकते हैं। इस विषयके सूक्त इस काण्डमें निम्न लिखित हैं—

सूक्त	२८	...	दीर्घायुष्य,
,,	२९	...	दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

ये दो सूक्त इस विषयमें इकठ्ठे पढने योग्य हैं।

४ पुष्टि— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें पुष्टिका संबंध है। इस पुष्टिके साथ २६ वाँ "गोरस" का वर्णन करनेवाला सूक्त बडा संबंध रखता है। गोरससे ही मनुष्योंकी पुष्टि होती है।

५ विवाह— पूर्वोक्त २० वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है। इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं–

सूक्त	३०	...	पति और पत्नीका मेल,
,,	३६	...	विवाहका मंगल कार्य,
,,	१३	...	प्रथम वस्त्र परिधान।

इनमें सू० १३ "प्रथम वस्त्र परिधान" का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है। इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इकट्ठा करना योग्य है।

६ वर्णधर्म— वर्णधर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें हैं

सूक्त	६	...	ब्राह्मण धर्मका वर्णन
,,	५	...	क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसीके साथ संबंध रखनेवाले निम्नलिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इकठ्ठा ही होना योग्य है—

सूक्त	२७	...	विजय की प्राप्ति,
,,	२४	...	डाकुओंकी असफलता,
,,	१४	...	विपत्तियोंको हटाना,
,,	१०	...	दुर्गतिसे बचना।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छः हैं–

सूक्त	७	...	शापको लौटा देना
,,	१९-२३	...	शुद्धिकी विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंका विषयानुसार विभाग है। जो पाठक वेदका अभ्यास मननपूर्वक करनेके इच्छुक हैं, वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुरूप विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जायगे, तो वेदके मर्मको अधिक शीघ्र जाननेमें समर्थ होंगे।

विशेष द्रष्टव्य।

निर्भय जीवन।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे खींचना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में "निर्भय जीवन" नामसे आया है, वह पाठक अवश्य वारंवार मनन पूर्वक देखें।

भयही मृत्यु है, जिसके मनमें भय है, जो सदा डरता रहता है, उस डरपोक मनुष्यको आनंद कहांसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात भय और आनंद कदापि इकट्ठे नहीं रह सकते। मनुष्य तो आनंद प्राप्तिके लिए यत्न करनेवाला प्राणी है, इसलिए उसके अपने अंदरकी भयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी कदापि नहीं हो सकता। इस पंद्रहवें सूक्तमें कहा है कि 'निर्भय होनेके कारण सूर्य क्षीण नहीं होता' इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्भय होकर अपना कर्तव्य पालन करेगा वह भी कदापि क्षीण, अशक्त अथवा दुर्बल नहीं होगा इतना ही नहीं, प्रत्युत बढता जायगा। शरीरकी पुष्टि, मनकी बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्भयतापर अवलंबित है। निर्भयता के विना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती। चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्यको करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिए सबसे प्रथम निर्भयता की आवश्यकता है। पाठक इस गुणका इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढावें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

जो पाठक निर्भयता का संबंध मानवी उन्नतिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस सूक्त का गंभीर संदेश जान सकते हैं।

शुद्धि करण ।

इसी प्रकार ' शुद्धिकरण विधि ' का अत्यंत महत्त्व है। सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं। इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्योक्ति अलंकार की अपूर्व झलक यहां पाठक देख सकते हैं। वैदिक उपदेश में ' अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप ' ये पांच देवताएं कितना महत्त्व रखती हैं, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकती है। वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड नहीं रहते, वे जीवित और जाग्रत रूपमें उपदेशका अमृत देते हैं।

बाह्य देवताओंके अंशावतार अपने शरीरमें कहां और कैसे हैं और उनका बाह्य जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंको ठीक प्रकार समझ सकते हैं। अन्य लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि वेदका ज्ञानामृत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें आना अत्यंत आवश्यक है। इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अपूर्व वैदिक पद्धतिका थोडासा आविष्कार किया है। जो पाठक मननपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिको समझ सकते हैं।

मुक्तिका सीधा मार्ग ।

द्वितीय काण्डके ३४ वें सूक्तमें इस मुक्तिके सीधे और सरल मार्गका उपदेश हुआ है। मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्य शास्त्रों में अनंत हैं, परंतु जो बात अन्य ग्रंथों में कहीं भी नहीं कही है, वह अपूर्व बात इस सूक्तमें कही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अत्यंत है।

' दीन और दुःखी जनोंकी सेवा करके उनके कष्टोंको दूर करना ' यह एक मात्र सच्चा मार्ग है जो सीधा मनुष्य को मुक्ति धाम तक ले जाता है। परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूर और धनी मनुष्यों के अंतःकरणों में रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोंके हृदयों में भी रहता है। परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होनेके कारण वे दूसरोंसे सेवा अपने अधिकारसे ही ले सकते हैं। परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट कौन दूर कर सकता है? वे तो दुःखमें सडते ही रहते हैं। दीन जनोंको जो अपने परिवारमें देखता है, नहीं नहीं, जो दीन जनोंको अपना ही समझता है, और अपना सुख देखनेके समान भावसे जो दीनोंको सुखी करनेका विचार करता है और तदनुकूल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्ग पर है। जो दीन और दुःखी मनुष्योंको अपना कहता है, वही महात्मा है और परमात्मा वहीं रहता है। किसी दीन मनुष्यको दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर नहीं सकता, परंतु जिसका आत्मा तडफडता रहता है वही मुक्तिका अधिकारी है। निराश्रित, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिए ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आत्मार्पण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं।

इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है। पाठक यहां वेदकी अपूर्वता देखें और इस सीधे मार्ग पर चलते हुए मुक्तिका परम आनंद प्राप्त करें।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।
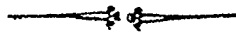
अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

द्वितीय काण्ड की विषय सूची ।

*

अथर्ववेदका
द्वितीय काण्ड समाप्त

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

तृतीयं काण्डम्

अपने राष्ट्रका विजय !

*

* *

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ३।१९

" मै इन अपने लोगोके राष्ट्रको बल, वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूं, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूं ॥ २ ॥

हमारे शत्रु नीचे गिर जांय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते है वे नीचे गिर जांय ॥ ३ ॥

मै इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूं, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढाता हूं, इनका क्षात्रतेज अजर और विजयी हो, इनके चित्तको सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥"

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

तृतीय काण्ड।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ ' अग्नि ' शब्दसे हुआ है। यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है। अंधेरेका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवताका कार्य है। प्रकाश मनुष्यका सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बढता है और अंधेरेमें घटता है। इस लिये प्रकाशके देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगलकारक समझा जाता है। ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है।

जिस प्रकार प्रथम कांडमें चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्डमें पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

६ मंत्रवाले	१२ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	७८ है,
७ मंत्रवाले	६ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	४२ है,
८ मंत्रवाले	६ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	४८ है,
९ मंत्रवाले	२ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	१८ है,
१० मंत्रवाले	२ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	२० है,
११ मंत्रवाला	१ सूक्त है,	इसकी मंत्रसंख्या	११ है,
१३ मंत्रवाला	१ सूक्त है,	इसकी मंत्रसंख्या	१३ है।
कुल सूक्तसंख्या	३१	कुल मंत्रसंख्या	२३०

प्रथम, द्वितीय और तृतीय इन तीन काण्डोंकी तुलना मंत्रसंख्याकी दृष्टिसे अब देखिये—

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक	सूक्त	काण्डप्रकृति	मंत्रसंख्या
१	२	६	३५	सूक्तमें ४ मंत्र	१५३
२	२	६	३६	सूक्तमें ५ मंत्र	२०७
३	२	६	३१	सूक्तमें ६ मंत्र	२३०

*

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति ' मंत्र चार ' है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त अधिक हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये जा सकते हैं, इसी प्रकार द्वितीय कांडकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी है, इस विषयमें अथर्व सर्वानुक्रमणीका कथन यह है—

वेनस्तादिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तर काण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेष्वृगिति विजानीयात्। (अथर्व० बृ० सर्वानु. १।१३।१)
अग्निर्नः इति ... षडृचं प्रकृतिरन्या विकृतिरिति विजानीयात्। (अथर्व० बृ० सर्वानु. २।१।१)

' पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्डकी पांच ऋचाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक ऋचा सूक्तमें बढती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रकृति है, अन्य विकृति है। '

यद्यपि प्रथम, द्वितीय और तृतीय काण्डकी प्रकृति क्रमशः चार, पांच और छः ऋचाओंकी है, तथापि इन काण्डोंमें कई सूक्त ऐसे हैं कि जो इस प्रकृतिसे अधिक मंत्रसंख्यावाले हैं, इसको अथर्व-बृहत्सर्वानुक्रमणिकारने विकृति नाम दिया है। विकृतिका अर्थ प्रकृतिमें कुछ विशेषता (विशेष कृति) है। यह विशेषता कई प्रकारकी होती है और विशेष रीतिसे मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे इसका पता भी लग सकता है, जैसा द्वितीय काण्डके दशम सूक्तको देखिये। द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रोंके सूक्तोंकी है, परंतु इस दशम सूक्तमें आठ मंत्र हैं,

अर्थात् यह विकृति है। यह विकृति इस कारण हुई है कि '**एवाहं त्वा ०-० स्ताम्।**' यह मंत्रभाग इस सूक्तमें वारंवार आगया है। यदि यह वारंवार आया हुआ मन्त्रभाग अलग किया जाय और एक मंत्रके साथ ही रखा जाय और शेष मंत्रभागोंके दो दो चरणोंके मंत्र माने जाय तो केवल पांच मंत्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है। इसी प्रकार कई अन्य रीतियां हैं कि जो अन्य सूक्तोंको लग सकतीं हैं और विकृतिकी प्रकृति बनाई जा सकती है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि, देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः। प्रथमः प्रपाठकः।				
१	६	अथर्वा	सेनामोहनं, बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्; २ विराड्गर्भा भूरिक्; ३, ६ अनुष्टुभ् ५ विराट्पुरउष्णिग्।
२	६	अथर्वा	बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्, २-४ अनुष्टुभ्।
३	६	अथर्वा	अग्निः, नानादेवताः	त्रिष्टुप्; ३ च. भूरिक् पंक्तिः, ५,६ अनुष्टुभ्।
४	७	अथर्वा	इंद्रः	त्रिष्टुप्; १ जगती; ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वा	सोमः	अनुष्टुप्; १ पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्, ८ विराडुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	८	जगद् बीजं पुरुषः	वानस्पत्याश्वत्थदेवत्यं	अनुष्टुभ्।
७	७	भृगुः-अंगिराः	यक्ष्मनाशनं बहुदेवता	अनुष्टुभ्; ६ भुरिक्।
८	६	अथर्वा	मित्रः, विश्वेदेवाः	त्रिष्टुभ्; २, ६ जगती; ४ च. विराड्बृहतीगर्भा, ५ अनुष्टुभ्।
९	६	वामदेवः	द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; ४ च. निचृद् बृहती; ६ भुरिक्।
१०	१३	अथर्वा	अष्टका	अनुष्टुप्; ४,६,१२ त्रिष्टुप्; ७ त्र्य. ष. विराड्गर्भातिजगती।
तृतीयोऽनुवाकः।				
११	८	ब्रह्मा-भृगु-अंगिराः	इन्द्रः, अग्निः, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनं	त्रिष्टुप्; ४ शक्वरीगर्भा जगती; ८ त्र्य. प. बृहतीगर्भा जगती; ५, ६ अनुष्टुप्; ७ उष्णिग्बृहतीगर्भा पथ्यापंक्तिः।
१२	९	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः, शाला	त्रिष्टुप्; ३ बृहती; ६ शक्वरी गर्भा जगती; ७ आर्षीअनुष्टुप्; ८ भूरिक्; ९ अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१३	७	भृगुः	वरुणः, सिन्धुः	अनुष्टुप्; १ निचृत्; ५ विराड्-जगती; ६ निचृदनुष्टुप्
१४	६	ब्रह्मा	नानादेवताः गोष्ठदेवता	अनुष्टुप्; ६ आर्षीत्रिष्टुप्
१५	८	अथर्वा (पण्यकामः)	विश्वेदेवाः इन्द्राग्नी	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ४ त्र्य. प. बृहतीगर्भा विराडष्टि; ५ विराड्जगती; ७ अनुष्टुप्; ८ निचृत्।

चतुर्थोऽनुवाकः। द्वितीयः प्रपाठकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१६	७	अथर्वा	बृहस्पतिः बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्, १ आर्षीजगती; ४ भुरिक्पंक्तिः।
१७	९	विश्वामित्रः	सीता	अनुष्टुप्: १ आर्षी गायत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुभः; ३ पथ्यापंक्ति; ७ विराट्पुरउष्णिक् ८ निचृत्।
१८	६	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ अनुष्टुब्गर्भा चतु० उष्णिक्; ६ उष्णिगर्भा पथ्या पंक्तिः।
१९	८	वसिष्ठः	विश्वेदेवाः, चंद्रमाः, इन्द्रः	अनुष्टुप्; १ पथ्याबृहती; ३ भुरिग्बृहती; ६ त्र्य. प. त्रि. क. गर्भातिजगती; ७ विराडास्तारपंक्तिः; ८ पथ्यापंक्तिः।
२०	१०	वसिष्ठः	अग्निः मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः; ८ विराड्जगती।

पञ्चमोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
२१	१०	वसिष्ठः	अग्निः	त्रिष्टुप्; १ पुरोनुष्टुप्; २, ३, ८ भुरिक्; ५ जगती; ६ उपरिष्टाद्विराड्बृहती; ७ विराट्गर्भा; ९ निचृदनुष्टुप्; १० अनुष्टुप्।
२२	६	वसिष्ठः	बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्, १ विराट्त्रिष्टुप्; ३ पंचपदा परानुष्टुब्विराडतिजगती; ४ त्र्यवसानाषट्पदाजगती
२३	६	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, योनिः	अनुष्टुप्, ५ उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती; ६ स्कंधोग्रीवीबृहती।
२४	७	भृगुः	वनस्पतिः प्रजापतिः	अनुष्टुप्; २ निचृत्पथ्यापंक्तिः।
२५	६	भृगुः (जायाकामः)	मित्रावरुणौ कामेषुदेवता	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
षष्ठोऽनुवाकः ।				
२६	६	अथर्वा	रुद्रः अग्न्यादिबहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; २, ५, ६ जगती; ३, ४ भुरिक् ।
२७	६	अथर्वा	रुद्रः	अष्टिः; २ अत्यष्टिः ५ भुरिक् ।
२८	६	ब्रह्मा	यामिनी	अनुष्टुप्; १ अतिशक्वरीगर्भा च. अ. जगती; ४ यवमध्या विराट् ककुप्; ५ त्रिष्टुप्; ६ विराड्‌गर्भा प्रस्तारपंक्तिः ।
२९	८	उद्दालकः	शितिपादविः ७ कामः; ८ भूमिः	अनुष्टुप्; १, ३ पथ्यापंक्तिः; ७ ष्य. ष. उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककु० ग० विराड्जगती; ८ अपरिष्टाद्बृहती ।
३०	७	अथर्वा	चन्द्रमाः सांमनस्यं	अनुष्टुप्; ५ विराड्जगती; ६ प्रस्तारपंक्तिः ७ त्रिष्टुप् ।
३१	११	ब्रह्मा	पाप्म-हा	अनुष्टुप्; ४ भुरिक्; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः ।

तृतीय काण्डके सूक्तोंके ये ऋषि देवता और छन्द हैं । अब इनका विभाग ऋषिक्रमानुसार देखिये—

१ **अथर्वा**- १-५, ८, १०, १५, १६, १८, २६, २७, ३० ये तेरह सूक्त ।
२ **ब्रह्मा**- ११, १२, १४, २३, २८, ३१ ये छः सूक्त ।
३ **वसिष्ठः**- १९, २०, २१, २२ ये चार सूक्त ।
४ **भृगुः**- १३, २४, २५ ये तीन सूक्त ।
भृगु-आंगिराः- ७, ११ ये दो सूक्त ।
५ **जगद्बीजं पुरुषः**- ६ वाँ एक सूक्त ।
६ **वामदेवः**- ९ वाँ एक सूक्त ।
७ **विश्वामित्रः**- १७ वाँ एक सूक्त ।
८ **उद्दालकः**- २९ वाँ एक सूक्त ।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं । अब देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये—

१ **बहुदैवत्यं, नाना देवताः**- १, २, ३, ७, १४, १६, २६, २७ ये आठ सूक्त ।
२ **विश्वेदेवाः**- ८, ९, १५, १९, २२ ये पांच सूक्त ।
३ **अग्निः**- ३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त ।
४ **इन्द्रः**- ४, ११, १९ ये तीन सूक्त ।
५ **चन्द्रमाः**- १९, २३, ३० ये तीन सूक्त ।
६ **बृहस्पतिः**- १६, २२ ये दो सूक्त ।
७ **रुद्रः**- २६, २७ ये दो सूक्त ।
८ **वनस्पतिः**- १८, २४ ये दो सूक्त ।
९ **यक्ष्म नाशनं**- ७, ११ ये दो सूक्त ।
१० **सेना मोहनं**- १, २ ये दो सूक्त ।
११ **इन्द्राग्नी**- १५ यह एक सूक्त ।
१२ **सोमः**- ५ यह एक सूक्त ।
१३ **वनस्पत्यश्वत्थः**- ६ यह एक सूक्त ।
१४ **मित्रः**- ८ यह एक सूक्त ।
१५ **द्यावापृथिवी**- ९ यह एक सूक्त ।
१६ **वरुणः**- १३ यह एक सूक्त ।
१७ **प्रजापतिः**- २४ यह एक सूक्त ।
१८ **मित्रावरुणौ**- २५ यह एक सूक्त ।
१९ **भूमिः**- २९ यह एक सूक्त ।

२० अष्टका- १० यह एक सूक्त ।
२१ सिंधुः- १३ यह एक सूक्त ।
२२ आयुष्यं- ११ यह एक सूक्त ।
२३ वास्तोष्पतिः- १२ यह एक सूक्त ।
२४ शाला- १२ यह एक सूक्त ।
२५ गोष्ठः- १४ यह एक सूक्त ।
२६ सीता- १७ यह एक सूक्त ।
२७ योनिः- २३ यह एक सूक्त ।
२८ कामेषुः- २५ यह एक सूक्त ।
२९ यामिनी- २८ यह एक सूक्त ।
३० कामः- २९ यह एक सूक्त ।
३१ सांमनस्यं- ३० यह एक सूक्त ।
३२ पाप्म-हा- ३१ यह एक सूक्त ।
३३ शितिपादविः- ३९ यह एक सूक्त ।
३४ मंत्रोक्ताः- २० यह एक सूक्त ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोंकी देवताएं हैं। इनसे और भी देवताएं हैं जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं समझ जायगे। अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये—

सूक्तोंके गण ।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे हैं—

१ अपराजितगण- १९ वाँ सूक्त ।
२ तक्मनाशनगण- ७, ११ ये दो सूक्त ।
३ वर्चस्यगण- १६, २२ ये दो सूक्त ।
४ आयुष्यगण- ८, ११ ये दो सूक्त ।
५ रौद्रगण- २६, २७ ये दो सूक्त ।
६ अंहोलिंगगण- ११ वाँ एक सूक्त ।
७ पाप्म-हा-गण- ३१ वाँ एक सूक्त ।
८ बृहच्छान्तिगण- २१ वाँ एक सूक्त ।

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते हैं। इस काण्डके अन्य सूक्तोंके गणोंका पता नहीं चलता। इस काण्डके सूक्तों द्वारा कुछ शांतियां सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं—

१ आंगिरसी महाशान्ति- ५, ६ ये दो सूक्त ।
२ कौमारी महाशान्ति- ७ वाँ एक सूक्त ।
३ ब्राह्मी महाशान्ति- २२ वाँ एक सूक्त ।

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ है। इस लिये अध्ययन करनेके समय पाठक इस बातका विचार करें। खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इस शाति प्रकरणकी खोज करें अर्थात् इन शातियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है, इत्यादि खोजका विषय है। संभव है कि इस खोजसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा। इस काण्डमें शत्रुसेनाके संमोहनका विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सामनस्य अर्थात् एकताका विषय तीसवें सूक्तमें आया है—

शत्रुसेनासंमोहनं- १, २ ये दो सूक्त ।
सांमनस्यं- ३० वाँ एक सूक्त ।

ये सूक्त विशेष विचारपूर्वक इस दृष्टिसे पढने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वा ' इन्द्र महोत्सव ' के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशीतकी सूत्रमें कहा है। इसलिये इस इन्द्र महोत्सवके विषयमें भी विचार होना चाहिये।

ये सब विषय बडे गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरताके साथ करेंगे। इतनी भूमिकाके साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ५ ॥
इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥
जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ७ ॥
अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (**प्राणापानौ**) प्राण और अपान ! (**प्र विशतं**) प्रवेश करो (**अनड्वाहौ व्रजं इव**) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। (**अन्ये मृत्यवः वि यन्तु**) दूसरे अनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (**यान् इतरान् शतं आहुः**) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

हे (**प्राणापानौ !**) प्राण और अपान ! (**युवं इह एव स्तं**) तुम दोनों यहां ही रहो, (**इतः मा अप गातं**) यहांसे मत दूर जाओ। (**अस्य शरीरं**) इसका शरीर और (**अंगानि**) सब अवयव (**जरसे पुनः वहतं**) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥ ६ ॥

(**त्वा जरायै परि ददामि**) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूं। (**त्वा जरायै निधुवामि**) तुझको वृद्धावस्थाके लिये पहुंचाता हूं। (**त्वा जरा भद्रा नेष्ट**) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, (**अन्ये मृत्यवः वि यन्तु**) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें, (**यान् इतरान् शतं आहुः**) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

(**उक्षणं गां इव रज्ज्वा**) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (**जरिमा त्वा अभि आहित**) बुढापेने तुझको बांधा है। (**यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यधत्त**) जिस मृत्युने उत्पन्न होते हुए ही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है (**ते तं**) तेरे उस मृत्युको (**सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत्**) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे वापस लाया है। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें। अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। अन्य सैंकडों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहांसे दूर मत जाओ। इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्थातक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूं। वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूं। तुझे आरोग्यपूर्ण बुढापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांध देते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांधी गई है। जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ था उस अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

*

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति।

हवनकी बडी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है। यज्ञयागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतु-परिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है—

औषधियोंके यज्ञ।

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते॥

(गो. ब्रा. उ. प्र. १।१९)

ये औषधियोंके महामुख हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधिया होती हैं।'

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा बिगडती है, इससे रोग होते हैं। इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं। रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। इसलिये इस सूक्तमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह अवश्य विचार करने योग्य है।

हवनसे रोग दूर करना।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन मनन करने योग्य है—

अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि।

(सू. ११, मं. १)

तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तम्।

(सू. ११, मं. १)

'अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयक्ष्मा रोग इन रोगोंसे रोगमुक्त कर देते हैं। पकडनेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगीको मुक्त कर देते हैं।'

इस मंत्रमें हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंकी दूर हो जानेकी संभावना दर्शायी है। ज्ञात रोग वे होते हैं कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है। तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नहीं जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्योंकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है। कोई वैद्य एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो, उसको हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है। विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता हो। ऐसे योग्य औषधियोंके संमिलित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुसे युक्त हो जाता है।

हवनका परिणाम।

हवनका परिणाम यहांतक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोगमुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, 'यदि यह रोगी करीब मरनेकी अवस्थातक पहुंच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तो भी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है।' (मं. २)

शतायु करनेवाला हवन।

इस वर्णनसे हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। तृतीय मंत्रमें हवनका नाम ही 'शतायु हवि' कहा है अर्थात् इस हवनसे सौ वर्षकी आयु प्राप्त हो सकती है। इस 'शतायु हवि' के अंदर शतवीर्य अर्थात् सौ प्रकारके बल होते हैं और (सहस्र-अक्ष) हजार प्रकारकी शक्तियां होती हैं। इससे—

नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्।

(सू. ११, मं. ३)

'सब दुरितको दूर किया जाता है।' दुरित नाम पापका है। यह 'दुरित' (दुः-इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है; यह शरीरमें घुसकर नाना प्रकारकी पीडाएं उत्पन्न करता है। हवनसे यह दुरित अर्थात् रोगोत्पादक द्रव्य शरीरसे दूर किया जाता है।

चतुर्थ मंत्रमें विश्वासपूर्वक कहा है कि अब तो 'हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंसे शक्तियां प्राप्त की गई हैं, अब तू विश्वासपूर्वक अपनी सब शक्तियां बढाता हुआ सौ वर्षतक जीता रह। अब तुम्हें मृत्युका भय नहीं है। (मं. ४)' हवनका ऐसा सुपरिणाम होता है और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह हवनका परिणाम मननपूर्वक देखने योग्य है।

पञ्चम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेशपूर्वक कहा है कि— 'हे प्राण और अपान ! तुम अब इसी पुरुषके देहमें घुसो, यहां ही अपने कार्य करो और इसके शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रखो। तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ। तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु दूर हो जावें (मं. ५-६)।' जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नवजीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणापान रहेंगे ही। यह हवनका परिणाम है।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि- 'हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूं, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर हो जावें' (मं. ७)। वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना।

मरणका पाश।

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी सिद्धांत कहा है कि हरएक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाशसे बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
(सू. ११, मं. ६)

'मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मते ही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है।' कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाससे छूटा नहीं होता। जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही। सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रोंको मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं।

'सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक वार अवश्य मरना है' यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है। हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने सिरपर मृत्युने पाव रखा हुआ है। इस विचारसे मनुष्यको सत्य धर्मका पालन करना चाहिये। सत्य ही इस मृत्युसे बचानेवाला है।

सत्यसे सुरक्षितता।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एकमात्र उपाय 'सत्य' है यह अष्टम मंत्रने बताया है—

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ।
(सू. ११, मं. ८)

'बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है।' अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है। वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है। सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षणकी तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है। सत्याग्रहसे अपनी रक्षा करना ब्राह्मबल है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्रबल है। क्षात्रबलसे ब्राह्मबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवालेको सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है। सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है।

इस मंत्रमें जो हवनका महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञशास्त्रमें प्रसिद्ध है। यज्ञसे जनताकी भलाई, आरोग्यप्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं। इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्यप्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्रीका हवन होना चाहिये इस विषयमें यहा कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु हवनका सर्वसामान्य परिणाम ही यहां बताया है। हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये। वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बडा महत्त्वपूर्ण खोजका विषय है। खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें। इससे जैसा व्यक्तिका भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है।

गृह निर्माण।

(१२)

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — शाला, वास्तोष्पतिः)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमें तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥
धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥
इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

अर्थ— (**इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि**) इसी स्थानपर सुदृढ शालाको बनाता हूं। वह शाला (**घृतं उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति**) घी सींचती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी। हे (**शाले**) घर ! (**तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम**) तेरे चारों ओर हम सब वीर विनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर फिरते रहेंगे ॥ १ ॥

हे शाले ! तू (**अश्वावती गोमती सूनृतावती**) घोडोंवाली, गौओंवाली और मधुर भाषणोंवाली होकर (**इह एव ध्रुवा प्रतितिष्ठ**) यहा ही स्थिर रह। तथा (**ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती**) अन्नवाली, घीवाली और दूधवाली होकर (**महते सौभगाय उच्छ्रयस्व**) बडे सौभाग्यके लिये उंची बनकर खडी रह ॥ २ ॥

हे शाले ! (**बृहत्-छन्दाः पूतिधान्या**) बडे छतवाली और पवित्र धान्यवाली तथा (**धरुणी असि**) धान्यादिका भण्डार धारण करनेवाली तू है। (**त्वा वत्सः कुमारः आ गमेत्**) तेरे अंदर बछडा और बालक आ जावे। (**आस्पन्दमाना धेनवः सायं आ**) कूदती हुई गौवें सायंकालके समय आ जावें ॥ ३ ॥

(**इमां शालां**) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति (**प्रजानन् नि मिनोति**) जानता हुआ निर्माण करे। (**मरुतः उद्ना घृतेन उक्षन्तु**) मरुत् गण जलसे और घीसे सींचें, तथा (**भगः राजा नः कृषिं नि तनोतु**) भाग्यवान् राजा हमारे लिये कृषिको वढावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस उत्तम स्थानपर मैं उत्तम और सुदृढ घर बनाता हूं, जिसमें घी आदि खाने पीनेके पदार्थ बहुत रहें और जो सब प्रकारके स्वास्थ्य साधनोंसे परिपूर्ण हो। हम सब प्रकारके शौर्यवीर्यादि गुणोंसे युक्त होकर और किसी प्रकार कष्टोंको प्राप्त न होते हुए इस घरके चारों ओर घूमा करेंगे ॥ १ ॥

इस घरमें घोडे, गौवें, बैल आदि पशु बहुत हों, यह घर उत्तम मीठे भाषणसे युक्त हो, अन्न, घी, दूध आदि खाद्य पेय इसमें बहुत हों और इसमें रहनेवालोंको बडे सौभाग्यकी प्राप्ति हो ॥ २ ॥

इस घरमें धान्यादिका बडा भण्डार हो, उस भंडारमें शुद्ध और पवित्र धान्य भरा रहे। ऐसे घरमें बालक और बछडे घूमते रहें और सायंकालमें आनंदसे नाचती हुई गौवें आ जाय ॥ ३ ॥

इस शालाके निर्माणमें सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति ये देव सहायता दें। मरुत् गण इस घरमें विपुल घी देनेमें सहायक हों तथा राजा भग कृषि बढानेमें सहायता देवे ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥
ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥
एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥
पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥
इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (**मानस्य पत्नि**) संमानकी रक्षक, (**शरणा स्योना देवी**) अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, दिव्य प्रकाशमान् ऐसी (**देवेभिः अग्रे निमिता असि**) देवों द्वारा पहले बनायी हुई है। (**तृणं वसाना त्वं सुमनाः असः**) घासको पहने हुए तू उत्तम मनवाली हो (**अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः**) और हम सबके लिये वीरोंसे युक्त धन दे॥ ५ ॥

हे (**वंश**) बांस ! तू (**ऋतेन स्थूणां अधिरोह**) अपने सीधेपनसे अपने आधारपर चढ और (**उग्रः विराजन् शत्रून् अपवृङ्क्ष्व**) उग्र बनकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटा दे । (**ते गृहाणां उपसत्तारः मा रिषन्**) तेरे घरोंके आश्रयसे रहनेवाले हिंसित न होवें । हे शाले ! हम (**सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम**) सब वीरोंसे युक्त होकर सौ वर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

(**इमां कुमारः आ**) इस शालाके पास बालक आवे, (**तरुणः आ**) तरुण पुरुष आवे, (**जगता सह वत्सः आ**) चलनेवालोंके साथ बछडा भी आवे। (**इमां परिस्रुतः कुम्भः**) इसके पास मधुररससे भरा हुआ घडा (**दध्नः कलशैः आ अगुः**) दहीके कलशोंके साथ आ जावे ॥ ७ ॥

हे (**नारि**) स्त्री ! (**एतं पूर्णं कुम्भं**) इस पूर्ण भरे घडेको तथा (**अमृतेन संभृतां घृतस्य धारां**) अमृतसे भरी हुई घीकी धाराको (**प्र भर**) अच्छी प्रकार भरकर ला। (**पातॄन् अमृतेन सं अङ्ग्धि**) पीनेवालोंको अमृतसे अच्छी प्रकार भर दे। (**इष्टापूर्तं एनां अभिरक्षति**) यज्ञ और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

(**इमाः यक्ष्मनाशिनीः अयक्ष्माः आपः**) ये रोगनाशक और स्वयं रोगरहित जल (**प्र आभरामि**) मैं भर लाता हूं। (**अमृतेन अग्निना सह**) अमृत अग्निके साथ (**गृहान् उप प्र सीदामि**) घरोंमें जाकर बैठता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— घर अंदर निवास करने योग्य, सुखदायक है, यह एक संमानका साधन भी है। पहले यह देवों द्वारा बनाया गया था। घासके छप्परसे भी यह बनता है। ऐसे घरसे हमारा मन शुभ संकल्पवाला होवे और हमें वीरोंसे युक्त धन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

सीधे स्तंभ पर सीधे बांस रखे जावें और इस रीतिसे विरोधीयोंको दूर किया जावे। घरोंके आश्रयसे रहनेवाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों। इसमें रहनेवाले सब वीर होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस घरके पास बालक, तरुण आदि सब आ जावें। बछडे और अन्य घरके पशु, पक्षी भी घूमते रहें। इस घरमें शहदके मीठे रससे भरे हुए घडे तथा दहीसे भरे हुए घडे बहुत हों ॥ ७ ॥

स्त्रिया इन घडोंको भरकर लावें और घीके घडे भी बहुत लावें और पीनेवालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रस, भरपूर पिलावें। क्योंकि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो रोगनाशक और आरोग्यवर्धक हो। घरमें अगटी भी हो जिसके पास जाकर लोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

घरकी बनावट।

जो गृहस्थी हैं उसको घर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर घाससे बनी हुई (**तृणं वसाना** । मं. ५) झोपडीके समान हो अथवा बडा सौध हो। घर किसी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका 'गृह-स्थ-पन' ही नहीं सिद्ध होगा।

घर बनाने योग्य स्थान।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्यकारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं—

१ **क्षेमे** (मं. १) = सुरक्षित, शांति देनेवाला, सुखकारक, आरोग्यदायक, निर्भय, ऐसा स्थान घरके लिये हो।

२ **ध्रुवा** (मं. १, २) = स्थिर, सुदृढ, जहां बुनियाद स्थिर और दृढ हो सकती है।

इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (ध्रुवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि वारंवार उसकी मरम्मत करनेका व्यय उठाना न पडे।

घर कैसा बनाया जावे ?

घरके कमरे जहांतक हो सके वहांतक विस्तीर्ण बनाये जावें। '**बृहत्-छंदाः** (मं. ३)' अर्थात् बडे बडे छतवाले कमरोंसे युक्त घर हो। घरमें संकुचित् स्थान न हो क्योंकि छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी संकुचित बनते जाते हैं। इस-लिये अपनी शक्तिके अनुसार जहांतक विस्तीर्ण बनाना संभव हो वहांतक प्रशस्त घर बनाया जावे, जहां बहुत इष्टमित्र अतिथि आदि (**शरणा**। मं. ५) आ जांय और (**स्योना**। मं. ५) विश्राम ले सकें।

संमानका स्थान।

घर गृहस्थीके लिये बडा संमानका (**शाला मानस्य पत्नी**। मं. ५) स्थान है, अपना निजका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान हो जाता है। इष्टमित्रोंको सुख पहुंचानेका वह एक बडा स्थान होता है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार घर बनाना चाहिये। घर बनते ही घरमें अन्यान्य साधन इकट्ठे करने चाहिये, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं—

१ **अश्वावती** (मं. २) = घरमें घोडे हों, अर्थात् गृहस्थीके पास घोडे, घोडियां हों। यह शौर्यका साधन है।

२ **गोमती** (मं. २) = घरमें गौएँ हों। यह पुष्टिका साधन है, गौसे दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं। बैलोंसे खेती होती है।

धेनवः आस्पन्दमानाः सायं आ (मं ३) = सायं-कालके समय गौवें आनंदसे नाचती हुई आ जावें।

३ **पयस्वती** (मं. २) = घरमें बहुत दूध हो।

४ **घृतवती** (मं. २) = घरमें विपुल घी हो।

५ **घृतं उक्षमाणा** (मं. १) = घी देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदिके लिये विपुल घी देनेवाला घर हो। घरके लोग अन्नदानमें कंजूसी न करें।

६ **ऊर्जस्वती** (मं. २) = घरमें बहुत अन्न हो, खानपानके पदार्थ विपुल हों।

७ **धरुणी** (मं. ३) = जिसमें धान्यादिका बडा भंडार हो, जिसमें संग्रहस्थान हो, और वहां सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें।

८ **पूतिधान्या** (मं. ६) = घरमें पवित्र धान्य हो, जो रोगादि उत्पन्न करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो। घरमें धान्य लानेके समय वह केवल सस्ता मिलता है इसलिये लाया न जाय, परंतु लानेके समय देखा जाय, कि यह पवित्र, शुद्ध, नीरोग और पोषक है वा नहीं।

९ **परिस्रुतः कुम्भः** (मं. ७) = मधुर शहदसे भरा हुआ घडा अथवा अनेक घडे घरमें सदा रहें।

१० **दध्नः कलशैः** (मं. ७) = दहींसे परिपूर्ण भरे हुए कलश घरमें हों।

११ **घृतस्य कुम्भम्** (मं. ८) = उत्तम घीसे भरे हुए घट घरमें हों।

१२ **अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः** (मं. ९) = नीरोग और रोग दूर करनेवाले शुद्ध जल घडोंमें भर कर घरमें रखा जावे।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घरका वर्णन किया है। इन शब्दोंके मननसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा धनधान्यसंपन्न बनाना चाहिये। तथा—

१ **वत्सः आगमेत्** (मं. ३, ७) = घरमें बछडे खेलते रहें, घरके पास बछडे नाचते रहें।

२ कुमारः आ गमेत् (मं. ३,७) = घरमें और बाहर बालबच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेलकूद करते रहें।

३ तरुणः आ गमेत् (मं. ७) = युवा, तरुण पुरुष और तरुणियां घरमें और बाहर भ्रमण करें।

प्रसन्नताका स्थान।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बालबच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्यान्य आयुवाले स्त्री-पुरुष अपने अपने कार्यमें आनंदसे दत्तचित्त हों। सबके मुखपर आनंद दीखे और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे। हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि—

गृहान् उप प्र सीदामि। (सू. १२, मं. १)

'मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरको प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा।' यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको 'प्रसन्नताका स्थान' बनानेका प्रयत्न करेगा तो सचमुच वह घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमेव बन जायगा।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठकपर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है। अपने प्रयत्नसे अपने घरको 'प्रसन्नताका स्थान' बनाना है, यह कार्य दूसरेपर सौंपा नहीं जा सकता, यह तो हरएकको ही करना चाहिये। यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछेगा कि 'क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमने किया?' पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें। घरको प्रसन्नताका स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकट्ठे तो करने ही चाहिये परंतु केवल इतनोंसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अभीष्ट है, इसलिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये—

१ **सूनृतावती** (मं. २)— घरमें सभ्यताका सच्चा भाषण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो, सच्ची उन्नतिका सत्य भाषण हो, छल, कपट, धोखा आदिके भाषण न हों।

२ **सुमनाः** (मं. ५)— उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें।

घरको मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छे पदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरण भी श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त चाहिये। तभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है। घरमें धनदौलत तो बहुत रही, और घरवालोंके मन छली और कपटी हुए तो उस घरको घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा। इसलिये पाठक- जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे- इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें। शीत कालमें तथा वृष्टिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है, इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अगटी रखना चाहिये जिससे शीतसे त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है। दूसरी बात यह है कि '**अमृत अग्नि**' (मं. ९) जो परमेश्वर है उसकी उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासनातक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करे। जिस घरमें ऐसी उपासना होती है वही घर सचमुच 'प्रसन्नताका केन्द्र' हो सकता है। इसी प्रकारका घर—

महते सौभगाय उच्छ्रयस्व। (सू. १२, मं. २)

'बडे शुभमंगलकी प्राप्तिके लिये यह घर उठकर खडा होवे।' अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बडा सौभाग्य प्राप्त करे। जिस घरमें पूर्वोक्त प्रकार अन्तर्बाह्य व्यवस्था रहेगी वहां बडा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

वीरतासे युक्त धन।

सौभाग्य प्राप्तिके अन्दर 'भग' अर्थात् धन कमाना भी संमिलित है। परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंको दूर करनेके लिये शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि गुण भी चाहिये। अन्यथा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लूट लेंगे। इसलिये इस सूक्तने सावधानीकी सूचना दी है—

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः। (सू. १२, मं. ५)

'हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे।' धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरता भी प्राप्त हो। हमारा घर वीरताके वायुमंडलसे युक्त हो—

१ **सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम।** (सू. १२, मं. १)

२ **शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः।** (सू. १२, मं. ६)

'हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नाशको न प्राप्त होनेवाले वीर, सौ वर्ष जीवित रहकर धर्मकी रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर होकर अपने अपने घरोंमें संचार करेंगे।'

ये मंत्र स्पष्ट शब्दो द्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल ' वीरताका वायुमंडल ' चाहिये। भीरुताका विचारतक वहां आना नहीं चाहिये। घरोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियां वीरांगनाएं हों, ऐसे स्त्री-पुरुषोंसे जो संतान होंगे वे ' कुमार-वीर ' ही होंगे इसमें क्या संदेह है ? इसीलिये वेदमें पुत्रका नाम ' वीर ' आता है। पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायुमंडल ऐसा बनावें।

अतिथि सत्कार।

ऐसे मंगलमय वीरतासे युक्त घरोंमें रहनेवाले धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करेंगे ही। इस विषयमें कहा है—

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराम-मृतेन संभृताम्। इमां पातृनमृतेना समङ्धी-ष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ (सू. १२, मं. ८)

' गृहपत्नी अतिथियोंको परोसनेके लिये घीका घडा लावे, मधुररससे भरा घडा लावे और पीनेवालोंको जितना चाहिये उतना पिलावे, कंजूसी न करे। इस प्रकारका अन्नदान करना ही घरकी रक्षा करता है। '

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्य पदार्थोंका दान खुले हाथसे देना चाहिये, उसमें कंजूसी करना योग्य नहीं है। क्योंकि दान ही घरका संरक्षण करता है। जिस घरमें अतिथि-योंका सत्कार होता है उस घरका यश बढता जाता है।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है। यहां पर्दा नहीं है। पर्देवाले घरोंमें अतिथिको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है। यह अतिथि सत्कारकी अवैदिक प्रथा है। अतिथिके लिये भोजन, खानपान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेदका आदेश यहां है, जिसकी ओर घरमें पर्देकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है।

देवों द्वारा निर्मित घर।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

शरणा स्योना देवी (शाला) देवेभिर्निर्मितास्यग्रे। तृणं वसाना सुमनाः ... ...॥ (सू. १२, मं. ५)

' अन्दर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छप्परवाला, परंतु उत्तम विचारोंसे युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया। ' दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था। यद्यपि इसपर घांसका छप्पर था तथापि उसके अन्दर उत्तम विचार होते थे, अन्दर जानेसे आराम मिलता था और सुख भी होता था। इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये, वह क्रूर विचारोंका ' राक्षसभवन ' नहीं होना चाहिये। ' देवोंका घर ' धनसे नहीं होता है प्रत्युत अन्दरकी शांति और प्रसन्नतासे होता है। पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा ' देव भवन ' ही बनावें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रका-शित रूपमें प्रकट करें।

देवोंकी सहायता।

घर ऐसे स्थानमें बनाया जावे कि जहां सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंसे सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे—

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्। उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु॥ (सू. १२, मं. ४)

' सूर्य, वायु, इन्द्र, बृहस्पति जानते हुए इस घरकी सहायता करें। मरुत् नामक वर्षाती वायु जलसे सहायता करें और भग राजा कृषि फैलानेमें सहायक हो। '

घरके लिये सूर्यप्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेवाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो। घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाना चाहिये कि जहां सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहा-यता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्यदायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये।

जल ।

(१३)

(ऋषिः — भृगुः । देवता — वरुणः, सिन्धुः, आपः, इन्द्रः)

यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥
यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥
अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥
एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) उत्तम प्रकारसे सदा चलनेवाली तुम (अहौ हते) मेघके
इनन होनेके पश्चात् (अदः यत् अनदत) यह जो वडा नाद कर रही हो, (तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण
तुम्हारा नाम ' नदी ' हुआ है (ताः वः नामानि) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥ १ ॥
(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब दूसरे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम (शीभं समवल्गत) शीघ्र ही मिलकर
चलने लगी, (तत् इन्द्रः यतीः वः आप्नोत्) तब इन्द्रने गमनशील ऐसे तुमको ' प्राप्त ' किया, (तस्मात् अनु
आपः स्थन) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम ' आपः ' हुआ ॥ २ ॥
(स्यन्दमानाः वः) वहनेवाले तुम्हारी गतिका (इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीवरत) इन्द्रने विशेष कार्यके
लिये सुखपूर्वक नि ' वारण ' किया (तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं) तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम ' वारि ' रख
है ॥ ३ ॥
(एकः देवः यथावशं स्यन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्)
अधिकारसे देखा और कहा कि (महीः उदानिषुः) बडी शक्तिया ऊपरको श्वास लेती हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते)
तबसे तुमको ' उदक ' [उत्-अक] नामसे बोला जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— मेघकी वृष्टिसे अथवा वर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आ जाता है तब जलका बडा नाद होता है,
यह ' नाद ' होता है इसीलिये जलप्रवाहोंको ' नदी ' (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥ १ ॥
जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जल शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, ' प्राप्त ' होनेके कारण ही
जलका नाम ' आपः ' (प्राप्त होने योग्य) होता है ॥ २ ॥
जब वेगसे वहनेवाले जलप्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारणके लिये सुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये
निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम ' वार् ' (वारि = निवारित किया गया) हुआ ॥ ३ ॥
स्वेच्छासे वहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया,
तब इस जलका नाम ' उदक ' (उत् अक = ऊपरकी ओर प्राण गति करना) हो गया ॥ ४ ॥

❀

आपो॑ भ॒द्रा घृ॒तमिदाप॑ आसन्न॒ग्नीषोमौ॒ बिभ्र॒त्याप॒ इत्ताः ।
ती॒व्रो रसो॑ मधु॒पृचा॑मरंग॒म आ मा॑ प्रा॒णेन॑ स॒ह वर्च॑सा गमेत् ॥ ५ ॥
आदित्प॑श्याम्यु॒त वा॑ शृ॒णोम्या मा॒ घोषो॑ गच्छ॒ति वाङ् मा॑साम् ।
मन्ये॑ भेजा॒नो अ॒मृत॑स्य त॒र्हि हिर॑ण्यवर्णा॒ अतृ॑पं य॒दा वः॑ ॥ ६ ॥
इ॒दं व॑ आपो॒ हृद॑यम॒यं व॒त्स ऋ॑तावरीः ।
इ॒हेत्थमेत॑ शक्वरी॒र्यत्रे॒दं वे॒शया॑मि वः ॥ ७ ॥

अर्थ— (आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निःसंदेह तेज बढानेवाला है। (ताः इत् आपः अग्नीषोमौ बिभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं। (मधुपृचां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेजके साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(आत् इत् पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूं (उत वा शृणोमि) और सुनता हूं (आसां घोषः वाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है। हे (हिरण्यवर्णाः) चमकनेवाले वर्णवालो ! (यदा वः अतृपं) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है। हे (ऋतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वत्सः) यह मैं तुम्हारा बच्चा हूं। हे (शक्वरीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत) इस प्रकार यहां आओ। (यत्र वः इदं वेशयामि) जहां तुम्हारे अन्दर यह मैं प्रवेश करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह जल निःसंदेह कल्याणकारक है, यह निश्चयपूर्वक तेज और पुष्टिको बढानेवाला है। अग्नि और सोम इसका धारण करते हैं। यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

मनुष्य जलको आखसे देखता है, और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है। शुद्ध निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है। जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनन्द होता है ॥ ६ ॥

जलका यह आन्तरिक तत्त्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है, जल मनुष्यपर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

जलके प्रवाह।

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है। जलके अनेक नाम हैं, उनमेंसे कौनसा नाम किस प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रों द्वारा बतायी गई है।

मेघोंसे वृष्टि होती है और नदियोंको महापूर आता है। नदियां भरनेका यह एक कारण है। नदियोंके महापूरका दूसरा भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना। पत्थर वाचक ग्रावा आदि जो शब्द मेघवाचक करके माने जाते हैं वे वस्तुतः मेघवाचक नहीं हैं, परन्तु पहाडोंपर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके तथा ओलोंके वाचक होते हैं। उसी प्रकारका अहिशब्द है। अतः इसका अर्थ पहाडी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे महापूर आनेसे जलप्रवाहोंका बडा नाद होता है, इसलिये नाद करनेके हेतु जलप्रवाहका नाम ' नदी ' होता है, अर्थात् जिस जलप्रवाहका बडा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये।

नदीका प्रवाह अत्यंत वेगसे चलता हो और उस वेगमेंसे जल किसी युक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें खींचकर प्राप्त किया हो तो उस जलको ' आप् ' कह सकते हैं।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रवाहित होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको ' वारि ' (वार्, वारं) कहा जाता है।

जो जल- सूर्यकिरणों द्वारा बनी भांपसे हो या अग्नि द्वारा बनी हुई भापसे हो- पहले भांप बनकर फिर उस भापको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको ' उदक ' कहते हैं। (उत्) भाप द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिषुः) जो ऊपरले प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है। मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होनेवाले उदकका यह नाम मुख्यतया है। कृत्रिम रीतिसे शुंडायंत्र द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इसलिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है। यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समझकर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृत भाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः उस वस्तुके अन्तर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है।

यह जल (भद्राः । मं. ५) कल्याण करनेवाला है, बल, पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढानेवाला है। (मं. ५)

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत भोजनसे मिल सकती है।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र हो गये। जल इन सबकी माता है इसीलिये जलको ' माता ' वेदमें अन्यत्र कहा है। इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य स्नान करें अथवा वैसी तैरने आदिकी संभावना न हो तो अन्य प्रकारसे जल प्राप्त करके स्नान अवश्य करें। यह जलस्नान बडा आरोग्यप्रद होता है। इत्यादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं।

गोशाला।

(१४)

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— नानादेवता, गोष्ठदेवता)

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सु॒भूत्या॑।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥

अर्थ— हे गौओ! (**वः सुषदा गोष्ठेन सं**) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (**रय्या सं**) उत्तम बलसे युक्त करते हैं और (**सु-भूत्या सं**) उत्तम रहने सहनेसे अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं। (**यत् अहर्जातस्य नाम**) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (**तेन वः सं सृजामसि**) उससे तुमको युक्त करते हैं॥ १॥

भावार्थ— गौओंके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय। गौओंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौओंसे उत्तम गुणयुक्त संतान उत्पन्न करानेकी दक्षता सदा रखी जाय। गौओंसे इतना प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय॥ १॥

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु ॥ २ ॥
संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥
इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥
मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

अर्थ— (**अर्यमा वः सं सृजतु**) अर्यमा तुमको मिलावे, (**पूषा सं, बृहस्पतिः सं**) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे। (**यः धनंजयः इन्द्रः सं सृजतु**) जो धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र है वह तुमको धनसे संयुक्त करे। (**यत् वसु**) जो धन आपके पास है वह (**मयि पुष्यत**) मुझमें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

(**अस्मिन् गोष्ठे संजग्मानाः अ-बिभ्युषीः**) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (**करीषिणीः**) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा (**सोम्यं मधु बिभ्रतीः**) शांत मधुररस- दूध- का धारण करती हुई (**अन्-अमीवाः उपेतन**) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

हे (**गावः**) गौओ ! (**इह एव एतन**) यहां ही आओ। और (**इहो शका इव पुष्यत**) यहां साकके समान पुष्ट होओ। (**उत इह एव प्र जायध्वं**) और यहां ही बच्चे उत्पन्न करके बढो। (**वः संज्ञानं मयि अस्तु**) आपका लगन- प्रेम- मुझमें होवे ॥ ४ ॥

(**वः गोष्ठः शिव भवतु**) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे। (**शारि-शाका इव पुष्यत**) शालिकी साकके समान पुष्ट होओ। (**इह एव प्र जायध्वं**) यहां ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो। (**मया वः सं सृजामसि**) मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये ले जाता हूं ॥ ५ ॥

हे (**गावः**) गौओ ! (**मया गोपतिना सचध्वं**) मुझ गोपतिके साथ मिली रहो। (**वः पोषयिष्णुः अयं गोष्ठः इह**) तुमको पुष्ट करनेवाली यह गोशाला यहां है। (**रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः**) शोभाकी वृद्धिके साथ बहुत बढती हुई और (**जीवन्तीः वः जीवाः उप सदेम**) जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र आदि सब देवतागण गौओंकी पुष्टि करें। तथा पुष्ट गौओंसे जो पोषक रस मिल सकता है वह दूध मेरी पुष्टिके लिये मुझे मिले ॥ २ ॥

उत्तम खाद रूपी गोबर उत्पन्न करनेवाली, दूध जैसा मधुररस देनेवाली, नीरोग और निर्भर स्थानपर विचरनेवाली गौवें इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करें ॥ ३ ॥

गौवें इस गोशालामें आवें, यहां बहुत पुष्ट हों, और यहां बहुत उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामीके ऊपर प्रेम करती हुई आनंदसे रहे ॥ ४ ॥

गोशाला गौओंके लिये कल्याणकारिणी होवे। यहां गौवें पुष्ट होवें और संतान उत्पन्न करके बढें। गौओंका स्वामी सब गौओंकी व्यवस्था देखे ॥ ५ ॥

गौवें स्वामीके साथ आनन्दसे मिलजुल कर रहें। यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है इसमें रहकर गौवें पुष्ट हों। अपनी शोभा और पुष्टि बढाती हुई यहां गौवें बहुत बढें। हम सब ऐसे उत्तम गौवोंको प्राप्त करेंगे और पालेंगे ॥ ६ ॥

गो संवर्धन।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इसलिये इसके अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें जो बातें कहीं हैं उनका सारांश यह है कि 'गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनके रहने सहने, घास, दानापानी आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे। स्वामी गौवोंसे प्रेम करे और गौवें स्वामीसे प्रेम करें। गौवें निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर बुरा परिणाम होता है। संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूध-वाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें दक्षता रखी जाय। गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनसे नीरोग संतान उत्पन्न हो ऐसा सुप्रबंध किया जाय। गोपालनका उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो, किसी प्रकारकी उनमें बीमारी उत्पन्न न हो। उनके गोबर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाली अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे।'

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पढनेसे मिल सकता है। यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

वाणिज्य से धनकी प्राप्ति।

(१५)

(ऋषिः — अथर्वा (पण्यकामः)। देवता — विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूं **(सः नः ऐतु)** वह हमारे प्रति आवे और **(नः पुर-एता अस्तु)** हमारा अगुवा होवे। **(परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्)** मार्गपर लूट करनेवाले पाशवी भावसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ **(सः ईशानः मह्यं धनदाः अस्तु)** वह समर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग **(द्यावापृथिवी अन्तरा सञ्चरन्ति)** द्यावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं, **(ते पयसा घृतेन मा जुषन्तां)** वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें **(यथा क्रीत्वा धनं आ हराणि)** जिससे क्रयविक्रय करके मैं धन प्राप्त कर लूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने। वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे, और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, लुटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने-आनेके जो दिव्य मार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध ॥ ५ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (**इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे बलाय हव्यं जुहोमि**) मैं लाभकी इच्छा करनेवाला इन्धन और घीसे संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये हवन करता हूं। (**यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे**) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊं ॥ ३ ॥

हे (**अग्ने**) अग्ने! (**नः इमां शरणिं मीमृषः**) इस हमारी अशुद्धिकी क्षमा कर। (**यं दूरं अध्वानं अगाम**) जिस दूरके मार्गतक हम आ गये हैं। (**नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु**) वहाका हमारा क्रय और विक्रय लाभकारक हो। (**प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु**) प्रत्येक व्यवहार मुझको लाभदायक होवे। (**इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां**) इस हविको जानकर सेवन करो। (**नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु**) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लाभदायक होवे ॥ ४ ॥

हे देवाः! (**धनेन धनं इच्छमानः**) मूल धनसे लाभकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मैं (**येन धनेन प्रपणं चरामि**) जिस धनसे व्यापार करता हूं (**तत् मे भूयः भवतु**) वह मेरे लिये अधिक होवे और (**मा कनीयः**) थोडा न होवे। हे अग्ने! (**हविषा सातघ्नान् देवान् निषेध**) हवनसे युक्त होकर लाभका नाश करनेवाले खिलाडियोंका तू निषेध कर ॥ ५ ॥

हे देवो! (**धनेन धनं इच्छमानः**) धनसे धन कमानेकी इच्छा करनेवाला मैं (**येन धनेन प्रपणं चरामि**) जिस धनसे व्यापार करता हूं (**तस्मिन् मे रुचिं**) उसमें मेरी रुचिको (**इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः**) इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि देव (**आ दधातु**) स्थिर कर देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूं, इसलिये मैं घी और समिधासे हवन करता हूं। इससे मैं ज्ञान प्राप्तिपूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धिया प्राप्त करके लाभ प्राप्त करूंगा ॥ ३ ॥

हम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आ गये हैं। हे प्रभो! यहा कोई त्रुटि हमसे हो गई तो क्षमा कर। यहा जो व्यापार हम कर रहे हैं उसमें हमें बहुत लाभ प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाभ हो और विक्रयसे भी हमें धन बहुत मिले, प्रत्येक व्यवहारसे हमें लाभ होता जाय। हमारा आना जाना और हमारा अभ्युत्थान अर्थात् स्पर्धाकी चढाई करना भी हमें लाभकारी होवे। इसके लिये हम यह हवन करते हैं, उसका सेवन कर ॥ ४ ॥

मैं मूल धनसे व्यापार करके बहुत लाभ प्राप्त करना चाहता हूं, इसलिये जितने धनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूं, वह धन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे। मैं जो यह हवन कर रहा हूं इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो! तू मेरे व्यवहारमें लाभका नाश करनेवाले जो कोई होंगे उनको दूर कर ॥ ५ ॥

उप॑ त्वा नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः ।
स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥ ७ ॥
वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ८ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (**होतः वैश्वानर**) याजक वैश्वानर ! (**वयं नमसा त्वा उप स्तुमः**) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं। (**सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि**) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रक्षणके लिये जागता रह ॥ ७ ॥

हे (**जातवेदः**) जातवेद ! (**विश्वाहा ते इत् सदं भरेम**) प्रतिदिन तेरे ही स्थानको हम भरेंगे (**तिष्ठते अश्वाय इव**) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोडेको अन्न देते हैं। (**रायः पोषेण इषा सं मदन्तः**) धन, पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए (**ते प्रतिवेशा मा रिषाम**) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ— अपने मूल धनसे व्यापार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूं, इसके लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूं, उसमें प्रभुकी कृपासे मेरी रुचि लाभ होनेतक स्थिर होवे ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूं और तेरी स्तुति करता हूं, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एक स्थानपर रखे हुए घोडेको खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देश्यसे प्रतिदिन हवन करते हैं। तेरी कृपासे हम बहुत धन, पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे त्रस्त न होंगे ॥ ८ ॥

वाणिज्य व्यवहार।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है। व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रयविक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है। कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं।

पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मन्त्रमें सब जगत्‌के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को '**वणिजं इन्द्रं**' (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है। परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें (**तायु । ऋ. १।६५।१**) चोर भी कहा है। जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है।

जिस प्रकार बनिया एक रु. लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह 'पुराना सबसे बडा बनिया' मनुष्योंको सुखदुःख उसी प्रमाणसे देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण वे परोपकारार्थ करते हैं उतना ही उनको पुण्य मिलता है। इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत्‌के प्रारंभसे यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कभी पक्षपात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है। इस प्रकार यह सबसे पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे वापस मिलेगा। इसलिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये जिनको देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, यह उपदेश यहां मिलता है।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सत्य व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी सत्य-

स्वरूप परमेश्वरकी निष्ठासे ही होना चाहिये और छल, कपट तथा धोखा उसमें कभी करना नहीं चाहिये।

हवनका निर्देश मं. ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है। हवनका अर्थ है 'अपना समर्पण'। अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है। ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे सत्कर्म परमात्माके पास पहुंचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है। इसलिये व्यापार-व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये। धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें। जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है। इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है।

व्यापारका स्वरूप।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आ गये हैं वे अब देखिये—

१ **धनं** = मूल धन, सरमाया, जिस मूल धनसे व्यापार किया जाता है। (मं. ५, ६)

२ **धनं** = लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम। (मं.५,६)

३ **वणिक्** = व्यापारी, क्रयविक्रय करनेवाला। (मं. १)

४ **धनदा** = व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम धंदा करते हैं। साहुकार। (मं. १)

५ **प्रपणः** = सौदा, खरीद फरोक्त। (मं. ५)

६ **विक्रयः** = खरीदा हुआ माल बेचना। (मं. ४)

७ **प्रतिपणः** = प्रत्येक सौदा। (मं. ४)

८ **फली (फलिन्)** = लाभ युक्त होना। (मं. ४)

९ **शुनं** = कल्याणकारी, लाभकरी, हितकर। (मं. ४)

१० **चरितं** = व्यवहार करनेके लिये हलचल करना। (मं. ४)

११ **उत्थितं** = उठाव, चढाई। प्रतिस्पर्धीके साथ स्पर्धाके लिये चढाई करना। (मं. ४)

१२ **भूयः (धनं)** = व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना। (मं. ५)

ये ग्यारह शब्द व्यापार विषयक नीतिकी सूचना देते हैं। इनके मननसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बनियाके कार्यमें कौन कौनसे विभाग होते हैं और उन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये।

प्रथम मूल धन व्यापार-व्यवहारमें लगाना चाहिये। यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये। जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका 'क्रय' कहा करना योग्य है और उसका 'विक्रय' कहा करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये। किन दिनोंमें, किस देशमें खरेदी और किस स्थानपर विक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है, इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है। इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें 'चरितं' कहा है।

इन सब शब्दोंमें 'उत्थित' शब्द बडा महत्त्व रखता है। उठाव, चढना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं। मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं। इस उत्थानके दो भेद होते हैं, एक 'वैयक्तिक उत्थान' और दूसरा 'सामुदायिक संभूय समुत्थान' है। एक व्यक्ति चढाईकी नीतिसे व्यापार करती है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहां अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठाई करते हैं उसको 'संभूय समुत्थान' कहते हैं। व्यापारमें केवल ऊपर लिखा 'चरित' ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बडा कार्यकारी होता है। पाठक इसका उत्तम विचार करें।

व्यापारके विरोधी।

१ **सातघ्नः** = (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले। जिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है। (मं. ५)

२ **सातघ्नः देवः** = लाभका नाश करनेवाला जूवेबाज, खिलाडी, (दिव्- 'जुवा खेलना') इस धातुसे यह देव शब्द बना है। व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतोंवाला मनुष्य। (मं. ५)

३ **परिपन्थिन्** = बटमार, चोर, लुटेरे, मार्गपर ठहरकर आनेजानेवालोंको जो लूटते हैं। (मं. १)

४ **मृगः** = पशु, पशुभाववाला मनुष्य। (मं. १)

५ **अ-रातिः** = कंजूस, दान न देनेवाला। (मं. १)

६ **कनीयः (धनं)** = व्यापारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी। (मं. ५)

इनके कारण व्यापार-व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये।

व्यापार-व्यवहार करनेमें जो विघ्न होते हैं उनका विचार इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है। पहले विघ्नकारी 'सातघ्न देव'

हैं। पाठक देवोंको यहां विघ्नकारी देखकर आश्चर्यचकित हो जायगे। परंतु वैसा भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'देव' शब्दके अर्थ 'जुआडी, खेलमें समय वितानेवाला' ऐसा भी होता है। यह अर्थ 'दिव्' धातुका 'जूवा खेलना' अर्थ है उस धातुसे सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोंमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियोंको भी डुबा देंगे। यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको करनेवाले 'सातघ्न देव' समझना यहां उचित है। (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है। 'देव' शब्द 'व्यवहार करनेवाले' इस अर्थमें प्रचलित है।

'परिपंथि' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि 'जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं।' सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहा अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूल धन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहना चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुए भी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (**मा कर्नीयः**। मं. ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है। बहुत व्यवहार लाभकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं। जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य युक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्योंकि यह कमी हरएक प्रसंगमें रुकावट उत्पन्न करनेवाली होती है। व्यापार करनेवाले पाठक इससे योग्य बोध प्राप्त करें।

दो मार्ग।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है। अन्यथा बडा व्यापार होना अशक्य है। देशदेशांतर और द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिये उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहिये। देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भयदायक होते हैं। जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको '**देवयानाः पन्थानः**' (मं. २) कहा है। देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सदृश लोग जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर लूटमार नहीं होती, व्यापारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते हैं। जहा आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभदायक होता है।

दूसरे मार्ग राक्षसों, असुरों और पिशाचोंके होते हैं जिनपर इन निशाचरोंका आना जाना होता है। ये ही 'परिपन्थी' अर्थात् बटमार, चोर लुटेरे बनकर सार्थवाहोंको लूट देते हैं। इन मार्गोंपरसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये जहाके मार्ग सुरक्षित न हों वहांके मार्ग सुरक्षित करनेके लिये प्रयत्न होना आवश्यक है। वाणिज्यकी वृद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है।

व्यापार अच्छी प्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहा जहा मुकाम करना आवश्यक हो वहां खानपानके पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहिये। रहने सहने और खानपान आदिका सब प्रबंध बनाबनाया रहना चाहिये। उचित धन देकर सहनेका प्रबंध विना आयास होना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुषन्तां पयसा घृतेन।
तथा क्रीत्वा धनमाहरामि॥ (सू. १५, मं. २)

'वे देशदेशान्तरमें जाने आनेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध, घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन कमानेका व्यवहार कर सकूं।' बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमें भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबंध अपना स्वयं ही करना पडे तो उसका समय उसीमें चला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय चला जायगा। इसलिये मंत्रके कथनानुसार, 'मार्ग ही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे' तो अच्छा है। यह उपदेश बडा महत्त्वपूर्ण है और व्यापार वृद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

ज्ञानयुक्त कर्म।

हरएक कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है—

देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे।
(सू. १५, मं. ३)

'दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिका ज्ञानसे सत्कार करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूं।'

यहांका ' धी ' शब्द ' प्रज्ञा, बुद्धि और कर्मशक्ति ' का वाचक है। ज्ञानपूर्वक हरएक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरल मार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुची स्थिर होनी चाहिये—

तस्मिन् रुचिं आ दधातु। (सू. १५, मं. ६)

' उस कार्यमें रुची स्थिर होवे ' यह बात अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो कई लोगोंकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसूं पाचवेंका विचार करते हैं। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर भक्ति।

सब कार्योंकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। इस विषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बडा मननीय है। ' ईश्वरकी नम्रतापूर्वक स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना चाहिये। ' क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये। जिससे वह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन, पुष्टि, सुख आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना।

(१६)

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (**प्रातः अग्निं**) प्रातःकाल अग्निकी, (**प्रातः इन्द्रं**) प्रातःकालमें इन्द्रकी, (**प्रातः मित्रावरुणौ**) प्रातःकालके समय मित्र और वरुणकी, तथा (**प्रातः अश्विनौ**) प्रातःकाल अश्विनी देवोंकी (**हवामहे**) हम स्तुति करते हैं। (**प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं**) प्रातःकाल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान्‌की (**प्रातः सोमं उत रुद्रं हवामहे**) प्रातःकाल सोम और रुद्रकी हम प्रार्थना करते हैं॥ १॥

(**वयं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं भगं हवामहे**) हम प्रातःकालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र भगकी प्रार्थना करते हैं, (**यः विधर्ता**) जो विशेष प्रकार धारण करनेवाला है। (**आध्रः चित्**) अशक्त भी और (**तुरः चित् यं**) बलवान् भी जिसको तथा (**राजा चित्**) राजा भी (**यं मन्यमानः**) जिसका सन्मान करता हुआ ('**भगं भक्षि**' **इति आह**) 'धनका भाग मुझे दे' ऐसा कहता है॥ २॥

हे (**भग**) भगवन्! हे (**प्र-नेतः**) बडे नेता! हे (**सत्यराधः भग**) सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो! (**इमां धियं ददत् नः उत् अव**) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर। हे (**भग**) भगवन्! (**गोभिः अश्वैः नः प्रजनय**) गौओं और घोडोंके साथ संतानवृद्धि कर। हे (**भग**) भगवन्! हम (**नृभिः नृवन्तः स्याम**) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होवें॥ ३॥

भावार्थ— प्रातःकालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं॥ १॥

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है और जिसको अशक्त और सशक्त, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, 'अपनेको भाग्यवान्' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं॥ २॥

हे हम सबके बडे नेता! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो! हे भगवन्! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर। गौओं और घोडोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी संतान वृद्धि होने दें। तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐसा कर॥ ३॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ— (**उत इदानीं भगवन्तः स्याम**) हम इस समय भाग्यवान होवें (**उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्नाम्**) और सायंकालमें भी और दोपहरमें भी। हे (**मघवन्**) भगवन्! (**उत सूर्यस्य उदितौ**) और सूर्यके उदयके समय (**वयं देवानां सुमतौ स्याम**) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

(**भगवान् भगः देवः अस्तु**) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवे (**तेन वयं भगवन्तः स्याम**) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें। (**हे भग**) भगवन्! (**तं त्वा सर्वः इत् जोहवीमि**) उस तुझको मैं सब रीतिसे भजता हूं (**भग**) भगवन्! (**सः नः पुरएता इह भव**) वह तू हमारा अगुवा यहां हो ॥ ५ ॥

(**उषसः अध्वराय सं नमन्त**) उषायें यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें। (**शुचये पदाय दधिक्रावा इव**) जिस प्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये घोडा चाहता है। (**वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आ वहन्तु**) घोडे इस ओर धनवाले भगवान्‌को मेरे पास ले आवें (**अश्वा रथं इव**) जैसे घोडे रथको लाते हैं ॥ ६ ॥

(**अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः उषासः**) घोडे, गौएं और वीरोंसे युक्त कल्याणमयी उषायें (**नः सदं उच्छन्तु**) हमारे घरोंको प्रकाशित करें। (**घृतं दुहानां**) घीको प्राप्त करते हुए (**विश्वतः प्रपीताः**) सब प्रकार हृष्टपुष्ट होकर (**यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात**) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि जिससे हम भाग्यशाली बनते जांय। हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भगवान् परमेश्वर हमें भाग्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें। हे भगवन्! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन ॥ ५ ॥

उषःकालका समय अहिंसामय, अकुटिल, सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे धनवान्, भगवान् हमारे अधिक सन्निध होते जांय ॥ ६ ॥

जिन उषाओंके समय घोडे, गौएं और वीरपुरुष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें। और ऐसी ही उषायें घृतको प्राप्त करती हुई और सबको दुग्धपान कराती हुई अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये। अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये। इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे। ऐसे शुद्ध भावसे उषाके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं। इसीलिये—

सबका उपास्य देव।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ (सू. १६, मं. २)

इस समय 'निर्बल और बलवान्, प्रजाजन और राजा समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं।' क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सन्मुख समान भावसे ही रहते हैं। इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इसलिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—

१ **आध्रः** = आधार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारेकी आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन।

२ **तुरः** = त्वरायुक्त, शीघ्रतासे कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढनेवाला।

३ **राजा** = शासन करनेवाला, हुकुमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला।

इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहां शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है। निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करनेवाले लोग ये सब यद्यपि जगत्‌में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं; तथापि जगन्नियन्ता प्रभुके सन्मुख ये समान भावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसा दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी कृपासे अपने भाग्यकी वृद्धि होगी ऐसा ही समझते हैं। इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सबका एक जैसा पालक है। यह—

यः विधर्ता। (सू. १६, मं. २)

'सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है' अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परन्तु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसीलिये इसको विशेष धारक कहते हैं। यह—

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं। (सू. १६. मं. २)

'(प्रातः जितं) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करेंगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है। यह तो सदा विजयी ही है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उषःकालसे होता है, उस उषःकालके प्रारभमें ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगा ही, परंतु इसका प्रारंभसे ही विजय हुआ है, यह बात यहां बतायी है।

अदीनताका रक्षक।

'दिति' नाम पराधीनता या दीनताका है और 'अ-दिति' का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता। इस स्वाधीनताका यह (**पु-त्र** = पुनाति च त्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त तारण करनेवाला है। इसीलिये यह भाग्यवान् होनेसे 'भग' कहलाता है। जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा। 'अ-दितिका पुत्र' होना बडे पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है। परमात्मा तो स्वयंसिद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इसलिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् विना प्रयत्न प्राप्त है। पुरुषार्थी मनुष्य अपने पुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति।

'अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भगकी हम उपासना करते हैं। (मं. १)' यह इस मंत्रका कथन है। एक ही परमात्म देवके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इस सूक्तमें 'भग' अर्थात् ऐश्वर्यकी प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें 'भग' शब्द मुख्य और अन्य शब्द उसके विशेषण हैं। परंतु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मानकर अन्य शब्दोंको उसके विशेषण माना जा सकता है। जैसा—

(१) भाग्यप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'भग' नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (२) ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला 'इन्द्र' नामको मुख्य मानकर उसीकी उपासना करे। (४) पुष्टि चाहनेवाला 'पूषा' नामको मुख्य मानकर उसकी उपासना करे। (५) शांति चाहनेवाला 'सोम' नामको मुख्य मानकर अन्य नामोंको उसके

विशेषण माने और उपासना करे। (६) उग्रताकी इच्छा करनेवाला 'रुद्र' नामको मुख्य मानकर उपासना करें, इसी प्रकार अन्यान्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामनाके अनुसार माने और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे। उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्योंकि 'एक ही प्रभुके अग्नि आदि अनेक नाम होते हैं, एक ही सद्वस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न नामोंसे वर्णन करते हैं' इस वैदिक शैलिके अनुसार इस प्रथम मंत्रमें आये सब शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं। इस कारण किसी गुणको प्रधान मानकर प्रभुकी उपासना की जाय तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है। मन जिसका ध्यास लेता है वह गुण मनमें बढता है, इस नियमके अनुसार यह उपासना होती है। इन गुणोंका चिंतन करनेकी सुविधा होनेके लिये यहा इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

१ **अग्निः** = तेज, प्रकाश उष्णता, और गति करनेवाला।
२ **इन्द्रः** = शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक, शासन करनेवाला, राजा।
३ **मित्रः** = मित्र दृष्टिसे सर्वोपर प्रेम करनेवाला, सबका हित करनेवाला।
४ **वरुणः** = श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण करनेवाला, वरिष्ठ।
५ **अश्विनौ** = धन और ऋण शक्तिसे युक्त, वेगवान्। सर्वव्यापक, सर्वत्र उपस्थित।
६ **भगः** = भाग्यवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान्।
७ **पूषा** = पोषक, पुष्टि करनेवाला।
८ **ब्रह्मणस्पतिः** = ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी।
९ **सोमः** = शांत, आल्हाददायक, कलानिधि, कलावान्, मधुर, प्रसन्नता करनेवाला।
१० **रुद्रः** = उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर, शूर, वीरभद्र, शत्रुविध्वंसक वीर, शत्रुको रुलानेवाला।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं। पाठक इन शब्दोंके मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं। जिस गुणको अपनेमें बढानेकी इच्छा हो उस गुणवाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना और अन्य शब्द उसीके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपासनाकी रीति है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे मनका वायुमंडल ही उस प्रकारका बनता है और आवश्यक गुण मनमें विकसित होने लगता है। यहा पाठक स्मरण रखें कि, अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु मंडल वैसा बनानेकी आवश्यकता है, इसीलिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

धारणा।

इमां धियं ददन्तः उदव। (सू. १६, मं. ३)

'इस बुद्धिको बढाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी रखा कर' यहा प्रार्थनामें धन नहीं मागा है, परन्तु 'बुद्धि' मागी है, यह 'धारणावती बुद्धि' जो कर्म शक्तिसे युक्त रहती है वह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है। भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढाना हो अथवा प्रभुत्व संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुरुषार्थ करनेमें समर्थ धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके विना उन्नति असंभव है। धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ताका भाव है उसी प्रकार पुरुषार्थमयी कर्मशक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये। यह धी जितनी बढेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। जिस बुद्धिमें ज्ञानशक्ति पुरुषार्थ शक्तिके साथ संमिलित रहती है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा 'इमा धियं' शब्दोंमें है। प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्मशक्ति विकसित करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहा तृतीय मंत्रमें (इमा धियं ददन्) 'इस बुद्धिको दो' इन शब्दोंमें मागी है। यहां प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें कही है? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मननसे मिल सकता है। मनन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परन्तु विशेष स्पष्टताके लिये यहा थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं—

उपासना --(और उससे सिद्ध होनेवाली)-- धारणा।

मंत्रका शब्दार्थ –(और उससे उद्दीपित होनेवाला)– बुद्धिका भाव।

प्रथम मंत्र।	(१)
(अग्निं) तेजस्वी, परन्तु (सोमं) शांत मीठे स्वभाववाले (मित्रा-वरुणौ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्षपाती होकर सत्यासत्य देखनेवाले (पूषणं) पोषणकर्ता (ब्रह्मणस्पतिं) ब्रह्मज्ञानी देवकी प्रार्थना मैं प्रातःकालमें करता हूं।	(१) मैं तेजस्वी बनूंगा, परन्तु (२) शांत और मीठा स्वभाव धारण करके, (३) मित्रदृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूंगा, (४) निष्पक्षतासे सत्यासत्यकी परीक्षा करूंगा, (५) अन्योंको यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूंगा और (६) अपने अन्दर ज्ञान बढाऊंगा।

(अश्विनौ) वेगवान् धनऋण शक्तिवाले और (रुद्रं) शत्रुको रुलानेवाले (भगं) भाग्य युक्त (इन्द्रं) शत्रुओंको दूर करनेवाले शासनकर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूं।

द्वितीय मंत्र।

(प्रातर्जितं) नित्य विजयी (उग्रं) उग्र शूरवीर प्रभुकी मैं प्रातःकाल प्रार्थना करता हूं। इसी प्रभुकी भक्ति अशक्त और सशक्त, रंक और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्यका भाग उससे मांगते हैं, क्योंकि वह (विधर्ता) सबका धारक और (अदितेः) बंधन रहित अवस्थाका (पु-त्रः) पावन-कर्ता और तारणकर्ता है।

(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको रुलाने योग्य पराक्रम युद्धभूमिपर करूंगा और (३) भाग्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूंगा।

(२)

मैं प्रातःकालमें अपने विजय साधनका विचार करता हूं, उसके लिये आवश्यक उग्रता धारण करूंगा और परमेश्वर भक्ति-पूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनताकी रक्षाके लिये अहर्निश यत्न करूंगा तथा अपने अन्दर सब प्रकारकी पवित्रता बढाता हुआ अपने अन्दर रक्षकशक्ति भी बढाऊंगा।

उपासनाके मंत्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहां दी है। पुत्र पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके संबंधसे होती है। क्योंकि इस जीवात्मरूप ' अमृत पुत्र ' ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसीलिये वह उपासना करता है।

(१) ' परमेश्वर ज्ञानी है ' इतना वाक्य कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी ज्ञानी बनूंगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूंगा।' (२) ' परमेश्वर शत्रुनिवारक है ' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जाऊं।' (३) इसी प्रकार ' परमेश्वर ऐश्वर्यमय है ' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी ऐश्वर्य कमानेका पुरुषार्थ करूं।' (४) इसी रीतिसे ' परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है ' इतना कहते ही मनमें यह भावना खडी होती है कि ' मैं भी कुछ हुनर बनाऊं।' इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाका धारणासे संबंध है। यह जो बुद्धिमें स्थिर रूपसे विशिष्ट विचारकी भावना जम जाती है उसका नाम ' धी ' है। पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो धारणावती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञानशक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करनेके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है।

इमां धियं ददत् नः उत् अव। (सू. १६, मं. ३)

' इस धारणावती बुद्धिको देकर हमारी उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर।'

इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें कितना महत्वपूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और इस ढंगसे मंत्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जानकर पाठक अपने अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करें।

सत्यका मार्ग।

तृतीय मंत्रमें ' प्रणेतः ' और ' सत्यराधः ' ये दो शब्द विशेष महत्वके हैं। ' प्र-नेता ' का अर्थ ' उत्कर्षकी ओर ले जानेवाला नेता ' तथा ' सत्य-राधः ' का अर्थ ' सत्यके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला ' है। ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं। परमात्मा सबको उन्नतिकी मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्यमार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमात्मामें सार्थ होते हैं। ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बडा बोधप्रद है। मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणमें अपनेमें चरितार्थ करें। मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंको उत्कर्षके मार्गसे ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके सीधे मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें। ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही ' नृ अथवा नर ' कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इसीलिये कहा है-

नृभिः नृवन्तः स्याम। (सू. १६, मं. ३)

' श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे। यहांका ' नृवान् ' शब्द ' मातृमान्, पितृमान् ' शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा — (मातृमान्) प्रशंसनीय गुणवाली मातासे युक्त, (पितृमान्) प्रशंसनीय गुणवाले पितासे युक्त, इसी प्रकार (नृमान्, नृवान्) प्रशंसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त। नहीं तो हरएक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं। चोरोंके साथ भी उनके साथी रहते ही हैं, तथापि उस चोरको ' नृमान् ' नहीं कहा जा सकता। अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अभ्युदय होना संभव है, इसलिये ' अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें ' ऐसी इच्छा यहां प्रकट की गई है। इस प्रकार

अच्छे मनुष्योंकी साथ मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

देवोंकी सुमति।

'हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करे, कि जिससे हम (भगवन्तः) भाग्यवान बनते जांय। तथा हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें। (मं. ४)' यह चतुर्थ मंत्रका कथन है। यहा दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है। प्रातःकाल क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। सत्यमार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो।

जहा भाग्य प्राप्त होना है, वहां मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुंदसे रह नहीं सकता, इसलिये भाग्यप्राप्तिका उद्यम करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि—

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (सू. १६, मं. ४)

'हम देवोंकी सुमतिमें रहें।' अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हों, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे। हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें। इस मंत्रमें यह सावधानीकी सूचना अत्यंत महत्त्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है। परन्तु वेदको सुमार्गपरसे मनुष्योंको चलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इसलिये जहां गिरनेकी संभावना होती है वहा ही इस प्रकारकी सावधानीकी सूचना दी होती है। ताकि मनुष्य न गिरें और भाग्य भी प्राप्त करें। पंचम मंत्रमें—

स नो भगः पुरएता भवेह। (सू. १६, मं. ५)

'वह भगवान् ही हमारा अगुवा बने' यह उपदेश कहा है वह भी इसी उद्देश्यसे है, कि मनुष्य परमात्माको ही अपना अग्रगामी समझें और अपने आपको उसके अनुयायी समझें और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करें। गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है। सर्वज्ञ परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है।

अहिंसाका मार्ग।

षष्ठ मंत्रमें अध्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अध्वरका मार्ग देखनेके लिये अध्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अध्वर— (अ-ध्वरा) अकुटिलता, जहा टेढापन नहीं है, जहा सीधा भाव है, जहां हिंसा नहीं है, जहां दूसरोंका घातपात करनेका भाव नहीं है, जहां दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है।

ये 'अ-ध्वर' शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं। इस अहिंसाके मार्गसे जाना और पंचम मंत्रका 'परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना'; चतुर्थ मंत्रोक्त 'देवोंकी सुमतिमें रहना'; और तृतीय मंत्रोक्त 'सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना' एक ही बात है। इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र भिन्न भिन्न उपदेशसे एक ही आशय बता रहे हैं। पाठक यहां देखें कि इस सूक्तने यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है।

गौवें और घोडे।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें 'गौओं और घोडोंके साथ हमें युक्त कर' ऐसा कहा है। सप्तम मंत्रमें भी वही बात फिर दुहराई है। इससे घरमें गौवें और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे घरका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है।

सप्तम मंत्रमें (घृतं दुहानाः) 'घीका दोहन करनेवाली' और (विश्वतः प्रपीताः) 'सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली' यह उषाका वर्णन सवेरेके समय दूधका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है। घरमें गौवोंको इसीलिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कलके दूधके दहीसे आज निकाला हुआ मक्खन लेकर उसका आज ही घी बनाकर सेवन किया जाय। ऐसे घीको 'हैयंगवीन घृत' कहते हैं। यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीरोग भी होती है।

भ्रमण!

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर भ्रमणके लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो घण्टे घोडेकी सवारी करके पश्चात् घर आकर अपने कार्यको लगना चाहिये। बहुत थोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको सवेरे घरकी गौका ताजा दूध पीनेके लिये मिलता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सवेरेके प्राणप्रद वायुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो। आजका समय विपरीत है। ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतियां केवल स्मरणमें ही रखना चाहिये।

कृषिसे सुख-प्राप्ति ।

(१७)

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — सीता)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥
युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन् ॥ २ ॥
लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (देवेषु धीराः कवयः) देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग **(सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति)** सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और **(युगा पृथक् वितन्वते)** जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्त) हलोंको जोडो, **(युगा वितनोत)** जूओंको फैलाओ, **(कृते योनौ इह बीजं वपत)** बने हुए खेतमें यहांपर बीज बोओ । **(विराजः श्नुष्टिः नः सभराः असत्)** अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे । **(सृण्यः इत् पक्वं नेदीयः आयवन्)** हंसुये भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावें ॥ २ ॥

(पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु लांगलं) वज्रके समान कठिन, चलानेके लिये सुखकारक, लकडीके मूठवाला हल **(गां अविं)** गौ और बकरी, **(प्रस्थावत् रथवाहनं)** शीघ्रगामी रथके घोडे या बैल, **(पीवरीं च प्रफर्व्यम्)** पुष्ट स्त्री **(इत् उद्वपतु)** निश्चयसे देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु) इन्द्र हलकी रेषाको पकडे, **(पूषा तां अभिरक्षतु)** पूषा उसकी रक्षा करे । **(सा पयस्वती नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां)** वह हलकी रेषा रस युक्त होकर हमें आगे आनेवाले वर्षोंमें रसोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बाध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जूओंको फैलाओ, अच्छी प्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

हलको लोहेका कठिन फार लगाया जावे और लकडीकी मूठ पकडनेके लिये की जावे, यह हल चलानेके समय सुख देवे । यह हल ही गौ-बैल, भेड-बकरी, घोडा-घोडी, स्त्री-पुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी वृष्टिद्वारा हलसे खुदी हुई रेषाको पकडे और धान्य पोषक सूर्य उसकी उत्तम रक्षा करे । यह भूमि हमें प्रति-वर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

❀

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥
शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥
सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥
घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्यावृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ— (**सु-फालाः भूमिं शुनं वि तुदन्तु**) सुन्दर हलके फाल भूमिको सुखपूर्वक खोदें। (**कीनाशाः शुनं वाहान् अनु यन्तु**) किसान सुखपूर्वक बैलोंके पीछे चलें। (**शुनासीरौ**) हे वायु और हे सूर्य! तुम दोनों (**हविषा तोशमानौ**) हमारे हवनसे तुष्ट होकर (**अस्मै सुपिप्पलाः ओषधीः कर्तम्**) इस किसानके लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

(**वाहाः शुनं**) बैल सुखी हों, (**नरः शुनं**) मनुष्य सुखी हों (**लांगलं शुनं कृषतु**) हल सुखसे कृषि करे। (**वरत्रा शुनं बध्यन्तां**) रस्सियां सुखसे बांधी जाय, (**अष्ट्रां शुनं उदिंगय**) चाबूक सुखसे ऊपर चला ॥ ६ ॥

हे (**शुनासीरौ**) वायु और सूर्य! (**इह स्म मे जुषेथां**) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें। (**यत् पयः दिवि चक्रथुः**) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (**तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं**) उससे इस भूमिको सींचते रहो ॥ ७ ॥

हे (**सीते**) जुती हुई भूमि! (**त्वा वन्दामहे**) तेरा वन्दन करते हैं। हे (**सुभगे**) ऐश्वर्यवाली भूमि! (**अर्वाची भव**) हमारे सन्मुख हो। (**यथा नः सुमनाः असः**) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (**यथा नः सुफला भुवः**) जिससे हमें उत्तम फल देनेवाली होवे ॥ ८ ॥

(**घृतेन मधुना समक्ता सीता**) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (**विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता**) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई, हे (**सीते**) जुती भूमि! (**सा घृतवत् पिन्वमाना**) वह घीसे सिंचित हुई तू (**नः पयसा अभ्यावृत्स्व**) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— हलके सुन्दर फार भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रस युक्त औषधियां देवें ॥ ५ ॥

बैल सुखी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय। रस्सियां जहां जैसी बांधना चाहिये वैसी बांधी जाय और आवश्यकता होनेपर चाबूक ऊपर उठाया जाय ॥ ६ ॥

वायु और सूर्य मेरे हवनका स्वीकार करें और जो जल आकाशमंडलमें है उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें ॥ ७ ॥

भूमि भाग्य देनेवाली है, इसलियें हम इसका आदर करते हैं। यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे ॥ ८ ॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त धान्य और फल देती रहे ॥ ९ ॥

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है। भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमानकी अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमी अच्छी प्रकार उखाडी जाय, हलकी लकीरें ठीक की जाय और उन लकीरोंके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा हो सकता है।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्य भी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं।

हलसे खुदी हुई भूमिको (इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकडे, पश्चात् उसकी उत्तम रक्षा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे। इस प्रकार वृष्टि और सूर्यप्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा।

धान्य बोनेके पूर्व हवन।

पञ्चम मंत्रमें उत्तम कृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है। जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवनके लिये घृतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये ही। इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है। इस हवनसे दूसरी एक बात स्वयं हो जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि घातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है। इससे स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवनकी वैदिक प्रथा जारी की जाय तो तमाकू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत्में जनताका इतना घात करनेके लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादिकी विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा।

खादके लिये घी और शहद!!

नवम मंत्रमें (घृतेन मधुना पयसा समक्ता सीता) घी, शहद और दूधका खाद वनस्पतीयोंको डालनेका उपदेश है। आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंको खानेके लिये भी नहीं मिलते तो खादके लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहा मिलेंगे? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध, घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है।

ऐतिहासिक उदाहरण।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृतका खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समयतक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता!!! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिश्री) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उसके फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इसमें संदेह ही क्या है. यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वाईके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष ज्वारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलना ही नहीं हो सकती।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है, जो धनी पाठक इसके प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें। साधारण जनोंके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्योंकि जिन लोगोंको पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध, दही, घी, शहद और मिश्री कहांसे ले आयगे।

पाठक ये वर्णन पढें और वैदिक कालकी कृषिकी मनसे ही कल्पना करें और मन ही मनमें उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें!!

गौरक्षाका समय।

वैदिककाल गौकी रक्षाका काल था, इसलिये गौवें विपुल थीं और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था। परंतु आज अनार्योंके भक्षणके लिये लाखोंकी संख्यामें गौवें कटती हैं, इसलिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता। यह कालका परिवर्तन है। यहां अब देखना है कि वैदिक धर्मीयोंके प्रयत्नसे भविष्यकाल कैसा आता है।

वनस्पति।

(१८)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः)

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥
अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥
अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

अर्थ— (**इमां बलवत्तमां वीरुधां ओषधिं खनामि**) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूं। (**यया सपत्नीं बाधते**) जिससे सपत्नीको हटाया जाता है और (**यया पतिं विन्दते**) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

हे (**उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति**) विस्तृत पानवाली भाग्यवती देवों द्वारा सेवित बलवती औषधि ! (**मे सपत्नीं परा णुद**) मेरी सपत्नीको दूर कर और (**मे केवलं पतिं कृधि**) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

हे सापत्न स्त्री ! (**ते नाम नहि जग्राह**) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (**अस्मिन् पतौ नो रमसे**) इस पतिमें रममाण नहीं होगी। अब मैं (**परां सपत्नीं परावतं गमयामसि**) अन्य सपत्नीको दूर करती हूं ॥ ३ ॥

हे (**उत्तरे**) श्रेष्ठ गुणवाली औषधि ! (**अहं उत्तरा**) मैं अधिक श्रेष्ठ हूं (**उत्तराभ्यः इत् उत्तरा**) श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हूं। (**मम या अधरा सपत्नी**) मेरी जो नीच सपत्नी है (**सा अधराभ्यः अधरा**) वह नीचसे नीच है ॥ ४ ॥

(**अहं सहमाना अस्मि**) मैं विजयी हूं और हे औषधि! (**अथो त्वं सासहिः असि**) तू भी विजयी है। (**उभे सहस्वती भूत्वा**) हम दोनों जयशाली बनकर (**मे सपत्नीं सहावहै**) मेरी सपत्नीको जीत लेवें ॥ ५ ॥

(**ते अभि सहमानां अधां**) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (**ते उप सहीयसीं अधां**) तेरे नीचे इस जयशालिनी वनस्पतिको रखा है। अब (**ते मनः मां अनु प्र धावतु**) तेरा मन मेरे पीछे दौडे। (**गौः वत्सं इव धावतु**) जैसी गौ बछडेकी ओर दौडती है और (**वाः इव पथा**) जैसा जल अपने मार्गसे दौडता है ॥ ६ ॥

सापत्नभावका भयंकर परिणाम।

इसका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है।

अनेक स्त्रिया करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे स्त्रियोंमें परस्पर द्वेष बढते है, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलता है। यह बात इस सूक्तमें कही है। इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने घरमें सापत्न-भावका बीज न बोवे।

जिस घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषाग्नि भडकने लगता है और उसको कोई बुझा नहीं सकता। वहां स्त्रियोंमें कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषोंमें भी कलह होते हैं और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है।

सपत्नीका नाश करनेका यत्न स्त्रियां करती हैं और उससे अकीर्ति फैलती है। इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एक-पत्नीव्रतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता।

(१९)

(ऋषिः — वसिष्ठः। देवता — विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (**मे इदं ब्रह्म संशितं**) मेरा यह ज्ञान तेजस्वी हुआ है, और मेरा यह (**वीर्यं बलं संशितं**) वीर्य और बल तेजस्वी बना है। (**संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु**) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, (**येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि**) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं ॥ १ ॥

(**अहं एषां राष्ट्रं संस्यामि**) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूं, इनका (**ओजः वीर्यं बलं संस्यामि**) बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनाता हूं। और (**अनेन हविषा**) इस हवनसे (**शत्रूणां बाहून् वृश्चामि**) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढाता हूं और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी वृद्धिगत करता हूं। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥
उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

अर्थ— वे शत्रु (**नीचैः पद्यन्ताम्**) नीचे गिरें, (**अधरे भवन्तु**) अवनत हों, (**ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यात्**) जो हमारे धनवान् और विद्वान पर सेनासे चढाई करें। (**अहं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि**) मैं ज्ञानसे शत्रुओंका क्षय करता हूं, और (**स्वान् उन्नयामि**) अपने लोगोंको उठाता हूं ॥ ३ ॥

(**परशोः तीक्ष्णीयांसः**) परशुसे अधिक तीक्ष्ण, (**उत अग्नेः तीक्ष्णतराः**) और अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण, (**इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः**) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अस्त्र हों (**येषां पुरोहितः अस्मि**) जिनका पुरोहित मैं हूं ॥ ४ ॥

(**अहं एषां आयुधा संस्यामि**) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूं, (**एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि**) इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढाता हूं, (**एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु**) इनका क्षात्रतेज अक्षय तथा जयशाली होवे, (**विश्वेदेवाः एषां चित्तं अवन्तु**) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥ ५ ॥

हे (**मघवन्**) धनवान् ! उनके (**वाजिनानि उद्धर्षन्तां**) बल उत्तेजित हों, (**जयतां वीराणां घोषः उत् एतु**) विजय करनेवाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे। (**केतुमन्तः उलुलयः घोषाः**) झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके संघ शब्दका घोष (**पृथक् उत् ईरताम्**) अलग अलग ऊपर उठे। (**इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः**) इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुत देव (**सेनया यन्तु**) अपनी सेनाके साथ चलें ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो शत्रु हमारे धनिकोंपर तथा हमारे ज्ञानियोंपर सैन्यके साथ हमला करते हैं वे अधोगतिको प्राप्त होंगे। क्योंकि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और उसीसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूं ॥ ३ ॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रके शस्त्रास्त्र परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाहक, और इन्द्रके वज्रसे भी अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शस्त्रास्त्रोंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, इनके राष्ट्रको उसमें उत्तम वीर उत्पन्न करके बढाता हूं, इनके शौर्यको कभी क्षीण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूं। सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी वीरोंका जयजयकारका शब्द आकाशमें भर जावे। झंडे उठाकर विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥ ६ ॥

प्रेता जयंता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (**नरः**) लोगो ! (**प्र इत**) चलो, (**जयत**) जीतो, (**वः बाहवः उग्राः सन्तु**) तुम्हारे बाहु शौर्यसे युक्त हों । हे (**तीक्ष्णेषवः**) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे (**उग्रायुधाः उग्रबाहवः**) उग्र आयुधवाले और बलयुक्त भुजावाले ! (**अ-बल-धन्वनः अबलान् हत**) निर्बल धनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

हे (**ब्रह्म-संशिते शरव्ये**) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र ! तू (**अवसृष्टा परा पत**) छोडा हुआ दूर जा और (**अमित्रान् जय**) शत्रुओंको जीत लो, (**प्र पद्यस्व**) आगे बढ, (**एषां वरं वरं जहि**) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, (**अमीषां कश्चन मा मोचि**) इनमेंसे कोई भी न बच जाय ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे वीरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो; तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी शस्त्रों और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंकी प्रेरणासे छोडा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है । हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनकी ऐसी कतल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य ।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ग होते हैं । उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पूर्णहित करनेका नाम पुरोहितका कार्य करना है । यजमानका पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये । जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही यजमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है । इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है । राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जानकर उसको निभायें ।

इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है । इस दृष्टिसे भी इस सूक्तका मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये । अब सूक्तका आशय देखिये—

ब्राह्मतेजकी ज्योति ।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्त्वका और अत्यंत आवश्यक है । इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है—

मे इदं ब्रह्म संशितम् । (सू. १९, मं. १)
ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि । (सू. १९, मं. ३)
उन्नयामि स्वान् अहम् । (सू. १९, मं. ३)
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । (सू. १९, मं. ८)
जय अमित्रान्० ॥ (सू. १९, मं. ८)

' मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है । ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हु । और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूं । ज्ञानके द्वारा उत्तेजित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो । '

ये मंत्रभाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं । ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बडा भारी कार्य करता है । जगत्में अनेक राष्ट्र हैं उनमें वे ही राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं । ज्ञान न होते हुए अभ्युदय होना अशक्य है । यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधनका नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका

कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञानसंपन्न करें। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंको भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इसका निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये। यह उपाय योजनाका कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र कैसे हैं, उनसे अपने शस्त्रास्त्र अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले शस्त्रास्त्र कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अन्दर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।

(सू. १९, मं. ८)

' ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शस्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें। ' इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने शस्त्र अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके शस्त्रास्त्र देखकर, उनका वेग जानकर, और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली शस्त्रास्त्र अपने देशके वीरोंके पास दिये जायगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपना जय निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहितकी प्रतिज्ञा।

' जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, धैर्य, विजयी उत्साह कभी क्षीण न हो। ' (मं. १)

' जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य और बल मैं बढाता हूं और शत्रुओंका बल घटाता हूं। ' (मं. २)

' जो शत्रु हमारे धनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूं और अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूं। ' (मं. ३)

' जिनका मैं पुरोहित हूं उनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तेज बनाता हूं। ' (मं. ४)

' इनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूं। उत्तम वीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूं। और इनका शौर्य बढाता हूं। ' (मं. ५)

ये मंत्रभाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य हैं। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वे ही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो पंडित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति।

षष्ठ, सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इस प्रकार किया है—

' वीरोंके पथक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें। ' (मं. ६)

' वीरो! आगे बढो, तुम्हारे बाहू प्रभावशाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मार डालो। ' (मं. ७)

' ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तू पराभव कर। ' (मं. ८)

इन तीन मन्त्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्त्वकी युद्धनीति कही है वे शब्द देखने योग्य हैं—

(१) जह्येषां वरं वरं,

(२) माऽमीषां मोचि कश्चन ॥ (सू. १९, मं. ८)

' इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे। ' ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं। शत्रुसेनाके पथकके जो संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये। प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे। ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बडी आसानीसे परास्त होगी। यह युद्धनीति अत्यंत मनन करने योग्य है।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुनकर मारनेमें तत्पर हों। जब इन वीरोंके वेधसे शत्रु-सेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविषयक अपने कर्तव्य जानें और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय।

(२०)

(ऋषिः— वसिष्ठः। देवता— अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥
अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥
प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (**अयं ते ऋत्वियः योनिः**) यह तेरा ऋतुसे संबंधित उत्पत्तिस्थान है (**यतः जातः अरोचथाः**) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है। (**तं जानन् आरोह**) उसको जानकर ऊपर चढ (**अध नः रयिं वर्धय**) और हमारे लिये धन बढा ॥ १ ॥

हे अग्ने! (**इह नः अच्छ वद**) यहां हमसे अच्छे प्रकार बोल और (**प्रत्यङ् नः सुमनाः भव**) हमारे सन्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो। हे (**विशांपते**) प्रजाओंके स्वामिन् (**नः प्रयच्छ**) हमें दान दे क्योंकि (**त्वं नः धनदाः असि**) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(**अर्यमा नः प्र यच्छतु**) अर्यमा हमें देवे, (**भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु**) भग और बृहस्पति भी हमें देवे। (**देवीः प्र**) देवियां हमें धन देवें। (**उत सूनृता देवी मे रयिं प्र दधातु**) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने! ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है। अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने! यहां स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सन्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो। हे प्रजाओंके पालक! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

❀

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥
त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥
इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥
अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥
वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

अर्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको (**अवसे गीर्भिः हवामहे**) हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! (**त्वं अग्निभिः**) तू अग्नियोंके साथ (**नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय**) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढा। हे देव ! (**त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय**) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(**उभौ इन्द्रवायू**) दोनों इन्द्र और वायु (**सु-हवौ**) उत्तम बुलाने योग्य हैं इसलिये (**इह हवामहे**) यहां बुलाते हैं। (**यथा नः सर्वः इत् जनः**) जिससे हमारे संपूर्ण लोग (**संगत्यां सुमनाः असत्**) संगतिमें उत्तम मनवाले होवें (**च नः**) और हमारे लोग (**दानकामः भुवत्**) दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (**वाजिनं सवितारं**) वेगवान् सविताको (**दानाय चोदय**) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

(**वाजस्य प्रसवे सं बभूविम**) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं। (**च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः**) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं। (**प्रजानन्**) जाननेवाला (**अदित्सन्तं उत दापयतु**) दान न देनेवालेको निश्चयपूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा करे। (**च नः सर्ववीरं रयिं नि यच्छ**) और हमें सब प्रकारके वीरभावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढाओ। हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देनेके लिये पर्याप्त धन दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र-वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठनसे संगठन होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छावाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं, जैसे ये सब भुवन अंदरसे संघटित हुए हैं। यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीरभावोंसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशों दुह्रामुर्वीर्यथाबुलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनंसा हृदयेन च ॥ ९ ॥
गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतों वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ— (**उर्वीः पञ्च प्रदिशः**) ये बडी पांचों दिशाएं (**यथाबलं मे दुह्रां**) यथाशक्ति मुझे रस देवें। (**मनसा हृदयेन च**) मनसे और हृदयसे (**सर्वाः आकूतीः प्रापयेयम्**) सब संकल्पोंको पूर्ण कर सकूं ॥ ९ ॥

(**गोसनिं वाचं उदेयं**) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोलूं। (**वर्चसा मां अभ्युदिहि**) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर। (**वायुः सर्वतः आ रुन्धाम्**) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे। (**त्वष्टा मे पोषं दधातु**) त्वष्टा मेरी पुष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ— ये बडी विस्तीर्ण पांच ही दिशाएं हमें यथाशक्ति पोषक रस देवें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥

प्रसन्नताको बढानेवाली वाणी मैं बोलूंगा। तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर। चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करे और जगद्रचयिता मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

अग्निका आदर्श।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश किया है। इस सूक्तका ध्येय वाक्य यह है—

वर्चसा मा अभ्युदिहि। (सू. २०, मं. १०)

'तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर' यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये। यह साध्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार कहे हैं। उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

'यज्ञमें जो अग्नि लेते हैं, वह लकडियोंसे उत्पन्न करते हैं, लकडियां स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परंतु उनसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि (**जातः अरोचथाः** । मं. १) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है। पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहा वह (**रोह** । मं. १) स्वयं बढता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है। इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग (**गीर्भिः हवामहे** । मं. ४) मंत्रपाठ करते हैं और हवन करते हैं। इस समय इस अग्निके साथ (**अग्निः अग्निभिः** । मं. ५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे (**ब्रह्म यज्ञं च वर्धय** । मं. ५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है। यज्ञमें सब लोग (**जनः संगत्यां सुमनाः** । मं. ६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं। तथा (**प्रसवे सं वभूविम** । मं. ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं।'

साराशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें। यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है। 'यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जहां उत्पन्न

होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा।' (मं. १) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है; अपना कुल, अपनी जाती, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहासे आया हूं और मुझे कहां पहुंचना है' इसका विचार करना सुगम होजाता है। जहा कहा भी उत्पत्ति हुई हो वहासे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये।

(**इह अच्छा वद**) यहा सबके साथ सरल भाषण कर, (**प्रत्यङ् सुमनाः भव**) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (**प्रयच्छ**) दान कर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाक्शुद्धि, मनःशुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है।

सबसे प्रथम (**देवीः**) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपाके विना मनुष्यका उद्धार होना अशक्य है, तत्पश्चात् (**सूनृता देवी**) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है। मनुष्यके पास सीधे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति असंभव है। इसके नंतर (**अर्य+मन्** = आर्य+मन्) श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है। इसके पश्चात् (**बृहस्पतिः**) ज्ञानी और (**ब्रह्मा**) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मंजिलतक पहुंचा देता है। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (**राजा अवसे**) राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा अशक्य है। इसके साथ साथ (**सोमः आदित्यः सूर्यः**) वनस्पतिया और सबका आदान करनेवाला सूर्यप्रकाश ये बल और आरोग्यवर्धक होनेसे सहायक हैं और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता (**विष्णुः**) सर्वव्यापक देवताकी है, जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है। जन्मसे लेकर मुक्तितक इस प्रकार सहायताएं मिलती हैं और इनकी सहायतायें लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहां आकर फिर वहां ही पहुंचता है। इन शब्दोंसे सूचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

सम्भूय समुत्थान।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है। (**वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविम**। मं. ८) 'बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं।' संभूय-समुत्थानके विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहां किया है। (**सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः असत्**। मं. ६) 'सब मनुष्य सहकारिता करने लगेंगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें।' ऐसा न करेंगे तो संघशक्ति बढ नहीं सकती। यह उत्तम सौमनस्यका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये (**ब्रह्म यज्ञं च वर्धय**। मं. ५) ज्ञान और आत्मसमर्पणका भाव बढाओ। संघशक्तिके लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिशः और संघशः होनी है, इसलिये पहले वैयक्तिक उन्नतिके उपदेश देकर पश्चात् साधिक उन्नतिके निर्देश किये हैं। इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है।

'**वाजस्य प्रसवे सं बभूविम**' (मं. ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है। यहां 'वाजः' शब्दके अर्थ देखिये— 'युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गति, वाणीका बल' ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभागका अर्थ इस प्रकार होता है— 'हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगठन करते हैं; अन्न, जल, खाद्य, पेय और धनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं; अपनी वाणीका बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मतका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे; तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढानेके लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं।' पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रसङ्गमें इस अर्थका अवश्य मनन करें।

उन्नतिके लिये कंजूसीका भाव घातक है इसलिये कहा है कि (**अ-दित्सन्तं दापयतु**। मं. ८) 'कंजूसको भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी ओर झुकाओ,' क्योंकि उदारतासे ही संघटना होती है और अनुदारतासे बिगडती है। अपने पास धन तो चाहिये परंतु वह (**सर्ववीरं रयिं नि यच्छ**।

मं. ८) ' संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये । ' अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ रहनेवाला धन कमानेका उपदेश यहा किया है ।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि ' मुझे पांचों दिशाएं यथाशक्ति बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूं वे पूर्ण हो जांय । (मं. ९) ' इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण हो जाते हैं ।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु किसके संकल्प सफल होते हैं ? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है । इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बडा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें । सूक्तके प्रारंभसे यही विषय है—

' अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (मं. १); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना (मं. २); ज्ञान और त्याग भाव बढाना । (मं. ५); प्राप्त धन परोपकारमें लगाना (मं. ५); सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढाने और परोपकार करनेकी ओर प्रवृत्त करना । (मं. ६); सामर्थ्य बढानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं. ८); अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं. ८); इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है । ' संकल्पोंके पूर्व इतनी सहायक शक्ति उत्पन्न होनी चाहिये । तब संकल्प सिद्ध होंगे । इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जाय । इसके नंतर– ' सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढानेवाली ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विता-के साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है । (मं. १०) '

इस दशम मंत्रमें ' **गोसनिं वाचं उदेयं** ' यह वाक्य है । ' गो ' का अर्थ है– ' इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी ।' इस अर्थको लेकर– ' इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूं ' यह अर्थ इससे व्यक्त होता है । आगे ' तेजस्विताके साथ अभ्युदय ' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह ' प्रसन्नता बढानेवाली वाणीसे बोलना ' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें । इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है । पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं । अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही हैं, इसलिये यहा अधिक लेख बढानेकी आवश्यकता नहीं है । अग्निका वर्णन करनेके मिषसे किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें । वेदकी यह एक अपूर्व शैली है ।

॥ **यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त** ॥

कामाग्निका शमन।

(२१)

(ऋषिः — वसिष्ठः। देवता — अग्निः)

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥
यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥
य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥
यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (**ये अग्नयः अप्सु अन्तः**) जो अग्नियां जलके अन्दर हैं, (**ये वृत्रे**) जो मेघमें, और (**ये पुरुषे**) जो पुरुषमें हैं, तथा (**ये अश्मसु**) शिलाओंमें हैं, (**यः ओषधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश**) जो औषधियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हैं (**तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु**) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

(**यः सोमे अन्तः, यः गोषु अन्तः**) जो सोमके अन्दर, जो गौओंके अंदर, (**यः वयःसु, यः मृगेषु आविष्टः**) जो पक्षियोंमें और जो मृगोंमें प्रविष्ट है, (**यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश**) जो द्विपाद और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, (**तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु**) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

(**विश्वदाव्यः उत वैश्वानरः**) सबको जलानेवाला परंतु सबका चालक अथवा हितकारी (**यः देवः इन्द्रेण सरथं याति**) जो देव इन्द्रके साथ एक रथपर बैठकर चलता है (**यं पृतनासु सासहिं जोहवीमि**) जो युद्धमें विजय देनेवाला है इसलिये जिसकी मैं प्रार्थना करता हूं (**तेभ्यः०**) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

(**यः विश्वाद् देवः**) जो विश्वका भक्षक देव है, (**यं उ कामं आहुः**) जिसको 'काम' नामसे पुकारते हैं, (**यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं आहुः**) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, (**यः धीरः शक्रः परिभूः अदाभ्यः**) जो बुद्धिमान्, शक्तिमान्, भ्रमण करनेवाला और न दबनेवाला कहते हैं (**तेभ्यः०**) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो अग्नि जल, मेघ, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें हैं उनकी प्रसन्नताके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि सोम, गौवों, पक्षियों, मृगादि पशुओं तथा द्विपाद चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है उसके लिये यह हवन है ॥ २ ॥

सबको जलाकर भस्म करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रके साथ रथपर बैठकर भ्रमण करता है, जो युद्धमें विजय प्राप्त करानेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका भक्षक है और जिसको 'काम' कहते हैं, जो देनेवाला और स्वीकारनेवाला है, और जो बुद्धिमान्, समर्थ, सर्वत्र जानेवाला और न दबनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥
उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥
दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व1न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥
हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान्देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥
शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य1स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्यजातियां (यं त्वा मनसा होतारं अभि संविदुः) जिस तुझको मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, (वर्चोधसे) तेजस्वी (सूनृतावते) सत्य भाषी और (यशसे) यशस्वी तुझे और (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ५ ॥

(उक्षान्नाय वशान्नाय) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और (सोमपृष्ठाय) औषधियोंको पीठपर लेता है उस (वेधसे) ज्ञानीके लिये और (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः तेभ्यः०) सब मनुष्योंके हितकारी श्रेष्ठ उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ६ ॥

(ये दिवं अन्तरिक्षं अनु, विद्युतं अनु संचरन्ति) जो द्युलोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदर भी अनुकूलतासे संचार करते हैं, (ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः) जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ७ ॥

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्ण भूषण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव और आंगिरसोंकी (हवामहे) प्रार्थना करते हैं कि वे (इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु) इस मांसभोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

(क्रव्याद् अग्निः शान्तः) मासभक्षक अग्नि शान्त हुआ, (पुरुषरेषणः शान्तः) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ (अथ यः विश्वदाव्यः) और जो सबको जलानेवाला अग्नि है (तं क्रव्यादं अशीशमम्) उस मांसभक्षक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

भावार्थ— तेरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्यकी ब्राह्मण क्षत्रियादि पांच जातियां इसी अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तेजस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यशस्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

जो बैलको और गौको अन्न देता है, जो पीठकर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्ष, विद्युत्, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि और आंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसभक्षक अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

यह मांसभोजी पुरुषनाशक और सब जगत्‌को जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

अर्थ— (ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो वनस्पतियोंको पीठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उत्तानशीवरीः आपः) ऊपरको जानेवाले जो जल हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आत् अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रव्यादं अशीशमम्) मासभोजी अग्निको शान्त करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— जहां सोमादि वनस्पतियां हैं ऐसे पर्वत, ऊपरकी गतिसे चलनेवाले जलप्रवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि ये सब देव मांसभक्षक अग्निको शात करनेमें सहायता देते हैं ॥ १० ॥

कामाग्निका स्वरूप।

इस सूक्तमें कामाग्निको शान्त करनेका विधान है। कामको अग्निकी उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके मिषसे कामको शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बडा ही मनोरंजक है। यह सूक्त 'बृहच्छान्तिगण' में गिना है, सचमुच कामका शमन करना ही 'बृहच्छान्ति' स्थापित करना है। यह सबसे बडा कठिन और कष्टसाध्य कार्य है। इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'क्रव्याद' अर्थात् कच्चा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें मुर्दे जलानेवाले अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नहीं है। कामरूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बडा मनुष्यभक्षक है। जितना अग्नि जलाता है उससे सहस्र गुणा यह काम जलाता है, यह बात पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे तो जान सकते हैं। इसलिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं। इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं—

१ यो देवो विश्वाद् यं उ कामं आहुः। (सू. २१, मं. ४)

जो अग्निदेव सब जगत्को जलानेवाला है और जिसको 'काम' कहते हैं।

इस मंत्रभागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'काम' ही है। नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें किसीको शंका करना भी अब उचित नहीं है। तथापि निश्चयकी दृढताके लिये इस सूक्तके अन्य मंत्रभाग अब देखिये—

२ क्रव्याद् अग्निः। (सू. २१, मं. ९)
मांस भक्षक अग्नि।

३ पुरुषरेषणः अग्निः। (सू. २१, मं. ९)
पुरुषका नाशक (काम) अग्नि।

कामकी प्रबलतासे मनुष्यका शरीर सूख जाता है और इस कामके प्रकोपसे कितने मनुष्य सहपरिवार नष्टभ्रष्ट हो गये हैं यह पाठक यहां विचारकी दृष्टिसे मनन करें, तो इन मंत्रभागोंका गंभीर अर्थ ध्यानमें आ सकता है। इस दृष्टिसे—

४ विश्वाद् अग्निः। (सू. २१, मं. ४,९)
विश्वका भक्षक (काम) अग्नि।

यह बिलकुल सत्य है। भगवद्गीतामें कामको—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(भ. गी. ३।३७)

यह काम बडा (**महाशनः**) खानेवाला है। 'महाशन (**महा-अशनः**) और विश्वाद (**विश्व-अद्**)' ये दोनों एकही भाव बतानेवाले शब्द हैं। सचमुच काम बडा खानेवाला है, इसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको मिले यह सदा अतृप्त ही रहता है, इसका पेट सब जगत्को खा जानेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है—

५ विश्व-दाव्यः। (सू. २१, मं. ३,९)
सबको जलानेवाला (काम अग्नि)।

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है, जब यह काम मनमें प्रबल होता है, तब यह अंदरसे जलाने लगता है। ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बढने लगता है और कामाग्निको अपने अंदर बढानेवाला मनुष्य अंदरसे जलने लगता है!! जिसका अंतःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानो सब जगत् ही जलने लगता है। जिसके मनमें कामाग्निकी ज्वालाएं भडक उठती हैं, उसको न जल शांति दे सकता है, न चंद्रमाकी अमृतपूर्ण किरणें शांति दे सकती हैं, वह तो

सदा अशांत और संतप्त होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है !! इसके सामने यह अग्नि क्या जला सकता है ? कामाग्निकी दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके सामने यह भौतिक अग्नि मानो शान्त ही है और इसीलिये मंत्र आठमें 'इस अग्निको कामाग्निकी शान्ति करनेको कहा है !' यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निको शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इसका गुणवर्णन करनेवाले जो विशेषण इस सूक्तमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बडे सहायक हैं। इनके मननसे निश्चय होता है, कि इस सूक्तमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है। भौतिक अग्निका वाचक अग्नि शब्द स्वतंत्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्तमें वर्णित अग्निका स्वरूप निश्चित हो जाता है।

काम और इच्छा।

'काम' शब्द जैसा काम विकारका वाचक है उसी प्रकार इच्छा, कामनाका भी वाचक है। वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्तिके वाचक हैं। भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एक ही इच्छाशक्तिका रूप जैसा कामविकारमें प्रगट होता है और वैसा ही अन्य इंद्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामनाके रूपमें भी प्रगट होता है। परन्तु इनके अन्दर घुसकर देखा जाय तो 'मुझे चाहिये' इस एक इच्छाके सिवाय दूसरा इसमें कुछ भी नहीं है, अपने अन्दर कुछ न्यूनता है, उसकी पूर्तीके लिये बाहरसे किसी पदार्थकी प्राप्ति करना चाहिये, वह बाह्य पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण हो जाऊंगा। इत्यादि प्रकारकी इच्छा ही 'काम अथवा कामना' है। यही इच्छा सबको चला रही है, इस लिये इसको विश्वकी चालक शक्ति कहा है। देखिये—

वैश्वानरः (विश्व-नेता)। (सू. २१, मं. ६)

'यह (विश्व-नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक (काम) है। विश्वको चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है। यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना असम्भव है। पदार्थ मात्रमें–कमसे कम चेतन और अर्ध चेतन जगत्में– यह स्पष्ट दिखाई देती है।' इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्रका कथन स्पष्ट है।

'इस कामरूप अग्निके अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पत्थर, औषधि वनस्पति, सोम, गौ, पक्षी, पशु, द्विपाद, चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें हैं। (मं. १,२) तथा 'पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, द्युलोक, दिशा, वायु आदिमें भी हैं।' (मं. ७)

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कामाग्नि पत्थर जल औषधियोंसे लेकर मनुष्योंतक सब सृष्टिमें विद्यमान है। औषधियां बढनेकी इच्छा करती हैं, वृक्ष फलना चाहते हैं, पक्षी उडना चाहते हैं, मनुष्य जगतको जीतना चाहता है इस प्रकार हरएक पदार्थ अपनी शक्तिको और अपने अधिकार क्षेत्रको फैलाना चाहता है। यही इच्छा है और यही काम है। यही जब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोडता है तब उसको कामविकार कहा जाता है, परंतु मूलतः यह शक्ति वही है, जो पहले इच्छाके नामसे प्रसिद्ध थी। यही स्वार्थकी कामना 'गाय और बैलोंको पालती है और उनको खिलाती-पिलाती है, औषधियोंकी पालना करती है।' (मं. ६)

कामकी दाहकता।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हरएकको आता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामविकार क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि उनकी दाहकताके साथ अग्निकी दाहकता कुछ भी नहीं है !!

राज्य बढानेकी इच्छा कई राज्यचालकोंमें बढ जानेके कारण पृथ्वीके ऊपरके कई राष्ट्रोंको पारतंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने भयंकर युद्ध हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निकी दाहकतासे निःसंदेह मरे नहीं हैं। इसीलिये इसको तृतीय मंत्रमें (**पृतनासु सासहिः**) अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है। किसी भी पक्षकी जीत हुई तो इसीकी वह जीत होती है !!!

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नहीं देता है, दबी जातियोंसे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एक ही स्वार्थकी कामनाका ही प्रताप है। धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी चीज छीनता है, ये सर्व कामके ही रूप हैं, जो मनुष्योंको अंदर ही अंदरसे जला रहे हैं।

आंख सुंदर रूपकी कामना करता है, कान मधुर स्वरकी अभिलाषा करता है, जिव्हा मधुर रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियां अन्यान्य विषयोंको चाहतीं हैं। इनके

कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं हैं। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक अग्निमें कहां है ?

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये मनुष्यके छः शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे मुख्य शत्रु 'काम' है, सबसे बढकर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पास आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुंचता भी है। परंतु अंदर अंदरसे ऐसा काटता है, कि कट जानेवालेको अपने कट जानेका पता तक नहीं लगता !!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्मपुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय कामविकारकी ज्वाला मनमें भडक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका भान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म हो जाता है, मस्तिष्क तपता है, अवयव शिथिल हो जाते हैं, मस्तककी विचारशक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनको पीसता है, शक्तीको नष्ट करता है, वीर्यका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विध्वंसक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकताकी अग्निके साथ क्या तुलना हो सकती है ? इसलिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण (**विश्व-दाव्यः**) जगत्को जलानेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ हो जाता है !!

इस सबका विचार करके पाठक ' कामकी दाहकता ' जानें और इसकी दाहकतासे अपने आपको बचानेका उपाय करें।

न दबनेवाला ।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण '**विश्वाद्, दाता, प्रतिगृह्णन्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः**' आये हैं और इसीमें इसका नाम (**यं कामं आहुः**) ' काम ' करके कहा है। अर्थात् इसी कामाग्निके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

' यह काम (**विश्वाद्**) जगत्को खानेवाला, (**दाता**) दान देनेवाला, (**प्रतिगृह्णन्**) आयुष्यादि लेनेवाला, (**धीरः**) धैर्य देनेवाला, (**शक्रः**) शक्तिशाली, (**परिभूः**) सबसे बढकर होनेवाला, (**अदाभ्यः**) न दबनेवाला है। '

(मं. ४)

विचार करनेपर ये विशेषण कामके विषयमें बडे सार्थ हैं ऐसा ही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय भीरु दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकारकी लहरमें बडे साहसके कर्म करने लगता है, जब यह मनमें बढता है तब सब अन्य भावनाओंको दबाकर अपना अधिकार सबपर जमा देता है, दबानेका यत्न करनेपर भी यह उछल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है ! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यहां विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिग्रहीता (अथर्व. ३।२९।७ में भी '**कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता**' कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा वीर्य हरण करता है, ये अर्थ पूर्वापर संगतिसे यहां अन्वर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामनाके अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें ' त्रयोदश भुवनोंमें रहनेवाले पंचजन इसको मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं ' ऐसा कहा है। संपूर्ण जनता कामकी ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कही है। कई विरक्त संत महन्त इस कामको अपने आधीन करके परमात्मोपासक होते हैं, अन्य संसारी जन तो कामको ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस कामने ही सब जगत्पर अपना अधिकार जमाया है। जनता समझती है कि (**वर्चः**) तेज (**यशः**) यश और (**सूनृतं**) सत्य आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुफल होता है। सब लोग जो संसारमें मग्न हैं, इसीकी प्रेरणासे चले हैं 'मानो इसीके वेगसे घूम रहे हैं। जो सत्पुरुष इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामको जीत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ मुक्तिका अधिकारी होता है, मानो इसके वेगसे छूट जाना ही मुक्ति है। परंतु कितने थोडे लोग इसके वेगसे अपने आपको मुक्त करते हैं ? यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि ' यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर (**इन्द्रेण सरथं याति**) जाता है। ' (मं. ३) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है ? '**इन्द्र**' नाम जीवात्माका है और उसका रथ यह शरीर ही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्॥

(कठ. उ. ३।४)

' आत्मा रथमें बैठनेवाला है, उसका रथ यह शरीर है और इंद्रियां उस रथके घोडे हैं, जो विषयोंमें घूमते हैं। ' इस वर्णनसे इन्द्रके रथका पता लग सकता है। इस उपनिषद्वचनके ' इन्द्रिय ' पदका अर्थ ' इन्द्रकी शक्ति ' है। हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी शक्तियां ही हैं, यह देखनेसे आत्मा ही इन्द्र है इस विषयमें निश्चय हो सकता है।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीररूपी रथमें यह ' काम ' बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है—

यः इन्द्रेण सरथं याति। (सू. २१, मं. ३)

' जो कामरूप अग्नि इन्द्रके रथपर बैठकर जाता है ' इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा। पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरमें जैसा जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलानेवाले हैं। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो काम अर्थात् इच्छा ही इसको चला रही है। इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है।

कामरूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रज्वलित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको जहांतक प्रयत्न हो सकता है, उतना प्रयत्न करके शांत करनेका ही उपाय करना चाहिये। इसको शांत करनेका उपाय अब देखिये—

कामशान्तिका उपाय।

नवम मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है। देखिये वह मंत्र—

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम्॥

(सू. २१, मं. ९)

' यह मांसभक्षक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका नाशक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलानेवाला कामाग्नि है उसको मैंने शान्त किया है। ' इस मन्त्रमें इस कामाग्निको मैंने शांत किया ऐसा कहा है, इस विधानसे शान्त करनेका कुछ उपाय है यह निःसन्देह सिद्ध होता है। यदि एक मनुष्य इसको शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्य भी उसी मार्गसे जाकर अपने शरीरमें जलते रहनेवाले इस कामाग्निको शान्त कर सकते हैं। हरएकके शरीरमें यह कामाग्नि जलता है इसलिये हरएकको चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसको शान्त करनेका पुरुषार्थ करें और आत्मिक शान्ति प्राप्त करें। इसको शान्त करनेका उपाय शेष रहे अष्टम मंत्रके भागमें और नवम मन्त्रमें कहा है—

' हिरण्यपाणि सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव, आङ्गिरस, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शांत करें। ' (मं० ८)

' सोमवल्ली जिनपर उगती है वे पर्वत, ऊपर गमन करनेवाले जल, वायु, पर्जन्य और अग्नि ये इस मांसभक्षक कामाग्निको शान्त करें। ' (मं० १०)

इन दो मंत्रोंमें जो मार्ग कहा है वह कामाग्नि शान्त करनेवाला है। ये मन्त्र उपायकथन करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वके हैं और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये। इन दो मन्त्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रमपूर्वक चिन्तन अब कहते हैं—

१ सोमपृष्ठाः पर्वताः— जिन पर्वतोंपर सोमवल्ली अथवा अन्यान्य औषधियां उगती हैं वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं। इसमें पहली बात तो उन पर्वतोंका शान्त जलवायु कामको भडकने नहीं देता है। शीत प्रदेशकी अपेक्षा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निकी ज्वाला शीघ्र और अधिक भडक उठती है। उष्ण देशके लोग भी इसी कारण छोटी आयुमें कामाग्निसे उद्दीपित होते हैं। इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्यवाली औषधियां सेवन करनेसे भी कामाग्निकी ज्वाला शान्त होती है। सोमवल्ली उगनेवाले पर्वतशिखर हिमालयमें हैं, वहां ही दिव्य औषधियां होती हैं। योगी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं। तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पहाडियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, शहरों जैसे अत्यधिक नहीं होते, इसलिये भी कामकी उत्तेजना शहरों जैसी यहां नहीं होती है। इत्यादि अनेक उपाय इन पहाडोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। (मं० १०)

२ उत्तानशीवरीः आपः— जल भी कामाग्निका शमन करनेवाला है। शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे समशीतोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मध्य शरीरका स्नान करना, जिसको कटिस्नान कहते हैं, ब्रह्मचर्य साधनके लिये बडा लाभदायक है। गुप्त इन्द्रियके आसपासका प्रदेश रात्रीके समय, या जिस समय कामका उद्रेक हो जावे उस समय धो देनेसे ब्रह्मचर्य साधनमें बडी सहायता होती है। इस प्रकार विविध रीतिसे जलकी सहायता कामाग्निकी शान्ति करनेके कार्यमें होती है। (मं० १०)

३ पर्जन्यः— मेघ अर्थात् वृष्टिका जल इस विषयमें लाभकारी है। वृष्टि होते समय उसमें खडा होकर उस आकाश-

गंगाके जलसे स्नान करना भी बडा उत्तम है। इससे शरीरकी उष्णता सम हो जाती है। इसके अतिरिक्त वृष्टिजल पीनेसे भी शरीरके अंदरके दोष हट जाते हैं। और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है। (मं० १०)

४ अग्निः— आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक उष्ण बनानेवाला है। जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निके साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढनेसे उनका शरीर अधिक गर्म हो जाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है। इसलिये इस प्रकारकी अत्यधिक कोमलता शरीरसे हटानी चाहिये। अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है। होम हवन करते समय शरीरको अग्निका उत्ताप लगता है, अन्य प्रकारसे भी शरीरको अग्निकी उष्णतासे परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पडे, तो उस उष्णताको शरीर सह सकेगा। अग्निकी उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये। (मं० १०)

५ वातः— वायु भी इस विषयमें लाभदायक है। शुद्ध वायु सेवन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बडे लाभ हैं। प्राणायाम करना भी वायुसेवनकी एक लाभप्रद रीति है। प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं। प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है। इस कारण वायुको कामाग्निका शान्त करनेवाला कहा है। जो जगत्में वायु है वही शरीरमें प्राण है। (मं० १०)

६ सविता— सूर्य भी इस विषयमें बडा सहायक है। जो बात अग्निके विषयमें कही है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है। कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्यप्रकाशमें घूमने फिरनेसे वीर्यदोषी होजाते हैं, यह इस कारण होता है कि सूर्यप्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती। वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर स्वास्थ्यके लिये बडा लाभकारी है। सूर्यप्रकाशमें बडा जीवन है। थोडा थोडा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहनशक्ति बढती है और शरीरमें अद्भुत जीवनरस संचारने लगता है, आरोग्य बढ जाता है और थोडीसी उष्णतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है। इस प्रकारकी सहनशक्ति बढानेका प्रयत्न करना हो तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये। यह सूर्यातपस्नान बडा ही लाभदायक है। मंत्रमें '**हिरण्यपाणि सविता**' ये शब्द नऊ बजेतकके सूर्यके ही वाचक हैं, सोनेके रंगके समान रंगवाले किरणोंवाला सूर्य प्रातः और सायं ही होता है। (मं० ८)

७ वरुणः— वरुणका स्थान समुद्र है। इसलिये समुद्र-स्नान इस विषयमें लाभकारी है ऐसा हम यहां समझ सकते हैं। इसमें जलप्रयोग भी आ सकता है। (मं० ८)

८ मित्रः— सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है। यदि 'हिरण्यपाणि सविता' पूर्वाह्णका है तो उसके बादके सूर्यका नाम मित्र है। पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभदायक है। मित्रकी प्रेमदृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगत्की ओर प्रेमपूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। (मं० ८)

९ विश्वे देवाः— अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये। इस विषयमें बडा विचार करना योग्य है।

१० बृहस्पतिः— यह ज्ञानकी देवता है। ज्ञानसे भी कामाग्निकी शांति साधन करनेमें सहायता हो सकती है। बृहस्पति नाम 'गुरु' का है। गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निका संयम करना चाहिये। यहां जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीरशास्त्र, मानसशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र इत्यादिका ज्ञान है। साथ ही साथ भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये। (मं० ८)

११ अङ्गिरसः— अंगरसकी विद्या जाननेवाले ऋषि। शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवनरस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निका शमन करना चाहिये। योगसाधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहां अनुसंधान करना चाहिये ((मं० ८)

१२ इन्द्रः— इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्माका है। इन तीनोंका कामाग्निकी शान्ति करनेमें बडा संबंध है। जीवात्माका आत्मिक बल बढाकर शुभसंकल्पोंके द्वारा अपने अन्दरके कामविकारका संयम करना चाहिये। राजाको चाहिये कि वह अपने राज्यमें ब्रह्मचर्य और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निकी शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे। राष्ट्रमें अध्यापकवर्ग और संरक्षक अधिकारी वर्ग ब्रह्मचारी रखकर राज्य चलानेका उपदेश अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्त [अथर्व. १०।५ (७) १६] में कहा है। वह यहां अवश्य देखने योग्य है। इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है। यदि राज्यमें

अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्यशासनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहनेवाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामाग्निका शमन होना निःसन्देह सुसाध्य होगा। धन्य है ऐसे वैदिक राज्यकी कि जहां सब अधिकारी वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों। वैदिकधर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले। इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है। यह परमात्मा तो पूर्ण ब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी भक्ति और उपासनासे कामाग्निका शमन होता ही है। सब ऋषिमुनि और योगी इसी परमात्म भक्तिकी साधनासे मन.संयम द्वारा कामाग्निका शमन करके अमर हो गये।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वका है। इसका पाठ ' बृहच्छान्तिगण ' में किया है। सचमुच यह सूक्त बृहती शाति करनेवाला ही है। जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शातिकी साधना करेंगे वेही धन्य होंगे।

वर्चःप्राप्ति सूक्त।

(२१)

(ऋषिः — वसिष्ठः। देवता — वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदित्या यत्तन्वः संबभूव।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्व१न्तः।
येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यम् अदित्याः तन्वः) जो अदितिके शरीरसे (संबभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहत् यशः) हाथीके बलके समान बडा यश (प्रथतां) फैले। (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः) सब एक मनवाले देव और अदिति (मह्यं सं अदुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

(मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देवें। (ते विश्वधायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे युक्त करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा संबभूव) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे, हे अग्ने ! (मां अद्य वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मूल प्रकृतिके अन्दर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें ॥ १ ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवें, ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अन्दर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जलपर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः ।
यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते ।
तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (**जातवेदः**) जातवेद ! (**ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति**) तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है (**यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः**) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी [मेघ] का बल और तेज होता है, हे (**पुष्करस्रजौ अश्विनौ**) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवो ! (**तावत् वर्चः मे आ धत्तां**) उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत् (**चतस्रः प्रदिशः**) जितनी दूर चारों दिशायें हैं, (**यावत् चक्षुः समश्नुते**) जितनी दूर दृष्टि फैलती है, (**तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं**) उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल (**सं एतु**) इकट्ठा होकर मिले ॥ ५ ॥

(**हि सुषदां मृगाणां**) जैसा अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें (**हस्ती अतिष्ठावान् बभूव**) हाथी बडा प्रतिष्ठावान् हुआ है, (**तस्य भगेन वर्चसा**) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (**अहं मां अभि षिञ्चामि**) मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे बने हुएको जाननेवाले देव ! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएं जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसा हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं ॥ ६ ॥

शाकभोजनसे बल बढाना।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (**हस्तिवर्चसं** । मं० १) बडा, मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाकभोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने। वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें।

बलप्राप्तिकी रीति।

'अदिति' प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको 'अदिति' अर्थात् 'अ-दीन' कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य-चंद्रादि देव हैं, इसीलिये इस प्रकृतिको देवमाता, सूर्यादि देवोंकी माता कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आ गये हैं। इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि 'इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो'। (मं० १) सचमुच मनुष्यको जो बल प्राप्त

होता है वह पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है । यह बल प्राप्त करनेकी रीति है । इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है । जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकानमें अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि ' (मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव, (इन्द्रः) विद्युत्, (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें । ' (मं० २) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंध ही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे ? इस लिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें । ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा ।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्ट ही है । मरियल और बलवान् होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है । जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे ।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

(२३)

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — चन्द्रमाः, योनिः, द्यावापृथिवी)

येन॑ वे॒हद्ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत्त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥

आ ते॒ योनिं॒ गर्भ॑ एतु पु॒मान्बाण॑ इवेषु॒धिम् ।
आ वी॒रोऽत्र॑ जायतां पु॒त्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥

अर्थ— (येन वेहत् बभूविथ) जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, **(तत् त्वत् नाशयामसि)** वह कारण तुझसे हम दूर करते हैं । **(तत् इदं)** वह यह वंध्यापन **(अन्यत्र त्वत् दूरे)** दूसरी जगह तेरेसे दूर **(अप नि दध्मसि)** हम ले जाते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आ जावे, **(बाणः इषुधिं इव)** जैसा बाण तूणीरमें होता है । **(अत्र ते)** यहां तेरा **(दशमास्यः वीरः पुत्रः आ जायतां)** दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

भावार्थ— हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मासतक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र तुझे उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥ ३ ॥
यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥
कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥
यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

अर्थ— (**पुमांसं पुत्रं जनय**) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (**तं अनु पुमान् जायतां**) उसके पीछे भी पुत्र ही उत्पन्न होवे। इस प्रकार तू (**पुत्राणां माता भवासि**) पुत्रोंकी माता हो, (**जातानां यान् च जनयाः**) जो पुत्र जनमें हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

(**यानि च भद्राणि बीजानि**) जो कल्याणकारक बीज हैं जिनको (**ऋषभाः जनयन्ति**) ऋषभक वनस्पतिया उत्पन्न करती हैं, (**तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व**) उनसे तू पुत्रको प्राप्त कर। (**सा प्रसूः**) वैसी प्रसूत होनेवाली तू (**धेनुका भव**) गौके समान उत्तम माता हो ॥ ४ ॥

(**ते प्राजापत्यं कृणोमि**) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूं। (**गर्भः ते योनिं एतु**) गर्भ तेरी योनिमें आवे। हे (**नारि**) स्त्री! (**त्वं पुत्रं विन्दस्व**) तू पुत्रको प्राप्त कर। (**यः तुभ्यं शं असत्**) जो तेरे लिये कल्याणकारी होवे और (**च त्वं उ तस्मै शं भव**) तू निश्चयसे उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ५ ॥

(**यासां वीरुधां**) जिन औषधियोंकी (**द्यौः पिता**) द्युलोक पिता है, (**पृथिवी माता**) पृथ्वी माता है, और (**समुद्रः मूलं**) समुद्र मूल (**बभूव**) हुआ है। (**ताः दैवीः ओषधयः**) वे दिव्य औषधिया (**त्वा पुत्रविद्याय**) तुझे पुत्र प्राप्त करनेके लिये (**प्र अवन्तु**) विशेष रक्षण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ— पुरुष संतान उत्पन्न कर। उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होवे। इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥

ऋषभक आदि औषधियोंके जो उत्तम बीज होते हैं, उनका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर। और उत्तम वीर पुत्रोंको उत्पन्न कर ॥ ४ ॥

प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुझपर करता हूं, उससे तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होवे और तू पुत्र संतानको उत्पन्न कर। वह पुत्र तेरा कल्याण करे और तू उसका कल्याण कर ॥ ५ ॥

जो औषधियां पृथ्वीपर उत्पन्न होती हैं, जिनका पालन दिव्य शक्तिसे होता है और जो समुद्रसे उत्पन्न हुई हैं, उन दिव्य औषधियोंका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर, उससे तुम्हारे गर्भाशयका दोष दूर होगा और तुझे उत्तम संतान उत्पन्न होगा ॥ ६ ॥

वीर पुत्रका प्रसव।

वंध्या स्त्रीका वंध्यात्व दूर करके उसको उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न होने योग्य 'जननी' बनाना इस सूक्तका साध्य है। पहले तीन मंत्रोंमें मंगल विचारोंकी सूचना द्वारा आंतरिक परिवर्तन करनेका उपाय कहा है। यदि किसी स्त्रीको यौवनमें मनसे पूरा पूरा निश्चय हो जायगा कि अपना वंध्यापन दूर हुआ है, तो अंदर वैसा ही अनुकूल परिवर्तन हो जाना संभव है। यदि गात्र विषयक कोई वैसा बडा दोष न हो, तो इस मानसिक विचार परिवर्तनसे भी आवश्यक सिद्धि मिलना संभव है।

इस कार्यके लिये '**प्राजापत्य इष्टि**' का प्रयोग पंचम मंत्रमें कहा है। ऋषभक आदि दिव्य औषधियोंका हवन और उनके बीजोंका विधिपूर्वक भक्षण करनेका विधान चतुर्थ मंत्रमें है। ऋषभक औषधियोंका एक गण ही है, ये औषधियां वीर्य

बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके वहांका आरोग्य बढानेवाली हैं । इन औषधियोंका हवन करना, इनका सेवन करना और आरोग्यपूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय वंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूक्तमें कहे हैं ।

याजक धर्मभावसे यह प्राजापत्य यज्ञ करे, यज्ञशेष आहुति-रस स्त्रीको पिलावे और प्रथम तीन मंत्रोक्त आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे कहे- ' हे स्त्री ! तेरे अंदर जो वंध्यात्वका दोष था, वह इस प्राजापत्य इष्टिसे दूर हो गया है, अब तुम्हारे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होगा, वहां वह वीर बालक दस मासतक पुष्ट होता रहेगा और पश्चात् योग्य समयमें उत्पन्न होगा । अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेगी । ' (मं० १-३)

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिये हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादको अचल निश्चयसे स्वीकार करनेसे शरीरके अन्दर आवश्यक परिवर्तन हो जाता है । ' **शिव संकल्पसे चिकित्सा** ' करनेकी रीति यह है । इस विषयके सूक्त अथर्व-वेदमें अनेक हैं ।

इस सूक्तमें ' **ओषधयः** ' शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियां आती हैं । सुविज्ञ वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये ।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

(२४)

(ऋषिः — भृगुः । देवता — वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः । अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो-अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥
इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (**ओषधयः पयस्वतीः**) औषधियां रसवाली हैं, और (**मामकं वचः पयस्वत्**) मेरा वचन भी सार-वाला है । (**अथो**) इसलिये (**पयस्वतीनां सहस्रशः**) रसवाली औषधियोंका हजारहां प्रकारसे (**अहं आ भरे**) मैं भरण पोषण करता हूं ॥ १ ॥

(**पयस्वन्तं बहुधान्यं चकार**) रसवाला बहुत धान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति (**अहं वेद**) मैं जानता हूं । (**यः वः अयज्वनः गृहे**) जो कुछ अयाजकके घरमें है उसको (**संभृत्वा नाम यः देवः**) संग्रह करके लानेवाला इस नामका जो देव है, (**तं वयं हवामहे**) उसका हम यजन करते हैं ॥ २ ॥

(**इमाः याः पञ्च प्रदिशः**) ये जो पाचों दिशाओंमें रहनेवाली (**मानवीः पञ्च कृष्टयः**) मनुष्योंकी पाच जातियां हैं वे (**इह स्फातिं समावहन्**) यहां वृद्धिको प्राप्त करें (**इव**) जिस प्रकार (**वृष्टे नदीः शापं**) वृष्टि होनेके कारण नदियां सब कुछ भर लातीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— मेरा भाषण मीठा होता है वैसी ही औषधियां उत्तम रसवाली होती हैं, इसलिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूं ॥ १ ॥

रसवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूं । इसलिये उस दयावान् ईश्वरका मैं यजन करता हूं, जो अयाजक लोगोंके घरमें भी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पांचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पाच जातियां उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियां वृष्टि होनेपर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः । तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (**शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत्**) सैंकडों और हजारों धाराओंवाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, (**एव अस्माक इदं धान्यं**) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (**सहस्रधारं अक्षितं**) हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (**शत-हस्त**) सौ हाथोंवाले मनुष्य ! (**समाहर**) इकट्ठा करके ले आओ । हे (**सहस्र-हस्त**) हजारों हाथोंवाले मनुष्य ! (**सं किर**) उसको फैला दे, दान कर । और (**कृतस्य कार्यस्य च**) किये हुये कार्यकी (**इह स्फातिं समावह**) यहां वृद्धि कर ॥ ५ ॥

(**गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः**) भूमिका धारण करनेवालोंकी तीन मात्राएं और (**गृहपत्न्याः चतस्रः**) गृहपत्नियोंकी चार होती हैं । (**तासां या स्फाति-मत्-तमा**) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (**तया त्वा अभि मृशामसि**) उससे तुझको हम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

हे (**प्रजापते**) प्रजाके पालक ! (**उपोहः च**) उठाकर लानेवाला और (**समूहः च**) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों (**ते क्षत्तारौ**) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं । (**तौ इह स्फातिं**) वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और (**बहु अक्षितं भूमानं आ वहतां**) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— वृष्टि होनेसे तालाब आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसी प्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय हो जावें ॥ ४ ॥

हे मनुष्य ! तू सौ हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर। इस प्रकार अपने कर्तव्य-कर्मकी उन्नति कर ॥ ५ ॥

ऐसा करनेसे ही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं । अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय ।

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत थोडे जानते हैं । समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं । जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका अच्छी प्रकार मनन करें । समृद्धिकी प्राप्तिके लिये पहिला नियम ' मीठी वाणी ' है—

पयस्वान् मामकं वचः । (सू. २४, मं १)

' दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो, ' भाषणमें मधुरता, रसमयता, मीठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे । समृद्धि प्राप्त करनेके लिये मीठे भाषण करनेके गुणकी अत्यंत आवश्यकता है । आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है । इसके पश्चात् समृद्धि बढानेका दूसरा नियम है, ' दक्षतासे कृषिकी वृद्धि करना । '—

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रशः ।
(सू. २४, मं० १)

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
(सू. २४, मं० २)

' रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता हूं, बहुत धान्य कैसा उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं जानता हूं । ' अर्थात् उत्तम कृषि करनेकी विद्या जानना और उसके अनुसार कृषि करके अपना धान्यसंग्रह बढाना समृद्धि

होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है। मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकट्ठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनंदसे तृप्त हो सकते हैं। इसके पश्चात् ' सामुदायिक उपासना करना ' समृद्धिके लिये आवश्यक होता है—

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे
यो-यो अयज्वनो गृहे ॥ (सू. २४, मं. २)

' जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं। ' परमेश्वर सबका पालने हारा है, उसकी कृपादृष्टि सर्वोपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है। जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा ही, इसलिये ईश्वरभक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है। इस मंत्रमें **' हवामहे '** यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतों द्वारा मिल कर उपासना करनेका-यज्ञ करनेका-भाव इससे स्पष्ट होता।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे ' पांचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है।' (मं. ३) उन्नतिका यह नियम है। जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी। पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें।

समृद्धि होनेके लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये चतुर्थ मंत्रमें ' हजारों प्रकारकी मधुर रसधाराओंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह ' अपने पास रखनेका उपदेश किया है। यह विशेष ही महत्त्वका उपदेश है। इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति होना सर्वथा असंभव है। इसलिये पंचम मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर ।
(सू. २४, मं. ५)

' सौ हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो।' यह उपदेश हरएक मनुष्यको अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। इस उदार भावके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है। इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।
(सू. २४, मं. ५)

' इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी यहां उन्नति करो।' जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश मनन करने योग्य है। ' **(कार्यस्य स्फातिं समावह)** ' ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्यक्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्यक्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजारक्षण रूप कार्यक्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य आदिमें अपने कार्यक्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरीके कार्य बढावे और निषाद अपने जो वनरक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनकी वृद्धि करे। इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण पंचजनोंका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है। हरएकको अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्य ही कटिबद्ध होना चाहिये। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये।

मुख्य दो साधन ।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं। **' उपोहः '** और **' समूहः '** इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ **उपोहः**- (उप-ऊहः) इकट्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना।

२ **समूहः**- समुदायोंमें बांटकर वर्गीकरण करना।

पहली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संगृहित द्रव्योंको वर्गीकरण द्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना। इसीसे शास्त्र बनता और बढता है। वृक्ष-वनस्पतियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहां पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सुव्यवस्थित रखा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्रहालयोंसे बिलकुल लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक सुव्यवस्थासे रखना चाहिये। तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है।

सप्तम मंत्रमें ' **उपोहः** (संग्रह) और **समूहः** (समूहोंमें वर्गीकरण करना) ' ये दो बातें समृद्धिकी साधक करके कही

हैं। यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इसलिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवनभर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें।

संग्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधक हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन ही स्पष्ट है—

तौ इह स्फातिं आ वहताम्।
अक्षितं बहुं भूमानम्॥ (सू. २४, मं. ७)

' वे [अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये] दोनों इस संसारमें (**स्फातिं**) समृद्धिको देते हैं और (**भूमानं**) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं। '

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें। जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये। कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं, उनको कभी भूलना उचित नहीं है। जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं।

काम का बाण।

(२५)

(ऋषिः — भृगुः। देवता — मित्रावरुणौ, कामेषुः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे। इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ १॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्। तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥ २॥
या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता। प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ ३॥

अर्थ— (**उत्तुदः त्वा उत्तुदतु**) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे। (**स्वे शयने मा धृथाः**) अपने शयनमें मत ठहर। (**कामस्य या भीमा इषुः**) कामका जो भयानक बाण है (**तया त्वा हृदि विध्यामि**) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं॥ १॥

(**आधी-पर्णां**) जिसपर मानसिक पीडा रूपी पंख लगे हैं, (**काम-शल्यां**) कामेच्छा रूपी बाणका अग्रभाग जहां लगाया है, (**संकल्प-कुल्मलां**) संकल्प रूपी दण्डा जहां लगा है, (**तां**) उस (**इषुं**) बाणको (**सुसन्नतां कृत्वा**) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (**कामः हृदि त्वा विध्यतु**) काम हृदयमें तुझको वेध करे॥ २॥

(**कामस्य सुसन्नता**) कामका ठीक लक्ष्यपर चलाया हुआ (**प्राचीन-पक्षा वि-ओषा**) सीधे पङ्खवाला और विशेष जलानेवाला (**या इषुः प्लीहानं शोषयति**) जो बाण तिल्लीको सुखा देता है, (**तया त्वा हृदि विध्यामि**) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं॥ ३॥

भावार्थ— हे स्त्री! सबको हिलानेवाला काम तेरे अन्तःकरणको भी हिला देवे। कामका बाण तेरे हृदयका वेध करे जिससे विद्ध हुई तू सुखसे निद्रा लेनेमें भी असमर्थ हो॥ १॥

इस कामके बाणको मानसिक पीडा रूपी पंख लगे हैं, इसके आगे कामविकार रूपी लोहेका तीक्ष्ण शल्य लगाया है, उसके पीछे मनका संकल्प रूपी दण्डा जोड दिया है, इस प्रकारके बाणको अति तीक्ष्ण बनाकर काम तेरे हृदयका वेध करे॥ २॥

यह कामका बाण अचूक लगता है, क्योंकि इसपर मानसिक व्यथाके पर लगे हैं, और साथ ही यह विशेष रीतिसे जलानेवाला भी है और यह तिल्लीको बिलकुल सुखा देता है, इससे मैं तुझे वेधता हूं॥ ३॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा । मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥
आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः । यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥
व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ— (**व्योषया**) विशेष दाह करनेवाले (**शुचा**) शोक बढानेवाले बाणके द्वारा (**विद्धा**) विधी हुई तू (**शुष्कास्या**) मुखको सुखानेवाली (**मा अभिसर्प**) मेरी ओर चली आ। और (**मृदुः**) कोमल, (**निमन्युः**) क्रोधरहित, (**प्रियवादिनी**) मीठा भाषण करनेवाली, (**अनुव्रता**) अनुकूल कर्म करनेवाली, (**केवली**) केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

(**त्वा आ-अजन्या**) तुझको वेगसे (**परि मातुः अथो पितुः**) माता और पिताके पाससे (**आ अजामि**) लाता हूं। (**यथा मम क्रतौ असः**) जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और (**मम चित्तं उपायसि**) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

हे (**मित्रावरुणौ**) मित्र और वरुण ! (**अस्यै**) इसके लिये (**हृदः चित्तानि व्यस्यतं**) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो। (**अथ एनां अक्रतुं कृत्वा**) और इसको कर्महीन बनाकर (**मम एव वशे कृणुतं**) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और मुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री ! इससे विधी हुई तू मेरे पास आ और कोमल, क्रोधरहित, मधुरभाषिणी, अनुकूल आचरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री ! माता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहां लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बनकर यहां रह ॥ ५ ॥

हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके सिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे ॥ ६ ॥

विरुद्ध परिणामी अलंकार।

' विरुद्ध परिणामी अलंकार ' का उत्तम उदाहरण यह सूक्त है। ' विरुद्ध परिणाम ' जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उलटा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अन्दर हो, उसको ' विरुद्ध परिणामी अलंकार ' कहते हैं। इसके एक दो उदाहरण देखिये—

(१) ' हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराब पिओ। ' इस वाक्यमें यद्यपि शराब पिओ करके कहा है तथापि शराबका दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रवृत्ति न पीनेकी ओर ही होती है।

(२) ' जिससे शरीर पुष्ट होता है और ब्रह्मचर्य पालन होनेके कारण आरोग्य, बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकर भी मत करो। ' इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुननेवालेके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जाय तो इनका सुपरिणाम ही होता है। अब इस सूक्तका कथन देखिये—

' हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूं, इस कामके बाणको ' मानसिक व्यथा ' के सुन्दर पंख लगे हैं, इसमें जो लोहेका अग्रभाग है वह ' मानसिक विचार ' का शल्य ही

है, मनके ' कुसंकल्पों ' की लकडीसे इस बाणको बनाया है, यह बडा ' जलनेवाला ' है, यह लगनेसे मुख सूख जाता है, प्लीहा सूख जाती है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विध्वंसक बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं, इससे तू विद्ध हो जाओ। '

इसमें यद्यपि ' कामके बाणसे विद्ध हो जाओ ' ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवालेके ऊपर ' इस कामके बाणसे अपना बचाव करने ' की ओर ही होगा। इस सूक्तमें जो ' कामके बाण ' का वर्णन किया है, वे शब्द देखिये—

कामके बाण।

१ **उत्तुदः** = व्यथा देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीडा देनेवाला। (मं. १)

२ **भीमा इषुः** = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा भयानक बाण। (मं. १)

३ **आधी-पर्णा** = इस बाणको मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं। (मं. २)

४ **काम-शल्या** = स्वार्थकी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविकार रूपी शल्य जिसमें लगा है। बाणका जो अग्रभागमें लोहेका शस्त्र होता है वह यहा कामविकार है। (मं. २)

५ **सङ्कल्प-कुल्मला** = मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकडीसे यह बाण बनाया गया है। (मं. २)

६ **प्राचीन-पक्षा** = इसको जो मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि जिनके कारण यह बाण सीधी गतिसे और अतिवेगसे जाता है। (मं. ३)

७ **शुचा (शुक्)** = शोक उत्पन्न करनेवाला। (मं. ४)

८ **व्योषा (वि-ओषा)** = विशेष रीतिसे जलनेवाला। (मं. ३-४)

९ **शुष्कास्या (शुष्क-आस्या)** = मुखको सुखानेवाला, मुखको म्लान करनेवाला। (मं. ४)

१० **प्लीहानं शोषयति** = प्लीहाको सुखा देता है। शरीरमें प्लीहा रक्तकी वृद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे महत्त्वपूर्ण अवयवका नाश कामके बाणसे हो जाता है। इतनी मारकता इस मदनके बाणमें है। (मं. ३)

११ **हृदि विध्यति** = इसका वेध हृदयमें होता है, इससे हृदय विदीर्ण होता जाता है, हृद्रोगकी उत्पत्ति कामके बढनेसे होती है। (मं. १-३)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दों द्वारा इस सूक्तमें किया है। ' हे स्त्री! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हू। ' ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। पति भी जानता है कि जिस शरसे वेध करना है वह कामका शर इतना भयंकर विघातक है। इस बाणसे न केवल विद्ध होनेवाला ही कट जाता है अपितु वेध करनेवाला भी कट जाता है, अर्थात् यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर चलाया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त ग्यारह दुष्परिणाम करता है। यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि ' हे स्त्री! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं। '

यह पतिका भाषण उसकी धर्मपत्नी सुनती है, अर्थात् धर्मपत्नी भी इस कामबाणकी विध्वंसक शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई स्त्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह कामव्यवहार कितना घातक है। इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि ' हे प्राणनाथ! आप ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न हूजिये। ' जो कर्म करना है उसकी भयानक घातकताका अनुभव करनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतना ही होगा, कभी अधिक नहीं होगा।

पतिपत्नीका एक मत।

इस सूक्तमें कही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। ' यह धर्मपत्नी अपने मातापिताके घरको छोडकर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है। ' (देखो मं. ५) धर्मपत्नी तरुणी है, इस आयुमें मनका संयम करना बडा कठिन कार्य होता है। तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रख सकते। केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परंतु यह काम ऐसा है कि—

समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य॥ तै. ब्रा. २।२।५।६

कामः पशुः॥ प्राणाग्नि उ. ४

' समुद्रके समान काम है, क्योंकि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसा ही कामका भी अन्त नहीं होता है। ' तथा ' काम ही पशु है। '

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रत्युत बढता जाता है। यह पशु होनेसे इसके उपासक पशुरूप होते हैं, जो इस कामरूपी पशुको अपने अन्दर बढाते हैं, वे मानो पशुभावको अपने अन्दर बढाते हैं। जिनके अन्दर यह पशुभाव

बढा हो, उनको ' मनुष्य ' कहना कठिन हो जाता है। क्योंकि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मनकी मनन-शक्ति तो कामसे नष्ट हो जाती है। काम मनमें ही उत्पन्न हो जाता है और वहां बढता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है। इसी कारण तारुण्यमें यदि मनके अन्दर काम बढ गया तो वह मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये। धर्मपत्नी दूसरे घरसे लायी गई है। माताको और पिताको, अपने भाइयों और जन्मके संबंधियोंको इस स्त्रीने छोड दिया है और पतिको अपने तन और मनका स्वामी माना है। इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके ऊपरकी जिम्मेवारी बढानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये।

अब देखिये, उक्त प्रकार अपने माता-पिताओंको छोडकर स्त्री पतिके घर आ गई, और यदि तारुण्यावस्थाके शरीरधर्मके अनुसार उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो उसका दिल भडक जानेकी भी संभावना है। पति शमदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थधर्म प्राप्त अपने स्त्रीविषयक कर्तव्यको न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिका उत्तरदायित्व जानें।

शमदम, ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम है, मनुष्यत्वका विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है; परंतु विवाहित हो जानेपर स्त्रीके मनोधर्मका भी विचार करना चाहिये। यह कर्तव्य ही है। इस कर्तव्यसे वीर्य हानिद्वारा थोडा पतन होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोडनेका बडा त्याग किया है। यह स्त्रीका यज्ञ है। पतिको भी अचल ब्रह्मचर्य को छोडकर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी ओरका त्याग करना चाहिये। यही उसका यज्ञ है। ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असन्मार्गमें प्रवृत्त करनेका भागी बनेगा।

इस सूक्तमें जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है। इसलिये इस कामके बाणकी भयानक विध्वंसक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे चित्तको अपने कर्तव्यपालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूं। इस वर्णनको सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोपभोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपभोगके लिये मनको खुला छोड दिया जाय, तो कितनी भयानक अवस्था बन जायगी।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी कामको शमन करनेकी ही लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढायी, तो अन्तमें जाकर दोनोंका कल्याण हो जाता है।

परन्तु यदि पतिने जबरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अन्दरके कामविषयक संकल्प बहुत बढ जायगे, और अन्तमें उसके अधःपातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा। ऐसा अधःपात न हो इसलिये ऋतुगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमोंकी प्रवृत्ति हुई है। साथ ही साथ कामकी भयानक विघातकताका ही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी। इसलिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्मपत्नीको अपने अनुकूल धर्माचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है। यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी जाग्रति करता है और देवोंकी प्रार्थना द्वारा भी दैवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है। इसीलिये षष्ठ मंत्रमें मित्रावरुण देवतोंकी प्रार्थना की गई है कि ' हे देवो! इस धर्मपत्नीको मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्माचरण करनेकी बुद्धि दीजिये। इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि यह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्माचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दौडे। ' (मं. ६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है। पतिको उचित है कि वह अपनी धर्मपत्नीको सन्तुष्ट रखता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलावे। धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमे वर्णन किये हैं—

धर्मपत्नीके गुण।

१ **मृदुः** = नरम स्वभाववाली, शांत स्वभाववाली। (मं. ४)

२ **निमन्युः** = क्रोध न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली। (मं. ४)

३ **प्रियवादिनी** = मधुर भाषण करनेवाली। (मं. ४)

४ **अनुव्रता** = पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली। (मं. ४)

५ **(मम) वशे** = पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली। (मं. ७)

६ **केवली** = केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली। (मं. ४)

७ (मम) चित्तं उपायासि = पतिके चित्तके समान अपना चित्त बननेवाली। (मं. ५)

८ अक्रतुः = पतिके विरुद्ध कोई कर्म न करनेवाली। (मं. ६)

९ (मम) क्रतौ असः = पतिके उद्योगमें सहायता देनेवाली। (मं. ५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्यस्त्रियां इस अमूल्य उपदेशको अपनानेका यत्न करें।

गृहस्थधर्म।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि 'हे स्त्री! मैं तेरे हृदयको ऐसे भयंकर कामके बाणसे वेधता हूं।' पति जानता है कि यह कामका बाण बडा घातक है, ब्रह्मचर्यमें विघ्न होनेके कारण बडा हानिकारक है। धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी जानती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है। तथापि दोनों 'गृहस्थी धर्म' से संबद्ध हैं इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित हैं। अतः दोनों गृहस्थधर्मसे संबद्ध होती हैं। धर्मनियमानुकूल ऋतुगामी होकर घरमें वंशका बीजरूप वीर बालक उत्पन्न करती हैं और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाती हैं।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और इस सूक्तका महत्त्वपूर्ण उपदेश जानें। इस पंचम अनुवाकमें पांच सूक्त हैं। २१ वें सूक्तमें 'कामाग्निका शमन,' २२ वें सूक्तमें 'वर्चसकी प्राप्ति,' २३ वें सूक्तमें 'वंध्यात्व दोष निवारणपूर्वक वीर बालक उत्पन्न करनेकी विद्या,' २४ वें सूक्तमें 'समृद्धिको प्राप्त करना,' और इस २५ वें सूक्तमें 'गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थ-धर्मका पालन करना' ये विषय हैं। इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है।

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

उन्नति की दिशा।

(१६)

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता)

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥
येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥
येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ४ ॥
येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ— (**ये अस्यां प्राच्यां दिशि**) जो तुम इस पूर्व दिशामें (**हेतयः नाम देवाः**) वज्र नामवाले देव हो, (**तेषां वः**) उन तुम्हारा (**अग्निः इषवः**) अग्नि बाण है। (**ते नः मृडत**) वे तुम हमें सुखी करो, (**ते नः अधिब्रूत**) वे तुम हमें उपदेश करो। (**तेभ्यः वः नमः**) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे, (**तेभ्यः स्वाहा**) उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ १ ॥

जो तुम इस (**दक्षिणायां दिशि**) दक्षिण दिशामें (**अविष्यवो नाम देवाः**) रक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले इस नामके जो देव हो (**तेषां वः काम इषवः**) उन तुम्हारा काम बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना अर्पण करते हैं ॥ २ ॥

जो तुम इस (**प्रतीच्यां दिशि**) पश्चिम दिशामें (**वैराजा नाम देवाः**) विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा (**आपः इषवः**) जल ही बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ३ ॥

जो तुम इस (**उदीच्यां दिशि**) उत्तर दिशामें (**प्रविध्यन्तः नाम देवाः**) वेध करनेवाले इस नामके देव हो, उन तुम्हारा (**वातः इषवः**) वायु बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ४ ॥

जो तुम इस (**ध्रुवायां दिशि**) ध्रुव दिशामें (**निलिम्पा नाम देवाः**) निलिम्प नामक देव हो, उन तुम्हारा (**ओषधीः इषवः**) औषधी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ५ ॥

ये॒३॑स्यां स्थो॒र्ध्वायां॑ दि॒श्य॑वस्व॒न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस (**ऊर्ध्वायां दिशि**) ऊर्ध्व दिशामें (**अवस्वन्तः नाम देवाः**) रक्षक नामवाले जो देव हो, उन तुम्हारा (**बृहस्पतिः इषवः**) ज्ञानी ~ ^ ~ तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा (पृथिवी) और ऊर्ध्वा (आकाश) ये छः दिशाएं हैं, इन छः दिशाओंमें क्रमशः (**हेति-शस्त्रास्त्र**) वज्र; रक्षाकी इच्छा करनेवाले स्वयंसेवक; (**वि-राज्**) राजरहित अवस्था अर्थात् प्रजासत्ता; वैद्यकता; लेप करनेवाले वैद्य; और उपदेशक इनकी प्रधानता है । ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनता भी उनका सत्कार करती है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥ १-६ ॥

इसी प्रकारका परंतु कुछ अन्य भाव व्यक्त करनेवाला आगेका सूक्त है और दोनोंका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इकट्ठा विचार करेंगे ।

अभ्युदय की दिशा ।

(२७)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता)

प्राची॒ दिग॒ग्निरधि॑पतिरसि॒तो र॑क्षि॒तादि॒त्या इष॑वः ।
तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु ।
यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ १ ॥

अर्थ— (**प्राची दिक्**) उदयकी दिशाका (**अग्निः अधिपतिः**) तेजस्वी स्वामी, (**अ-सितः रक्षिता**) बंधनरहित रक्षक और (**आदित्याः इषवः**) प्रकाशरूप शस्त्र हैं । (**तेभ्यः**) उन (**अधिपतिभ्यः**) तेजस्वी स्वामियोंको ही (**नमः**) मेरा नमन है । उन (**रक्षितृभ्यः नमः**) बंधनरहित संरक्षकोंके लिये ही हमारा आदर है । उन (**इषुभ्यः नमः**) प्रकाशके शस्त्रोंके सामने ही हमारी नम्रता रहे । (**यः**) जो अकेला (**अस्मान्**) हम सब आस्तिकोंका (**द्वेष्टि**) द्वेष करता है और (**यं**) जिस अकेले दुष्टका (**वयं**) हम सब धार्मिक पुरुष (**द्विष्मः**) द्वेष करते हैं (**तं**) उस दुष्टको हम सब (**वः**) आप सब सज्जनोंके (**जंभे**) न्यायके जबडेमें (**दध्मः**) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है । सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है । इसलिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है । जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसी प्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए । यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है । इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए । इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूंगा । उदयकी दिशाका (**अग्निः**) अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है । उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वारा ही ज्ञात हो सकता है, इसलिये हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे । अब सोनेका समय नहीं है । उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है । चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थ— (**दक्षिणा दिक्**) दक्षताकी दिशाका (**इंद्रः अधिपतिः**) शत्रुनिवारक शूर स्वामी, (**तिरश्चि-राजी रक्षिता**) मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और (**पितरः इषवः**) पितृशक्तिया अर्थात् प्रजननकी शक्तिया शस्त्र हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजा निर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका ही आदर करते हैं। जो हम सब आस्तिकोंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसको हम सब आप स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ २ ॥

पास जायेंगे और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे। इस उदयकी दिशाका (**अ-सितः**) बंधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवाला ही रक्षक है। ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके संरक्षकके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रताके विना उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातंत्र्यका संरक्षण करना आवश्यक है। इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र (**आदित्याः**) प्रकाशके किरण हैं। प्रकाशके साथ ही स्वातंत्र्य रहता है। विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका संवर्धन होना है। प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है ठीक उसी प्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आवरक अंधकारमय प्रतिबंधोंको दूर करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसेही स्वसंरक्षणकी शक्ति अपनेमें बढती है। तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मसंमान आदि अग्निय गुणोंके आधिपत्यसे ही अभ्युदय होता है, इसीलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबंध निवारक प्रकाशमय शक्तियोंका ही हम आदर करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है, तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र पुरुषोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात् जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देना हम अपने हाथमें नहीं लेना चाहते; परंतु हे तेजस्वी स्वामियो! और स्वतंत्रता देनेवाले संरक्षको! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते हैं। जो दंड आपकी पूर्ण संमतिसे योग्य होगा आप ही उसको दीजिए। समाजकी शांतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सच्चे अपराधीको भी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, परंतु उस अपराधीको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभामें अर्पण करे तथा पूर्वोक्त प्रकारके अधिपति और संरक्षकोंका ही सदा आदर करे। अर्थात् हरएक मनुष्य सत्य और न्यायका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे ॥ १ ॥

भावार्थ— दक्षिण दिशा दाक्षिण्यका मार्ग बता रही है। दक्षता, चातुर्य, कौशल्य, कर्मकी प्रवीणता, शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि शुभ गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सीधा अंग दाक्षिणांग कहलाता है, और सीधा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है। अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है। शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक है। इन्हींका आदर और सन्मान करना योग्य है। अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये (**इन्-द्र**) शत्रुओंका विदारण करनेकी आवश्यकता होती है। शत्रुका पराजय करनेपर ही अपना मार्ग निष्कंटक हो सकता है। शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे अपना बल बढता है और शत्रुदमन करनेके पुरुषार्थसे अपनेमें उत्साह स्थिर रहता है। इसलिये मेरे तथा समाजके शत्रुओंका शमन करनेके उपायका अवलंबन करना मेरे लिये आवश्यक है। समाजकी शांतिके लिये अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है। कोई संरक्षक अपनी मर्यादा उलंघन करके अत्याचार न करे। मैं भी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करूंगा। समाजकी सुस्थितिके लिये उत्तम पितृशक्ति अर्थात् सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। सुप्रजा निर्माणसे समाज अमर रह सकता है। इसलिये हरएक पुरुषको अपने अन्दर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अन्दर उत्तम स्त्रीत्व विकसित करना चाहिए। तात्पर्य उक्त प्रकारके शत्रुनिवारक अधिपति, नियमानुकूल व्यवहार

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥
उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

अर्थ— (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशाका **(वरुणः अधिपतिः)** वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, **(पृत्-आ-कुः रक्षिता)** स्पर्धामें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और **(अन्नं इषवः)** अन्न इषु हैं। उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा उस अभीष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है। जो सबके साथ कलह करता है इसलिये सब भद्र पुरुष जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ ३ ॥

(उदीची दिक्) उत्तर दिशाका **(सोमः अधिपतिः)** शांत अधिपति, **(स्व-जः रक्षिता)** स्वयंसिद्ध रक्षक और **(अशनिः इषवः)** विद्युत्तेज इषु हैं। उन शांत अधिपतियों, स्वयंसिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें हम धर देते हैं ॥ ४ ॥

करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते हैं वहां ही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूंगा। जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुंचाते हैं। वे ही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें। हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सीधे मार्गसे चले और समाजकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥ २ ॥

भावार्थ— पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र आदि सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती हैं और जगत्को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं। पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थकी सूचना होगई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निवृत्तिरूप पुरुषार्थ साध्य करनेकी सूचना मिली है। श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं। विश्राम और आरामका मुख्य साधन यहां अन्न है। श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना उचित है। तथा अन्नकी ओर सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है। जो सबके मार्गोंमें विघ्न करता है इसलिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है। समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसार ही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है। हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये। इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोडकर सदा सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पथपर चलनेवालोंका संरक्षण होता है। व्यापक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं। इसलिये मैं इन गुणोंका धारण करूंगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूंगा। शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षक ही सदा सन्मान करने योग्य हैं। साथ ही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है। जो सबकी हानि करता है इसलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सन्मुख खडा किया जावे। लोग ही स्वयं उसको दंड न देवें। तथा अधिपति निष्पक्षताकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय देवें। समाजकी उच्चतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अर्थ— (**ध्रुवा दिक्**) स्थिर दिशाका (**विष्णुः अधिपतिः**) प्रवेशकर्ता अधिपति, (**कल्माष-कर्मास-ग्रीवः रक्षिता**) कर्म कर्ता संरक्षक और (**वीरुधः इषवः**) वनस्पतियां इषु हैं। इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लिये ही हमारा आदर है। इ० ॥ ५ ॥

(**ऊर्ध्वा-दिक्**) ऊर्ध्व दिशाका (**बृहस्पतिः अधिपतिः**) आत्मज्ञानी स्वामी है, (**श्वित्रः रक्षिता**) पवित्र संरक्षक है और (**वर्षं इषवः**) अमृत जल इषु हैं। आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका ही सबको सन्मान करना योग्य है। शुद्ध अमृत जलका ही सबको आदर करना चाहिये। इ० ॥ ६ ॥

भावार्थ— ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है। चंचलता दूर करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं। क्योंकि कर्मसे ही जगत्‌की स्थिति है, इसलिये कर्मके विना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती। यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक हैं। यहां औषधि वनस्पतियां दोषनिवारण द्वारा सहाय्य करती हैं। जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए। इ० ॥ ५ ॥

ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुरुष ही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वह ही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्माके अनुभव और पवित्रत्वका यहां स्वामित्व है। आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है। आत्मिक अमृत जलका रसास्वाद लेनेका यही योगमार्ग है। मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्य ही करूंगा और दूसरोंका मार्ग भी यथाशक्ति सुगम करूंगा। मैं सदा ही उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करूंगा। इ० ॥ ६ ॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान।

उन्नतिके छः केन्द्र।

इस 'सूक्तके' छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं। (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) विश्राम, (४) उच्चता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रही हैं, ऐसा जो उक्त छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है। उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखें। इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है। जड भावको छोडकर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए। क्योंकि 'यह पूर्ण सृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वारा ही उदयको प्राप्त होती है। और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्ति ही इस सृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है।' इस प्रकार

विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छः दिशाओं द्वारा अपनी उन्नतिके छः केंद्रोंके संबंधमें उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञानके कोष्टक यहां देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे ही करते हैं—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [अथर्व० ३।२७।१-६]

दिशः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
उर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षम्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक श्लोकोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः। ते नो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥ येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः। ते नो० ॥ २ ॥ येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः। ते नो० ॥ ३ ॥ येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः। ते नो० ॥ ४ ॥ येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः। ते नो० ॥ ५ ॥ येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः। ते नो० ॥ ६ ॥

अथर्व. ३।२६।१-६

'प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये सब (**नः**) हम सबको (**मृडत**) सुखी करें, वे हम सबको (**अधिब्रूत**) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा समर्पण है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अब इनका निम्नलिखित कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व. ३।२६।१-६]

दिशः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजाः	आपः
उदीची	प्रविध्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निलिंपाः	ओषधीः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें '**प्राची और ऊर्ध्वा**' के '**अग्नि और बृहस्पति**' अधिपति हैं, वे ही यहां ' इषु ' बने हैं। ' **ध्रुवा** ' दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें ' **वीरुधः** ' हैं और यहां ' **ओषधि** ' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। '**प्रतीची**' दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें ' **अन्न और आपः** ' है। खानपानका परस्पर निकट सम्बन्ध है। ' **दक्षिण** ' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें ' **पितरः और कामः**' हैं। कामके उपभोगसे ही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। '**उदीची**' दिशाके इषु '**वात और अशनि**' हैं। अशनिका अर्थ विद्युत् है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल '**प्राची और ऊर्ध्वा**' दिशाओंके इषु बदले हैं, इतना ही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरेमें इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्ववेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं
सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥१३॥
ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥ यजु. अ. १०

' प्राची आदि दिशाओंमें (**ब्रह्म द्रविणं**) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [यजु. १०।१०-१४]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	द्रविणं धनं
प्राची	गायत्री	रथंतरं	त्रिवृत्	वसन्तः	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्मः	क्षत्रं
प्रतीची	जगती	वैरूपं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पंक्तिः	शाक्वररैवतं	त्रिणवत्रयस्त्रिंशो	हेमन्तः शिशिरः	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें- (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म) ज्ञान है । (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र) शौर्य है । (३) प्रतीची दिशाका धन (विश्) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वैश्य शक्ति है । (४) उदीची दिशाका धन फल परिणाम, लाभ, आदि है । (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है । ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्यतेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं । उसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा । पाठकोंने यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है । ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है । तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्तितक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए । इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है । इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक्यं धेहि दिशि ध्रुवायां
धेहि पाजस्यम्० ॥ ८ ॥　　　　अथर्व. ४।१४

' प्राची दिशामें (**अजस्य**) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो । ' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है । निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. ४।१४।७-८)

प्राची	शिरः	मस्तक
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनी बगल
प्रतीची	भसदं	गुप्त भाग
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायीं बगल
ध्रुवा	पाजस्यं	पेट
ऊर्ध्वा	अनूक्यं	पीठकी हड्डी

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए । ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ और फलका संबंध सिर, बाहू, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है । ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है । इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है । यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ॥ यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥ दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ॥ तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥ ८ ॥ प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ॥ तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥ उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन् नो अग्रम् । पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥ ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु । सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥
　　　　अथर्व. १२।३

(१) (**प्राचीं**) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (**आरभेथां**) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (**श्रद्दधानाः**) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं । जो (**वां**) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (**पक्वं**) पका हुआ अन्न होगा, (**तस्य गुप्तये**) उसकी रक्षाके लिये (**दंपती**) स्त्रीपुरुष (**संश्रयेथां**) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें **अब** आप (**अभि नक्षमाणौ**) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए **इस** (**पात्रं**) योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (**अभि पर्यावर्तेथां**) **सब**

प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (पक्काय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा॥ (३) (प्रतीचीं) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान् और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है। इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्वताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए। और (मिथुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (सं भवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए॥ (४) उत्तर दिशा (प्र-जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्रं) अग्र भागमें ले जावे। (पांक्तं) पांच वर्णो- राष्ट्रके विभागों- का (छंदः) छंद ही यह पुरुष होता है। इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बडी भारी है। इसके लिये नमन है। यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याणकारी होवे। हे (अ-दिते देवि) हे स्वतंत्रत देवि! (विश्व-वारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी! तू (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो।

इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं। इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है।

दिशा कोष्टक॥ ५॥ (अथर्व १२।३।७-११)

दिशाः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्दधानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथः
उदीची	प्र-जयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं। और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्त्वज्ञान भरा है। इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्राची दिशा— (प्र+अंच् = आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना) यह मूल अर्थ '**प्राच्**' धातुका है, जिससे 'प्राची' शब्द बनता है। 'प्राची दिशा' का अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका आरंभ करनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगत्में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (**गुप्ति**) संरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा— 'दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है। 'दक्षिण दिशा' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ 'सीधे तरफकी दिशा' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (**नक्षमाण**) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है। एक वार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसीकी सूचना '(**पर्यावर्तेथां, परि-आ-वर्तेथां**) वारंवार प्रयत्न कीजिए' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है। '**यम**' शब्द नियमोंका सूचक, '**पितृ**' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा '**संविदान**' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसे ही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा— प्रत्यंच् अन्दर आना, अंतर्मुख होना। प्रतीची दिक् शांतिकी दिशा, अन्दर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अन्तर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। 'पूर्व दिशा' को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	प्राची
(प्रति-अंच्)	(प्र-अंच्)
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-चलन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता है। वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्त्व देखना चाहिए।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है। शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी? सोम ही शांतताकी देवता है। सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है। सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रमें ज्ञात होते हैं।

(४) उत्तर दिशा- (उत्-तर) अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है। मनुष्योंको उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकि—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ (अथर्व. १९।४१।१)

सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया। उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें। ' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाके अन्दर (नः अग्रं कृण्वन्) ' हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न ' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पांक्त) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (छंद) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो ' लोककल्याण ' करता है, वही सच्चा पुरुष है। सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सब मिलकर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे ज्ञात होता है।

(५) ध्रुवा दिक्— स्थिरताका धर्म यहां बताना है। मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता ठीक नहीं है। स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है। सबका (शिवा) कल्याण इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है, जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यही (अ-दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतंत्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (गो-पा) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं। अस्तु। दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है। इसलिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए। उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए—

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते। एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतामस्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५५॥ दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते॥ एतं०॥ ५६॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते। एतं० ॥ ५७॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै॥ एतं०॥ ५८॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः॥ एतं० ॥ ५९॥ ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते॥ एतं०॥ ६०॥ (अथर्व. १२।३)

' प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परि दद्मः) देते हैं। अस्माकं (आ-एतोः) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें। (अत्र) यहां (नः) हम सबको (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) वृद्ध अवस्थातक (नि नेषत्) ले जावे। (जरा) वृद्ध अवस्था मृत्युको (नः मृत्यवे परि ददातु) हम सबको मृत्युके प्रति देवे। (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वताके साथ (सं भवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावें। यह प्रथम मंत्रका अर्थ है। शेष मन्त्रोंका भाव ऐसा ही सुगम है।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दुष्ट भावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध

अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है।

प्रारंभसे यहांतक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरणपूर्वक विचार करनेसे इन मन्त्रोंका अधिक बोध होना संभव है।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥
(अथर्व. ३।२७।१)

इस मंत्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनेसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इसलिये इनका अर्थ काव्यकल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्योंकि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है। वस्तुतः ये बाण नहीं हैं। इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है। एकवचनका शब्द परमेश्वरपर माना जा सकता है परंतु '**अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः**' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वरपर नहीं माने जा सकते। आदरार्थक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है। वेदमें किसी स्थानपर एक मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एकवचन और बहुवचन आया नहीं है। इसलिये यहां इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वरपर होनेमें शंका है।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न हैं। यदि ये परमेश्वरपर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता।

(४) तृतीय चरणमें 'जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको (**वः जम्भे**) आप सबके एक जबडेमें हम सब धर देते हैं।' इस आशयके शब्द आगये हैं। यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूपपर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है, परन्तु (वः) अनेक हैं। (**वः जम्भे**) 'आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए। दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबको ही दंड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मंत्रभागमें स्पष्ट है। इसमें न्यायव्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखी हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयं ही दुष्टको मनमाना दंड देवे। यह अधिकार न्यायसभाका ही है।

(इ) बहुपक्षसे द्वेष नहीं करना चाहिये। द्वेष करना बुरा है। स्वसंमति प्रकट करना द्वेष नहीं है।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवें। बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होनेपर न्यायसभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए। और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं। यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती। अब यहां 'जंभ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

'**जंभ**' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, वज्र, दंड होता है। मंत्रमें '**वः जंभे**' अर्थात् 'अनेकोंका एक जबडा' कहा है; प्रत्येक प्राणीके लिये एक जबडा हुआ करता है। परंतु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर **एक जबडा** कहा है। वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं हो सकता, परंतु यहां कहा है, इसलिये यह जबडा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है—

व्यक्तिका जबडा	**समाजका जबडा**
जंभ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेंद्रिय-पंचक	ज्ञानीजन-पंच
दांत-द्विज	त्रैवर्णिक-द्विज
दंतपंक्ति	द्विज-सभा
चर्वण, चर्वितचर्वण	विषय-चर्चा
अन्न-चर्वण	प्रमाण-विचार

सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जबडेमें रखकर खाते हैं। शत्रुको अपने जबडेमें रखनेकी कल्पना नीच प्राणियोंमें है। क्रोधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको काटने दौडता है। परंतु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तिको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझकर, अपने शत्रुको भी

समाजका एक अवयव मानता है; इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्योंकि वही ' समाजका जबडा ' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबडेका– अर्थात् न्यायसभाका– भाव ' जंभ ' शब्दसे लेना यहां उचित है। यहीं अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा हो सकता है।

तं वो जंभे दध्मः ।

(**तं**) उस दुष्टको हम सब (**वः**) आप अनेकोंके (**जंभे**) एक जबडेमें– अर्थात् न्यायसभामें– (**दध्मः**) धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है।

यहांका '**वः**' शब्द पूर्वोक्त '**अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः**' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक '**वः**' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये ' अधिपति ' आदि शब्दोंका बहुवचन मन्त्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्त्व है।

'**तेभ्यो नमो०**' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं। ये दो पाद छः मंत्रोंमें बार बार कहे हैं। बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको ' अभ्यास ' कहते हैं। विशेष महत्त्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार वारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१)

(१ **प्राची दिक्**) प्रगतिकी दिशा, (२ **अग्निः अधिपतिः**) तेजस्वी स्वामी, (३ **असितः रक्षिता**) स्वतंत्र संरक्षक और (४ **आ-दित्याः इषवः**) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक हैं। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतन्त्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मन्त्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां हैं। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) ' **अग्नि** ' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोष्टक सं० ३ देखिए, उसमें प्राची दिशाका ' ब्रह्म ' अर्थात् ज्ञान ही धन कहा है।

(२) ' **अ-सित** ' शब्दका अर्थ बंधन-रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। ' **सि-बंधने** ' इस धातुसे ' **सित** ' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर-स्वाधीन' है। '**अ-सित**' अबद्ध, स्वतंत्र।

(३) ' **आदित्य** ' शब्द ' अ-खंडनीय ' अर्थमें प्रयुक्त होता है। ' दो-अवखंडने ' धातुसे ' **दिति** ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' खंडित ' है। 'अ-दिति' का अर्थ 'अ-खंडित' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखंडनीय, अमर्याद, बंधनरहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) ' **इषु** '- ' इष्-गतौ ' धातुसे यह शब्द बनता है। इसलिये ' गति, हलचल ' यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। पश्चात् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, वक्तृत्व करना, घोषणा देना, उन्नति करना; ये हो गये। इस धात्वर्थका भाव

' इषवः ' शब्दमें है । अस्तु। इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है । अब द्वितीय मंत्र देखिए—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी (३ तिरश्चिराजी रक्षिता) पंक्तिमें चलनेवाला संरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो । जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं ।

(५) ' इन्द्र ' - (इन् शत्रून् द्रावयिता । १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला विजयी ।

(६) ' तिरश्चिराजी ' — (तिरः) बीचमेंसे, (अंच्-) जाना, (राजी-) लकीर, मर्यादा । अपनी मर्यादाका उलंघन न करनेवाला ।

(७) ' पिता ' (पातीति पिता)— संरक्षक पिता है । वीर्य धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरुष पिता होता है ।

(३)

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है । अब तीसरा मंत्र देखिये—(१ प्रतीची दिग्) अंतर्मुख होनेकी दिशा, (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी, (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि ये चार बातें अभ्युदयकी साधक हैं ।

(४)

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्चतर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी, (३ स्वजः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नतिकी हैं ।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशा, (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी, (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं ।

(६)

(१ ऊर्ध्वा दिक्) उच्च दिशा, (२ बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी, (३ श्वित्रः रक्षिता) शुद्ध संरक्षक और (४ वर्षं इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं ।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे । शब्दोंके मूल भावार्थ नीचे दिये हैं—

(१) ' वरुणः '— वर-वृ-वरणे । पसंद करना । जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है । सर्वसंमत सर्वश्रेष्ठ ।

(२) ' पृदाकुः '-- (पृत्-आ-कुः)— पृत्का अर्थ युद्ध, संग्राम, स्पर्धा, स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलनेवाला ' पृदाकु ' होता है । कु = शब्द ।

(३) ' सोमः '— शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है । इसका दूसरा अर्थ ' स+उमा ' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है । ' सु-प्रसवैश्वर्ययोः ' इस धातुसे ' सोम ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान् ' ऐसा होता है ।

(४) ' स्वजः '- (स्व+जः)- अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबनशील । स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है ।

(५) ' अशनिः '— यह विद्युत्का नाम है । तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है । ' अश् ' धातुका अर्थ व्यापना ' है । व्यापक शक्तिका नाम अशनि है ।

(६) ' विष्णुः '- सर्व ' व्यापक ' कर्ता, उद्यमी ।

(७) ' कल्माष-ग्रीवः '-' कल्मन् ' का अर्थ कर्मन् अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है । ' कल्माष ' = (कल्म-स) = कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला । (कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्माषः । कर्माष एव कल्माषः ।) पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको पास करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करनेवाला ' कल्माष-ग्रीव ' किंवा ' कर्मा-स-ग्रीव ' कहलाता है ।

(८) ' बृहस्पतिः '— महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान ।

(९) ' श्वित्रः '— शुद्ध, पवित्र, श्वेत ।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं । पाठक इनका अधिक विचार करके लाभ उठावें ।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, स्थैर्य और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं । इन छः गुणोंका साधक ' गुण-चतुष्टय ' पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है । (१) दिशा, (२) अधिपति, (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेतके हैं, और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ

है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा। वारंवार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मंत्रोंमें ' इषु ' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है। इसका किसी अन्य भाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं। इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं। अधिपति और सरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए। अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा। दुष्टको दंड देनेका अधिकार इनहीको है। किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयं ही लेकर किसीको दंड देवे। इससे अशांति और अराजकता होती है। इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि ' हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहींके स्वाधीन करते हैं। ' सब लोगोंपर इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है। इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है। वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है। केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा। दोनोंका मिलकर होगा। व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है। प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है। इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान।

वैदिक दृष्टि।

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, परन्तु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगत्के पदार्थ मात्रकी ओर विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। विशेष प्रकारका दृष्टिकोन उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोन न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है। वेदमंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण हो गया है। आजकलकी जड सभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही. कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न ही चाहिए। कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके विना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता। उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है। वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती। यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमें भी है। जो हृदय कविके हृदयके समान उच्च होते हैं वे ही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते। वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिये।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा! परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है! परमेश्वरकी सृष्टि जैसी सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं। परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वदसे लाभ उठा सकता है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शांत करने और अग्निसे शीत निवारण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि मैंने इनका उपभोग लिया; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया। जैसा ' अग्निं ईळे ' का अर्थ ' मैं आगकी प्रशंसा करता हूं ' इतना ही समझना है।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र चला लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया; तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद-मंत्रका काव्यदृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं । जैसा— ' अग्निं ईडे ' । का अर्थ ये लोग समझते हैं कि ' मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं । '

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परन्तु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है । वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्यदृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें । आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मन्त्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परन्तु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है । सर्वसाधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है । यही अभ्यास अत्यंत घातक है । जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा । ' जिस अवस्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप हो गये, उस अवस्थामें एकत्व–का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता । ' (यजु. ४०।७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए । परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें हो गया है, वह ही सृष्टि है । इस दृष्टिको ' आत्मरूप दृष्टि ' कहते हैं ।

जड दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जडत्वके भावसे देखते हैं और केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं; उनको इन जड पदार्थोंसे भिन्न कोई श्रेष्ठ पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं । यह दूसरी दृष्टि वेदको अभीष्ट है । इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिए । इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है, आशा है कि पाठक इस लेखको उक्त भावनाके साथ पढेंगे—

' प्राची दिशा ' पूर्व दिशाकी विभूति ।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर **' प्राची दिक् '** शब्द आता है । इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची= (प्र+अंच्)= ' प्र ' का अर्थ ' आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख ' है । ' अंच् ' का अर्थ ' गति, पूजन ' अर्थात् जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना ' है । तात्पर्य ' प्राची ' शब्दका अर्थ आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, ऊपर चढना, इत्यादि प्रकार होता है ।

(२) दिक्= दिशा= का अर्थ तर्फ, सीध, ताक, हिदायत, आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है ।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे **' प्राची दिक् '** का अर्थ– (१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार और पूजाका पंथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है । प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है ।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्व दिशाकी ओर सवेरे देखें । विचारपूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायगा कि पूर्व दिशाका नाम **' प्राची दिक् '** वेदने क्यों रखा है । विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्व दिशाकी ओर पाठक देखते जाय । पूर्व दिशाकी अपूर्वता सवेरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है । दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता । इसलिये सवेरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये ।

तार्किक लोग दिशाओंको जड कहते हैं, उनको वैसा ही कहने दें, क्योंकि उनकी दृष्टि भिन्न है । वेद पढनेके समय आपको सर्वत्र पूर्ण चैतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिये । जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिए । और प्रत्येक दिशा जीवित और जाग्रत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए । यदि आप इसको क्षणमात्र देवता मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है ।

आप प्रभात कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए । कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कइयोंका उदय हो गया है,

ऐसा आप देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिये। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है!! आप इसको केवल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए। उदय होते ही इसका तेज बढने लगा है। तात्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है। वेद कहता है कि यह 'उदयकी दिशा' है। सबका उदय यहांसे हो रहा है। हे मनुष्य! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो।

सूर्यचंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं। यदि एक समय अस्तको पहुंचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपनी परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अत्यंत क्षीणताको पहुंचा हुआ चंद्रमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एक वार अस्तंगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या मनुष्य, किसी कारण अवनतिमें पहुंच गये होंगे, तो भी उन्नत नहीं हो सकेंगे? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्यचंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटि देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्योंकर रह सकता है? न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिशः और संघशः, अर्थात् अपना और जातीका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है। पूर्व दिशाके अवलोकनसे मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

पश्चिम दिशाकी विभूति।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्व दिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है। वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए। अभ्युदय और दक्षताका साहचर्य सनातन ही है। उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतिया परस्पर सापेक्षताका संबंध रखती है, इसलिये वैदिक कल्पनाको स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है। यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्तं गृह)
जन्म	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अन्धकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति
पुरुषार्थ	विश्रांति
प्राची	प्रतीची
प्र+अंच्	प्रति+अंच्
हलचल	शांति
जाग्रति	सुषुप्ति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी। इसलिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहां प्रथमतः करना है। देखिए—

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है। इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। अथवा 'वर' शब्द गौणवृत्तिसे उदक वाचक भी है, जिसके पास 'वर' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है। जलाधिपतिका संबंध अन्नके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके विना अन्नकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। अन्नका भोजन करनेसे

क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अन्दर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है। इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए- व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारुण्यकी अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानीए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्रीपुरुषका मिथुन होता है, इसलिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, चोवीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण, भाद्रपद कालोंमें पर्जन्य काल, वर्णोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आंदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए। एक विशेष भाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है। साधारण लोक पश्चिम दिशामे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परन्तु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझमें ही नहीं आवेगा।

'प्रति+अंच्' धातुसे 'प्रतीची' शब्द बनता है। इसका धात्वर्थ पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विश्रामकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है। सूर्य दिनभर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है। मानो कि सब जगत्को दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विश्रांतिके लिये अपने घर आता है, और रात्रीके साथ संलग्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है। पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका ब्रह्मचर्य है, इस ब्रह्मचर्य व्रतके पश्चात् वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है।

इधर ब्रह्मचर्याश्रममें नियमों और व्रतोंके कारण, तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांत होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण यमनियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्याके लिये ही है। परन्तु वैश्य वर्ण शांतिसे घरमें रहता, पैसे कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परन्तु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी, नद, तालाव और कूए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियावलसे सुन्दर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभूति।

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व और पश्चिम' दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमप्राप्त 'उत्तर' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	**उदीची**
उत्-तर	**उत्-अंच्**
उच्च-तर	**उच्च-गति**

(उत्) उच्चतासे **(तर)** अधिक जो भाव होता है, वह 'उत्तर' किंवा 'उच्च-तर' शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा यह इस शब्दका आशय है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि 'प्राची और प्रतीची' दिशा क्रमशः 'प्रगति और विश्राम' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिये कि यह 'उदीची दिशा उच्च गतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा 'बायी बगल' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख्य है इसका आत्मा अधिपति है। अंगुष्ठ मात्र पुरुष हृदयमें रहता है, यह उपनिषदोंका वर्णन यहां देखने योग्य है। इसका 'स्वजः' रक्षिता है। 'स्व-ज' शब्द स्वत्वसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मतत्वकी स्वकीय शक्तिसे

यहांका रक्षण होता है। बाहेरकी शक्तिसे यहांका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभ-मंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम्। पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम॥ १०॥ (अथर्व. १२।३)

"(**उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावित्**) उत्तर दिशा सदा ही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इसलिये (**नः**) हम सबको (**अग्रं**) अग्रभागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (**पांक्तं**) पांच वर्णोंमें विभक्त (**पुरुषः**) नागरिक जन ही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हम सब (**सह संभवेम**) मिलकर रहें, अर्थात् एकतासे पुरुषार्थ करें।"

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावना ही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (**अग्रं**) अग्रभागमें पुरुषार्थ करता हुआ पहुंच जाऊंगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण, क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्तवर्ण, बैठकर कार्य करनेवाले, धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सच्छूद्रोंका नीलवर्ण और असच्छूद्र जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंचजनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पांचजन्य' है। 'पांच-जन्यका महानाद' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें वसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है। (**पुरि-वस, पुर्-वस, पुर्-उष, पुरुष**) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न हैं, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये 'पांच-जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचों प्रकारके जनोंका अन्तर्भाव होता है उस प्रकारका 'पांचजन्य राष्ट्र' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे राष्ट्रको उच्चतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है।

जगत्‌में जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदृतु है, महिनोंमें आश्विन-कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सच्छूद्रोंका कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है। इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके जानें और इस ढंगसे इन दो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें।

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा।

(२८)

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — यमिनी)

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून्क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १॥

अर्थ— (**यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त**) जहां भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली गौवें बनाईं, वहां (**एषा**) यह गौ (**एक-एकया सृष्ट्या सं बभूव**) एक एकके क्रमसे बच्चा उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है। (**यत्र अप-ऋतुः यमिनी विजायते**) जहां ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुडे बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहां (**सा रुशती रिफती**) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (**पशून् क्षिणाति**) पशुओंको नष्ट करती है॥ १॥

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद्भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून्यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः१ स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च ॥ ५ ॥

अर्थ— (**एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा**) यह गौ मांस खानेवाले क्रमीके समान होकर (**पशून् सं क्षिणोति**) पशुओंका नाश करती है। (**उत एनां ब्रह्मणे दद्यात्**) इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये (**तथा स्योना शिवा स्यात्**) जिससे वह सुखदायी और कल्याणकारिणी हो जावे ॥ २ ॥

(**पुरुषेभ्यः शिवा भव**) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (**गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा**) गौओं और घोडोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (**अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा**) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (**नः शिवा एधि**) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(**इह पुष्टिः, इह रसः**) यहां पुष्टि और यहां रस है। (**इह सहस्र-सातमा भव**) यहां हजारों लाभ देनेवाली हो और हे (**यमिनी**) जुडे सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ ! (**इह पशून् पोषय**) यहां पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(**यत्र**) जिस देशमें (**स्वायाः तन्वः रोगं विहाय**) अपने शरीरका रोग त्यागकर (**सुहार्दः सुकृतः मदन्ति**) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मवाले होकर आनन्दित होते हैं, हे (**यमिनी**) गौ ! (**तं लोकं अभिसंबभूव**) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, (**सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्**) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौवें बनायी हैं। ये सब गौवें एक वार एक ही वच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं। जब यह गौ ऋतुको छोडकर अन्य समयमें इकट्ठे दो बच्चे उत्पन्न करती हैं उस समय वह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशु भी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है। इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपायज्ञ वैद्य ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहां योग्य उपचारोंसे वह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोडे, बैल, गौएं आदि पशुओंके लिये, इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशुओंको यहां पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें आकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहां रहे; यहां रोगी अवस्थामें रहकर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥ ५ ॥

यत्रा॑ सुहा॒र्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहोत्र॒हुतां॒ यत्र॑ लो॒कः ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सीत्पुरु॒षान्प॒शूंश्च॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— (**यत्र यत्र सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां लोकः**) जहां जहां शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और अग्नि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, दे (**यमिनी**) गौ (**तं लोकं अभिसंबभूव**) उस लोकमें मिलकर रह और (**सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्**) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अग्निहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय और नीरोग बने । रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पंहुचावे ॥ ६ ॥

पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड सकता है । एक पशुका रोग दूसरे पशुको लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं । तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं । इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये ।

पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ **अप+ऋतुः** = ऋतुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं । पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है ।

२ **यमिनी विजायते** = जुडे बच्चेको उत्पन्न करना । इससे प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड होकर विविध रोग होते हैं ।

३ **क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा** = मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है ।

गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ भाग गिरते हैं । कदाचित वह गौ उक्त भागोंको खा जाती है और रोगी होती है । अथवा योनी आदि स्थानमें जुडे बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ व्रणादि होते हैं और वहां प्रसूतिस्थानका विष लगनेसे गौ रोगी होती है । इस प्रकार इस प्रबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है । इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दें ।

ये सब रोग बडे घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है । इसलिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बडी सावधानता रखें और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करें ।

रोगी पशु ।

पशुके स्वास्थ्यके विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्वोक्त कारणोंसे अथवा अन्यान्य कारणोंसे रोगी होते हैं । वैसे रोगी होनेपर उनको उत्तम वैद्यके पास भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत एनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥
(सू. २८, मं. २)

' उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने ' अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग, स्वस्थ और शुभ बन जावे । यहां ' ब्रह्मन् ' शब्द है; यह आयुर्वेद शास्त्र और आथर्वणी चिकित्सा जाननेवाला ज्ञानी वैद्य है । ब्राह्मण ही वैद्यक्रिया करते हैं, इस विषयमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ।
(ऋ. १०।९७।६; वा. य. १२।८०)

' जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोग भी दूर करता है । '

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वैसा रोगी गौको तत्काल करना चाहिये । जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके । जहां इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान कैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। (सू. २८, मं. ५)

यत्रा सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः। (सू २८, मं. ६)

तं लोकं यमिन्यभि संबभूव ॥ (सू २८, मं. ५-६)

' जहां प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहां उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहां अपने शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्दप्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस गौको भेजना चाहिये, जहां रहनेसे सब प्रकारसे कल्याण होगा। '

रुग्णालयके सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि रुग्णालयमें विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके सस्पर्शसे विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है, इस प्रातः सायं किये अग्निहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है। यह रुग्णालयकी वायुशुद्धिके विषयमें कहा है। इसके अतिरिक्त रुग्णालयके कर्मचारी प्रतिदिन नियमपूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य सिद्ध होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी।

साथ ही साथ रुग्णालयके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम शुभ कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये। इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है। जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा, उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभ विचार भी बडे सहायक होंगे।

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस आश्रमके पवित्र वायुमंडलसे— '

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय। (सू. २८, मं. ५)

' अपने शरीरसे रोग दूर करके ' पूर्ण नीरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इसीलिये कहा है कि ऐसे सुनिश्च आचारसंपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी गौको सत्वर भेजना चाहिये। वहां जाकर वह गौ नीरोग बने और वहांसे वापस आकर ' घरके मनुष्यों, गौओं, घोडों और घरकी सब भूमिको पवित्र बनावे। (म. ३) ' नीरोग गौका मूत्र, गोबर तथा गोरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौके ये सब पदार्थ अत्यंत अनिष्ट होते हैं। इसलिये उक्त आश्रममें पहुंचकर, वहां रहकर, पूर्ण नीरोगताको प्राप्त होकर जब यह गौ वापस आवेगी, तब वह मंगलकारिणी बनेगी, ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है, वह सर्वथा योग्य है। ' गौके अन्दर पोषक पदार्थ और अमृतरस होते हैं। यह गौ अनंत प्रकारसे लाभकारी होती है, (मं. ४) ' इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षतासे योग्य प्रबंध करना उचित है।

संरक्षक कर।

(२९)

(ऋषिः — उद्दालकः। देवता — शितिपाद् अविः, कामः, भूमिः)

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियमसे चलनेवाले राजाके ये राज्य करनेवाले सभासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अन्नादिका सोलहवां भाग विभक्त करते हैं। यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (अविः) रक्षक बनकर (शिति-पात्) हिंसकोंको गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है ॥ १ ॥

भावार्थ— नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके ये राजसभाके सभासद वस्तुतः सब राजा ही हैं। ये प्रजाके अन्न आदि प्राप्तिका सोलहवां भाग कर रूपसे लेते हैं। राजाको दिया हुआ यह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले जो होते हैं उनको दण्ड देकर दबाता है, प्रजाकी आत्म शक्ति बढाता है और उनको भयसे मुक्तता करता है ॥ १ ॥

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन् । आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥
यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥
इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् । देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ— यह (**दत्तः**) दिया हुआ भाग (**आकूति-प्रः**) संकल्पोंका पूर्ण करनेवाला, (**शिति-पात्**) हिंसकोंको दबानेवाला, (**अविः**) संरक्षण करनेवाला, (**आ-भवन्**) फैलानेवाला, (**प्रभवन्**) प्रभावशाली, (**भवन्**) अस्तित्वका हेतु होता हुआ (**सर्वान् कामान् पूरयति**) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (**न उपदस्यति**) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

(**यः लोकेन संमितं**) जो सब लोगों द्वारा संमानित (**शिति-पादं अविं ददाति**) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है (**सः नाकं अभ्येति**) वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (**यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते**) जहां निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पडता है ॥ ३ ॥

(**पञ्च-अ-पूपं**) पांचोंको न सडानेवाले अतएव (**लोकेन संमितं**) जनता द्वारा संमत (**शिति-पादं अविं**) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको (**प्रदाता**) देनेवाला (**पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति**) पितृदेशमें अक्षयतासे जीवित रहता है ॥ ४ ॥

(**पञ्च-अ-पूपं**) पांचोंको न सडानेवाले (**लोकेन संमितं**) जनताद्वारा समानित (**शिति-पादं अविं**) हिंसकोंको गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (**प्रदाता**) देनेवाला (**सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीवति**) सूर्य और चन्द्रके सान्निध्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

(**इरा इव**) भूमिके समान तथा (**महत् पयः समुद्र इव**) बडे जलनिधि महासागरके समान और (**स-वासिनौ देवौ इव**) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (**शितिपात् न उपदस्यति**) हिंसकोंको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढाता है और जातीका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं। जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, सुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलसे जबरदस्तीसे धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शक्ति हीनताके कारण बलवानके लिये धन अर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है। जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनन्दसे राजाको यह देते हैं। जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं ॥ ५ ॥

दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ॥
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते ॥ ७ ॥
भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

अर्थ— (कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको दिया है ? (कामः कामाय अदात्) मनोरथने मनोरथको दिया है। (कामः दाता) काम ही दाता है, (कामः प्रतिग्रहीता) काम ही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है। (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूं। हे काम ! (एतत् ते) यह सब तेरा ही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बडा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णातु) तेरा स्वीकार करे। (अहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन आत्मना, प्रजया) प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिषि) न अलग हो जाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ— भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है। इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है। यही कामना मनुष्यको समुद्रपर भ्रमण कराती है। इस कामसे ही मनुष्य बडी आपत्तिया स्वयं सिरपर लेता है। यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है। इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं ॥ ८ ॥

राज्यशासन चलानेके लिये कर ।

राजा राज्यका शासन करता है। इस महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको ' कर ' समर्पण करती है। इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिका कितवाँ भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें किया है। अतः राज्यशासनका विचार करनेवालोंको यह सूक्त बडा बोधप्रद है।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग ।

प्रजाकी जो आमदनी होती है, उसका सोलहवॉ भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके सभासद अलग करते हैं यह वर्णन पहले ही मंत्रमें है—

अमी सभासदः इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते ॥
(सू. २९, मं. १)

' राजसभाके ये सभासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवां भाग अलग करते हैं। ' और यह सोलहवां भाग राजाको प्रजासे मिलता है। यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये। खेतसे जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग राजाकी ग्रामसभाके सभासद लेकर संग्रह करें। जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवा भाग लेना है। अर्थात् साधारण खेती करनेवालोंसे हरएक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा। धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवां भाग लेना है। जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवां भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनसे उनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जायगा। कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी असह्य नहीं हो सकता।

उत्पन्नका सोलहवां हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतिग्रंथोंमें छठा भाग लेनेतक करकी वृद्धि हुई है और आज कल तो कई गुणा वृद्धि हुई है। इस मंत्रमें **' विभजन्ते '** क्रिया वर्तमानकालकी है। राजसभाके सभासद स्वयं उत्पन्न देखकर उसका सोलहवां भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे

खेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं। केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक '**अमी सभासदः विभजन्ते**' इस वाक्यसे प्राप्त होता है। अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं, और सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आजकलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते। पाठक यह वैदिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें।

प्राप्तिके दो साधन।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दूसरा 'पूर्त'। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उद्योगधंदे, शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारकी सत्ता निर्भर है। दूसरा है 'पूर्त'। इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बागसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पहिलेसे बढे हुए वृक्षोंसे फल प्राप्त होना इ०। चली हुई पूर्व व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह 'पूर्त' है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कोशकी पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहारका वैसा नहीं है; वह इच्छापूर्वक कामधंदा करके सफलता होनेपर प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट और पूर्तमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आजकल 'इष्ट' का अर्थ 'यज्ञयाग' और 'पूर्त' का अर्थ सर्वजनोपयोगी कूप, तालाव, धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एक हो भाग है। इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल ये ही नहीं हैं। इस समय विचार करनेके सूक्तमें 'प्रजाकी आमदनीसे सोलहवां भाग कर रूपसे लिया जाता है' ऐसा कहा है। उस प्रसंगमें 'यज्ञ और कूवे' का सोलहवा भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इसीलिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसा अर्थ ऊपर लिया है। यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंगमें प्रजाके सुकृतका जो पुण्य होगा उसका कुछ भाग राजाके यज्ञ संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा। परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता; अतः आमदनीके विषयका अर्थ ही यहा लेना योग्य है।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्तिका सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है। यहां राजाका भी लक्षण देखना चाहिये—

राजा कैसा हो।

इस सूक्तमें राजाका नाम 'यम' आ गया है। यमका अर्थ 'स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला' है। 'यम-धर्म' इस शब्दसे भी यमसे धर्मका संबंध स्पष्ट होता है। राज्य चलानेके जो धर्मनियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहा इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहांका राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है। यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्मनियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है। वस्तुतः इसके राज्यमें—

अमी सभासदः राजानः। (सू. २९, मं. १)

'राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं।' राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्यशासन चलाता रहता है। वेदकी यह नियमबद्ध राजसत्ता यहां देखने योग्य है। इस राजाको राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्यशासनके व्ययके लिये प्रजासे करके रूपमें लेते हैं। इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये। यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बडा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है। देखिये—

करका उपयोग।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। 'यह कर निम्नलिखित बातें करता है' ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है—

(१) **अविः = (अवति इति अविः)** = रक्षा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजासे लिया हुआ कर ही प्रजाकी रक्षा है। (मं. १, ३-५)

(२) **स्वधा** = (स्वस्य धारणा) = अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है। राष्ट्रकी धारणा शक्ति करसे बढती है। कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है। (मं. १)

(३) **पञ्चापूपः = (पञ्च+अ+पूपः- पूयते विशीर्यते इति पूपः। न पूपः अपूपः। पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः)**— जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे पडते हैं उसका नाम 'पूप' है। तथा जिसके भाग संघटित एक दूसरेके साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते है उसको 'अ-पूप' कहते हैं। पञ्चजनोंको संघटित-संघटनायुक्त-करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पाचों प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका अभेद्य संघ होता है उसका यह नाम है। राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति वढाता है। (मं. ४,५)

(४) **भवन् =** होना, अस्तित्व रखना। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे प्रजाका अस्तित्व चिरकाल रहता है। (मं. २)

(५) **आभवन् =** धन ऐश्वर्यसंपन्न होना। राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अधिकाधिक संपत्तिमान होती जाय। (मं. २)

(६) **प्रभवन् =** प्रभावशाली। प्रजासे कर प्राप्त करके राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमे करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सत्ववान, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं. २)

(७) **आकूतिप्रः = (आकूतिः)** संकल्पोंको (**प्र**) पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अखंडित उन्नति होती रहती है। (मं. २)

(८) **सर्वान् कामान् पूरयाति =** प्रजाकी संपूर्ण उन्नतिकी कामनाएं सफल और सुफल होती हैं। किसी प्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं होती। कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिको प्राप्त हों। (मं. २)

(९) **यो... ददाति स नाकं अभ्येति =** जो (कर) देता है वह (न+अ+कं) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने देशमें सुखी रहते हैं। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी होती है। (मं. ३)

(१०) **प्रदाता पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति =** कर देनेवाले लोग संरक्षकों द्वारा सुरक्षित हुए प्रदेशमें चिरकाल आनंदसे रहते हैं। राजा प्रजासे कर लेवे और उनको अत्यत सुरक्षित रखे, सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें। (मं. ४)

(११) **प्रदाता सूर्यामासयोः अक्षितं उपजीवति** = कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्य) दिनमें वैसे (मास = चंद्रमाः) रात्रीके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्यशासनका ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रीके समयमें भी सुरक्षित होवे। (मं. ५)

(१२) **इरा इव न उपदस्यति =** कर देनेवाली प्रजा पृथ्वीके समान ध्रुव रहती है अर्थात् उस प्रजाका नाश कोई नहीं कर सकता। (मं. ६)

(१३) **महत् पयः समुद्र इव न उपदस्यति =** कर देनेवाली प्रजा वडे जलसे भरे गहरे महासागरके समान सदा गंभीर और प्रशात रहती है। छोटे जलाशयके समान शुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त होती। (मं. ६)

(१४) **सवासिनौ देवौ इव न उपदस्यति =** साथ साथ रहनेवाले दो देव, श्वास और उच्छ्वासके समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात् जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है उसी प्रकार प्रजासे मिलनेवाला कर राष्ट्रको सुरक्षित रख सकता है। (मं. ६)

(१५) **तस्मात् प्रमुञ्चति =** उस महाभयसे मुक्त करता है। यह दिया हुआ कर प्रजाको महाभयसे बचाता है। (मं. १)

(१६) **शिति-पात् = (** शीयते इति शितिः हिंसनं, शितिं पातयति) 'शिति' का अर्थ है नाश, उस नाशका पतन जो करता है अर्थात् नाशसे जो बचाता है, उसको 'शिति-पात्' कहते हैं। यह कर प्रजाका विनाशसे बचाव करता है। (मं. १-६)

(१७) **अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते =** निर्बल मनुष्य अपनी निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। (मं. ३)

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये। यहां ऊपर दिये हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध जान लें। साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहां देते हैं—

'(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणाशक्ति और समर्थता बढानेमें, (३) ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संघशक्ति बढानेमें, इन सबको संघटित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्यसंपन्न करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकांक्षाओंका सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) सब जनोंकी श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन संग्रहित करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनमें वैसे रात्रीमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणोंके समान जीवन युक्त करनेके कार्योंमें, (१५-१६) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबंध संपूर्ण राज्यभरमें करनेके कार्यमें करें।'

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमे करना राजाका कर्तव्य है। पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है। पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें। जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपने ही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा। यह इस सूक्तद्वारा वेदकी घोषणा समझना चाहिये।

स्वर्ग सदृश राज्य।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहां करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके बंधन बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है। स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहां देखिये—

१ स नाकं अभ्येति
२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे।
(सू. २९, मं. ३)

(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पहुंचते हैं, (२) जहां निर्बल मनुष्यको बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पडता।' यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है। जहां जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पडता, वह स्वर्गधाम है। और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूछता तक नहीं और जहां निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीसे जाते हैं, वह नरक है। ' नर-क ' का अर्थ ' हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य ' है। जिस राज्यमें हीन भावनावाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहां श्रेष्ठ भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निषादोंका केवल शारीरिक बल होता है। ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मदोन्मत्त होकर अन्योंपर अत्याचार करते हैं। ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्यव्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है जहां ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खडा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है। वही ' वैदिक राज्य ' है।

कामनाका प्रभाव।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योंका सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना इच्छा-संकल्प-आकांक्षा आदिके खेल हैं। मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है। यह बतानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है। इसका पहला ही प्रश्नोत्तर देखिये—

प्रश्न— इदं कः कस्मै अदात् ? = यह कौन किसको देता है ?

उत्तर— **कामः कामाय अदात्** = काम ही कामके लिये देता है।

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = काम ही देने और लेनेवाला है।

ये मंत्रभाग बडे महत्त्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं। मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा है, जो महत्वाकाक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है। राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नौकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं। मानो, यह काम ही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहातक की—

कामः समुद्रं आविवेश। (सू. २९, मं. ७)

'काम ही समुद्रमें घुसा है।' अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामका ही राज्य है। पृथ्वीको छोडकर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकी ही प्रेरणासे ही जाते हैं। और कोई विमान द्वारा आकाशमें उडते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड रहे हैं। इस प्रकार इस जगतका सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे हो रहा है। 'भूमि और अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् कामनाका राज्य है। (मं ८)' सब इसीकी आज्ञाके अनुसार फिर रहे हैं। देखिये—

काम! एतत् ते। (सू. २९, मं. ७)

'हे काम! यह तेरा ही महाराज्य है' तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामका स्वीकार करनेवाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरी शासन है।

कामकी मर्यादा।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उसीके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धने दिया है। इस मंत्रभागमें कहातकके कामका स्वीकार करना और कहासे आगेके कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है। वह विषय अब देखिये—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणेन मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि। (सू. २९, मं. ८)

'काम! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूं, मैं अपनी प्राणशक्तिको न क्षीण करूं, और मैं अपने प्रजननको भी न हीन बना दूं।' यहांतक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है। काम विषयका अत्याचार हरएक इंद्रियके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबध रखता है। इस इंद्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवनेकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरुषको जो भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं। इस प्रकारका घातपात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयमकी मर्यादा यह है कि 'उस मर्यादातक कामका उपभोग लिया जावे कि जहा तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है।'

इस मंत्रमें सभी इंद्रियोंके संबधमें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, यद्यपि ऊपरके उदाहरणमें हमने एक इंद्रियको लक्ष्य करके लिखा है, तथापि पाठक उसी मर्यादाको संपूर्ण इंद्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योग्य बोध प्राप्त करें।

कामका यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है। विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है। इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देनेवाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है; इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादाका उलघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिसे युक्त हों और सब उत्तम शातिसे स्वर्गतुल्य राज्यका आनंद प्राप्त करें। प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती हैं, इसीलिये (**लोकेन संमितं**। मं. ४, ५) 'प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

जहां प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहांकी प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करनेवाली होती है। वैदिकधर्मी ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शसे चलनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्यके वैदिक आदर्शसे दूर न रहे।

एकता।

(३०)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमाः)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— (**स-हृदयं**) सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, (**सां-मनस्यं**) सांमनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (**अ-विद्वेषं**) परस्पर निर्वैरता (**वः कृणोमि**) तुम्हारे लिये मैं करता हूं। तुम्हारेमेंसे (**अन्यः अन्यं अभि हर्यत**) हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे (**अघ्न्या जातं वत्सं इव**) जैसे गौ उत्पन्न हुए बछडेको प्यार करती है ॥ १ ॥

(**पुत्रः पितुः अनुव्रतः**) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (**मात्रा संमनाः भवतु**) माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला होवे। (**जाया पत्ये**) पत्नी पतिसे (**मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु**) मधुर और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥

(**भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्**) भाई भाईसे द्वेष न करे, (**उत स्वसा स्वसारं मा**) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे। (**सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा**) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (**भद्रया वाचं वदत**) उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥ ३ ॥

(**येन देवाः न वियन्ति**) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (**च नो मिथः विद्विषते**) और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, (**तत् संज्ञानं ब्रह्म**) वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान (**वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः**) तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये। तुम्हारेमेंसे हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बछडेसे उसकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे। पत्नी पतिके साथ सदा मधुर भाषण करती रहे ॥ २ ॥

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लडे। एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे भाषण करो ॥ ३ ॥

जिससे कार्यव्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें लढाई झगडा नहीं हो सकता, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरोंमें बढाओ ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

अर्थ— (**ज्यायस्वन्तः**) वृद्धोंका सन्मान करनेवाले, (**चित्तिनः**) उत्तम चित्तवाले, (**संराधयन्तः**) उत्तम सिद्धि-तक प्रयत्न करनेवाले, (**स-धुराः चरन्तः**) एक धुराके नीचे कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर (**मा वि यौष्ट**) तुम मत अलग होओ, मत विरोध करो । (**अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत**) एक दूसरेसे प्रेमपूर्वक भाषण करते हुए आगे बढो । (**वः सध्रीचीनान्**) तुमको साथ पुरुषार्थ करनेवाले और (**संमनसः कृणोमि**) उत्तम एक विचारसे युक्त मनवाले करता हूं ॥ ५ ॥

(**प्रपा समानी**) तुम्हारा जल पीनेका स्थान एक हो, और (**वः अन्नभागः सह**) तुम्हारा अन्नका भाग भी साथ साथ हो । (**समाने योक्त्रे वः सह युनज्मि**) एक ही जोतेमें तुमको साथ साथ मैं जोडता हूं । (**सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत**) मिलजुलकर ईश्वरकी पूजा करो, (**अभितः नाभिं अराः इव**) चारों ओरसे नाभीमें जैसे चक्रके आरे जुडे होते हैं ॥ ६ ॥

(**संवननेन वः सर्वान्**) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको (**सध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् कृणोमि**) साथ मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले, उत्तम मनवाले और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले बनाता हूं । (**अमृतं रक्षमाणाः देवाः इव**) अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान (**सायं प्रातः वः सौमनसः अस्तु**) सायंकाल और प्रातःकाल तुम्हारे प्रसन्न चित्त रहें ॥ ७ ॥

भावार्थ— वृद्धोंका संमान करो, चित्तमें शुभ सङ्कल्प धारण करो, उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करो, आगे बढकर अपने सिरपर कार्यका भार लो और आपसमें विद्वेष न बढाओ । परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण करो, मिलजुलकर पुरुषार्थ करनेवाले बनो । इसीलिये तुम्हें उत्तम मनसे युक्त बनाया है ॥ ५ ॥

तुम्हारा जल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अन्नका भोग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे रहकर कार्य करनेवाले तुम हो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे चक्रके आरे नाभिमें जुडे होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाजमें एक दूसरेके साथ मिलकर रहो ॥ ६ ॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, मनके भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक कार्यमें दत्तचित्त हो, सबके लिये समान अन्नादि भोग मिलें । जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम अपने मनके शुभसङ्कल्पोंकी रक्षा करो ॥ ७ ॥

संज्ञानसे एकता ।

इस सूक्तमें 'संज्ञान' प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका उपदेश है । मनुष्यप्राणी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण उसको आपसकी एकता रखना अत्यंत आवश्यक है । जातीय एकता न रही, तो मनुष्यका नाश होगा । जो जाती अपने अंदर संघशक्ति बढाती है वही इस जगत्में विजयी हो रही है, तथा जिस जातीमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह पराजित होती रहती है । अतः आपसमें संघशक्ति बढाकर अपनी उन्नति करना हरएक जातीके लिये अत्यंत आवश्यक है । संघशक्ति बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, वे अब देखिये—

अंदरका सुधार ।

सबसे प्रथम व्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये । वैदिक धर्ममें यदि कोई विशेष महत्वपूर्ण बात कही होगी तो यही कही है कि संपूर्ण सुधारका प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे होना चाहिये । हृदय सुधर जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यको

लाभ पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दोष रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। इसलिये इस सूक्तमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदयं- (स-हृदयं) = हृदयके भावकी समानता। अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना। (मं १)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बढानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं। जो दूसरको दुःखी देखकर दुःखी नहीं होता वह जनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता। हृदयका सुधार सबसे मुख्य है। इसके बाद वेद कहता है—

२ सां-मनस्यं- (सं-मनः) = मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना। मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना। (मं १)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती हैं। इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

बाहरका सुधार।

३ अ-विद्वेषं = द्वेष न करना। एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना। आपसमें झगडा न करना। (मं. १)

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है। मनुष्यका व्यवहार कैसा हो? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीका द्वेष न करे।' यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है। द्वेष न हो। झगडा न हो। दो मनुष्य इकट्ठे आ गये तो किसी न किसीकी निन्दा करनेकी बात शुरू होती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही बना है। परंतु सज्जनोंको ऐसा करना योग्य नहीं है। वे अपना आचरण निर्वैरताके भावसे परिपूर्ण रखें।

निर्वैरताका व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है? दो पत्थर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरताके साथ रहते हैं। क्या इस प्रकारकी जड निर्वैरता वहां अभीष्ट है? नहीं नहीं, यहांका 'अ-विद्वेष' शब्द परस्परके प्रेमपूर्ण व्यवहारका सूचक है। सबसे प्रथम सहृदयता और सांमनस्यता कही है, इनसे क्रमशः हृदय और मनकी शुद्धि हुई। ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वह दो पत्थरोंके आपसके व्यवहार जैसा जड नहीं हो सकता। इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरण ही इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें दिया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या।
(सू. ३०, मं. १)

'एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम कर कि जैसा गौ अपने नये जन्मे बछडेके साथ प्रेम करती है।' निर्वैरताका यह उदाहरण है। अहिंसाके व्यवहारका दृश्य रूप गौ माताका अपने नवजात बछडेसे व्यवहार है। गौका प्रेम अपने बछडेसे जैसा होता है वैसा अन्योंसे तुम प्रेम करो। 'अ-विद्वेष' का अर्थ केवल 'वैरका अभाव' नहीं है, केवल निषेध करनेसे किसीका बोध नहीं होता है। वैर न करना, हिंसा न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विधायक स्वरूप है 'प्रेम करना'। अर्थात् अविद्वेषका अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना। पहिले मंत्रमें जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्रभागमें गौके उदाहरणसे दिया और दिखलाया कि दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जातीय एकता सिद्ध होगी। इस उपदेशका आचरण करनेका क्रम अगले मंत्रोंमें कहा है, सबसे प्रथम घरमें इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करनेकी रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, वह गृहस्थियोंको अवश्य मनन करना चाहिये।

'(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे। धर्मपत्नी पतिके साथ मीठा और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥ भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहिनके साथ झगडा न करे, सब मिलकर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाओ ॥ ३ ॥ जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा संज्ञान तुम्हारे घरके लोगोंके लिये मैं देता हूं ॥ ४ ॥'

आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं। जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूप ही होगा। पाठक इन मंत्रोंके उपदेशको अपने परिवारमें ढालनेका यत्न करें।

इन मंत्रोंका अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश हैं यह बात भूलना नहीं चाहिये। अर्थात् 'पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे' इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है। तथा 'भाई भाईसे द्वेष न करे' इसका अर्थ 'भाई बहिनसे और बहिन भाईसे द्वेष न करे' ऐसा है। 'पत्नी पतिसे मीठा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मीठा भाषण

करे ' यह अर्थ है और (**वः गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं ब्रह्म कृण्मः** । मं. ४) ' तुम्हारे घरके पुरुषोंको यह संज्ञान ब्रह्म देते हैं, ' इसका अर्थ ' तुम्हारे घरके स्त्रियोंको भी यह संज्ञान ब्रह्म देते हैं ' ऐसा है। इसको सामान्य निर्देश कहते हैं। यदि पाठक इन निर्देशोंकी यह सामान्यता न देखेंगे, तो अर्थका अनर्थ हो जायगा। इसलिये कृपया पाठक इसका अवश्य अनुसंधान करके बोध प्राप्त करें।

संघमें कर्म।

पञ्चम मंत्रमें जातीके लोगोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयका उत्तम उपदेश है, इसका सारांश यह है-

१ **ज्यायस्वन्तः** = बडोंका सन्मान करनेवाले बनो। वृद्धोंका सन्मान करो। (मं. ५)

२ **मा वि यौष्ट** = विभक्त मत बनो। अपनेमें विभेद न बढाओ। (म. ५)

३ **सधुराः चरन्तः** = एक धुराके नीचे रहकर आगे बढो। यहां धुराका अर्थ धुरीण, नेता, समझना योग्य है। अपने नेताके शासनमें रहकर अपनी उन्नतिके मार्गपरसे कटिबद्ध होकर चलो। (मं. ५)

अपने नेताकी आज्ञामें रहकर उन्नतिका साधन करनेवाले ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

४ **सध्रीचीनाः** = एक ही कर्मके लिये मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले बनो। अर्थात् जो करना हो वह तुम सब मिलकर करते रहो। (मं. ५)

५ **संराधयन्तः** = मिलकर सिद्धिके लिये यत्न करनेवाले बनो। (मं. ५)

६ **अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत** = परस्पर प्रेमपूर्वक शुभ भाषण करते हुए आगे बढो। (मं. ६)

जब कभी दूसरेसे भाषण करना हो तो प्रेमपूर्वक तोलकर मीठा भाषण करो, जिससे आपसमें फिसाद न बढे और आपसकी फूट बढकर अपनी शक्ति क्षीण न हो।

इस मन्त्रके '**चित्तिनः** और **संमनसः**' ये शब्द वही भाव बताते हैं कि जो प्रथम मंत्रके ' सांमनस्य ' शब्दने बताया है। उत्तम चित्तवाले और शुभ मनवाले बनो यही इसका आशय है।

वृद्धोंका सन्मान करना और पुरुषार्थ साधक कर्ममें दत्तचित्त होना ये दो उपदेश यहां मुख्यतः हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि मनुष्यकी परीक्षा कर्मसे ही होती है। इसलिये इस मंत्रमें अनेक शब्दों द्वारा कहा है कि किसी एक कर्ममें अपने आपको समर्पित करो और वहां यदि अन्य मनुष्योंका संबंध हो तो उनके साथ अविरोधसे कर्म करो। इस कर्मसे ही मनुष्य श्रेष्ठ है वा कनिष्ठ है, इसका निश्चय हो सकता है।

खानपानका प्रश्न।

जब संघमें रहना और कर्म करना होता है तब ही खानपानका प्रश्न आता है। घरमें तो सबका एक ही खानपान होता है, क्योंकि माता, पिता, भाई, बालबच्चे प्रायः एक ही भोजन करते और एक ही पानी पीते हैं। जो खानपानका प्रश्न उत्पन्न होता है वह जातीय संघटनाके समय ही उत्पन्न होता है, इस विषयमें षष्ठ मंत्रने उत्तम नियम बताया है—

' तुम्हारा जलपानका स्थान एक हो और अन्नभाग भी एक हो, तुम सबको मैं एक धुराके नीचे रखता हूं। तुम मिलकर एक ईश्वरकी उपासना करो। ' (मं. ६)

इस मंत्रमें सबका खानपान और उपासना एक हो इस विषयका उपदेश स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। जातीय और राष्ट्रीय कार्य करनेवाले इस उपदेशका अधिक मनन करें। मंत्र कहता है, कि ' जाती चक्रके समान है, ' जिस प्रकार चक्रके आरे चारों ओरसे नाभीमें अच्छी प्रकार जुडे होते हैं, उसी प्रकार चारों वर्ण राष्ट्रकी नाभीमें जुडे हैं। यदि वे अपने स्थानसे थोडे भी अलग हो जायगे तो चक्रका नाश होगा। जनतामें सब लोगोंकी एकता ऐसी होनी चाहिये कि जिस प्रकार चक्रमें आरे एक नाभिके साथ जुडे होते हैं।

सेवाभावसे उन्नति।

सप्तम मंत्रमें ' **सं-वनन** ' शब्द है। इसका अर्थ ' उत्तम प्रकारकी प्रेमपूर्वक सहायता करना ' है। ' **वन्** ' धातुका अर्थ ' प्रेमपूर्वक दूसरेकी सहायता करना ' है। ' **सं+वन्** ' का भी यही अर्थ है। इससे संवननका अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेमपूर्वक दूसरोंकी सहायता करना ही सेवा-समितीका कार्य होता है। वही भाव इस शब्दमें है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए जनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और यही परमेश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति है, ऐसा भाव मनमें धारण करना श्रेष्ठ मनुष्यका लक्षण है। इस गुणसे अन्य मनुष्योंपर बडा प्रभाव पडता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है—

संवननेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि।

(सू. ३०, मं. ७)

'प्रेमपूर्वक सेवासे सबकी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूं।' जनताका सबसे बडा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बडा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा करना ही मनुष्यका बडा भारी यज्ञकर्म है। जो जितना और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थ सेवासे ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बडा इसीलिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुप्त रहता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिकसे अधिक सहायता करता है, वह उसका बडा भारी यज्ञ है, इसीलिये उसका अधिकसे अधिक सन्मान सब आस्तिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने सामने सत्पुरुष रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सन्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास।

वेदका सिद्धान्त है कि '**क्रतुमयोऽयं पुरुषः।**' अर्थात् 'यह मनुष्य कर्ममय है।' इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी उन्नति कर्मके वशमें है इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है। ये कर्म ऐसे हों कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके- '**सव्रताः, संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः, सध्रीचीनान्, एकश्नुष्टीन्**' आदि शब्दों द्वारा मिलता है। पाठक इस महत्त्वपूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तने अत्यंत महत्त्वका उपदेश किया है। पाठक इन उपदेशोंका जितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

पाप की निवृत्ति।

(३१)

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — पाप्महा)

वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥
व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥
वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्याऽऽपस्तृष्णयासरन्। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

अर्थ— (**देवाः जरसा वि अवृतन्**) देव वृद्धावस्थासे दूर रहते हैं। (**अग्ने! त्वं अरात्या वि**) हे अग्ने! तू कंजूसीसे तथा शत्रुसे दूर रह। (**अहं सर्वेण पाप्मना वि**) मैं सब पापोंसे दूर रहूं। तथा (**यक्ष्मेण वि**) रोगसे भी दूर रहूं। और (**आयुषा सं**) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊं ॥ १ ॥

(**पवमानः आर्त्या वि**) शुद्धता करनेवाला पुरुष पीडासे दूर रहता है, (**शक्रः पापकृत्यया वि**) समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूं और दीर्घायुसे संपन्न होऊं ॥ २ ॥

जैसे (**ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि**) ग्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं, और (**आपः तृष्णया वि असरन्**) जल प्याससे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ— देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण जैसे रहते हैं, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको पास करता है। इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ २ ॥

जैसे गौ आदि गावके पशु सिंह, व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ३ ॥

वीर्दमे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥
अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥
प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥
आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥
प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (**इमे द्यावापृथिवी वि इतः**) ये द्युलोक और पृथ्वी अलग हैं और (**पन्थानः दिशं दिशं वि**) ये सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ४ ॥

जैसा (**त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति**) पिता अपनी कन्याको दहेज-स्त्री धन- देनेके लिये अलग करता है और जैसा (**इदं विश्वं भुवनं वि याति**) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ५ ॥

जिस रीतिसे (**अग्निः प्राणान् सन्दधाति**) जाठर अग्नि प्राणोंका धारण करता है और (**चन्द्रः प्राणेन संहितः**) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बचकर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ६ ॥

जिस ढंगसे (**देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्यं**) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको (**प्राणेन समैरयन्**) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंगसे मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घजीवनसे युक्त होऊं ॥ ७ ॥

(**आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव**) दीर्घायुवाले और आयुष्य बढानेवाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह । (**मा मृथाः**) मत मर जा । उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

(**प्राणतां प्राणेन प्राण**) जीवित रहनेवालोंके प्राणसे जीवित रह, (**इह एव भव**) यहां ही प्रभावशाली हो और (**मा मृथाः**) मत मरजा । उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

भावार्थ— जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके विवाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह-नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूंगा ॥ ५ ॥

जैसा शरीरमें जाठर अग्नि अन्नादिका पाचन करता हुआ प्राणोंको बलवान् करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूं ॥ ६ ॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ७ ॥

स्वभावतः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साधनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बलयुक्त करके मनुष्य जीवे और शीघ्र न मरे। मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान् करके तू यहां बढ, छोटी आयुमें ही मत मर जा । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अर्थ— (**आयुषा उत्**) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (**आयुषा सं**) दीर्घायुसे युक्त हो, (**ओषधीनां रसेन उत्**) औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूं ॥ १० ॥

(**वयं पर्जन्यस्य वृष्ट्या**) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (**आ उत् अस्थाम**) उन्नतिको प्राप्त करें और (**अमृताः**) अमर हो जांय । इसीलिये मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ११ ॥

भावार्थ— अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उससे भी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पीकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि बढकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ११ ॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु ।

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहां बताये हैं ।

पाप और पुण्य ।

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहां विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएं हैं। और धर्मशास्त्र अन्यान्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है । अन्यान्य शास्त्रोंसे भिन्न धर्मशास्त्र नहीं है । अन्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्मशास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिनिषेध सर्वसामान्य होते हैं और अन्यान्य शास्त्रोंके विधिनिषेध उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शब्दका अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप शब्दका अर्थ है 'पतनका हेतु' । अन्यान्य शास्त्रोंमें जिससे हानि होती है ऐसा लिखा है वे सब बातें धर्मशास्त्रमें 'पाप' शब्दसे बतायी जाती हैं और जो बातें उन्नतिकारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारण धर्मशास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विशद करते हैं—

वैद्यशास्त्र ।	धर्मशास्त्र ।
१ मद्य पीनेसे यकृत् और पेट बिगडता है, खूनकी कमजोरी होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं । इ.	१ मद्य पीना पाप है ।
२ व्यभिचार करनेसे वीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियां होती हैं । इ.	२ व्यभिचार पाप है ।
आरोग्यशास्त्र ।	
३ स्नान करके स्वच्छता करना, घरमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य बढता है । इ.	३ स्नान करना पुण्यकारण है । स्वच्छता करना पुण्य है ।
४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजंतु या अन्य रोगबीज दूर होते हैं, और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्यकारक है ।	४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।
समाजशास्त्र ।	
५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं । इ.	५ सत्य पुण्यकारक है ।
राजशासनशास्त्र ।	
६ चोरी, खून आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार फलाना दण्ड होता है ।	६ चोरी, खून आदि करना पाप है ।

*

इस प्रकार हरएक शास्त्रके विषयमें पाठक देखें। अन्यान्य शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके बुरे या भले परिणाम कारणके साथ बताये होते हैं, परन्तु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें 'पाप और पुण्य' इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है। इससे धर्म-शास्त्रके पाप-पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है।

ये सब पाप ही रोग और अल्पायुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है। यह बात मुख्यतया इस सूक्तमें ध्वनित की गई है। इस सूक्तमें प्रत्येक मंत्रका उत्तरार्ध यह है—

व्यहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण, समायुषा॥
(सू. ३१, मं. १-११)

'मैं सब पापोंको दूर करता हूं, उससे रोगोंको दूर करता हूं जिससे दीर्घायुसे युक्त होता हूं।' इस मंत्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि— 'मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूं।' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होंगे, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी। इस सूक्तको यही संदेशा पाठकोंको देना है। यह आधा मंत्र ग्यारह वार कहकर यह संदेशा पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है। पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्रभागका महत्त्व देखें और इससे प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसात् करें।

पापको दूर करना

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश कहा है—

अहं सर्वेण पाप्मना वि। (सू. ३१, मं. १-११)

सब पापका अर्थ कायिक, वाचिक मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पाप है। ये सब दूर करना चाहिये। अपने मनके पाप विचार दूर हटाने चाहिये, वाचाको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये, शरीरसे कोई पापकर्म करना नहीं चाहिये, इंद्रियोंको पाप प्रवृत्तिसे रोकना और उनको ऐसी शिक्षा देना चाहिये कि उनकी प्रवृत्ति उस पापकी ओर कभी न होवे। इसी प्रकार कुटुंब, जाती, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं। उनको भी दूर करना चाहिये। यदि कोई कहे कि जाती और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको उचित है कि ये अपना- निजका- तो सुधार करें। अपनी निष्पापता सिद्ध हुई तो उसका योग्य परिणाम जातीपर भी होगा और न भी हुआ, तो भी उस व्यक्तिको तो पापसे बचनेके कारण उन्नतिका भाग अवश्य ही मिलेगा, जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा। इसमें कोई संदेह नहीं हैं। हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतनका हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको पास करना चाहिये। ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा। अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये—

देवोंका उदाहरण।

देवोंका नाम '**निर्जराः**' है, इसका अर्थ 'जरा, वृद्धावस्था और बुढापा आदिको दूर रखनेवाले' है। देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढापेको दूर किया था, और वे बडी आयु होने-पर भी तरुण जैसे दीखते थे। यह आदर्श मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये। और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करना चाहिये। यह बतानेके लिये प्रथम मंत्रमें—

देवाः जरसा वि अवृतन्। (सू. ३१, मं. १)

'देवोंने बुढापेको दूर रखा था' यह बात कही है। अब आगे देखिये—

अग्निका आदर्श।

अग्नि भी (**अग्ने! त्वं अराय्या वि।** मं. १) कंजूसोंको दूर करता है। उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बडे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कंजूस होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते। इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजूस मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इकट्ठा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्नति कराता है। जिस प्रकार यह अग्नि कंजूसोंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढावे।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संगतिमें जो जो मनुष्य आवेंगे वे भी पापी बनेंगे, इसलिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संसर्गसे भी अन्य मनुष्य रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैलें। इस प्रकार युक्तिसे पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रबंध करनेसे शेष समाज निष्पाप और नीरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा।

पवित्रताका महत्त्व।

द्वितीय मंत्रमें पवित्रता और शुद्धताका महत्त्व वर्णन किया है। पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आर्त्या वि।
(२) शक्रः पापकृत्या वि। (सू. ३१, मं. २)

'(१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है।'

ये दोनों अर्थपूर्ण मंत्रभाग हैं। स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं। शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अग्निमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छानकर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगबीज हट जाते हैं। और मनुष्य रोगसे पीडित नहीं होता है।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है। ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रात्मा बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है। यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्युत अन्योंको भी दूर रखता है।

ग्राम, नगर और राष्ट्रोंकी पंचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें उक्त प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढानेसे भी उक्त क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है। यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है।

स्थानत्यागसे बचाव।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं। इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि। (सू. ३१, मं. ३)
२ इमे द्यावापृथिवी वि इतः। (सू. ३१, मं. ४)

'(१) ग्रामके गौ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रहकर बचाव करते हैं, (२) तथा द्युलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है।' ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदाहरण हैं। व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गौ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते हैं। भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये द्युलोक-भूलोकसे बहुत दूरीपर रहा है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोगस्थानसे दूर रहकर रोगोंसे बचना योग्य है।

स्वभावसे बचाव।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभावसे ही रोगप्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें सूक्तके कथन देखिये—

१ अपः तृष्णया वि असरन्। (सू. ३१, मं. ३)
२ पन्थानः दिशं दिशं वि। (सू. ३१, मं. ४)

'(१) जल अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं।' जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोगप्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं। यह स्वभावका नियम देखकर हर-एकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु, नीरोग और बलवान् तथा सच्छील बने।

दान।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवें जिस प्रकार—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति। (सू. ३१, म. ५)

'पिता पुत्रीके दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।' यह धन दामादके घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य धनका कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करें और इस इकट्ठे हुए धनसे ऐसी संस्थाएं योजनापूर्वक चलायी जावें कि जो जनताकी पापप्रवृत्तिसे और रोगसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवी, संपन्न, स्वस्थ और सुखी बने।

अपनी गतिमें रहना।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना दुःख बढाते हैं। यदि वे अपनी गतिसे चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ व्यर्थ स्पर्धा न करेंगे तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियाति। (सू. ३१, मं. ५)

'ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते हैं।' सूर्यकी उष्णतासे चंद्र स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं। विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्के अंश बनकर अविरोधसे रहे हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी विविध गुणधर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अवयव बनकर राष्ट्रहित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें अविरोधी भावसे रहें। इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकार वे उपायोंका अवलंबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं। अन्यथा आपसमें लडते हुए रोगोंसे

मरनेके पूर्व ही एक दूसरेके सिर तोड़कर स्वयं मर जायगे। ऐसा नाश न हो, इसलिये वेद कहता है कि अपनी गतिसे चलो और परस्पर सहायक बनकर अपनी उन्नतिका साधन करो।

पेटकी पाचक शक्ति।

मनुष्यके शरीरमें रोगबीजोंका प्रवेश तब होता है जब उसकी पाचन शक्ति बिगडी होती है। इसकी सूचना देनेके लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् संदधाति । (सू. ३१, मं. ६)

' जाठर अग्नि- अन्नका पाचन करनेवाला उदर स्थानका अग्नि ही- प्राणोंका सम्यक्तया धारण करता है। ' अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो जावे। इसलिये जो लोग दीर्घ जीवनके इच्छुक हैं वे व्यायाम तथा अन्यान्य योग साधनादि द्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीप्त करें। ऐसा करनेसे शरीरमें जो समर्थता आवेगी वही रोगोंको दूर रखेगी और पास आने न देगी।

दूसरी बात यह है कि जाठर अग्निके बिगाडसे यकृत, हृदय और मस्तिष्कका बिगाड होता है। मस्तिष्कके बिगाडसे विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही, तो राग आदि वैसे प्रवल नहीं होते। इसलिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पाचन शक्ति उत्तम प्रदीप्त करे। इसी मंत्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन संहितः । (सू. ३१, मं. ६)

' चन्द्र प्राणसे मिला है। ' यहां ' चन्द्र ' शब्दके तीन अर्थ हैं, (१) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिकोंका रस, (३) और मन। प्राणसे इन तीनोंका घनिष्ट संबंध है। यहां वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शाकभोजन प्राण स्थिरी करणके लिये आवश्यक बतानेसे मांसादि सेवन दीर्घ जीवनके लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है। पाठक इसका अवश्य विचार करें।

सूर्यका वीर्य।

सूर्यमें बडी भारी जीवन विद्युत् है, उसको अपने अन्दर संगृहित करनेसे नीरोगता और दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यह है—

देवाः विश्वतोवीर्यं प्राणेन समैरयन् । (सू. ३१, मं. ७)

' देव सब प्रकारके वीर्योंसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते हैं। ' इसी अनुष्ठानसे देव (**निर्जराः**) जरारहित और (**अ-मराः**) मरणरहित हुए हैं। इसलिये जो लोग अपने प्राणके अन्दर सूर्यकी जीवन विद्युतका धारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्यप्रकाशमें खडे होकर या बैठकर दीर्घश्वसन द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अन्दर लेनेसे अपने अन्दर सूर्यका वीर्य आ जाता है; इसी प्रकार नंगे शरीर सूर्यातपस्नान करनेसे भी चमडीके अन्दर सौरविद्युतका प्रवेश हो जाता है। इसी प्रकार विविध योजनाओं द्वारा सौर विद्युत्से लाभ उठाया जा सकता है। पाठक इसका विचार करके लाभ उठावें।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले।

जो (**आयुष्मन्**) दीर्घ आयुवाले मनुष्य हैं, अर्थात् बिना प्रयत्न जो दीर्घ आयुवाले हुए हैं, तथा जो (**आयुष्कृत**) प्रयत्नसे दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् योगादि अनुष्ठान द्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है, (**प्राणतां प्राणेन**) प्राणकी प्रबल शक्तिसे युक्त पुरुषोंका प्राण वैसा चलता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये ऊपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसा करते हैं, किस ढंगके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके, उनके उदाहरण अपने सन्मुख रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (**इह एव भव**) इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घकालतक रहना चाहिये और (**मा मृथाः**) शीघ्र मरना उचित नहीं। यह उपदेश मं. ८ और ९ में है।

अपने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहां जहां दीर्घायु, नीरोग, बलवान्, निष्पाप और सच्छील लोग होंगे, उनके जीवन चरित्र देखकर उनके जीवनसे उचित बोध प्राप्त करना चाहिये। और उससे लाभ उठाना चाहिये।

औषधिरस।

दशम मंत्रमें औषधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुष्यकी प्राप्ति करनेका उपदेश है—

ओषधीनां रसेन आयुषा [illegible] (सू. ३१, मं. १०)

' औषधियोंके रससे हम दीर्घा[illegible] संयुक्त होंगे। ' इसमें दीर्घायुष्यका प्राप्तिका संबंध औषधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूक्तमें छठे मंत्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अन्तिम मंत्रमें कहा है, कि जिस प्रकार ' वृष्टि होनेसे वृक्ष-वनस्पति आदिक उगते हैं और उन्नतिको प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे (**वयं अमृताः उदस्थाम**) हम अमर होकर सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करेंगे। ' (मं. ११)

यह सत्य है कि जो इस सूक्तमें लिखा अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। वेदमें क्रमपूर्वक अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेकी शैलीका भी ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका मनन करें और अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

॥ तृतीय काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

तृतीय काण्डकी विषयसूची।